(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षट्त्रिंशं कुसुमम्)

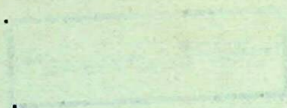
अद्वैतपरिशुद्धिः

(शतदूषणीपरिहारः)

महामण्डलेश्वर स्वामी

श्री काशिकानन्दगिरिजी महाराज

2.3 - Alm



(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षट्त्रिंशं कुसुमम्)

अद्वैतपरिशुद्धिः

(शतदूषणीपरिहारः)

महामण्डलेश्वर स्वामी
श्री काशिकानन्दगिरिजी महाराज

प्रकाशक–
आनन्दवन शोध संस्थान
स्वामी काशिकानन्द जी ट्रस्ट
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई–४०० ०६७

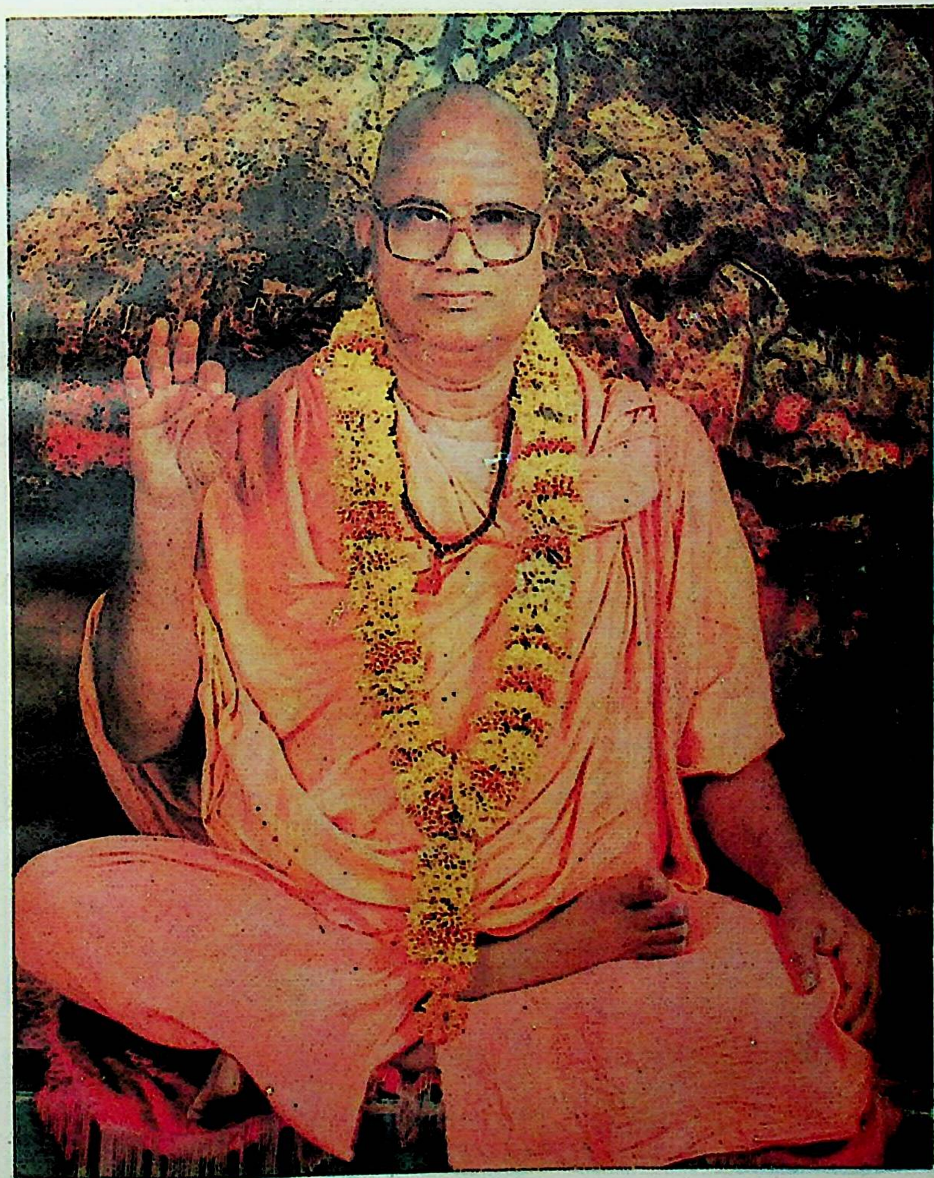
प्रथमावृत्तिः ११००
सन्ः १९९५

मूल्य : १२५ : ००

प्राप्ति स्थान–
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली पश्चिम
बम्बई-४०० ०६७
फोन-०२२-८०५२८५९

मुद्रक–
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए. कमच्छा, वाराणसी
फोन : ३२२८२०

द्वादश - दर्शनाचार्य



महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी काशिकानन्द गिरिजी महाराज

शुभाशंसा

वैदिक सनातन धर्म ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही बुद्धि को प्रधानता दी । वेद में प्रवेश द्वार गायत्री मंत्र है जिसमें बुद्धि को प्रेरित करने की ही प्रार्थना है । अतः हमने धर्म में विचार को प्रधानता दी । अत एव दर्शन व धर्म हमारी परम्परा में अलग नहीं किये गये । आपसी विचार के द्वारा ही सभी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया । सेमेटिक धर्मों की तरह बल प्रयोग कभी नहीं किया गया चाहे अर्थ बल हो चाहे असिबल । श्वेताश्वतर शाखा के 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' से जनक सभा में याज्ञवल्क्य शास्त्रार्थ तक में यही परम्परा रही । पौराणिक युग में भी 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' रहा तो आचार्य शंकर ने भी इसी प्रकार पुनः सनातन धर्म के प्रवाह को प्रशस्त किया । इसी परम्परा में हमारे परम प्रिय द्वादशदर्शन केसरी पदवाक्य प्रमाणपारावारीण महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्दगिरिजी का यह अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ है । कुछ वर्षों से उडुपी के मध्वाचार्य के साथ भी इनका लिपिबद्ध शास्त्रार्थ चल रहा है । इनका समुचित उत्तर देकर भी सौजन्य देखकर वे काफी प्रभावित हुये हैं । इस ग्रन्थ में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का विशेष करके वेदान्तदेशिक उभयवेदान्ताचार्य का प्रत्युत्तर उपस्थापित किया है, परन्तु केवल खण्डन करने के रूप में नहीं वरन् अद्वैतसिद्धान्त के प्रतिपादन रूप में । प्रायः अन्य सम्प्रदाय के लोग जब अद्वैत के खण्डन का ग्रन्थ लिखते हैं तो अपने सिद्धान्त को उपस्थापित नहीं करते । न्यायामृत या तरङ्गिणी पढ़कर माध्व साधना से सिद्धि प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है । इसी प्रकार वेदान्तदेशिकाचार्य के शतदूषणी का स्वाध्याय किसी को सम्पूर्ण रामानुज की साधना का परिचय नहीं करा सकता । परन्तु चित्सुखाचार्य या आचार्य श्री मधुसूदनसरस्वती अथवा

श्री लघुचन्द्रिकाचार्य के ग्रन्थ समग्र वेदान्त साधना को स्फुट करते हुए ही द्वैत निराकरण में प्रवृत्त हैं । ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामी काशिकानन्दगिरिजी भी इसी शैली को प्रस्तुत ग्रन्थ में अपना कर द्वैत व अद्वैत दोनों के मानने वालों को उपकृत करते हैं । वैसे उन्होंने इतः पूर्व भी अनेक ग्रन्थों के द्वारा यह कार्य किया है । फिर भी यह ग्रन्थ अनेक पूर्व अनुद्धारित विषयों को प्रकाशित करता है । सूत्रस्वारस्य विचार में एक के ज्ञान से दूसरे का अज्ञान नहीं हटता । सीप के ज्ञान से सीप में दिखी चांदी ही हटेगी, रस्सी में दिखा सांप नहीं । फिर ब्रह्म के ज्ञान से जीव में दिखा दुःख कैसे हटेगा । यह तभी संभव है कि ब्रह्म ही अज्ञान से जीव हुआ हो । इस प्रकार भगवान् बादरायण ने ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा करते हुये प्रथम सूत्र में ही जीव ब्रह्मैक्य को बता दिया है । धर्मजिज्ञासा में तो धर्म साध्य है, सिद्ध नहीं । कोई भी संसार में ब्रह्म को साध्य नहीं मानता । इसी प्रकार चतुःसूत्री के द्वारा विद्वद्धौरेय स्वामीजी ने समग्र स्वारस्य समुपस्थित कर दिया है ।

महामण्डलेश्वर जी ने शिखायज्ञोपवीतधारी ब्रह्मचारियों का भी परमहंस होना माना है । (पृ.४०५) स्वामी आनन्दगिरि ने परोक्षज्ञान से भी कर्मनिवृत्ति बताई है । अतः कर्माग्रह तो मुमुक्ष में भी संभव नहीं है । ज्ञानी भी क्वचन जनों के दुःख से करुणार्द्र होकर कर्म करते हुये प्रतीत होते हैं, यह बात दूसरी है । पर कर्माग्रह की तो गन्ध भी उनमें नहीं होती । पापपुण्य के अश्लेष से क्या चोरी करके परोपकार ज्ञानी कर सकेगा इत्यादि कुतर्क के उत्तर में शिष्टाचार से प्रभावित हो चोरी की प्रवृत्ति से अनेक लोगों का सत्यानाश करना क्या परोपकार हो सकता है आदि युक्तियाँ हृदयस्पर्शी हैं । इसी प्रकार शूद्र को भी श्रुत्यर्थ ब्राह्मण को आगे करके सुनाया जाय यह भी अद्भुत कल्पना है । (पृ. ३९५) अपशूद्र का अर्थ असच्छूद्र भी विद्वान् लेखक को ग्राह्य है । पुराणश्रवण का अर्थ तात्पर्य बोधरहित सुनना करने वालों का भी विचार कर शास्त्रीय उदारदृष्टि को महामनीषी ने स्फुट किया है । अपशूद्राधिकरण

की संगति ही अन्य द्वैतपक्ष में नहीं बैठती । सत् का छान्दोग्य में नारायण अर्थ करना कितना सन्दर्भ विरुद्ध है (पृ. ३८६) यह प्रतिपादन ऊहापोह से किया है । इसी प्रकार द्रष्टव्य श्रुति से ब्रह्म को दृश्य सिद्ध करने वालों का भी करारा खण्डन किया गया है । इसी प्रकार ब्रह्म दर्शन से रोग आदि निवृत्त होने चाहिये का भी मुँह तोड़ जवाब दिया है । ब्रह्मनिष्ठों में विवाद आदि का भी प्रायशः मूर्खों पर करुणा व क्वचित् रागाभास का प्रतिपादन कर सुन्दर समाधान किया गया है । प्रतीति समान होने पर भी कहीं कुतूहल शेष रहता है तो भी पारमार्थिक निश्चय नहीं हटता आदि भी विशिष्ट विचार अनुसन्धेय है । अन्धकार भाव रूप होने से प्रकाश के साथ रह सकता है । अतः शनैःशनैः सूर्य के मध्याह्न तेज की स्थिति जैसे धीरे-धीरे होती है वैसी ही श्रवणादि के अभ्यास से ज्ञान सुस्पष्टतर होता है । इस विषय में लेशाविद्या का स्वरूप संभवतः किसी भावी ग्रन्थ में लेखक को स्पष्ट करना इष्ट होगा । भोग से जो नष्ट हो वह मिथ्या न होगा आदि कहने वाले कुतर्की निरुत्तर कर दिये गये हैं । (पृ. ३३) विविदिषा वाक्य में मनीषी स्वामीजी को भामती व विवरण पक्ष में एक में अधिक संगति लगी है । यद्यपि दोनों पक्षों में ज्ञान के लिये विविदिषा के बाद कर्म का त्याग ही स्वीकृत है, तथापि विविदिषा के बाद कर्म का त्याग ही स्वीकृत है, तथापि विविदिषा के बाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण आदि सिद्ध होने तक वे कर्म मदद करते हैं व लेखक द्वारा उद्धृत राजा को काशी पहुँचने के पूर्व ही नहीं मरने देते यह भेद तो रहता ही है । दोनों ही पक्षों में गुरु आदि की प्राप्ति को कर्मजन्य अदृष्ट की सहायता तो अपेक्षित रहेगी ही, फिर विविदिषा कर्मजन्य ही मानने में लाघव संभव है ।

रामानुजाचार्य ने वैराग्य को अधिकारी के लिये आवश्यक माना है । बिना विवेक के जो दुःखप्रयुक्त मात्र वैराग्य होता है वह तो दुःखनिवृत्ति होने पर निवृत्त होने से मोक्ष पर्यन्त रह नहीं सकेगा । अत एव मोक्ष के उपयोगी नहीं होगा । मोक्ष के उपयोगी वैराग्य विवेकजन्य ही होगा तब

श्रीरामानुजाचार्य के अनुयायियों का विवेक को अधिकारवर्ग में लेना आक्षेप के योग्य नहीं रह जाता है । इसी प्रकार मन की शान्ति के अभ्यास से होने वाले सुख का जिसने अनुभव नहीं किया उसे परम शान्तस्थिति रूप मोक्ष की इच्छा कैसे हो सकेगी । अतः मुमुक्षा के पहले शमादि को भी स्वीकारना ही पड़ता है । इस पर (पृ. ५३) अच्छा प्रकाश डाला गया है । इसी प्रकार कथाधिकारविचार में श्रीहर्ष सम्मत पक्ष सरलता से उपस्थित करना विद्वान लेखक जैसों का ही कार्य हो सकता है । अन्ततः फरक भी बता दिया कि तीनों कालों में बाध की अयोग्यता का अभाव अद्वैती अधिक मानता है बाकी तो व्यवहार समान ही है । इसी प्रकार सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्ष के उपस्थापन में द्वादशदर्शन केसरी जी का न्याय का प्रगाढ मन्थन स्पष्ट होता है । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के मत का उद्धार ग्रन्थकार की प्राचीन अर्वाचीन सभी मतों में पैठ को बताता है । ये सभी अद्वैत के ही पोषक सिद्ध होते हैं । (पृ. ७७)

भाषा के प्रयोग के आधार पर सत्यासत्यनिर्णय को असंभव बताते हुये उन्होंने करोति व यतति को नैय्यायिकनय में समानार्थक मानते हुये भी घटं करोति की तरह घटं यतते के प्रयोग का अभाव सटीक मत प्रतिपादित किया है । इसी प्रकार असत् शशविषाण में असत्त्व धर्म कोई नहीं स्वीकारता क्योंकि धर्म बिना धर्मी के कैसे रहेगा । अतः विशिष्टाद्वैतियों का आग्रह कि यदि घटः सन् आदि सत् को सर्वव्यापक अधिष्ठान मानते हो तो घटोऽसन् आदि से असत् को भी अधिष्ठान क्यों न माना जाय आदि दुस्तर्क ही है, क्योंकि यह अनुवृत्ति प्रतीति भ्रान्ति ही है । अभाव को अतिरिक्त मानने पर भी यह नहीं कह सकते कि जैसे सत्ता के बिना घट नहीं रहता वैसे असत्ता के बिना घट नहीं रहता । घट नष्ट होने पर भी सत् बना तो रहता है पर वह घट के अभाव में घट का अधिष्ठान नहीं रहता । गीता में सब को अपने में पिरोया बताकर श्रीकृष्ण ने भी अपने पारमार्थिक सद्रूप का प्रतिपादन

किया है । सर्वत्र चतुर्भुज नारायण तो अनुस्यूत नहीं सिद्ध हो सकता, विशेषतः सभी भक्त जब उसको वैकुण्ठवासी या गोलोक वासी ही स्वीकारते हैं ।

वेद प्रामाण्य पर भी महामण्डलेश्वर जी ने सम्यक् प्रकाश डाला है । विशेषतः वर्त्तमान में अनेक एकदेशी अद्वैती भी शब्द से तत्त्वबोध को मान कर भी वैदिक शब्द को ही बोधक नहीं मानना चाहते । कई लोगों का आक्षेप है कि वैदिक ग्रन्थों का भी अर्थ बोध जब भाषान्तर के बिना नहीं होता तो बोध में साक्षात् कारण भाषान्तर ही प्रधान मानना होगा न कि परम्परा कारण वैदिक शब्द । इन सब बातों को ध्यान में रख तैत्तिरीयशाखा ने वेदों को मनोमय माना है । मंत्रों का मानस जप वाणी के वैखरी जप की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है । सुरेश्वराचार्य इसीलिये 'भूयोल्पीयः फलत्त्वञ्च बाह्यमानसयोर्जपे । अतो मानसमुख्यत्वमितरस्यास्तु गौणता' ।। के द्वारा मानस जप की मुख्यता से वेदों का प्रधान अर्थ मानसवृत्ति सिद्ध करते हैं, वाणी द्वारा ग्राह्य या व्यक्त गौण है । स्वामी आनन्दगिरि कहते हैं कि यद्यपि यजुः शब्द बाह्य शब्द राशि में रूढ है तथापि श्रुति प्रामाण्य से रूढि को भी गौण मानना पड़ता है । विशिष्ट मन की वृत्ति ही यजुःशब्द का अर्थ है । स्थान, प्रयत्न, नाद, स्वर, वर्ण, पद; वाक्य विषयक मन की संकल्परूपा एवं उससे भावित वृत्ति ही वह अर्थ है । यह श्रोत्रादि करण द्वारा ग्रहण की जाती है । यह वृत्ति ईश्वर के द्वारा प्रकाशित है । जीव के द्वारा गृहीत है । 'पद-वाक्य-स्वर-स्थान-नाद-वर्णादि-संयुता । यत्नोत्थमानसी वृत्तिर्यजुः संकेतवर्त्मना । ऐश्वरज्ञानसंदृब्धा पदवाक्यानुरंजिता । श्रोत्रादिकरणद्वास्था यजुरित्य-भिधीयते ।।' वेद की नित्यता भी तभी बुद्धिगम्य हो पाती है । चैतन्य विशिष्ट मनोवृत्तियों से अवच्छिन्न होकर वेद कहा जाता है । अतः वेद चैतन्य से अभिन्न होने से नित्य है । चूंकि मनोवृत्तियाँ अधिष्ठान चैतन्य से भिन्न सत्ता वाली नहीं है अतः ब्रह्म ही है । परिच्छेदक वृत्ति के भिन्न होने से मंत्रो में भेद प्रतीत होता है । अतः वेद ब्राह्य जड शब्दों का

समूह नहीं है । धर्म व अधर्म का ज्ञान इसीलिये वे करा सकते हैं । मन में उच्चरित शब्दों को संश्लिष्ट कर अर्थ ग्रहण की सामर्थ्य है । 'सर्वे वेदाश्च यत्रैकं भवन्ति' कहकर स्वयं ही श्रुति आत्मा से वेद का अभेद प्रतिपादन कर रही है । वेद का सांसारिक त्रिविध ताप की आत्यन्तिक निवृत्ति करने वाला होने से यह फरक है । आपात प्रतीति से शब्द सामान्य से वेद अन्य भाषा शब्दों की तरह प्रतीत होने पर भी अनादि स्वभाव वाला होने से भिन्न ही है, व फलतः तो प्रत्यक्ष ही विद्वदनुभव से भिन्न सिद्ध हो रहा है । द्वैतवादी श्रुति की अपेक्षा प्रत्यक्ष को प्रबल मान कर श्रुति के अर्थ से खिलवाड़कर अपनी नास्तिकता बौद्धों से भी अधिक सिद्ध कर रहे हैं यह बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित किया गया है । चैतन्य सत्य है, उपाधि रूप वर्ण मिथ्या है जैसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है । उसमें चित्प्राधान्य होने से जीव को कभी मिथ्या नहीं कहते । विशिष्ट्त्वेन चाहे मिथ्या कह भी दें । इसी प्रकार वेद वर्ण विशिष्ट रूप से मिथ्या होने पर भी वस्तुतः चैतन्य रूप से मिथ्या नहीं है । वेद से भिन्न काव्य आदि में वर्ण प्रधान है । जैसे घटावच्छिन्न चैतन्य में घट प्रधान होने से उसे मिथ्या कहा जा सकता है । इस प्रकार का भेद मानना सभी आस्तिकों को इष्ट है । मिथ्या शब्द वेदान्त ग्रंथों में अनिर्वचनीय अर्थ में प्रायशः प्रयुक्त होता है । अतः इसका झूठ अर्थ करके भ्रम में पड़ना ठीक नहीं । जीवन्मुक्त के अनुभव से मिथ्या है ।

अनेक प्रकार से दृश्यत्वादि हेतुओं को दर्शाते हुये नवीन कल्पना कर परिच्छिन्न से अनन्त में न वृद्धि होती है, न क्षय, अतः मिथ्यात्व की सिद्धि गणित शास्त्र एवं अनेक पाश्चात्यदार्शनिकों की शैली की याद दिलाता है । इसी प्रकार विद्यारण्यस्वीमिपादों की तरह व्यावहारिक वह है जो दो या तीन कोटि तक न बाधा जाय, उससे कम में बाध होने पर प्रातिभासिक एवं कभी न बाधा जा सके वह पारमार्थिक है । कहीं मिथ्यात्वनिश्चय बाध होता है तो कहीं अदर्शन बाध है । जीवन्मुक्ति में प्रथम बाध है तो विदेहमोक्ष में द्वितीय । ये सभी विषय अनुभव युक्त

तर्क पर आधारित होने से हृदयस्पर्शी हैं । इसी प्रकार सुषुप्ति में अनुपलब्धि के लिये प्रतियोगी ज्ञान कहाँ से आयेगा । यदि सबेरे की प्रत्यक्षता है तो मध्याह्न में घोड़ा आने पर सबेरे नहीं था यह ज्ञान हो सकता है । सुषुप्ति में जब ज्ञान ही नहीं तो जाग्रत में आने पर भी कैसे पता लगेगा । (पृ. १२९)

सबेरे सोता रहा व दोपहर में घोड़ा देखा तो क्या वह जान जायगा कि सबेरे घोड़ा नहीं था । अतः अधिकरण आदि का प्रत्यक्ष अभाव ज्ञान में कारण मानना पड़ता है जो सुषुप्ति में नहीं है । काल को अधिकरण स्वीकारने पर जो जाग्रत में भी दूर देश में अभाव ज्ञान बन सकता है । इसी प्रकार अनुदित व अनस्तमित सूर्य में पृथिवी के व्यवधान से उदय व अस्त व्यवहार की तरह नित्य संविद में मनोवृत्ति व अज्ञान वृत्ति से ज्ञानोदय आदि व्यवहार है । आधुनिक विज्ञान सम्मत यह दृष्टान्त लेखक ने समुचित उपस्थापन कर विशिष्टाद्वैतियों का मुंह बन्द करने का कार्य किया है । लेखक स्पष्ट करते हैं कि चित्त उपाधि होने पर संवित् आत्मा, वृत्ति उपाधि होने पर संवित् ज्ञान है । अविद्या के कारण वह धर्म व धर्मी के रूप में भासती है । अखण्डरूपसे भासने पर परमानन्द रूप से भासती है जो मोक्ष है । वही संवित् अन्य व्यापक उपाधियों से ब्रह्मा, विष्णु, दुर्गा आदि रूप से तो अल्प उपाधि से गुरु, शिष्य रूप से प्रकाश रही है । अतः अविद्या निवृत्त होने पर गुरु-शिष्य-विष्णु आदि भेद के बाधित होने से गुरु उपदेश नहीं कर सकता आदि शंकायें निर्मूल हो जाती हैं । सभी व्यवस्थाएँ व्यावहारिक हैं । परमार्थतः प्रश्न व उत्तर दोनों ही असंभव हैं । लेशाविद्या की व्यवस्था समझने में आती ही हैं । लेखक ने ईश्वर की दृष्टि ही सृष्टि है कहकर दृष्टिसृष्टि वाद को उपपन्न कर जीव सृष्टि की दृष्टि करता है अतः सृष्टिदृष्टिवाद को भी उपपन्न किया है । (पृ. २०३) इसी प्रकार सौ धागों के कपड़े में से एक धागा नष्ट होने की तरह एक जीव की मुक्ति को बताया है । अविद्या की एकता व अनेकता तो माया में सभी संभव न्याय से संगत है ही । दर्पण का प्रतिबिम्ब चेतन नहीं अतः वहाँ उपदेश नहीं होने पर

भी जीव चेतन है अतः उपदेश संभव हो जाता है । लेशाविद्या को सात्त्विकी माना है अतः अन्धकार रूप न होकर ईश्वर की माया की तरह ही आवरण नहीं करती । इस विषय में लेखक ने विलक्षण दृष्टान्त समुपस्थापित किया है । बरफ अर्थात् ठण्ड से प्रतिबद्ध हुआ पानी मरुभूमि में पड़ने पर भी सूखता नहीं जबकि जल अर्थात् ठण्ढ से अप्रतिबद्ध सूख जाता है उसी प्रकार प्रारब्ध से प्रतिबद्ध कर्म ब्रह्मविद्या से नहीं जलता जबकि संचित व आगामी जल जाता है । ठण्ड का प्रतिबन्धन हटते ही वह जल भी सूख जाता है ।

विद्वान् स्वामीजी उत्कृष्टसाक्षात्कार को ही अविद्या का उच्छेदक मानते हैं । एवं प्रारब्ध उस साक्षात्कार को रोकता है । परन्तु सम्प्रदाय रक्षण के अनुरोध से जीवन्मुक्ति को भी आवश्यक स्वीकारते हैं । अभ्यास के कारण ही यह वैशिष्ट है । इसमें ईश्वर की सर्वज्ञता ही दृष्टान्त है । जीवन्मुक्त का भी लीला से ही व्यवहार होता है । इस प्रकार वेदान्त पर लगाये शतदूषणी के समग्र दोषों का निवारण महामण्डलेश्वर जी महाराज ने मौलिक व शास्त्रीय दोनों ढंगों से किया है । इस ग्रंथ का सम्यगवेक्षण करके अद्वैती व विशिष्टाद्वैती दोनों का तो उपकार होगा ही अनेक साधक भी उपकृत होंगे । हम श्री १००८ महामण्डलेश्वरजी महाराज के दीर्घ जीवन की कामना करते हुये उनसे अनेक ग्रन्थरत्नों की आशा रखते हैं । श्रीदंक्षिणामूर्ति की परम्परा के आप अत्यन्त उज्ज्वल रत्न हैं एवं हमारे परम प्रेमास्पदीय है यह तो सर्वविदित सत्य है । परन्तु यह ग्रन्थ आपकी विशिष्ट रचना होने से भूरिशःप्रशंसनीय है । इति

शंकरभगवत्पादपद्माराधक
महेशानन्दगिरि

श्रीशंकरमठ
आबू पर्वत
आषाढ शुक्ल ११, २०५२ वि.

प्रासङ्गिकम्

स्वामी विद्यानन्द गिरि जी
कैलास आश्रम
ऋषिकेश

दार्शनिक जगत् में वाद, जल्प और वितण्डा भेदसे त्रिविध कथा प्रसिद्ध है । जो सिद्धान्त बोध एवं उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक समझी गयी है । इनमें से गुरु शिष्य संवादको वाद कहते हैं । विजिगीषुओं की कथा को जल्प कथा कहते हैं । जिसमें स्वपक्ष स्थापन एवं परपक्ष खण्डन होता है । किन्तु स्वपक्ष स्थापन के बिना ही परपक्ष खण्डन वाली कथा को वितण्डा कीं संज्ञा दी गयी है । वाद कथा में तत्त्वजिज्ञासा से शिष्य का प्रश्न होता है, और तत्त्व बोध के लिए गुरु का उपदेश होता है, दोनों के ही संवाद में निश्छलता होने के कारण तत्त्व का यथार्थ बोध वाद कथा से होता है । इस वाद को भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्णनें "वादः प्रवदतामहम्" इस वाक्यसे अपनी दिव्य विभूतियों में गिनाया है । यह वाद कथा ही तत्त्वबोध का असाधारण कारण है, जो सभी तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए उपादेय है ।

जल्प कथा में परपक्ष का खण्डन एवं स्वपक्ष का स्थापन करना पड़ता है, जिसमें तत्त्व बोध के अतिरिक्त तत्त्व बोध की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि यह गुरु शिष्य संवाद नहीं है, अपितु दो विजिगीषुओं की कथा है । इस कथा के फलस्वरूप दर्शन शास्त्र का समय-समय पर विस्तार होता रहा है । कृषक खेत जोतता है, उसमें बीज बोता है, खाद डालता है, और खेत सींचता है । जिसके फलस्वरूप खेती उपजती है, अन्न पकता है और उससे जीविका चलती है । किन्तु ग्रामीण और वन्य पशु जब उस खेत को हानि पहुँचाने लग

जाते हैं, तब कृषक उसकी सुरक्षा के लिए बाड़ लगाता है, जिससे उस खेती की सुरक्षा होती है। यह हानिकारक जन्तुओं से बचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी दैविक प्रकोप के फलस्वरूप टिड्डीदलों से खेती की रक्षा के लिए रासायनिक खाद का उपयोग भी किसान करता है, यह भी सुरक्षा कोटि में आता है। ठीक इसी प्रकार सिद्धान्त एवं तत्त्व बोध की सुरक्षा के लिए जल्प कथा परमावश्यक है। जब सिद्धान्त एवं तत्त्व बोध पर भारतीय आस्तिक प्रतिवादी एवं नास्तिक प्रतिवादि का प्रहार होने लगता है। तब जल्प कथा का आश्रय लेकर सिद्धान्त एवं तत्त्व बोध की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है। इस जल्प कथा का आश्रय भगवत्पाद शंकराचार्य जैसे मनीषियों ने भी लिया है। तदनुसार आज के विद्वान मनीषी भी जल्प कथा का आश्रय लेते हैं, एवं लेना भी चाहिए। इसमें तत्त्व जिज्ञासुओं की भी अभिरूचि होती है, क्योंकि आचार्य उपदेश द्वारा प्राप्त तत्त्व बोध की सुरक्षा उसे भी अभीष्ट होता है।

तीसरी वितण्डा कथा है, जिसमें केवल परपक्ष खण्डन ही होता है। स्वपक्ष स्थापन की तो बात नहीं। इसमें चाहे तत्त्व जिज्ञासु अभिरुचि न भी लें, फिर भी प्रतिवादियों के तीव्र प्रहार से सिद्धान्त एवं तत्त्व बोध को बचाने के लिए वितण्डा कथा का आश्रय लेना स्वाभाविक है। इस कथा का आश्रय खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्री हर्ष जी ने और चित्सुखी के रचयिता चित्सुखाचार्य जी ने चित्सुखी के द्वितीय परिच्छेद में लिया है, जो प्रतिवादियों को मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए आवश्यक जान पड़ता है। उपनिषद, गीता एवं ब्रह्मसूत्रादि वाद ग्रन्थ हैं। जिनसे वैदिक सिद्धान्त का ज्ञान एवं तत्त्व बोध होता है। इन ग्रन्थों के भाष्यादि लिखते समय वितण्डा कथा का आश्रय नहीं लिया गया है। क्योंकि इनमें स्वपक्ष स्थापन प्रधान है। पर जब नास्तिकों ने वैदिक सिद्धान्त के ऊपर केवल शुष्क तर्क के बल से गहरा प्रहार किया तो उससे बचाने के लिए श्रीहर्ष आदि मनीषियों को वितण्डा कथा का भी आश्रय लेना

पड़ा ।

प्रकृत में भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य जीने प्रस्थानत्रयी के ऊपर जो प्रसन्न एवं गम्भीर भाष्य लिखा है, जिसे आचार्य मुख से अध्ययन किये बिना ही अपनी बुद्धि से समझने का प्रयास जिन विद्वानों ने किया, फलतः– शांकरभाष्य का अभिप्राय न समझने के कारण उसमें उन्हें दोष दीखने लग गये । उन दोषों का संग्रह कर एक पुस्तक बना दी, जिसका नाम शतदूषणी रखा । इस शतदूषणी ग्रन्थ को न देखने वाले पाठक आपततः समझेंगे, कि सौ दोषों को उजागर इस ग्रन्थ में किया गया है पर ग्रन्थ में (६६) छाछठ दोष ही छपे हुए हैं । इनमें अधिकतर पुनरावृत्ति देखी जाती है । इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि शतदूषणी नाम अन्वर्थ नहीं है । दोषों का उद्भावन का क्रम भी मनीषिजन अनुमोदित नहीं माना जाएगा । फिर भी प्रसिद्ध शतदूषणी ग्रन्थ में जिस क्रम से दोषों का उद्भावन उसके लेखक ने किया है, उसी क्रम से उसका खण्डन महामहोपध्याय श्री अनंतकृष्ण शास्त्री जी ने किया और उसका नाम शतभूषणी रखा उसके बाद भी अर्द्धविदग्ध लोगों ने अपनी अर्द्धविदग्धता का परिचय देना बन्द नहीं किया । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया था कि एक ऐसे ग्रन्थ रत्न की रचना की जाय जिसमें केवलाद्वैत सिद्धान्त का समुचित निरूपण हो और उस पर प्रतिवादियों की ओर से उद्भावित दोषों का परिहार भी हो जाय । यह कार्य अन्यन्त कठिन था । किन्तु सरस्वती के वरदपुत्र, भगवत्पाद आचार्य श्री शंकर के सिद्धान्त में परिपक्व, वर्तमान दार्शनिक जगत् के मूर्धन्य विद्वान्, द्वादश दर्शन कानन पंचानन, महामण्डलेश्वर अनन्त-श्रीस्वामी काशिकानन्द गिरिजी महाराज ने सहज एवं सरल ढंग से शतदूषणी के प्रहारों का समुचित प्रतिकार किया है । जिसका नाम– अद्वैतपरिशुद्धि रखा गया है ।

शतदूषणी में जिसक्रम से अद्वैत दर्शन पर दोषोद्भावन किये गये हैं । उन दोषों का उद्धार चाहे शतभूषणीग्रन्थ में उस क्रम से नहीं भी किया हो, प्रसङ्गानुसार आगे पीछे भी किया हो किन्तु "अद्वैतपरिशुद्धि"

में निबन्धकार द्वादशदर्शन काननपञ्चानन विद्वद्वरिष्ठ महामण्डलेश्वर अनन्त श्रीस्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज ने शतदूषणीमें उद्भावित दोषों का उद्धार और शतदूषणीग्रन्थ पर गम्भीर प्रहार प्रायशः शतदूषणी में उल्लेखित क्रमानुसारही किया है । जिससे न केवल चिरचर्चित केवलाद्वैत दर्शन पर उद्भावित दोषों का उद्धार होगा अपितु केवलाद्वैत दर्शन के ईर्ष्यालुओं को सदा सदा के लिए चुनौती होगी । जिसका उत्तर प्रबुद्ध व्यक्ति ढूँढने का प्रयास नही करेगा, अपितु अपनी भूलपर पश्चातापकर उसका सुधार करेगा और अपने अनुयायिओं को भी उसी मार्ग से चलने के लिये प्रेरणा देगा । केवलाद्वैतवादियों का समाज अद्वैत परिशुद्धिनिबन्धकार का चिरकाल तक अधमर्ण रहेगा । क्योंकि इस रचना से केवलाद्वैतवादियों का समाज सदा सदा के लिए गौरवान्वित होगा । ऐसा हमारा विश्वास है ।

इस अद्वैतपरिशुद्धि ग्रन्थ के पढ़ते समय तत्व बोध जिज्ञासुओं को तत्त्व का बोध होगा, किन्तु शतदूषणी ग्रन्थ पर मिथ्या अभिनेवेश रखने वालों को अपना दुराग्रह छोड़ने के लिए विवश होना पड़ेगा । जिसे पढ़ने के बाद निष्पक्ष पाठक स्वयं ही कहेगें, कि शतदूषणी ग्रन्थ दुराग्रह एवं दोषपूर्ण रचा गया है । शतदूषणी में दुराग्रह रखने वाले यदि अपने दुराग्रह का परित्याग कर अद्वैत परिशुद्धि का अनुशीलन करेगें तो उन्हें अवश्य वैदिक सिद्धान्त का बोध होगा और वे उस निष्कंटक राजमार्ग से चलकर स्वयं परमशान्ति एवं परमानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करेंगे । अन्यथा दुराग्रहवश वे परमार्थ से वंचित ही रह जाएगें । ऐसे लोग वैदिक सिद्धान्त से दूर हटकर स्वयं कल्याण मार्ग से वंचित रहेंगे, और दूसरे भूले भटके को भी उस रास्ते में चलने की प्रेरणा देकर प्रत्यवाय के भागी बनेगें ।

अतः निष्पक्ष पाठकों को हमारी नेक सलाह है, कि वे दुराग्रह छोड़ वैदिक विद्वानों की सन्निधि में जाकर वेद के तात्पर्य का अवगाहन करें ।



शुभाशंसा

यतिमण्डलमण्डनो मनीषिमूर्धन्यो महामण्डलेश्वरः स्वामीह काशिकायामधिगतन्यायवेदान्तादिनिखिलशास्त्रतलस्पर्शिज्ञानानन्दतयेवान्वर्थाभिधानो हिमगिरिरिवोन्नतधवलयशाः श्रीमत्काशिकानन्दगिरिमहाराजो मोहमय्यामप्यनौ विराजमानो 'यद् वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तभिंस्तपस्यन्त्यमी' इति महाकवेरुक्तिमेदानीं वस्तुतश्चरितार्थयन् स्वाध्यायाध्यापनानेकग्रन्थप्रणयनपरायणो वरीवर्तीत्यावेदयन्नाहमतिशये ।

एतेषां न्यायवेदान्तागमादिविषयकाः पञ्चविंशतेरधिकग्रन्थाः मौलिका व्याख्यात्मकाश्च प्रकाशमधिगताः संस्कृतवाङ्मयं विभूषयन्तः सन्तीति चिराय सन्तुष्यति नश्चेतः । स्वामिवर्यैरभिनवः प्रस्तुतोऽयम् 'अद्वैतपरिशुद्धिः' इति नामा ग्रन्थो वाग्विस्तरानपेक्षः स्फुटतया स्वयंप्रकाश इव स्वतो व्याख्यातः निर्मलादर्श इव परिशुद्धाद्वैततत्त्वप्रकाशकतयाऽन्वर्थाभिधानो मनोऽवधानमात्रेणाशु जिज्ञासुजनान् नूनमुपकुर्यादित्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि । स्वामिवर्याणां प्रकाण्डवैदुष्यं गद्यपद्योभयविधवाग्वैभवं च तेषां सर्वकृतिषु शक्यते द्रष्टुम् ।

शतदूषणीं कल्पयित्वा प्रतिपक्षिभिरद्वैतवादे प्रक्षिप्ताक्षेपधूलीनां प्रस्तुतग्रन्थमाध्यमेन युक्तिमार्जन्यनुगतैर्निजैर्विमलैः श्लोकजलैः प्रक्षालनेऽतुलं साफल्यमलम्भि स्वामिपादैरिति निर्विचिकित्सं शक्यते वक्तुम् । प्रतिश्लोकमव्यवधानेन पूर्वोत्तरपक्षरोरुभयोः समावेशस्य स्पृहणीयां पद्धतिमाधृत्य स्वामिवर्यैरध्येतृणामद्वैततत्त्वबोधो नितरां सरलः कृतः । इत्थञ्चैतेषां कृतिरियं श्रवणमननयोः संक्षिप्तेनापि पूर्णेन कलेवरेण सह पाठकानां समक्षमास्ते । अस्यां कृतौ अद्वैतवेदान्तस्य समस्तसिद्धान्ताः समासतः समाहिताः सन्ति ।

शब्दजन्यप्रत्यक्षनिरूपणप्रसङ्गे तार्किकमतनिराकरणप्रकारः काञ्चिदभिनवां रीतिमञ्चति । स्थलान्तरेष्वपि विषयसमर्थने उपस्थापिता युक्तयो

नूतनाश्चाशु हृदयस्पर्शिन्यश्च सन्ति । यथा च प्रत्यक्षापेक्षया शास्त्र-प्राबल्यमित्यादिप्रकरणेषु स्फुटमस्ति ।

जीवेश्वरभेदभङ्गप्रकरणेऽपूर्वामाशु हृदयग्राहिणीञ्चोपपादनपद्धतिमनुसृत्य दास्यभावरूपाया मुक्तेः श्रुत्यनभिप्रेयताऽत्यन्तसरलतयाऽभिव्यञ्जिता । महावाक्यानां जीवपरैक्ये तात्पर्यमिति निरूपणप्रकरणे उक्तम्–

शरीरत्वं च पृथ्व्यादेः केवलं पारिभाषिकम् ।
चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयता नैव तस्येश्वरं प्रति ॥
चैत्रो देहं तदन्तःस्थः स्वेच्छया चालयेद् यथा ।
तथेशोऽकरणोऽन्तःस्थः स्वेच्छया चालयेज्जगत् ॥ इति ।

तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि जीवब्रह्मैक्यस्य बोधकानि 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्येवमादिस्मृतिवचनानि च तस्योपबृंहणानि सन्तीति प्रतिपाद्य–

'समानाधिकरण्यं न तदर्थाभेदमन्तरा ।
देहदेहितया त्वेतदभेदाध्यासहेतुकम् ॥'

इत्यादिपद्यैः 'अहं देवदत्तः इत्यादिसामानाधिकरण्यव्यवहारोऽध्यास-मूलक इति स्फुटीकृतम् ।

आशास्महे अद्वैतमते सत्स्वपि बहुषु शारीरकभाष्यातिरिक्तेषु खण्डन-खण्डखाद्य–चित्सुख्यद्वैतसिद्धिप्रभृतिग्रन्थेषु स्वामिश्रीकशिकानन्दगिरिमहा-राजानामभिनवमिदमभिनन्दनीयमनुष्ठानमिदानीमपि प्रश्नानां समाधाने श्रौत-सिद्धान्ते संरक्षणे च महद् भूमिकाभावमासादयिष्यतीति शम् ।

निवेदयति

चैत्रपूर्णिमा, **केदारनाथत्रिपाठी**
२०५२ वि. सं. राष्ट्रियपण्डितः (राष्ट्रपतिसंमानितः)
काशिविद्वत्परिषदुपाध्यक्षश्च ।

श्रीहरिः शरणम्

भव्यानवद्यपरिपूतविचारपूर्ण-
ग्रन्थप्रकाशनविधौ परमादराय ।
सारस्वतप्रणयपूर्णहृदम्बराय
आनन्दकाशिगिरये नतयः शिवाय ॥

*

ज्ञानोत्तुङ्गगिरे शृङ्गाद् धूर्जटेः करुणा परा ।
भागीरथीसमा भाति विद्यते तव भारती ॥

परममाननीया वादिदन्तिपञ्चानना महामण्डलेश्वराः श्रीकाशिकानन्द-गिरियतिवरिष्ठाः प्रणतिपुरःसरं विज्ञाप्यन्ते—

तत्रभवद्भिर्भवद्भिः "अद्वैतपरिशुद्धिः" नाम्नी पुस्तिका विरचिता । विद्वच्छिरोमणीनां कार्यमिदं साम्प्रतमेवेति मे मतिः

एतादृशमद्वैतविवरणं लोककल्याणकामनया हिन्दीभाषाटीकया सह-केनाप्यद्यावधि न विहितम् ।

पुस्तिकेयमनितरसाधारणं मनोहरं रूपमाबिभर्ति । अध्ययनेनास्य पुस्तकस्य ग्रन्थकर्तुः पण्डित्यम्परिश्रमश्च दृग्गोचरीभवति । सरलया शैल्या पूर्वोत्तरपक्षे विशदीकृत्य अद्वैततत्त्वं विशदयन्तीय'मद्वैतपरिशुद्धि'स्तत्त्व-जिज्ञासूनां ज्ञानाभिवर्धने साहाय्यमाचरन्ती विजयतादित्याशासे ।

द्वादशदर्शनकाननपञ्चाननान्तत्रभवतां शब्दप्रवृत्तिमनुरुन्धानाऽद्वैतपरि-शुद्धिः शतदूषणीपरिहारमुद्वहन्ती सपक्षानाह्लादयन्ती, रजसा मध्यंस्था-नभिभावयन्ती, तमसा विपक्षान् विमोहयन्ती, समस्तान्-स्वेच्छया व्यस्यन्ती, (भवदीया "अद्वैतपरिशुद्धिः) क्वचित् सरागान्, क्वचित् सरोषान्, क्वचित् कुत्सितान्, क्वचित् स्मेरान्, क्वचित् दृगन्तान् पातयन्ती प्रख्यापयितु-मात्मानं पुरतोऽस्माकमतिशालीनतया समुपस्थितेति नितरां प्रमोदामहे । दिष्ट्या सेयमचिरादेव सूत्र-भाष्यग्रन्थिनिर्मोकं विधायाद्वैतस्वारस्यं प्रत्याय-येदिति भगवन्तमुमारमणं रमारमणञ्च प्रार्थयामहे ॥

भावत्कः शुभचिन्तकः
गजाननशास्त्री

॥ ॐ॥

नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यैः स्वरूपतो निर्विशेषैरपि द्वादशदर्शनकाननकेशर्यादिनानाविधविशेषसमलङ्कृतैर्महामण्डलेश्वरश्रीकाशिकानन्दस्वामिप्रवरैः प्रणीतेयमद्वैतपरिशुद्धिर्न परं मेऽपितु समेषामेवातीव प्रमोदाधायिकाऽद्वैतपथप्रवर्तिष्णूनां मुमुक्षुजनानाम् ।

अद्वैतवादोऽयं राजपथो नात्र द्वैतमपि किञ्चिद् विरुध्यते । अद्वैतमेव हि सर्वस्यापि द्वैतजातस्योपजीव्यमधीष्ठानभूतमविद्यापरिकल्पितत्वाद्द्वैतसंसृतेः "अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "एकमेवाद्वितीयम्" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" इत्यादिशतशः श्रुतिवाक्यैरुद्घूष्यमाणम् । अत एवान्ते "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः" इतिन्यायात्तदेवावशिष्यते—"जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैवशिष्यते" इत्याद्युक्तेः । किन्तु परिकल्पितमपि द्वैतमद्वैततत्त्वसौधसदस्यारुरुक्षूणां सोपानतयोपयुक्तन्नालीकतामप्यावहति । अत एव शास्त्रेषु ब्रह्मणः सविशेषस्वरूपप्रतिपादनमपि संगच्छते । तदक्तुं कल्पतरुकृद्भिः—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ इति ।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ इति च ।

निश्चप्रचमिदं यत्परमार्थन्त्वद्वैतं निर्विशेषतत्त्वमेव सर्वविधबाधविरहितं सर्ववेदान्तमहातात्पर्यविषयीभूतम्—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

इति नानाविधैर्वचोभिरुपगीयमानं द्वैतादिवादिभिरुत्प्रेक्षितैः कर्कशतर्क-शतैरप्यखण्डनीयम् ।

तदुक्तं श्रीमद्भगवत्पादैः– "नासौ नास्ति नाधिगम्यते इति वा शक्यं वदितुं स एष नेति नेत्यात्मशब्दाद् आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् । य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्" इति । "आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्, य एव हि निराकर्ता, तदेव तस्य स्वरूपं नह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते" इति च ।

यद्यपि "येन केनापि यत्किञ्चित्खण्ड्यते तत्सर्वं सविशेषतया मुख्य-वेदान्तसिद्धान्तबहिर्भूतमेव" "यत्तु सुरगुरुणापि न शक्यं खण्डयितुं तदेव मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः" इत्याचार्यप्रवरोक्ता वस्तुस्थितिः, तथापि निर्विशेष-माक्षिपामि" "निर्विशेषं निराकुर्मः" इत्यादिभ्रमवशात् केषाञ्चिद् धीधना-नामपि तत्र विशेषतः प्रवृतिर्जायमाना न निषेद्धुं सर्वथा शक्या ।

व्यक्तञ्चैतद् यदद्वैतमेव तदितरवादिभिर्लक्ष्यीकृतं निराकर्तव्यतया स्वसिद्धान्तप्रतिपादनापेक्षयाऽऽधिक्येन शतदूषण्यादिग्रन्थप्रबन्धेषु । किन्तु सम्भावितपरद्वेषमूलकतया श्रेयःपरिपन्थितया च तस्याः सरण्या हेयत्व-मेवेति प्रामुख्येन श्रीमद्भगवत्पादीयवेदान्तसिद्धान्तरहस्यमनुसृत्यैव प्राणैषीद् ग्रन्थरत्नमिदं ग्रन्थकारः । तेनैव च तिरस्कृतः परपक्षप्रतिक्षेपव्रातोऽपीति शतदूषणीपरिहाराभिधानमपि नानौचीतिं चुम्बति । अत एव तदनुरूपाण्येव प्रकरणानि परिकल्पितानि ।

तत्र तमेव विदित्वेत्येवकारस्वारस्यान्निर्विशेषतत्त्वज्ञानस्यैव परमप्रयोज-नोपायत्वात्तस्यैव ब्रह्मशब्दमुख्यार्थत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिज्ञानात्तस्य चानाद्य-विद्यावरणवशाज्जिज्ञास्यत्वमपि संगच्छत इति श्रीमद्भगवत्पादीया सरणि-रनुसृता सम्यक् स्वामिप्रवरैः समारम्भे । तदनु शेषशेषित्वादौ प्रमाण-विरहात् फलजिज्ञास्यादिभेदाच्च पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वं "वस्तुतन्त्रे न विज्ञाने" इत्यादिना वस्तुतन्त्रस्य ज्ञानस्य विधेयत्वञ्च निरस्याज्ञानलेशवशाद् बाधितानुवृत्त्यैवोपदेशाद्युपपत्तिः समर्थिता ।

ततो विविदिषासाधनयज्ञादिना विशुद्धसत्त्वस्य साधनचतुष्टयसम्पन्न-स्याधिकारिणः प्रमाणादीनां सत्त्वानभ्युपगमेऽपि कथाधिकारं निरूप्य शब्द-जन्यस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वमवेद्यत्वन्नित्यसंवित्स्वरूपत्वं निर्विकारत्वं साक्षित्वमद्वितीयमज्ञानाश्रयत्वं तत्रैव वेदान्तस्य प्रामाण्यम-खण्डार्थत्वं महावाक्यानां ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्यं जगतो नानाविधैः प्रमाणैर्मिथ्यात्वं जीवब्रह्मणोर्जीवानाञ्च पारस्परिकभेदस्याविद्यकत्वमवि-द्याया भावरूपत्वमनिर्वचनीयत्वं तन्निवृत्त्यात्मकं मोक्षस्वरूपञ्चेति सर्वेऽपि वेदान्तसिद्धान्तसिद्धा प्रसिद्धतमाः प्रमुखाः पदार्थाः सम्यग् विवेचिताः श्रीस्वामिवर्य्यैः ।

यद्यप्यत्र श्रीमदनन्तकृष्णशास्त्रिणामप्यस्ति सत्प्रयासः शतभूषणीनाम्ना-प्रसिद्धोऽवलोकितश्च मयकातथाप्यत्र गद्यपद्यात्मकं प्रकारान्तरं मनोरमं युक्त्यन्तरञ्च स्वोपज्ञं परिकल्प्य विरचितं ग्रन्थरत्नमिदं ततोऽप्यधिकं वेदान्ततत्त्वप्रतिपत्तिसाधनं भवेदद्वैतवेदान्ताध्येतॄणां तदध्यापकानाञ्च विदुषा-मिति द्रढियान्नो विश्वासः । लघुकायात्मकेऽप्येकस्मिन्नेव पद्ये प्रायः स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यामद्वैतवेदान्ततत्त्वार्थमुपपादयन्तः श्रीस्वामि-पादाः संस्कृतभाषयाऽनुद्यापि पर्याप्तममन्वाना विशेषत आधुनिका अपि वेदान्ततत्त्वजिज्ञासवस्तदीयस्तत्त्वरहस्यं सुगमतयाऽवगच्छेयुरितिमनीषयैव सरसया सरलया हिन्दीभाषयाप्यलञ्चक्रुः ।

अन्ते चाहं ग्रन्थरत्नस्यास्य सर्वत्राप्रतिहतं प्रचारं प्रसारञ्च कामयमानो भगवन्तमकारणानुग्रहैकवपुषं विश्वगुरुं श्रीश्रीविश्वेश्वरं प्रार्थये यत्स-मादरणीयाः श्रीस्वामिप्रवराः स्वस्था ईदृशेन लोकोपकारिणा कार्येण सर्वदैवोपकुर्वन्तु मुमुक्षुजनानिति ।

प्रो. सुधांशुशेखरशास्त्री
का. हि. वि. वि.
वाराणसी
२०५२ वै. जे. शु. ११

निवेदनम्

घोरेऽस्मिन् कलहप्रिये कलियुगे कामार्थतन्त्रे भृशं
भक्तिज्ञानविरागकर्मरहिते शोकार्णवे मज्जताम् ।
स्वात्मानन्दचिदेकरूपतरणी नित्या दृढा शोभते
वाणी वेदमयी यतीन्द्रविदुषः श्रीकाशिकास्वामिनः ॥ १ ॥

श्रीकाशिकायतिवरस्य पवित्रवाचः
वेदान्तसारनिवहाः कलिकालताप्तान् ।
सन्तर्पयन्ति नितरां च विबोधयन्ति
नित्यं सुखं परचिदात्मनि बोधरूपम् ॥ २ ॥

श्रुतवता प्रतिभानवताऽखिलः
सुकृत एष निबन्धचयो महान् ।
सकलशोकहरो जगतामयं
हिततमस्ततमस्तमसोऽपहः ॥ ३ ॥

गम्भीरविस्तीर्ण मपारमब्धिधिं
श्रीकाशिकानन्दयतिप्रबन्धम् ।
को वाधिगन्तुं सहसा समर्थः
समस्थितं बुद्धिबलोऽपि विद्वान् ॥ ४ ॥

समस्तविद्यामधिकाशि काशिका
यतीश्वरः स्वप्रतिभाप्रकाशतः ।
यशांसि वाग्मित्वनिगूढगाहनं
गुणान् पराँश्चात्मगुणैः स लब्धवान् ॥ ५ ॥

विरच्य वेदान्तनिबन्धसंचयान्
आबाधधीर्द्वादशदर्शनादिषु ।
अखण्डवृत्तिः परमात्मनि स्थितः
जयत्यसौ वाग्घरिकाशिकायतिः ॥ ६ ॥

तमःसु भेदप्रभवेषु नूनं

श्रीकाशिकानन्दविभाकरेण ।
छिन्नेषु भिन्ना हतलोचनास्ते
शमं लभन्ते न च भेदिलोकाः ॥ ७ ॥

कुतर्कजालैः कुमतिप्रसूतैः
प्रच्छन्नमद्वैतमतं विशुद्धम् ।
श्रीकाशिकानन्दयतेः प्रतापात्
विद्योतितं तन्नितरां चकास्ति ॥ ८ ॥

सर्वदर्शनकान्तारे स्वच्छन्दं प्रविहारिणम् ।
काशिकाकेहरिं श्रुत्वा विलीना वादिनो मृगाः ॥ ९ ॥

अद्वैतग्रन्थगूढेऽप्रतिहतगतयो ग्रन्थिजाले क्रमन्ते
निःशङ्कं हृष्टचित्ता इति परकरिणो विद्रुता भीतिमन्तः ।
स्वं स्वं शास्त्रं वनं ते शरणमधिगता नो स्थितिं संलभन्ते
तत्राप्येते प्रविष्टा विनदनकुशलाः काशिकानन्दसिंहाः ॥ १० ॥

वाचः स्तुतिः—

वहन्ती निर्बाधं विषमगिरिदुर्गेषु पथिषु
प्रसन्ना गम्भीरा हरिपदभवा शंकरगता ।
सुधाधाराऽधृष्या परमपुरुषार्थं प्रदधती
पवित्रा वाग् गङ्गा जयति विमला मङ्गलयतेः ॥ ११ ॥

वाक्यप्रमाणपदगाः प्रबलोपपन्नाः
भेदोरसि प्रहितलक्षपदप्रहाराः ।
सद्युक्तिभिः क्षततमःशतदूषणीकाः
श्रीकाशिकायतिवरस्य जयन्ति वाचः ॥ १२ ॥

छन्दोमयी विविधदर्शनकाननेषु
हृष्टा प्रसन्नवदना विचरत्यशङ्का ।
अद्वैततत्त्वमहिता दधती सुचित्तं
श्रीकाशिकायतिवरस्य विभाति वाणी ॥ १३ ॥

कारिकावैशिष्ट्यम्—

राजन्ते स्फुटगूढार्थाः शारीरकपदानुगाः ।
वैङ्कटीः समतिक्रम्य काशिकानन्दकारिकाः ॥ १४ ॥

शब्दाडम्बररहिता हेतुवाक्यविभूषिताः ।
श्रुतिस्मृतिमताः श्लिष्टाः प्रतिभाभिनवोद्गता ॥ १५ ॥

कवित्वललिताः सर्वशास्त्रपाण्डित्यमण्डिताः ।
महार्हमणिभिः श्लोकैः गुम्फिता वृत्तविस्तराः ॥ १६ ॥

निदर्शयन्त्यः संक्षेपशारीरकपथं परम् ।
परेषां वृत्तसम्पन्नां पद्धतिमधिशेरते ॥ १७ ॥

अहो त्रिमुनिसंशुद्धा विद्वच्चित्तमनोहराः ।
सरला ललिता गूढा गभीराश्चार्थपेशलाः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्याः क्वचिदत्यन्तसूक्ष्मार्था विबुधैरपि ।
अलङ्घ्या नाधिगम्याश्च बुधैरल्पमतिश्रुतैः ॥ १९ ॥

स्वाभिधेयेष्वसंदिग्धाः प्रमाणप्रवणा नवाः ।
ओजःप्रसादमाधुर्यगुणाढ्या हृदयङ्गमाः ॥ २० ॥

विजयन्ते विजेष्यन्ते ध्रुवमेताः सुकारिकाः ।
विदुषो मङ्गलयतेः काशिकाख्यस्य धीमतः ॥ २१ ॥

शतं वेङ्कटनाथेन दूषितं शाङ्करं मतम् ।
सहस्रं काशिकानन्दो दूषयामास तन्मतम् ॥ २२ ॥

अद्वैतपरिशुद्धिः—

अद्वैततत्त्वस्य परात्मनः का
स्वयं विशुद्धस्य च नाम शुद्धिः ।
ग्रन्थेन विद्वान् खलु काशिकाख्यः
रामानुजध्वान्तमपाकरोत् सः ॥ २३ ॥

निर्विशेषस्य शुद्धस्य जिज्ञास्यत्वं परात्मनः ।
ज्ञानाविधेयता शब्दजन्यज्ञानापरोक्षता ॥ २४ ॥

मीमांसयोरैकशास्त्र्यमेकत्वं संविदात्मनोः ।
संविदो निर्विकारत्वं नित्यत्वादिकमेव च ॥ २५ ॥

जीवेश्वरभिदाभङ्गः जीवाणुत्वनिवारणम् ।
तिरोधानोपपत्तिश्चाखण्डवाक्यार्थसाधनम् ॥ २६ ॥

मिथ्यात्वं जगतो ब्रह्म विवर्तादिकमेव च ।
एवमद्वैतवेदान्तसिद्धान्ताः प्रतिपादिताः ॥ २७ ॥

युक्तिभिरुपपन्नाभिः श्रुतिभिःस्मृतिभिस्तथा ।
परदुर्मतिदुस्तर्कैस्तमोभिरावृताः परैः ॥ २८ ॥

शास्त्रवैदग्ध्यसंभेद्यं श्लोकवाक्यं यतेर्लघु ।
वह्वर्थं सारसंभासि द्वैतच्छिच्चित्तशोधकम् ॥ २९ ॥

स्वोपज्ञटीकाग्रन्थस्य विस्पष्टा शोभतेतराम् ।
पूर्वोत्तरपक्षमता नवाभिर्युक्तिभिर्वृता ॥ ३० ॥

सद्दर्शनं शुभ्रमतिः पाण्डित्यं स्वं तलान्तगम् ।
प्रयोगवित्त्वं सुस्पष्टं कवित्वं विषयज्ञता ॥ ३१ ॥

उत्तरोत्तरयुक्तिश्च परोक्तिच्छेदिकौशलम् ।
एतदन्यच्च वैशिष्ट्यं ग्रन्थेऽस्मिन् परिलक्ष्यते ॥ ३२ ॥

काशिकानन्दयतिना वैदुष्यं दधता परम् ।
अद्वैतपरिशुद्ध्याख्ये ग्रथिते श्रमयत्नतः ॥ ३३ ॥

एतस्य ग्रन्थरत्नस्य तत् कर्तुर्विदुषोऽपि च ।
यशःसाफल्यविजयं मुदिताः कामयामहे ॥ ३४ ॥

द्वादशदर्शनसंग्रहः —

आर्याविंशतिशतकप्रबद्धः संग्रहो महान् ।
द्वादशदर्शनानां श्रीकाशिकाकृतिरीड्यते ॥ ३५ ॥

तत्तद्दर्शनसिद्धान्तं दर्शयत्तद् यथामतम् ।
चमत्करोति चेतांसि ग्रन्थरत्नं सतां जयत् ॥ ३६ ॥

अद्वैततर्कप्रतिविद्धगात्राः
परे द्रुता द्वैतवनं प्रविष्टाः ।
तत्राप्यहो नो विविदुः शमं ते
श्रीकाशिकाकेहरि-धर्षणेन ॥ ३७ ॥

संक्षेपतो द्वादशदर्शनानां
यथार्थमाख्यानमुदारवाचा ।

रामानुजादेरपि सम्मतं यत्
सभक्तितत्त्वं समदर्शयत् सः ॥ ३८ ॥

लोकायतं यत् सकलैर्विनिन्द्यं
समुद्धृतं राष्ट्रहिताय सम्यक् ।
प्रत्यक्षलोकस्य हिताय चैतद्
विलक्षणस्वप्रतिभाबलेन ॥ ३९ ॥

श्रीकाशिकानन्दगिरेः प्रभूता
सरस्वती शास्त्रपथे वहन्ती ।
पुनाति लोकत्रयमद्भुता सा
गङ्गेव पुण्यां विमलप्रभावा ॥ ४० ॥

लोकायतमतं लोकाभ्युदयाय प्रदर्शितम् ।
जैनं तपोऽर्थं वैराग्यसिद्ध्यर्थं सौगतं मतम् ॥ ४१ ॥

काणादं गौतमं साख्यं विवेकार्थं विवेचितम् ।
भक्तये विविधं प्रोक्तं वैष्णवं तद् विशेषतः ॥ ४२ ॥

योगश्चित्तविशुद्ध्यर्थं कर्म पापक्षयाय वै ।
अद्वैतं मुक्तये प्रोक्तं ग्रन्थे दर्शनसंग्रहे ॥ ४३ ॥

सर्वाचार्यनमस्कारपुरःसरवचोऽमृतैः ।
तन्मतं संगमयता चिदद्वैतसुखात्मनि ॥ ४४ ॥

साधनान्येव विविधान्यन्यानि दर्शनानि च ।
द्रष्टव्यमेकमद्वैतमिति तत्त्वं निदर्शितम् ॥ ४५ ॥

भक्त्या लभ्यस्त्वसावात्मेत्यन्ते भक्तिः प्रदर्शिता ।
विदुषा वादकथया महता यतिना धिया ॥ ४६ ॥

सर्वसारदृशा प्रेयःश्रेयोर्थं संग्रहः कृतः ।
एवमन्यत्र दुर्लभ्यः सर्वदृष्टिसमन्वयः ॥ ४७ ॥

स्पष्टं निराग्रहं सम्यग् व्याख्यानञ्चापि सम्मतम् ।
अद्वैतदृष्टिस्तत्रापि राजते यतिसम्मता ॥ ४८ ॥

कठोपनिषत्प्रवचनसन्दर्भः—

प्रसादवैदुष्यगुणैरुपेतं
हिताय लोकस्य च काठकस्य ।
व्याख्यानमत्यद्भुतमस्ति हिन्द्यां
पदार्थव्यक्तिस्फुटमिष्टबोधम् ॥ ४९ ॥

पदच्छेदपदार्थोक्तिशास्त्रव्युत्पत्तियोगतः ।
सदृष्टान्तमनोहारि सर्वग्राहि सुभाषितम् ॥ ५० ॥

कठप्रवचनं चारु संसारार्णवतारणम् ।
आत्मज्ञानरसं रम्यं काशिकायतिना कृतम् ॥ ५१ ॥

ईशावास्योपनिषद्वार्त्तिकम्—

वार्त्तिकं रचितं नूनं स्वोपज्ञं पूर्वसम्मतम् ।
ईशावास्योपनिषदो विद्भिः साश्चर्यमीक्षितम् ॥ ५२ ॥

"एवमीशा जगद् वास्यमित्येवमिह बोधिते
विधेयस्तेन वाक्येन न ज्ञानं नापि वासनम्" ॥ ५३ ॥

इत्येवं पदललिता गूढार्था शाङ्करमतम् ।
रक्षन्ती कारिका भाति युक्तिभिरुपपत्तिभिः ॥ ५४ ॥

अद्भुतं तस्य पाण्डित्यं वैदुष्यं प्रतिभाधनम् ।
श्रीकाशिकागिरेः श्लोकबद्धसिद्धा सरस्वती ॥ ५५ ॥

प्रो. पारसनाथद्विवेदी
वेदान्तविभागे
सङ्कायाध्यक्षः
दर्शनसङ्काये
सं. सं. वि. वि. वाराणसी

●

भूमिका

अद्वैत सिद्धान्त के प्रति आस्था भारतीय जनता में चिरकालसे जड़ जमाये हुए थी और अभी-भी उस सिद्धान्तके अनुयायियों की संख्या अन्य की अपेक्षा अधिक ही है। प्राचीन समय में अद्वैतका महत्व सर्वोपरि था, यहाँ तक कि अद्वैत पद भी लोगों को बड़ा प्रिय लगता था। इसी कारण द्वैतवादी भी- श्रीमत् रामानुज-निम्बार्क आदि– अपने-अपने दर्शनों के नामों के साथ अद्वैत पद जोड़कर गौरवका अनुभव करने लगे। जैसे विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि। भले ही उनको विशिष्टं च विशिष्टं विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् अथवा शरीरशरीरिभावेन विशिष्टं सद् अद्वैतं इत्यादि रीति अत्यन्त क्लेशसे शब्दार्थ करना पड़ा। अद्वैतपदके गौरव में मुख्य कारण यही था कि वेदान्तदर्शनों के मूल उपनिषदों में अद्वैतकी चर्चा जगह-जगह आयी है–"एकमेवाद्वितीयं" "नेह नानास्ति किंचन" "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" "शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इत्यादि। इनमें स्पष्ट अद्वैतवर्णन है। इन श्रुतियों का समर्थन करनेवाले स्मृतिपुराणवचन भी असंख्य हैं। सन्त महात्मा भी अद्वैत सिद्धान्तका ही प्रचार करते रहे जो आज भी वैसे दिखाई पड़ते हैं। कुल मिलाकर पूरे भारतीय-जन-मानस पर अद्वैतसिद्धान्त ही छाया हुआ था जिसकी छाप आज भी विद्यमान है।

अद्वैतसिद्धान्त श्रद्धा एवं बुद्धिका अन्तिम निष्कर्ष है। मानवता (मनन) का चरम परिणाम है। पुरुषकार (पुरुषार्थ) का चरम लक्ष्य है। केवल बुद्धि (तर्क) से नहीं, और केवल श्रद्धासे भी नहीं, दोनों के सामञ्जस्यसे ही यहांतक पहुंचा जा सकता है। केवल बुद्धिबल (तर्क) का अवलम्बन करनेवाले बौद्ध बहुत दूरतक साथ चलनेके बाद भटक गये और अन्तमें शून्यवाद के अन्धकारमें जा गिरे। जहाँ से आगे उनको कुछ सूझा नहीं। केवल श्रद्धाको लेकर चलनेवाले सामान्य जन अपने गुरुओंके बताये हुए मार्ग-कुमार्गमें चलकर हजारों मत-मतान्तरमें बँट गये

और कलह, ईर्ष्या एवं परासहिष्णुताके कंटीले जंगलमें जा फंसे। तभी तो मनुको कहना पड़ा था—"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" तर्कयुक्त विचारसे ही धर्मका यथार्थज्ञान हो सकता है।

बौद्धमत एवं वेदान्तमतमें अन्तर

बुद्धका एक नाम यद्यपि अद्वयवादी भी है परंतु वह श्रौत अद्वितीय अर्थमें नहीं है। एकका निषेध करते तो अनेकवादी कहना पड़ता तब उसका अर्थ बहुवादी हो जाता। अबहुवादी कहते तो बहुत न होनेपर भी दो तो हो ही सकते थे। क्योंकि संस्कृतमें दो को 'बहु' नहीं कहते। अतः अद्वयवादी कहा। (षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः इत्यादि बुद्ध-पर्यायमें पढ़े गये हैं।) अद्वयका अर्थ है परस्परविरुद्ध दोसे भिन्न। भाव और अभाव दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इन दोनोंसे भिन्न है शून्य। घट भी नहीं और घटाभाव भी नहीं। तब क्या होगा? शून्य ही तो होगा। उस शून्य सिद्धान्तको माननेवाला अद्वयवादी है।

आजकलके कुछ बौद्धानुयायी मनीषीगण नागार्जुनको

"सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते"

—सत् असत् या सदसत् ये तीन पक्ष जिसके नहीं यह उद्धरण और

"न सन्नासन्न सदसद्धर्मो निर्वर्तते यदा"

—कार्य सत नहीं असत् नहीं और सदसत् भी नहीं और कारण भी सत्, असत् या सदसत् नहीं यह उद्धरण देकर कहते हैं कि बौद्ध शून्यवादी नहीं थे, क्योंकि असत् का भी निषेध किया है। किन्तु ये नवीन विचारक बौद्धसिद्धान्तसे पूर्ण परिचित नहीं दीखते। उक्त वचनों में सत् का भाव और असत् का अभाव अर्थ है। भाव और अभाव का निषेध किया है शून्यका नहीं इसलिये—

"तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते"

इस प्रकार अन्यत्र भाव और अभाव शब्द से वर्णन किया है। तात्पर्य यही कि भावाभावविलक्षण शून्य ही बौद्धोंको अभिप्रेत है। अतएव वेदान्तमतसे तुलना करना भी भारी भूल है। वेदान्त तो सत्, चित्

आनन्द, पूर्णतत्त्वका प्रतिपादन करता है। कहां पूर्णता और कहां शून्यता ? आकाश-जमीनका फरक नहीं, आकाश-पातालका फरक है। इस शून्यवादमें वे कैसे पहुँचे ? इसका कारण आचार्य शंकर यही कहते हैं–"अनादृत्य श्रुतिं" श्रुतिका अनादर किया। तथा श्रद्धाका परित्याग किया, केवल तर्कपर आश्रित रहे। बुद्धिबलपर ही आश्रित रहे। "अनुमानैकचक्षुषः" ऐसा विशेषण उनके लिये दिया।

"अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः॥"

वैष्णवादिमत

दूसरी ओर केवल श्रद्धालुओं की बात है। श्रद्धाका होना परम आवश्यक है। श्रद्धासे ही परमार्थतत्त्वका बोध प्राप्त होता है किन्तु वह श्रद्धा अन्ध हो जाती है, अन्धश्रद्धा हो जाती है तो अनर्थका कारण बन जाती है। अपनेको गुरु कहलाकर स्वार्थ सिद्ध करनेवाले कुछ पाखण्डवादियों ने भक्तिको माध्यम बनाकर अपनी बुद्धि का दुरुपयोग किया और दूसरोंकी बुद्धिको कुण्ठितकर निष्क्रिय बना दिया। वे गुरुलोग यहां तक बोल गये कि भक्तिके लिये वेदान्तका अध्ययन करना ही एक बड़ा भारी प्रतिबन्धक है। इन गुरुओंने अपने शिष्यों को बताया कि दूसरे किसीके पास जाना नहीं, उपदेश सुनना नहीं, अनन्याश्रयी होकर हमारे पास ही आओ। इन्हींको लक्ष्यकर गोस्वामीजीने भी कहा–

"श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संजुत विरति विवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥"

इन गुरुओंने "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्यादि वचनोंको आगे कर लोगोंको वेदाध्ययनसे विमुख किया। शास्त्रश्रवणसे दूर रखा। इन भक्तोंने भी वेदशास्त्रोंको तो सर्वथा त्याग दिया, अपने अपने गुरुओंके बनाये हुए छोटे मोटे ग्रन्थोंको ही सर्वोपरि माना। उन पुस्तकों को भी पढ़नेकी आवश्यकता नहीं केवल दर्शन-पूजनादिसे ही कृतकृत्यता समझी गयी। उसीको लेकर ये भक्त दूसरोंको निकृष्ट और

अपनेको उत्कृष्ट समझने लगे। इसने कंठी नहीं बांधी, यह नीच है, इसका पानी नहीं पीना चाहिये। हम उत्कृष्ट हैं इत्यादि। जहां "तृणादपि सुनीचेन" की नम्रताकी आवश्यकता है वहां वे अपनेको सर्वोपरि मानने लगे। वैष्णव कहते हैं हम ही सही हैं, हमारा ही मार्ग श्रेष्ठ है, अन्य सब असुर हैं। इसके विपरीत शैव कहते हैं कि हम ही वास्तविक मार्गपर हैं, बाकी सब पथभ्रष्ट हैं। यही स्थिति अन्य पन्थवादियोंकी भी है। ये क्षुद्रगुरु यहां तक कहते हैं कि अनन्यभावके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरे गुरुओंके पास जाओगे, उनके वचन सुनोगे, उनको प्रणाम करोगे तो भी तुम भ्रष्ट हो जाओगे, भगवानके क्रोधका पात्र बनकर नष्ट हो जाओगे, नरक में गिरोगे इत्यादि।

आज हिन्दुसमाज सैकड़ों पंथोंमें बँटा हुआ है। ईर्ष्या-द्वेषके कारण ये पंथवाले एक दूसरेके खूनके प्यासे तक बन गये हैं। फलतः समाज इतना अधिक कमजोर हो गया कि प्रथम अरब देशोंसे आये हुए मुट्ठीभर यवनोंने बुरी तरह इसे परास्त किया और बादमें यह कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंसे और अधिक मात खा गया। परलोककी बात तो दूर इहलोकमें भी गया बीता समाज बन गया और हजारों वर्षतक पराधीन रहा। अत एव केवल श्रद्धा भी खतरनाक ही है, बुद्धिवाद परम आवश्यक है।

आचार्य शंकरके द्वारा भारतीयोंमें एकताकी स्थापना

आचार्य शंकरसे पूर्व भी कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। फरक इतना ही था कि उस समय तान्त्रिकों का बोलबाला था। लोग भैरव-भैरवी आदिके चक्करमें पड़े हुए थे। थोड़े बहुत शैववैष्णववादि भी थे। बौद्धोंकी बढ़ती हुई बाढ़ ने इन सबको दबा रखा था। आचार्यको उस समय दो काम करने पड़े थे। एक तो बौद्धोंकी बढ़ती हुई बाढ़को रोकना और दूसरा सनातनियोंको एक सूत्रमें बांधना। अर्थात् बुद्धिबलको श्रद्धाके साथ जोड़ना और श्रद्धाको बुद्धिबलके साथ बांधना। ये दोनों काम उन्होंने अद्वैतवादके द्वारा सफलताके साथ संपन्न किया। पूर्ण परमात्माका प्रतिपादन लोगोंको इतना अधिक जँच गया कि उनको ऐसा लगने लगा कि अंधकारमें पड़े हुए हमें चिराग मिला। भविष्यकी

अनन्तकालीन शून्यतारूपी निराशाभरी खाईसे ऊपर उठनेका गुणावलम्बन (लिफ्ट) मिला। लोगोंको ऐसा लगा कि यह अद्वैत सिद्धान्त परिपूर्ण आनन्द आकाशमें विचरण करनेका विमान है। निराशासे वे आशावादमें आ गये। अल्प समयमें ही बौद्धोंका शून्यवादी किला ढह गया। अद्वैतके विशाल प्रासाद में लोगों को विश्राम मिला। दूसरी ओर शैव वैष्णवादि शिव विष्णु आदि पर स्थित श्रद्धा पर आंचके आनेके सन्देहसे परे होकर निजनिज इष्टदेवोंकी भक्ति करते हुए ही अद्वैतकी ओर बढ़े। इस प्रकार श्रद्धा और बुद्धिका समन्वय करते हुए यह अद्वैतवाद कुछ शतकतक पूरे भारतवर्ष में फला-फूला।

दोनोंका समन्वय बहुत अधिक लंबे समयतक नहीं चल सका। वह स्थायी नहीं हुआ। आचार्य शंकरके दो तीन शतकके बाद फिरसे दोनोंका बिलगाव शुरू हो गया। स्थार्थी गुरुओंने शिष्योंको फिरसे अंधश्रद्धा में ढकेलकर बुद्धिसे दूर किया। वही शैव-वैष्णवादिकलह पुनः उग्र हो उठा जो आजतक अपना अस्तित्व बनाये हुए है। उसे मिटाने के लिये तार्किकोंने श्रद्धासुमनपर तुषारपात करना भी शुरू किया जैसे वर्तमान-कालीन आर्यसमाजीय आदि। इस बीच आधुनिक वैज्ञानिक युग आया जिसने श्रद्धा एवं शास्त्रीयबुद्धि आदि सबको तहस-नहस किया।

परमार्थ मार्गमें चलनेके लिये इन दोनोंकी ही आवश्यकता है। आधुनिक विज्ञान भौतिक सुखसंपादन करा सकता है किन्तु शान्तिका इसमें अभाव है। वह शान्ति अध्यात्मविज्ञानमें ही है। वर्तमानमें पुनः लोग अध्यात्मकी ओर झुक रहे हैं। जैसे हमने बताया कि इसमें श्रद्धा एवं बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है। उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। मनु महाराज कहते हैं–

"श्रद्दधानः परां विद्यामददीत.........."

श्रद्धापूर्वक परा विद्याको ग्रहण करो दूसरी ओर

"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद"

तर्कसे अनुसंधान करो तो ही धर्मादिका ज्ञान हो सकता है। इन दोनों को लेकर जब चलते हैं तो अन्तिम मंजिलके रूपमें अद्वैत ही नजर आता है,

वही परम विश्रामस्थान दीखने लगता है। तर्कसे द्वैत टिकता नहीं "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इस श्रुतिके अनुसार द्वैतमें अभय भी नहीं है। उस द्वैतके निराकरणमें तर्क समर्थ है। परन्तु परम सुख शान्ति तर्कसे नहीं दीखती। वह श्रद्धाविषय श्रुतिमात्रगम्य है। तर्क एवं वेद-श्रद्धा दोनों मिलते हैं तो नेतिनेतिके साथ नित्यविज्ञानानन्दकी स्फुरणा होती है।

अद्वैतवादका प्रसार

अद्वैतवेदान्तके अतिगहन सिद्धान्तको आचार्य शंकरने दो प्रकारसे लोगोंके संमुख प्रस्तुत किया। शास्त्रमें प्रवेशवाले बुद्धिमानोंके लिये अतिगंभीर भाष्यादि ग्रन्थकी रचना कर उन्हें अद्वैतकी ओर आकृष्ट किया। भाष्योंकी प्रसन्नता और गंभीरताने तत्कालीन विद्वानोंको आश्चर्यमें डाल दिया। वाचस्पति मिश्र जैसे महान् विद्वानों के मुखसे कहलवाया— "भाष्यं प्रसन्नगंभीरं"। आचार्यने सामान्य जनताके लिये सरल प्रकरण-ग्रन्थों का निर्माण किया जो सीधे जनमानसको प्रभावित करते हैं।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

इत्यादि रीति अति सरल शब्दोंमें वेदान्तसिद्धान्तको उन्होंने अति सुगम बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अद्वैतवेदान्त लोगोंको अत्यन्त प्रिय लगा और उस समयकी प्रायः समस्त जनता वेदान्तानुयायी हो गयी। बादमें द्वैतवादके आचार्य अनेकानेक आये। बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना उन्होंने भी की। किन्तु वे बुद्धिबलसे जनताको आकर्षित नहीं कर सके। केवल अन्धश्रद्धाको शस्त्र बनाकर वे लोगोंको वशमें करनेकी ओर आगे बढ़े जिसका परिणाम क्या हुआ यह हम देख चुके। विशिष्टाद्वैत, शुद्धा-द्वैत आदिका स्वरूप क्या ? इनमें अन्तर क्या ? यह समान्य जनताको आज भी मालूम नहीं है। कुछ लोग पतला तिलक लगाते हैं। दूसरे चौड़ा तिलक लगाते हैं। अन्य नाकपरसे तिलक प्रारंभ करते है। यही सब विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदिमें फरक है ऐसा आजके लोग समझते हैं। इससे अधिक, कोई लक्ष्मीनारायणको इष्ट समझते हैं, दूसरे सीतारामको

और तीसरे राधाकृष्णको । इनका भी आपसमें पहले बड़ा झगड़ा चलता था किन्तु कुछ शीर्षस्थ वैष्णव नेताओंने मिलकर यह तय किया कि हम वैष्णव आपसमें न लड़ें ।

द्वैतवादका प्रचार

एक बात अवश्य हुई कि आचार्य शंकरकी इस सरल प्रक्रियाका उलटा-पुलटा अर्थ लगाकर जनताको दिग्भ्रमित करनेमें द्वैतवादियोंको काफी सफलका मिली । दिग्भ्रमित होना स्वाभाविक भी था । "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव" यह सुनते ही विचारकोंके सामने अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं । "ब्रह्म सत्यं" इतना अंश तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं । यद्यपि गहराईसे विचार करनेपर उस अंशमें भी बहुतसे लोग आपत्ति उठा सकते हैं । जिनका निर्देशन मूल ग्रन्थमें पाठक लोग देख लेंगे । तथापि आपात दृष्टिसे सामान्य लोगोंको उसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । ठीक है । ब्रह्म सत्य है । किन्तु "जगत् मिथ्या" और "जीवो ब्रह्मैव" यह किस प्रकार ? प्रश्न सीधा उठाते हैं कि ये जो दिखाई दे रहे हैं मकान-सड़क, अन्न-वस्त्र, वृक्ष-लता, धन-संपत्ति, पशु-पक्षी, गाड़ी-विमान आदि ये सब मिथ्या हैं क्या ? विचारक लोग आगे बढ़कर कहने लगते हैं कि यह पुरातन विचार आजके बौद्धिक युगमें निरर्थक हो गया है। आज विज्ञान यहांतक आगे बढ़ गया है कि चन्द्रलोक-मंगललोक आदि-आने जाने लगे । क्या इन सबको मिथ्या कहकर हाथपर हाथ धरे हम बैठे रहें ? या हम भी आगे बढ़ें ? दूसरा प्रश्न यह उठाते हैं कि अपने आपको ब्रह्म समझना उचित है क्या ? क्या हमारे अंदर जगतकी सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी शक्ति है ? अपने आपको महान् समझना ही अभिमान है तो ब्रह्म समझना अभिमानकी पराकाष्ठा नहीं है ? यह एक आत्मवञ्चनामात्र नहीं तो क्या है ? आपात विचारसे उपस्थित होनेवाली इन शंकाओंको ही तर्ककी दीवारसे शुद्ध कर पूर्वपक्षका ऊंचा किला द्वैतवादियोंने खड़ा किया और अद्वैतको निःसार बतानेका प्रयास किया । परन्तु ऐसी कुशंकाओंके कीचड़के उछालने मात्रसे अद्वैत सुवर्णका कुछ नहीं बिगड़ता, थोड़ी देरके लिये आभा कुछ मलिनसी भले ही दीखे, किन्तु

उसे धो डालनेपर वही पहलेवाली चमक अधिक स्पष्ट रूपसे लोगों के संमुख पुनः आ जाती है। वही यह अद्वैतपरिशुद्धि है। जो अद्वैतरत्नको निर्मल बनावे।

अद्वैतमें अविरोध

सर्वप्रथम यहां यह बताना चाहते हैं कि अद्वैतसिद्धान्तका किसीके साथ विरोध नहीं है। द्वैतवादियोंका केवल भ्रम है कि ये अद्वैती हमारा विरोध करते हैं। जैसे मार-काट दिखानेवाले सिनेमामें ऐसा लगेगा कि हमारे ऊपर मार पड़ेगी। अत एव अविरोध सुनते समय लोग चौंक पड़ते हैं। लोगोंकी धारणा ऐसी है कि अद्वैतमतमें अन्य समस्त मतोंका खण्डन है। खण्डनकारका खण्डन ग्रन्थ इसमें सहायता भी करता है। परन्तु यह ऊपरी बाल्यदृष्टिमात्र है। वस्तुतः अद्वैतका किसीके साथ विरोध नहीं हैं। यह हम आजके समन्वयवादकी आड़में नहीं बतला रहे। किन्तु अद्वैतके परम आचार्योंने ही इस बात की घोषणा कर रखी है। आचार्य गौडपादने माण्डूक्यकारिकामें स्पष्ट बताया है।

"स्वसिद्धन्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥"

अपने-अपने सिद्धान्तोंकी जो व्यवस्था है, नियम है उनमें द्वैतवादी निश्चित एवं अनुरक्त होकर इतर मतोंके साथ द्वेष रखते हुए परस्पर विरोध करते हैं। उनके साथ अद्वैतसिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि सब इस अद्वैतके ही अंग हैं।

"अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते॥"

अद्वैत परमार्थ है। द्वैत उसीका भेद है, कार्य है। द्वैतवादियोंके लिये वही कार्य परमार्थ है। अतः परमार्थतः एवं अपरमार्थतः द्वैत ही है। अतएव उस द्वैतके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है।

"अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥"

यह ब्रह्मतत्त्व अद्वैत अस्पर्शयोग है। मन, वाणी आदि किसीका स्पर्श यहां नहीं होता, अथ च समस्त प्राणियोंके लिये सुषुप्ति मूर्च्छा आदिमें तथा विशेषतः समाधिमें अनुभवात्मना प्रकाशित होता है। यह सुखरूप एवं हितरूप है। इसमें न किसीका विवाद है और न कोई विरोध है।

हमें अफसोसके साथ कहना पड़ता है कि इस अद्वैतसिद्धान्तको मूलतः समझनेका कष्ट किसी द्वैतवादीने नहीं किया। यहां तक कि अद्वैतको अपनाए हुए बहुत सारे मनीषीवर भी अद्वैत रहस्यकी गहराईमें उतरे बिना ही अद्वैतप्रतिपादन करनेमें लग गये जो और भ्रमकारक सिद्ध हुआ। साधारण मनीषियोंका यह अपराध तो क्षन्तव्य हो सकता है परंतु अपने आपको महामनीषियोंके रूपमें-आचार्योंके रूपमें प्रतिष्ठापित करने-वाले ऐसा अपराध करें तो उसके लिये क्या होगा ? श्रीरामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि सभी इस महामनीषियोंके अन्तर्गत है। अद्वैतियोंका कहना है कि आप द्वैतवादियोंके बीच हम अपना पांव हरगीज नहीं फैलाना चाहते हैं। द्वैतके बारेमें आपकों जो भी निर्णय करना हो सो कर लीजिए। व्यवहारार्थ हम उसे स्वीकार कर सकते हैं। हमारा कोई विवाद नहीं और विरोध भी नहीं।

इस अविवाद और अविरोधकी हम यहां एक संवादके रूपमें प्रस्तुत करते हैं जिससे सैद्धान्तिक स्पष्टता हो।

द्वैतवादीः– विवाद और विरोध क्यों नहीं ? आप जगतको असत्य कहते हैं, हम जगतको सत्य कहते हैं। क्या यह विवाद नहीं ? क्या इन दो मतोंमें विरोध नहीं दीखता ? द्वैत सत्य है यह हम मानते हैं।

अद्वैतवादीः– इसमें हमारा कोई विवाद नही और कोई विरोध भी नहीं है। इसे स्वीकार करनेके लिये हम तैयार हैं।

द्वैतवादीः– यह तो मतानुज्ञा है और आपका अपसिद्धान्त भी है। ऐसा अद्वैती कहें तो इन दोनों निग्रहस्थानोंसे वह निगृहीत होगा।

अद्वैतवादीः– यहाँ कोई विग्रहस्थान नहीं है। द्वैतवादी आप यह बतायें की यह जगत् सत्य पदका वाच्यार्थ है या लक्ष्यार्थ ?

द्वैतवादीः– वाच्यार्थ ।

अद्वैतवादीः– हम भी सत्यपदका वाच्यार्थ जगतको ही मानते हैं । ब्रह्मको-जो हम सत्य कहते हैं, वहाँ सत्यपदका लक्ष्यार्थ ब्रह्म है । लक्ष्यार्थ ब्रह्म है तो वाच्यर्थ क्या होगा ? यह प्रश्न सामने आयेगा । वाच्यार्थके बिना लक्ष्यार्थ होता ही नहीं । "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" यह लक्षणाका लक्षण है तब अद्वैतवादी भी सत्यपदका वाच्यार्थ जगतको ही बतायेंगे ।

द्वैतवादीः– परंतु इस प्रकार का वर्णन किसी प्राचीन आचार्यने नहीं किया है । यह तो आपकी लीपापोती मात्र है ।

अद्वैतवादीः– यह कोई लीपा-पोती नहीं है । प्राचीनतम आचार्य संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनिने स्वयं इसका निरूपण किया है–

"आकाशादौ सत्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या ।
तत्संपर्कात् सत्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ।"

–आकाशादि जागतिक पदार्थों में व्यवहारकालीन प्रमाणाऽबाध्यत्व-रूपी सत्यता है । प्रत्यगात्मामें त्रैकालिकबाधाभावोपलक्षितस्वरूपरूपी सत्यता है । इन दोनों सत्यताओंका परस्पराध्याससे मिलित स्वरूप एक सत्यता है । उसी सत्यातामें सत्यशब्द रूढ़ है ।

द्वैतवादीः– इससे आप क्या कहना चाहते हैं ?

अद्वैतवादीः– आप द्वैतवादी लोग आपस में शास्त्रार्थ करके जगतके बारेमें जो भी निष्कर्ष निकालते हैं, व्यवहारमें हम उसे माननेके लिये तैयार हैं । हमारा उसमें विरोध नहीं है । हम उसमें कोई विवाद भी नहीं करेंगे । हां, निष्कर्ष अभी तक नहीं निकाल सके यह अलग बात है ।

द्वैतवादीः– क्या आप के आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है ? या आपका यह प्रौढि वादमात्र है ?

अद्वैतवादीः– हमारे आचार्योंने कहा है–व्यवहारे भट्टनयः । अर्थात् व्यवहारकालमें हम कुमारिल भट्टका कहना अधिक मानते हैं । कुमारिल भट्टने द्वैतका प्रतिपादन किया है । कुमारिल भट्टके लिये भी हमारा कोई

पक्षपात नहीं है। हां, हम वैदिक होनेके नाते वैदिकमीमांसकशिरोमणि भट्टपादको विशेष संमानसे देखते हैं। यदि उनसे भी बढ़कर कोई वैदिक आ जाये और विशिष्टाद्वैत या द्वैताद्वैतादि सिद्ध करे तो हम उसीको माननेके लिये तैयार हो जायेंगे।

द्वैतवादीः– क्या ऐसा भी आपके संप्रदायाचार्योंने कहीं कहा है ?

अद्वैतवादीः– जी हां ! भगवान् सुरेश्वराचार्य वार्तिककारका वचन हैः–

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता ॥"

जो द्वैतप्रक्रिया अद्वैतको समझनेमें सहकारी है उसीको मान सकते हैं प्रक्रियायें तो अनियत हैं।

द्वैतवादीः– फिर तो आपमें अनिश्चितता बनी रहेगी।

अद्वैतवादीः– जी नहीं। वस्तुतः हमारी द्वैत प्रक्रियामें तात्पर्य ही नहीं हैं। जगतके स्वरूपका निश्चय करना भौतिक विज्ञानवादियोंका काम है। वे चाहे उत्पत्तिकालक्षणमें घट में गन्ध माने या न मानें। जो सिद्ध करो हम उसका विरोध नहीं करेंगे। कोई दो पदार्थ-द्रव्य और गुण मानते हैं। कोई छः पदार्थ मानते हैं। कोई बीस पदार्थ। कोई चौबीस पदार्थ। आजके वैज्ञानिकोंने लगभग पौने दो सौ पदार्थोंका पता लगाया है। हम भौतिकार्थचिन्तक नहीं हैं। हम अध्यात्मचिन्तन करते हैं।

द्वैतवादीः– यदि आपको भौतिक चिन्तनमें तात्पर्य नहीं है तो "यया यया भवेत्पुसां व्युत्पत्तिः" यह क्यों जोड़ा ?

अद्वैतवादीः– अरे भाई-जगतमें रहते समय व्यवहार करना पड़ेगा तब मताग्रहसे मान्य पदार्थोंको अपनाकर क्यों वृथा उलझन में पड़ें ? जो बहुतर प्रमाणों से सिद्ध किया उसे व्यवहारार्थ स्वीकार कर बिना झगड़ा किये ही व्युत्पत्त्यर्थ उसीमें अद्वैतबोध प्रक्रिया निकाल कर आगे बढ़ना उचित है। अद्वैतके भी नाना प्रक्रियाग्रन्थ हैं वे भी परस्पर विरोधी हैं। किन्तु अद्वैत समझनेमें सरल होनेसे उन्हें आदर देते हैं।

द्वैतवादीः– प्रक्रिया निकालकर आप कहाँ तक आगे बढ़ते हैं ? क्या कहते हैं ?

अद्वैतवादीः– हम यही कहते हैं कि आप जो भी देखो, जो भी मानो इस सबसे ऊपर एक तत्व है, जिसे आत्मा कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं। वही परमार्थ है। आपकी विचार सीमासे परे वह तत्त्व है।

द्वैतवादीः– हम जागतको भी परमार्थ मानते हैं। यही तो विरोध है।

अद्वैतवादीः– वही चक्कर फिर से। जगत् परमार्थ शब्दका वाच्य है या लक्ष्य ? वाच्य है तो हमें अङ्गीकार है। हम परमार्थ शब्दका प्रयोग तो जगतसे व्यावृत्त करनेके लिये लक्षणा बोलते हैं। उसे साक्षात समझनेके लिये कोई शब्द नहीं है। इतरव्यावृत्तिके लिये परमार्थसत्य आदि कहते हैं।

"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"

श्रुति भी इतरव्यावृत्तिसे इसी परमात्माको बतलाती है। वह अतीन्द्रिय है। अनुभवमात्र है। श्रुति स्पष्ट कहती है–

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

जहां वाणी की पहुंच नहीं है वहां क्या विवाद हो ? जहाँ मन की पहुँच नहीं वहां क्या विरोध हो।

द्वैतवादीः– उसका अस्तित्व कैसे मालूम पड़ेगा जब वाणी और मन दोनों वहां नहीं पहुचते। ये ही तो अस्तित्व बता सकते हैं।

अद्वैतवादीः– वह स्वयंप्रकाश है। आत्मा है। सद्रूप है। आनन्दरूप है। जिसके कारण ही जगतमें अस्ति-भाति प्रियका अनुभव होता है। वह स्वतः सिद्ध है। उसकी सिद्धिपर जगत् की सिद्धि है।

"यत्सिद्धौ जगतः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किंचन"

.जिसकी सिद्धिसे जगत् की सिद्धि होती है, जिसकी असिद्धिमें शून्य ही रह जायेगा वही वह तत्त्व है।

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"

–उस आत्माके प्रकाशित होनेपर ही पीछे-पीछे जगत् प्रकाशित होता है।

द्वैतवादी:– स्वत:सिद्धमें विवाद हो ही नहीं सकता। तब इस परमार्थ-तत्त्वमें विप्रतिपत्ति विवादादि क्यों हो रहा है ?

अद्वैतवादी:– स्वयं ही न हो तो विवाद कौन करेगा ? विवाद कर रहे हैं इसलिये वह स्वयंसिद्ध है। विवादका कारण अज्ञान है। यही भानमें अभान है। अज्ञानसे लोग उसे पहचान नहीं पाते। उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये अध्यात्मचिन्तनादि है।

द्वैतवादी:– यदि द्वैतवादसे विरोध नहीं हो तो शून्यवादसे विरोध क्यों है ?

अद्वैतवादी:– शून्यवादमें उस सत् का अपलाप किया जाता है। ब्रह्मको वे सत्य नहीं मानते अतः आभासात्मक विरोध है।

द्वैतवादी:– द्वैतवाद के साथ अविरोध क्यों ?

अद्वैतवादी:– उसी सत्यका विवर्तात्मक कार्य यह जगत् है। दो तत्त्व, सात तत्त्व, पचीस तत्त्व इत्यादि अपनी-अपनी कल्पनायें हैं। एक दूसरेका खण्डन कर उसके मतको स्वकल्पित सिद्ध करते हैं। इस प्रकार सभी परस्पर कल्पित सिद्ध करते हैं तो उनसे हम क्यों विरोध करें ? हम भी कहते हैं कि जगत् कल्पित है, जैसी कल्पना करनी हो, कर लो।

द्वैतवादी:– अद्वैतियोंके निर्विशेष सत्यका द्वैतवादी निषेध करते हैं। वे सविशेष ब्रह्मको ही मानते हैं।

अद्वैतवादी:– सविशेषका अर्थ है–विशेषसहित। विशेष आधेय हुआ। आधार कौन ? विशिष्ट माननेपर विशेष्यका अपलाप नहीं हो सकता। हां, मन, वाणी के अविषय उस निर्विशेषका निषेध करते हैं तो द्वैतवादी शून्यवादीके बराबर ही होंगे। तब द्वैतवादी के साथ भी विरोधका आभास होगा। मन वाणीके अविषयके साथ विवादादि असंभव होनेसे आभास कहते हैं।

"अविकल्पविषय एक:"

वह विकल्पमतिका विषय ही नहीं, केवलानुभवगम्य है।

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवं"

जिनको कभी समाधि ही नहीं लगी, तत्त्वबोध नहीं हुआ, और जाने विना ही विरोध करें तो उनके विरोधका क्या मूल्य ? हजारों घूक (उल्लू) मिलकर यदि सूर्य के अस्तित्वका निषेध करें तो उससें क्या सूर्यका अस्तित्व मिट जायेगा ? हजारों वादी मिलकर भी ब्रह्मतत्त्वका निषेध करें तो क्या उससे ब्रह्म का अस्तित्व समाप्त होगा ? सूर्यको गिराने के लिये पत्थर फेंकनेवालोंपर जैसे हंसी आती है वैसे उन ब्रह्मतत्त्वका निषेध करनेवालोंपर भी हंसी ही आती है।

द्वैतवादीः– यदि सत्यशब्दका वाच्यार्थ जगत् है तो उसे व्यावहारिक सत्य ऐसा बोलनेकी क्या जरूरत ? और पारमार्थिक सत्य बोलनेपर भी ब्रह्म वाणीका अविषय होनेसे वाच्यरूपसे जगत् ही तो पारमार्थिक सत्यका भी वाच्यार्थ होगा।

अद्वैतवादीः– यद्यपि जगत् को सत्यशब्दसे बोलनेमें कोई हर्जा नहीं और सब लोग बोलते आ रहे हैं। तथापि ब्रह्मको व्यावृत्त कर समझनेके लिये और समझानेके लिये व्यावहारिक शब्द जोड़कर बोलते हैं। वैसे ही ब्रह्मको इस व्यावहारिक सत्यसे व्यावृत्तकर समझानेके लिये निरूढ-लक्षणाका अवलम्बन कर पारमार्थिक सत्य कहते हैं। इसलिये "चकितमभिधत्ते" यहां "चकित" पद है।

द्वैतवादीः– यदि आप जगत् को सत्यशब्दका वाच्यार्थ मानते हैं तो उसे मिथ्या क्यों कहा है ? सत्य और मिथ्या एक अर्थमें नहीं हो सकते।

अद्वैतवादीः– मिथ्या शब्द पारिभाषिक है। स्वसमानाधिकरणाभाव-प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है या सदसद्विलक्षणत्व मिथ्यात्व है। या अनिर्वच-नीयत्व मिथ्यात्व है। ऐसा नहीं कि रज्जुसर्प-शुक्तिरजतादिके समाम इस जगत्से कोई काम ही नहीं होता।

द्वैतवादीः– यदि पारिभाषिक शब्द ही रखना था तो कोई अन्य शब्द रखते। यह भ्रामक शब्द क्यों बोलते हैं ? मिथ्यात्व तो सत्यत्वका विरोधी है।

अद्वैतवादीः– रज्जुसर्पादिको मिथ्या क्यों कहते हैं। इसलिये कि वह कल्पित है। यह जगत् समष्टिचेतन ईश्वरकल्पित है इसलिये मिथ्या

शब्दका प्रयोग सुगम है। दूसरी बात यह है कि परमार्थ दर्शनके लिये वैराग्य परम आवश्यक साधन है। "झूठी माया झूठी काया" आदिका जब चिन्तन होता है तब वैराग्य होने लगता है। अतः मिथ्याशब्द ही उपयुक्ततर समझा गया। पारमार्थिक सत्यसे विपरीत होनेके कारण भी मिथ्याशब्द संगत है। एक बड़ा हाथी है उसीका बच्चा दूसरा है तो कहते हैं यह बड़ा है, यह छोटा है। क्या छोटेका अर्थ चींटी जैसा है ? बोलनेवाले से वह बड़ा ही है। बीचका लड़का छोटा भी है, बड़ा भी है। पहले की अपेक्षा छोटा और तीसरेकी अपेक्षा बड़ा। वैसे ही ब्रह्मकी अपेक्षा जगत् मिथ्या है। शुक्तिरजतकी अपेक्षा सत्य है। जैसे "मृत्तिकेत्येव सत्यं" कहा जाता है।

इस संवादके द्वारा अद्वैतवादियोंके दृष्टिकोणके बारे में काफी स्पष्टता हुई होगी। अतएव इसे अविवाद और अविरुद्ध बताया।

मिथ्या शब्दार्थ

मिथ्याशब्दका साधारणतया अर्थ रज्जुसर्प शुक्तिरजतादि है। किन्तु जगत् को मिथ्या कहते समय बिल्कुल शुक्तिरजतादिवत् जगत् का मिथ्यात्व नहीं बताया जाता। शुक्तिरजत प्रातिभासिक है। किसी व्यवहारमें नहीं आता। आपणस्थ रजत (दुकानमें रखी हुई चाँदी) व्यावहारिक है। उससे कटोरी, थाली बना सकते हैं, आभूषणादि बना सकते हैं। किन्तु शुक्तिरजतसे कटोरी, थाली, आभूषणादि नहीं बना सकते। उसकी केवल प्रातिभासिक सत्ता है। देखनेभरकी सत्ता है। आपणस्थ रजतकी व्यावहारिक सत्ता है। इन दो विभागोंको न समझनेके कारण ही द्वैतवादी विना मतलब अति मुखरित हो उठे। रोटी भी मिथ्या, पत्थर भी मिथ्या तो रोटी के बदले पत्थर क्यों नहीं खाते इत्यादि वितण्डावादपर उतरे। वास्तविकता यह है कि शुक्तिरजतादि केवल दृष्टान्त है। सर्वथा दृष्टान्तरूप दार्ष्टान्तिक नहीं होता।

हम दिखा चुके हैं कि मिथ्या शब्द पारिभाषिक है। उसका अर्थ पञ्चपादिकाकार एवं खण्डनकारादि अनिर्वचनीय करते हैं। "मिथ्या-

शब्दोऽर्निवचनीयतावचनः" इस प्रकार पञ्चपादिकाकार पद्मपादाचार्य स्वयं कहते हैं। आचार्य शंकरके साक्षात् शिष्य होनेके कारण आचार्यको भी यह व्याख्या अभिमत ही रही होगी। इस अनिर्वचनीयताके उपपादनके रूपमें खण्डनकारने निर्वचनोंकी संभावनाओंको निरस्त किया। आकाश कितना बड़ा है ? कहाँ तक है ? इसका निर्वचन करो। बुद्धि जहांतक भी पहुंचेगी उससे अधिक दूरतक आकाश है। अणु टूटते हैं तो कहां उसका अन्त है ? जिसे परमाणु कहते हैं उसके दिग्विभाग है कि नहीं ? पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः ये दिग्विभाग हैं तो छः उसके अवयव हो गये। उन एक-एक अवयवोंके भी वैसी ही छः दिग्विभाग करते जाओ तो कहां अन्त है ? यदि अन्त है तो पूर्वादिविभाग न होनेसे व्यापक हो जायेगा। अणु नहीं रहेगा। यदि अन्त नहीं तो अनिर्वचनीयमें ही पहुँचना पड़ेगा।

मिथ्या शब्दकी दूसरी व्याख्या है कल्पितत्व। जो कल्पनामात्र है वह मिथ्या है। व्यष्टिकल्पनाजन्य शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक है। समष्टि कल्पनाजन्य जगत् व्यावहारिक है। वेदोंमें जगत्को समष्टिरूप ईश्वर-कल्पनाजन्य बताया है–

"धाता यथापूर्वमकल्पयद् दिवं च पृथिवीं च"

विधाता परमेश्वरने कल्पनासे आकाश, पृथिवी आदिको बनाया।

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत"

उस परमात्माने ईक्षणसे जगत्को बनाया। कल्पना समाप्त होनेपर जगत् भी समाप्त हो जाता है। कल्पनाका मूल वासना है उसी वासनाके रूपमें अन्तमें जगत् रहता है। निर्विकल्पक समाधिमें कल्पना नहीं रहती तो जगत् नहीं दीखता। क्या एकके न दीखनेसे जगत्का अभाव हो जायेगा ? नहीं। एक तन्तुके निकलनेपर वस्त्र गायब नहीं होता। वह समष्टि तन्तुसमुदायजन्य है। जगत् समष्टिदृष्टिसृष्टि है। एक तन्तुके निकलनेपर उस तन्तुसे घटित वस्त्र नहीं रहेगा। एक दृष्टिके न रहनेपर तद्दृष्टि-घटित जगत् नहीं रहेगा। यही उसकी मुक्ति है। अनिर्वचनीयत्व और कल्पितत्व शुक्तिरजत एवं प्रपञ्चमें समान होनेसे जगत्के मिथ्यात्वमें

शुक्तिरजतका दृष्टान्त दिया जाता है। सभी ज्ञानबाध्य होनेसे अन्तमें अद्वैतका, जो दृग्रूप है, चिद्रूप है, परिशेष होता है। मोक्षकालमें मुक्त पुरुष स्वानन्दतृप्त होनेसे द्वितीय पदार्थकी अपेक्षा ही उसको नहीं रहती तो जगत्को त्रिकालाबाध्यरूपी सत्य सिद्ध कर क्या उपकार प्राप्त करना है ? अतः व्यवहारकालमें व्यावहारिक सत्तामात्र अङ्गीकार्य है। उसी सत्तामें चन्द्रलोक जाओ, मंगललोक जाओ, राकेट बनाओ भौतिक प्रगति करो। ये सब सत्यशब्दके वाच्यार्थ हैं। अतः हमारा किसीसे विवाद या विरोध नहीं। अध्यात्मचिन्तनमात्र वेदान्तका विषय है। उसमें इनकी सत्यता आदिका कोई उपयोग नहीं है।

दूसरा जो प्रश्न है कि अपने आपको सर्वशक्तिमान परमात्मा समझना उचित है क्या ? क्या मैं ब्रह्म हूँ ऐसा कहना और समझना घोर अंधकार नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "मैं" शब्दका यदि दृश्यमान देवदत्त यज्ञदत्तादि अर्थ है तो मैं ब्रह्म हूँ बोलना अवश्य गलत है। ब्रह्मशब्दका भी सर्वशक्तिमान परमात्मा वाच्यार्थमें नहीं आता। अहं ब्रह्मास्मिमें अहं पदका एक वाच्यार्थ है, दूसरा लक्ष्यार्थ है। वैसे ब्रह्म पदके भी हैं। अहं का वाच्यार्थ है अहंकार अविद्यादिसे विशिष्ट चैतन्य और ब्रह्मका वाच्यार्थ है सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा। किन्तु लक्ष्यार्थमें 'अहं'में से अविद्या एवं अहंकारादि उपाधिको त्याग दिया जाता है। ब्रह्ममें से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता छोड़ दिया जाता है। शुद्धचैतन्यकी एकता वाक्यार्थ है। यह है वेदान्तकी प्रक्रिया। अहं ब्रह्ममें अहं पदार्थ अहंकारविशिष्ट चैतन्यमेंसे अहंकारको हटा दिया तब इस बोध में अहंकार अभिमानादि कहां रह गया ? बल्कि अहं न ब्रह्मास्मि, अहं जीवोऽस्मि, अहं दासोऽस्मि इन सबमें उभरता हुआ अहंकार दीख रहा है। अहं ब्रह्म बोलनेवाला गलत है, निकृष्ट है। अहं दासः बोलनेवाला सही है, श्रेष्ठ है, इसका मतलब अहं ब्रह्म वालेसे भी बढ़कर वह अहंकारी है। क्योंकि उसको भी वह तुच्छ समझ रहा है। अहं दासोऽस्मि बोलकर दासभावरहित सारी दुनियाको अहंकारी एवं तुच्छ समझनेवाला ही सबसे बड़ा अहंकारी होगा। अतः इस प्रकारके धूलीप्रक्षेपको त्यागकर तत्त्वचिन्तन करना ही उचित है। गङ्गाजल चाहे लोटेमें हो, चाहे परातमें, चाहे गङ्गाप्रवाहमें, गङ्गाजल एक ही है। आकाश घटमें

हो, गृहमें हो, चाहे उपरिदेशमें हो, एक ही है। इस पर प्रश्न कर सकते हैं कि आकाश एक ही है तो उपर्याकाशमें विमान उड़ता है। घटाकाशमें विमान क्यों नहीं उड़ता ? उत्तर होगा उपाधि अलग होने से कार्यभेद हुआ। यही स्थिति जीव और ईश्वरमें भी है। जीवकी उपाधि अविद्या अहंकारादि है। ईश्वरकी उपाधि माया-प्रकृति है। अविद्योपाधिसे जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान हुआ। मायोपाधिसे ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान हुआ। चैतन्य सर्वत्र आकाशवत् एक है। उपाधिको त्यागकर स्वरूप-चैतन्यमात्रका बोध करना महावाक्योंका उद्देश्य है। वही ज्ञान यथार्थ है। क्योंकि परमार्थतत्त्वविषयक ज्ञान वही है। उसी परमार्थतत्त्वज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति होती है। इसलिये अहं ब्रह्मास्मि ज्ञानको अहंकार अभिमानादि कहना या तो सिद्धान्तानभिज्ञताका परिणाम है। या फिर धूलीप्रक्षेप करना है।

इस प्रकार "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" यह सिद्धान्त अत्यन्त निर्दोष है। परम रहस्य है। "श्लोकार्धेनं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः" यह उक्त उत्तरार्धका पूर्वार्ध वक्तव्यकी प्रतिज्ञारूप कितना सार्थक है यह पक्षपातरहित गुणग्राही विद्वद्वर महापुरुष ही जान सकते हैं। आचार्य शंकरने अपने सिद्धान्तको कैसे सरल मार्मिक शब्दोंसे लोगोंके संमुख प्रस्तुत किया यह भी एक आश्चर्यकारी कार्य इससे सिद्ध होता है।

अद्वैतपरिशुद्धि

आचार्यकी इस सरलतम पद्धतिको काटनेका प्रयास कुछ पण्डितमानी महाशयोंने प्रारम्भ किया। क्योंकि उनको आचार्यका वैराग्य प्रकरण पसन्द नहीं था। जगत्को मिथ्या कहने का लक्ष्य वैराग्य सम्पादन करना कराना है, यह हम पहले कह चुके हैं। भोगवादियोंने अपनी भोगलिप्सामें इसे बाधक देखकर इस वादका खण्डन करना प्रारम्भ किया। इसके बाद इस खण्डन-मण्डनमें बड़े-बड़े आचार्योंने भी अपना-अपना हिस्सा अदा करना शुरू किया। यहाँ तक कि कईयों ने भोग-मोक्षका भेद ही एक प्रकारसे मिटाया। "जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादि

श्रुतियों को आगे कर दिव्य खाना-पीना, दिव्य क्रीड़ा, दिव्य स्त्रियोंके साथ रतिं, दिव्य यानोंमें घूमना-फिरना आदि ही मोक्षका स्वरूप माना। अर्थात् लौकिक अन्नपान, स्त्री आदिमें अतृप्त ये लोग दिव्य अन्नपान, स्त्री आदिके काल्पनिक भोगोमें और मनोरथकी उड़ानोंमें रमने लगे। इधर अद्वैत- वादियोंको गाली देना, उनको नीचा दिखाना मानो उनका सिद्धान्त ही बन गया। इस अंशमें तो द्वैतवादियोंके ग्रन्थ देखते ही बनते हैं। इन सबके मूलमें यदि हम गहराईसे विचार करें तो मालूम होगा कि इनकी घोर भोगवासना ही काम कर रही है। दूसरा यह भी स्पष्ट होगा कि अद्वैतसिद्धान्तके स्वरूपकी अनभिज्ञता एवं मिथ्याशब्दके पारिभाषिक अर्थके बारे में नासमझी ही सारे अनर्थोंका कारण है।

अद्वैतवेदान्तमें रज्जुमें सर्पभ्रम होनेपर वहां रज्जुको सत्य और सर्पको मिथ्या बताया है। इतना देखकर मिथ्या शब्द का द्वैतवादियोंने अर्थ समझा कि रज्जुसर्पवत जगत् असत् है। किन्तु अद्वैतवेदान्तमें मृत्तिकामें घट होनेपर वहांपर भी मृत्तिकाको सत्य और घट को मिथ्या कहा है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इस श्रुतिका उल्लेख वेदान्तमें बहुतर किया गया है। मृत्तिका सत्य और घट मिथ्या कहनेसे ही यह निश्चित है कि मिथ्या शब्द पारिभाषिक है। मिथ्या शब्दका अर्थ पहले हम कह चुके हैं। एक उसका अर्थ अनिर्वचनीयता है। घट मृत्तिकासे भिन्न है या अभिन्न है ? मृत्तिकासे अत्यन्त भिन्न घड़ा कोई दिखाई नहीं पड़ता। दूरबीन-खुरदवीन आदिसे भी देखो तो मिट्टीके कण ही वहां दिखाई पड़ेंगे। यदि घट मृत्तिकासे अत्यन्त अभिन्न है तो जैसे घटमें पानी भरते हैं वैसे मृत्तिकामें ही क्यों नहीं भरते ? यदि कहें कि घट मृत्तिकासे कुछ भिन्न और कुछ अभिन्न है, अर्थात् भिन्नाभिन्न है तो यह विरुद्धार्थसमावेश होगा। अतः मृत्तिका में घट घट अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार मृत्तिकामें घट पहलेसे सत् था या असत् ? यदि सत् था तो कुम्हारका कोई काम नहीं रह जाता। यदि असत् था तो असत् (शशविषाणादि) का कोई सम्बन्ध नहीं बनता तो मृत्तिकामें घट ही क्यों, पट क्यों नहीं पैदा हो ? यह प्रश्न होगा। नैयायिक कारणसे कार्यको भिन्न मानते हैं, कारणमें उसे असत् मानते हैं। इससे विपरीत सांख्य अभिन्न एवं सत्

मानते हैं । दोनों बराबर नहीं जँचते । अतः वेदान्तीने अनिर्वचनीय कहा । यही अनिर्वचीयता मिथ्यात्व है । खण्डनकारने अतिविस्तारसे इसी अनिर्वचनीयताको सिद्ध किया । अस्तु ।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वैतवादियोंने अद्वैतवेदान्तपर जो कीचड़ फेंका उसे धोकर अद्वैत सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करनेके लिये लिखा गया है । विशिष्टाद्वैतवादियोंने शतदूषणी नामके एक ग्रन्थका प्रणयन कर अद्वैत-मतमें अनेक दूषण दिखानेका प्रयत्न किया । उन्होंने पैंसठ या छियासठ प्रकरण लिखे जिनमें अधिकतर पुनरुक्ति ही दिखाई पड़ती है । इस-पर एक टीका चण्डमारुत है । इसका खण्डन पं. अनन्तकृष्ण शास्त्रीने शतभूषणी नामके ग्रन्थसे किया । फिर उसका खण्डन द्वैतवादियोंने परमार्थभूषण नामके ग्रन्थमें लिखा । इन दोनोंको देखनेका सौभाग्य मुझे अभी-अभी प्राप्त हुआ । आपाततः देखने पर यही लगा कि पिष्ट-पेषणातिरिक्त कुछ सार इन सबमें निकलता नहीं है और साधारण लोग इस जटिल वाग्जालमें से कुछ सार निकाल भी नहीं पाते । हमने शतदूषणी के भी प्रत्यक्षर खण्डनकी मूलमें भी वाग्जालपद्धतिका परित्याग कर सीधा-सीधा सिद्धान्त वर्णन करना ही श्रेय समझा । अतएव हमने उसमें आये निरनुयोज्यानुयोग (अपनी कल्पनासे मिथ्या पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन) का प्रायः स्पर्श नहीं किया । जैसा हमने बतलाया कि शतदूषणीमें पुनरुक्तिका भरमार है–(एक ही प्रकारके पूर्वोत्तरपक्षोंका पुनः पुनः कथन है, जैसे भेद मिथ्या है तो पुण्यपाप भेद नहीं रहेगा । बस, एक प्रकरण हो गया । जगत् मिथ्या है तो सिद्धान्त और पूर्वपक्ष भेद क्यों करते हैं दूसरा प्रकरण हो गया । इत्यादि) ऐसी पुनरुक्तियोंसे बचने का हमने प्रयास किया है किन्तु कहीं-कहीं सन्दर्भशुद्धिके लिये प्रसङ्गानुसार गतार्थका पुनरुपादान करना पड़ा । शतदूषणीकारने चित्सुखीकारकी शैलीको ही प्रायः पकड़ा है । आठ-दस-बारह पूर्वपक्षविकल्प कर फिर एक-एक का खण्डन बहुधा किया है । हमने उस रीतिका परित्याग किया । प्रायः प्रत्येक श्लोकमें पूर्वपक्ष उठाकर वहीं उसका समाधान किया गया, जिससे पूर्वापरानुसंधानका क्लेश न हो । यहाँ सिद्धान्ततत्त्व बतानेका

ही अधिकतर प्रयास किया गया है । चण्डमारुत, परमार्थभूषणादिका निराकरण इसीमें गतार्थ होनेसे तदर्थ पृथक् वाग्जाल व्यर्थ ही है । जब शतदूषणी ही पुनरुक्तिसे भरी है तो चण्डमारुत परमार्थभूषणादिकी बात ही क्या ? अस्तु ।

श्लोकात्मक प्रस्तुत ग्रन्थ कहीं-कहीं अतिसंक्षिप्त होनेसे उसकी एक संस्कृत विवरण भी लिखा तथा सर्वसामान्यार्थ हिन्दी अनुवाद भी दिया । आशा है कि सिद्धान्त जिज्ञासुओंके लिये यह उपयोगी हो सकेगा ।

अद्वैतपरिशुद्धौ विषयानुक्रमणिका

* ॐ *

अद्वैतपरिशुद्धिः

द्वादशदर्शनकाननकेसरि श्री काशिकानन्दगिरिविरचिता

(शतदूषणीपरिहारः)

श्री गणेशाय नमः ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं स्थितं वीचिवदम्बुधौ ।
यस्मिंस्तन्नौमि परममानन्दममृतं महः ॥ १ ॥

ब्रह्मासे लेकर तृणगुच्छपर्यन्त सभी, समुद्रमें तरंगके समान, जिसमें स्थित हैं उस अविनाशी परमानन्दस्वरूप ज्ञानज्योतिको हम प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

वीचिवदम्बुधौ मृन्मयवन्मृदि विकारो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं तथापि सांव्यवहारिकं जगदिदं ब्रह्मणि स्थितम् । अविकारित्वात्तु रज्जौ सर्पवत् स्थितम् । तं नित्यं परमानन्दस्वरूपत्वेन परमपुमर्थमिह प्रस्तुमः ॥ १ ॥

समाधिनिरतात्मभिः श्रुतिमयेक्षणैरीक्षितं
निरूपितमहैतुकोद्गतदयामयैरद्वयम् ।
परं पदमखण्डितं कलुषितं कुधीभिः क्वचित्
तदद्य परिशोधये गुरुवचोऽमृताऽऽसारतः ॥ २ ॥

समाधिपरायण महापुरुषोंने श्रुतीमयी दृष्टिसे देखकर दयावश हो परार्थ शास्त्रोंमें जिसे निरूपित किया गया, अद्वितीय अखण्ड उस परमपदको अल्पमतियोंने कुतर्कोंसे कहीं कहीं कलुषित करनेका प्रयास किया उसे गुरुवचनरूपी अमृतजलधाराके द्वारा आज मैं परिशोधित करता हूं ॥ २ ॥

न हि तर्कमात्रगम्यं परमार्थतत्त्वम् । तथा चानुपासितगुरुचरणैर-लक्षितश्रौततत्त्वैः कलुषितं तदद्वयं निर्विशेषं तत्त्वं गुरुवचोभिरेव परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

स्वकल्पिता दुर्बलदुर्विकल्पाः
परोक्तिरूपेण निरूप्यमाणाः ।
प्रायोऽत्र नास्पर्शिषतातुराणां
विवक्षुणार्थं परम।र्थमात्रम् ॥ ३॥

वेदान्तशास्त्र एवं उसके व्याख्याता आचार्योंका हृदय क्या है इतना ही मुझे यहां बताना है । अत एव आचार्यों के वचनके रूपमें स्वयं कल्पना कर उपस्थापित दुर्बल तथा बेकारके विकल्पोंका यहां प्रायः उल्लेख नहीं किया । क्योंकि पूर्वपक्षवादियोंका वह अपनी बेचैनीका प्रदर्शनमात्र है ॥ ३ ॥

यद्यपि कालुष्यापहरणायेयं प्रवृत्तिः । तथापि वेदान्तग्रन्थेषु कुत्राप्य-प्रदर्शिता दुर्बला विकल्पास्तदुक्तिरूपेण परिकल्प्य पूर्वपक्षतया चोपस्थाप्य खण्डिता दूषकैस्तेषां स्पर्शो न कृतः । यतो यथार्थमात्रमत्र संक्षेपेण निरूपणीयमिति ॥ ३ ॥

अल्पैः शब्दैस्तत्त्वमाविश्चिकीर्षुः
शब्दाटोपं संपरित्यज्य दूरात्
व्याचक्षेऽहं श्रौतसिद्धान्तमेतं
व्यालोकन्तां श्रेयसे स्वस्य लोकाः ॥ ४ ॥

अल्पशब्दोंमें ही तत्त्वको प्रकट करना है । अतएव शब्दजालको दूरसे ही त्यागकर इस पूर्वोक्त अद्वैतरूपी वैदिकसिद्धान्तकी मैं व्याख्या कर रहा हूँ । सज्जनो ! आप अपने श्रेयके लिये इसे मननपूर्वक अवलोकन करें ॥ ४ ॥

व्यर्थविकल्पोत्थापनादिप्रयुक्तग्रन्थविस्तरो लोकव्यामोहकरमात्ररूपः । अत्र स्वसिद्धान्तपरिशुद्धये यावदावश्यकं तावदेवोच्यते । तच्च स्वश्रेयसे विशेषेणालोकन्ताम् ॥ ४ ॥

(१)

ब्रह्मशब्दार्थनिरूपणम्

ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां मुक्तिभागसौ ।
जिज्ञासां तस्य मोक्षार्थं सूत्रकृत् संप्रतुष्टुवे ॥ ५ ॥

गुहानिहित-गुह्य ब्रह्मको जो जान लेता है वह मोक्षका भागी होता है । मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सूत्रकार बादरायण ऋषिने उसी ब्रह्मकी जिज्ञासाको विलक्षण सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया ॥ ५ ॥

सामान्यतः श्रुतिषु ब्रह्मवेदिनो मुक्तिभाक्त्वं श्रुत्वा दुःखमयसंसारतो विरक्तस्तद् विज्ञातुं गुरुमुपगच्छति । "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-दि"ति श्रुतेः । स च गुरुः 'प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इति श्रुतेर्याथार्थ्येनोपसन्नाय शिष्याय ब्रह्म व्याचष्टे । सैव ब्रह्मजिज्ञासा नाम । ब्रह्मविचार इति तदर्थस्याकरे स्थितत्वात् ॥ ५ ॥

वाच्यार्थः शबलं ब्रह्म बृहत्त्वादियुतं भवेत् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते तल्लक्ष्यं निर्गुणक्रियम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मशब्दका वाच्यार्थ शबलब्रह्म है जो बृहत् आदि गुणोंसे युक्त है । लक्ष्यार्थ वह है जिसको लेकर बताया—वहांतक वाणीकी पहुँच नहीं है ॥ ६ ॥

बृहत्वादिधर्मविशिष्टस्य शबलब्रह्मणो ब्रह्मपदवाच्यार्थस्य स्वीकारा-त्तदस्तित्वनास्तित्वविकल्पोत्थापनं व्यर्थमेव। ब्रह्मपदलक्ष्यमपि श्रुतिसिद्धमेव। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः । अन्यथा ब्रह्मशब्द-भगवच्छब्दा-दिवाग्विषयत्वेनोक्तश्रुतेरयुक्तत्वापत्तेः । न चानन्तगुणगणविशिष्टोऽपि वाग-विषय एवेति वाच्यम् । अनन्तादिपदविषयत्वादव्यावर्तकत्वाच्च । अणवः सर्वशक्ताः स्युरित्यादिवचनात् प्रत्येकाणूनामनन्तशक्तियुक्तत्वेन वाग-विषयत्वाद् घटादीनां तद्घटितानामपि च तुल्यत्वात् । दिव्यगुणानामपि दिव्यपदविषयत्वमस्त्येव । तस्मान्निर्विशेषस्यैव शब्दाविषयत्वादुक्तश्रुति-तात्पर्यविषयत्वम् । न च निर्विशेषपदेनैव स उच्यत इति वाच्यम् ।

उक्तश्रुतिबलेन तस्यापि लाक्षणिकत्वात् । एतेन शुद्धपदवाच्यत्वमपि समाहितम् । शेषमग्रे व्याख्यास्यते ॥ ६ ॥

वाङ्निवृत्तिश्रुतेर्लक्ष्य-जिज्ञासैवात्र सूत्रिता ।
तत्साधनत्वतो वाच्य-जिज्ञासा त्वन्तरर्पिता ॥ ७ ॥

"यो वेद निहितं सोऽश्नुते" इस प्रकार ब्रह्मवेदनका फल मोक्ष बताकर उसी ब्रह्मको आगे जाकर "यतो वाचो निवर्तन्ते" बताया । वाणीका अविषय बताया । अतएव पता लगता है कि जिज्ञासनीय तत्त्व ब्रह्मपदलक्ष्यार्थ ही है । उसके साधनके रूपमें शबलब्रह्मज्ञान तो अन्तर्वर्तीमात्र है ॥ ७ ॥

"ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्युपक्रम्य तस्य "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति वागविषयत्वकथनात्तस्यैव ज्ञेयत्वं जिज्ञास्यत्वं च श्रुत्याभिप्रेयते । अतो लक्ष्यब्रह्मजिज्ञासैवात्र सूत्रे "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"त्येवमुक्ता । यद्यपि सगुणब्रह्मवर्णनमपि ब्रह्ममीमांसायां विद्यत इत्युभयब्रह्मपरतया सूत्रगत-ब्रह्मपदं व्याख्यातुं शक्यम् । तथापि सगुणब्रह्मवर्णनस्य तज्ज्ञान-पूर्वकोपासनाजनितसमाध्यादिद्वारा निर्गुणब्रह्मोपयोगित्वात्तदन्तर्गततया न पृथग्जिज्ञासाविषयत्वं वक्तव्यमस्ति ॥ ७ ॥

ज्ञातुं शक्यं विशिष्टं हि जिज्ञास्यं चेति चेन्न तत् ।
विशेषणविशेष्ये के इति प्रथममुच्यताम् ॥ ८ ॥

द्वैतवादी कहते हैं कि विशिष्ट ब्रह्म ही जाना जा सकता हैं, उसीकी जिज्ञासा भी हो सकती है । उसपर हम पूछेंगे कि विशिष्टमें विशेषण क्या है ? विशेष्य क्या है ? (विशेषण और विशेष्यका पता ही नहीं तो विशिष्ट कैसे जान सकते हैं ? यदि पता है तो विशेष्य जो शुद्ध है उसे आपने जान लिया । तब क्या बोलते हो—विशिष्ट ही ज्ञेय है) ॥ ८ ॥

अत्र केचिदाहुः । विशिष्टमेव जिज्ञास्यं भवति ज्ञातुं च शक्यमिति ब्रह्मपदं विशिष्टब्रह्मपरमेव सूत्रे । न तु शुद्धपरमिति । तत्रेदं वक्तव्यम् । विशेषणं विशेष्यं च भवान् जानाति न वा । यदि न जानाति तदा विशिष्टमिति दुर्भणम् । यदि जानाति तदा विशेषणं विशेष्यं च केवलं वा विशिष्टं वा । द्वितीये तत्रापि विशेषणविशेष्ये तथैवेत्यनवस्था । केवलं चेद्

विशिष्टमेव ज्ञातुं शक्यमिति प्रतिज्ञाभङ्गः । न च प्रामाणिक्यनवस्था न दोषायेति वाच्यम् । प्रामाणिकत्वानुपपत्तेः । कुम्भ इति ज्ञाने कुम्भ-कुम्भत्वयोनिर्विकल्पकाभ्युपगमेन दोषाभावादनन्तविशिष्टज्ञानकल्पनायां मानाभावादननुभवाच्च । विशेषणादिज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानमित्यग्रे साधयिष्यमाणत्वात् पूर्वपूर्वानन्तविशिष्टज्ञानकारणपरम्परायाः स्वीकारेऽनन्त-कालोत्तरमेव विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः स्वीकार्यतापत्तेः । युगपदखिलविशेषण-विशिष्टज्ञानं तु न कस्याप्यनुभवपथमारोहतीति अननुभवपराहत एव स पक्षः । तस्माद् शुद्धं ब्रह्म ज्ञातुं शक्यमेव । तदेव जिज्ञास्यं च । तत्प्रतिपादनं प्रस्तुत्य "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुत्याभिधानात् ॥ ८ ॥

जिज्ञासन्ते यं हि सन्तं बृहन्तं
मर्त्याः स्वाऽविद्योत्थमर्त्यत्वहान्यै ।
यत्र प्रोक्तं धर्मवैशिष्ट्यमन्यै-
स्तं भूमानं निर्विशेषं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अविद्याके कारण सभी मर्त्य अर्थात् मृत्युग्रस्त हो गये हैं । उस मर्त्यत्वको मिटाने जिस सद्रूप बृहत् (त्रिविधपरिच्छेदरहित ब्रह्म) की जिज्ञासा मर्त्य (मनुष्य) करते हैं, जहाँ द्वैतवादियोंने धर्मवैशिष्ट्य बताया (जो धर्म वैशिष्ट्यका आधार शुद्धरूप है) उस निर्विशेष ब्रह्मके हम प्रपन्न (शरणागत) हैं ॥ १ ॥

इति प्रथमं ब्रह्मशब्दार्थनिरूपणप्रकरणम्

*****

(२)

अथ जिज्ञासोपपत्तिः

ज्ञातेऽज्ञाते च लक्ष्येऽस्मिन् जिज्ञासा नोदियादिति ।
स्वव्याघातकताहेतोर्दूषणं नैव युज्यते ॥ १ ॥ [९]

निर्विशेष एकतत्त्वात्मक ब्रह्म यदि ज्ञात हो गया तो जिज्ञासा व्यर्थ है । यदि अज्ञात है तो अज्ञातकी जिज्ञासा ही नहीं होती । (पूर्वपक्षीका

तात्पर्य है—सामान्य ज्ञान हो, विशेषज्ञान न हो तब जिज्ञासा होती है। ब्रह्म निर्विशेष है तब जिज्ञासा कैसे हो ?) द्वैतवादीका यह पूर्वपक्ष अपने पांवपर कुल्हाड़ा मारेगा। आपका विशिष्ट ब्रह्म ज्ञात है कि अज्ञात ? यदि ज्ञात है तो जिज्ञासा व्यर्थ है। अज्ञात हो तो जिज्ञासा नहीं होगी। यह कहें की सामान्यतया ब्रह्म ज्ञात है। विशेष सर्वैश्वर्यादि अज्ञात है—तब कहिये—विशेषकी जिज्ञासा है। वह विशेष ज्ञात है या नहीं ? विशेषमें विशेष ढूँढो तो अनवस्था ही होगी ॥ १ ॥

ननु ब्रह्मणि ज्ञाते वाऽज्ञाते वा जिज्ञासा नोपपद्यते। ज्ञाते ज्ञातत्वादेव न जिज्ञासा। अत्यन्ताज्ञातस्य तु न जिज्ञासा भवति। एवं सति "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"त्यनुपपन्नम्। तथा तन्मूलश्रुतिरप्यनुपपन्ना। तथाहि "अधीहि भगवो ब्रह्मे"त्यादिर्भृगुप्रश्नः वाच्यविषयको वा लक्ष्यविषयको वा। नाद्यः। निर्विशेषब्रह्मवादिमते वाच्यविषयकप्रश्नस्य व्यर्थत्वात्। न द्वितीयः ज्ञाताऽज्ञातयोर्लक्ष्यजिज्ञासानुपपत्तेः। सामान्यतो ज्ञाते विशेषजिज्ञासा भवति। न हि निःसामान्यविशेषे ब्रह्मणि सा संभवतीति चेन्न। भवन्मतेऽप्यस्य दोषस्य स्थितत्वेन स्वव्याघातकत्वात्। विशिष्टं ब्रह्म ज्ञातं चेज्जिज्ञासा न भवति। अज्ञातं चेज्जिज्ञासानुपपत्तिः। न च विशिष्टं ब्रह्मेति सामान्यतो ज्ञातं समस्तैश्वर्यंविशिष्टमिति विंशेषो न ज्ञात इति जिज्ञासोपपत्तिरिति वाच्यम्। यतो विशेष्यस्य सामान्यतो ज्ञातत्वाद् विशेषणीभूतसमस्तैश्वर्यविषयकजिज्ञासायां पर्यवसानं स्यात्। तत् समस्तैश्वर्यं ज्ञातमज्ञातं वा ? ज्ञातं चेत्प्रश्नो व्यर्थः, अज्ञातं चेज्जिज्ञासानुपपत्तिः ॥ १ ॥

घटः क इति जिज्ञासा ज्ञातेऽज्ञाते न विद्यते।
विशेषस्य च जिज्ञासा ज्ञातेऽज्ञाते न विद्यते ॥ २ ॥ [१०]

ब्रह्मकी बात छोड़ो। घटकी जिज्ञासामें भी वही प्रश्न होगा। घट ज्ञात है या नहीं ? विशेषकी जिज्ञासा कहें तो वह विशेष ज्ञात है कि नहीं ? दोनों पक्षोंमें जिज्ञासा नहीं होगी ॥ २ ॥

किं बहुना घटादवपि को घट इति जिज्ञासा नोपपद्यते । विशेषजिज्ञासापि ज्ञातेऽज्ञाते च विशेषे नोपपद्यते । विशेषेऽपि सामान्यविशेषभावमादाय व्यवस्था चेदनवस्थादोषो दुरुद्धरः ॥ २ ॥

साक्षिणा विदितस्यापि ह्यज्ञानावरणं मतम् ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञान-मित्युक्तेः स्वप्रभस्य च ॥ ३ ॥[११]

(इसका मतलब हुआ दोनों मत गलत हैं । नहीं) सभी वस्तुएं साक्षीवेद्य हैं । फिर भी अज्ञानका आवरण रहता है । ब्रह्मपर भी वह आवरण है । भले वह स्वयंप्रकाश हो । "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्" यह भगवान् का वचन है ॥ ३ ॥

नन्वेवमुभयमतमसंगतमित्येवायातं तटस्थदृष्ट्या । न तु स्वमतसिद्धिरिति चेन्न । अस्माकं मते सर्वस्यापि ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन च साक्षिवेद्यत्वोपगमादज्ञातत्वेन साक्षिविदिते जिज्ञासोपपद्यते । सैषा जिज्ञासा ब्रह्मणि स्वप्रकाशेऽपि घटते । तस्याप्यज्ञानावृतत्वात् । तदाह भगवान्— अज्ञानेनावृतं ज्ञानमिति ।" तस्मादज्ञानावरणसत्त्वाज्जिज्ञासा ब्रह्मणः ॥ ३ ॥

अप्राप्य मनसेत्युक्तेर्ब्रह्मज्ञानं हि नेति चेत् ।
फलव्याप्तिनिषेधोऽयं वृत्तिव्याप्तिं तु मन्महे ॥ ४ ॥[१२]

बीचका पूर्वपक्षी कहता है कि वाणी वहांतक नहीं पहुंचती तो मन भी तो नहीं पहुँचता । "अप्राप्य मनसा सह" यह श्रुतिका कथन है । तब ब्रह्मज्ञान ही नहीं हो सकता है । उत्तर यह है कि एक वृत्तिज्ञान होता है । दूसरा फलज्ञान होता है । वृत्तिज्ञान ब्रह्मका भी होता है । श्रुति फलज्ञान (फलव्याप्ति) का निषेध करती है । (इसका स्पष्टीकरण आगे होगा) ॥ ४ ॥

ननु ब्रह्मज्ञानमेव न घटते । कथं तदिच्छा ? तथा च श्रुतिः—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे"ति चेन्न । कर्तृवृत्तिक्रियाजन्यातिशयविशेषात्मकफलानाश्रयत्वस्यैवा'ऽप्राप्य मनसे" त्यनेन विवक्षितत्वात् । घटं जानातीत्यादौ देवदत्तादिकर्तृवृत्तिज्ञानक्रियाजन्यस्फुरणात्मकातिशयविशेषवत्त्वाद् घटस्य कर्मता भवति । ब्रह्म पुनः स्वयमेव स्फुरणात्मकमिति

कर्तृवृत्तिक्रियाजन्याऽतिशयरूपत्त्वं तस्य न संभवति । यथा जलादिगत-सूर्यप्रतिबिम्बो घटादिकं प्रकाशयन्नपि सूर्यं न प्रकाशयति । श्रौतवाक्यै-र्ब्रह्माकारवृत्तिस्त्वभ्युपगम्यते । अत्र प्रथमा फलव्याप्तिरुच्यते । द्वितीया वृत्तिव्याप्तिः । फलव्याप्यत्वाभावाद् "अप्राप्य मनसा सहे"त्यादि-श्रुतीनामुपपत्तिः। वृत्तिव्याप्यत्वस्वीकाराद् "मनसैवानुद्रष्टव्यमि"ति श्रुति-संगतिः ॥ ४ ॥

अज्ञानेनावृतं ब्रह्म निर्दुःखानन्दतुन्दिलम् ।
ज्ञानमिच्छन्त्यतः सन्तस्तदावरणभञ्जनम् ॥ ५ ॥ [१३]

निर्दुःख आनन्दैकरस ब्रह्म अज्ञानसे आवृत है । उस आवरणका भञ्जन वृत्तिज्ञान करता है । उस ज्ञानकी इच्छा सत्पुरुष रखते हैं । यह ब्रह्मजिज्ञासा है ॥ ५ ॥

निर्दुःखमानन्दैकरसं स्वस्वरूपं ब्रह्म अज्ञानावरणेनावृतं भवति । प्रागुक्तगीतास्मृतेः । तदावरणभञ्जनं च वृत्तिरूपं ज्ञानमिति तादृशज्ञान-मिच्छन्तिं विवेकिनः ॥ ५ ॥

अनादि च तदज्ञानं न कथंताविकल्पभाक् ।
जीवेशभेदप्रभृतिरप्यनादिरिहेष्यते ॥ ६ ॥[१४]

ज्ञानरूपी ब्रह्ममें अज्ञान कैसे ? इत्यादि विकल्प अज्ञान एवं तत्सम्बन्ध अनादि (एवं कल्पित) होनेसे नहीं उठते । जीव ब्रह्मका कल्पित भेद भी अनादि होनेसे एक ही चैतन्यमें ज्ञान तथा अज्ञान दोनों किस प्रकार ? यह प्रश्न भी नहीं उठता ॥ ६ ॥

ननु ज्ञानस्वरूपे परमात्मनि जीवे वा कथमज्ञानम् । कथं भावरूपस्य तस्य निवृत्तिरित्यादयो विकल्पा अनादित्वेन परिहृताः । अनादौ चोद्यविरहात् । जीवेशभेदप्रभृतेरप्यनादित्वात् कथमेकस्य ब्रह्मणो ज्ञत्वम-ज्ञत्वं चेत्यादिकमप्यचोद्यमेव ॥ ६ ॥

जीवे प्रकृतियुक्तत्वं तव स्यात् कथमन्यथा ।
तत्सत्याऽसत्यताचिन्ता वृथा तत्राऽप्रयोजिका ॥ ७ ॥[१५]

अनादिमें भी यदि प्रश्न उठाते हैं तो आप भी जबाब नहीं दे पायेंगे। जीवमें प्रकृतिसम्बन्ध कैसे हो गया जिससे जीवका ज्ञानप्रसार संकुचित हो गया ? जब प्रकृतिसम्बन्ध नहीं था तब सर्वज्ञ होनेसे जीवने गलत कर्म क्यों किया ? फिर बादमें (मुक्त होनेके अनन्तर भी) गलत काम नहीं करेगा इसमें क्या गारण्टी ? अतः अनादि प्रकृति परम्परासम्बन्धमें प्रश्न नहीं है यही उत्तर आपके पास भी है। यहां द्वैतवादियोंने सत्यता आदिको लेकर बवंडर खड़ा किया वह सब स्वकल्पित व्यर्थ आरोप होनेसे यहां उसका हम विस्तार नहीं करते ॥ ७ ॥

अनादावपि चोद्यं चेत्त्वन्मतेऽपि जीवस्य कथं प्रकृतियुक्तत्वं, कदाऽभूत्, कुतोऽभूत्। तत्सत्यत्वेऽनाद्यवरोधस्य कथं नाशः, कथं ज्ञानप्रसरः, मिथ्यात्वे कथं ज्ञानप्रसरबाधः इत्यादि प्रश्नानामनुत्तरतैव स्यात्। अनुक्तोपालम्भाश्चात्रत्या विस्तरभयात् फल्गुत्वाच्च न प्रतिविधानयोग्या इत्युपेक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥

स्वप्रभं प्रभुमनाद्यविद्यया
संवृतं विविदिषन्ति यं बुधाः।
दारितापवरणः सुखात्मना
भाति यश्च समुपैमि तं शिवम् ॥ २ ॥

प्रभु परमात्मा अनादि अविद्यासे आवृत हो गया है। अतएव स्वयंप्रकाश होनेपर भी नहीं भासता। उसीकी विविदिषा विवेकी पुरुष करते हैं। आवरणका ज्ञानसे जब विदारण (नाश) होता है तब आनन्दरूपसे वही प्रकाशित होता है। इस प्रकार चिदानन्दरूपसे प्रकाशित होनेवाले शिवकी शरणमें मैं आया हूँ ॥ २ ॥

इति द्वितीयं जिज्ञासोपपत्तिप्रकरणम्



अथ मीमांसयोरैकशास्त्र्यभङ्गः

शेषशेषित्वविरहात् फलजिज्ञास्यभेदतः ।
भिन्ने प्रवृत्तिभेदाच्च जिज्ञासे पूर्वपश्चिमे ॥ २ ॥ [१६]

पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा का या उनके विषयोंका कोई अङ्गाङ्गीभाव नहीं है । फल भी दोनोंके भिन्न हैं । एकका स्वर्गादि फल है, दूसरेका मोक्षफल है । जिज्ञास्य विषय भी दोनोंके भिन्न हैं—एकका विषय धर्म साध्य है, दूसरेका ब्रह्म सिद्ध है । प्रवृत्ति भेद भी हैं । एकमें नियोग है, दूसरेमें नहीं । अतः दोनों शास्त्र भिन्न हैं ॥ १ ॥

एवं जिज्ञासायामुपपन्नायामिदं चिन्त्ये किं पूर्वोत्तरमीमांसे भिन्नशास्त्रे उत तयोरैकशास्त्र्यमिति । कुत एषा चिन्तेति चेद् ? अग्रे निरूपयिष्यमाणाधिकारविचारादावपेक्षितत्वादिति । तत्र धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः शेषशेषिभावेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, अभ्युदयनिःश्रेयसात्मकफलभेदात्, भव्यभूतात्मकजिज्ञास्यभेदान्नियोगसद्भावासद्भावाच्च पार्थक्यमुभयोर्जिज्ञासयोरित्यन्यत्र विस्तरः ॥ १ ॥

अपेक्षणादैकशास्त्र्यं न पूर्वोत्तरतन्त्रयोः ।
स्यादैक्यं तेऽर्थशास्त्राद्यैर्भोजनादेरपेक्षणात् ॥ २ ॥ [१७]

पूर्वमीमांसामें विचारित कर्मोंसे अन्तःकरणशुद्धि होगी । तब ज्ञान होगा । अतः उसकी अपेक्षा होनेसें एकशास्त्रता है यह कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि इस प्रकार भोजनके अभावमें ब्रह्मविचार क्या होगा अतः भोजनोपयोगी अर्थशास्त्रके साथ भी वेदान्तकी एकशास्त्रता होने लगेगी ॥ २ ॥

ननु चान्तःकरणशुद्धेर्विविदिषाहेतुत्वात् परम्परया शारीरकशेषः कर्मविचार इति विरक्तस्यापि कर्मविचार आवश्यकः, तथा चैकफलत्वेनैकशास्त्र्यं स्यादिति चेन्न । तथा सति भोजनादेरपि परम्परया तच्छेषत्वादर्थशास्त्रस्य कामशास्त्रादेश्च पूर्वं विचार आवश्यक इति तैरप्यैकशास्त्र्यं स्यात् । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचिदि' ति प्रसिद्धम् । अपि च श्रुतिरपि

भवति 'स ह पञ्चदशाहानि नाशादथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति ऋचः सोम्य यजूंषि सामानीति, स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति'। किं चैवं सर्वेषामप्यास्तिकप्रस्थानानामुपकारकत्वात्स्वीकुरु सर्वेषामैकशास्त्र्यम्। त्यज वा कर्तृभेदविषयभेदफलभेदात्पूर्वकाण्डोत्तरकाण्डयोरप्यैकशास्त्र्यदुराग्रहम् ॥ २ ॥

अनन्तवेदाध्ययनं शक्यं नैवाल्पमेधसाम्।
नित्याद्यावश्यकं कर्म त्वाचारेणैव सुग्रहम् ॥ ३ ॥ [१८]

दूसरी बात—वेद अनन्त होनेसे पूरे कर्मकाण्डका अध्ययन तथा अर्थविचार मनुष्यके लिये असंभव है। वेदाध्ययन पूर्व आवश्यक है यह निश्चित है। यदि कहें कि अन्तःकरणशुद्धिके लिये आवश्यक वेदभाग तथा मीमांसाको ग्रहण करें तो बताना होगा कि आवश्यक अंश कितना है। 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षय' इस वचनके अनुसार नित्यनैमित्तिक कर्मकाण्डभाग कहें तो इतना तो शिष्टाचारसे एवं शिष्टोपदेशसे ही सम्पन्न होगा। आजकल लोग मीमांसा नहीं पढ़ते हैं तो क्या सभी भ्रष्ट हैं? वे नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करते? ॥ ३ ॥

अपि च कृत्स्नपूर्वकाण्डविचारो वाऽपेक्षितो यत्किंचिदर्थविचारो वा? नाद्यः। 'अनन्ता वै वेदाः' इति शतपथवचनाद् दृष्टादृष्टानामनन्तवेदानां कात्स्न्र्येनानन्तपुरुषायुषैरप्यध्ययनमसंभावितमिति गतं पुरुषार्थवार्तया। न हि सर्वार्थप्रतिपादकसकलवेदार्थतत्त्वज्ञानं शास्त्रयोनिमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यस्य कथंचिदपि संभवति। संभाव्यमाने वा शास्त्रयोनित्वलक्षणवैयर्थ्यापत्तेः। यावदुपयोगं मीमांसनं चेदभिप्रेतं तदा किमर्थमेतत् कियतश्चोपयोग इति वक्तव्यम्। 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्' इति 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दतिं मानवः' इत्यादिवचनाद् दुरितक्षयार्थं परमेश्वरप्रीत्यर्थं च कर्म कर्तव्यं, तावदर्थविचारश्चावश्यक इति चेत्? तदर्थम्—'अथातो धर्मजिज्ञासेत्यारभ्य' 'अन्वाहार्ये च दर्शनादि'त्यन्तो वा 'विद्यते वाऽन्यफलत्वाद् यथा याज्यासंप्रेषो यथा याज्यासंप्रेष' इत्यन्तो वा पूर्वकाण्डविचारो नोपयुज्यत एव। अपि चाऽकृतमीमांसा अपि ब्राह्मणाः स्वीयकुलपरम्पराचारक्रमेण नित्यनैमित्तिकादिकर्माणि कुर्वन्तो दुरितक्षयं

परमेश्वरप्रीतिं च संपादयन्तीति पूर्वतन्त्रानपेक्षणात्कथमैकशास्त्र्यमुभयोः ॥ ३ ॥

यच्चोपयोगि निष्कामं प्रायः पूर्वे न चिन्तितम् ।
याज्ञिकाचरणैरेव ज्ञेयत्वाच्चान्यकर्मणाम् ॥ ४ ॥ [१९]

वस्तुतः देखा जाय तो पूर्वमीमांसामें निष्कामकर्मोंका विचार ही प्रायः देखनेमें नहीं आता है जो कि उत्तरमीमांसाके लिये अपेक्षित है । बल्कि जहां वेदोंमें फल लिखा नहीं है वहां भी "स स्वर्गः सर्वान्" इस सूत्रसे स्वर्गफलकी कल्पना करनेके लिये बताया है । दूसरी बात पूर्वमीमांसामें याज्ञिकोंके आचारको ही सन्दिग्धस्थलमें प्रमाण माना है । और पूरे कर्म तो याज्ञिकोंके आचारसे ही जाने भी जा सकते हैं । केवल पुस्तक पढ़कर रसोई नहीं बनायी जा सकती वैसे पुस्तकपठनमात्रसे यज्ञविधि नहीं आ सकती ॥ ४ ॥

प्रायो निष्कामकर्मणां पूर्वतन्त्रेऽस्पृष्टत्वात् स्वर्गादिफलवाक्यानामेव सन्दिग्धानां तत्र विचारितत्वात् "स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशेषादि"त्येवं निर्णीतसकामकर्मणां मोक्षौपयिकतायाः केनापि वेदान्तिनाऽस्वीकरणात् "कृपणाः फलहेतव" इति वदता भगवतापि तत्प्रतिक्षेपात् कथंकारं स्वर्गादिफलवाक्यविचारपरकपूर्वतन्त्रेणोत्तरतन्त्रस्य सापेक्षतयैक्यमिति दुर्विदग्धा एव एवं प्रकारं वक्तुमर्हन्ति। तथा च यदपेक्षितं निष्कामं कर्म प्रायः तन्न विचारितं, यच्च नापेक्षितं स्वर्गादिफलकं कर्म तद् बहुधा विचारितमित्यपेक्षितार्थपूरकविधया पूर्वतन्त्रस्यैतच्छास्त्रान्तर्भावकथनमयुक्तमेव । यदि तु कश्चिद् ब्रूयात् स्वर्गादिफलतयाऽभिहितानामपि कर्मणां फलपरित्यागेनानुष्ठानं मोक्षकारणं भवतीति । तदापि न । नहि सर्वकर्मानुष्ठानं केनापि पुरुषेण शक्यते कर्तुम् । अपि च न पूर्वतन्त्राध्ययनमात्रेण कर्मानुष्ठानज्ञानं संभवति । तदर्थं तु याज्ञिकाचरणप्रत्यक्षदर्शनमेव शरणं भवति । न हि नलपाकशास्त्रं पठित्वा कश्चित् सरससूपशाकचोष्यलेह्यादिकं निर्मातुं प्रभवति । प्रत्युत मीमांसाविशारदा अपि क्वचिन्निश्चयमप्रतिपद्यमाना याज्ञिकाचरणमेव शरणीकुर्वन्ति । क्वचिद्याज्ञिकाचारविरोधे न्यायसिद्धमपि परित्यजन्ति । एवं सति याज्ञिकाचारदर्शनेन तत्क्रमशिक्षणेन च

सकलावश्यककर्मसंपादनसंभवे किमर्थं पूर्वतन्त्रमध्येयम् ? कथं चैतच्छास्त्रस्य पूर्वतन्त्रेणैक्यम् ? न चैवं पूर्वतन्त्रवैयर्थ्यम् । आचार्यत्वकामानां सन्दिग्धार्थनिर्णयौपयिकत्वेन तत्सार्थक्यात् । प्रायोऽनधीतपूर्वतन्त्रा एवाद्यत्वे कर्मकाण्डानि कुर्वन्तः कारयन्तश्च दरीदृश्यन्ते । प्रत्युताधीतपूर्वतन्त्राः पूर्वतन्त्राध्ययनाध्यापनशास्त्रविवादादिषु रममाणा एवाद्यत्वे उपलभ्यन्ते ॥ ४ ॥

संसाराच्च विरक्तस्य श्रुत्या संन्यासवर्णनात् ।
तत्कर्तव्यजपादीनां पूर्वतन्त्रेऽविचारणात् ॥ ५ ॥ [२०]

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' के अनुसार संसारसे विरक्त पुरुषके लिये श्रुतिने संन्यास बताया है । संन्यासाश्रममें कर्तव्य प्रणवजपादिपर पूर्वमीमांसामें विचार ही नहीं किया है ॥ ५ ॥

अपि च वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं मोक्षौपयिकमिति सर्वेषामभिमतम् । न च वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं पूर्वतन्त्रे प्रतिपादितमस्ति । न च वेदाध्ययनानन्तरकालीनधर्मविचारेण वर्णाश्रमधर्मबोधः संभवतीति वाच्यम् । संसाराद्विरक्तस्य 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि'ति श्रुतिविहितसंन्यासग्रहणसमनन्तरं प्रणवजपादिमात्रकर्मानुष्ठानस्य विधानात्तस्य च पूर्वतन्त्रे विचाराभावात्, सत्त्वेऽपि वा कृत्स्नपूर्वतन्त्राध्ययनमन्तरैव गुरूपदेशमात्रेण तेषां कर्तुं शक्यत्वात् पूर्वतन्त्रानपेक्षणात्तेन सहैकशास्त्र्यं कथंचिदपि न शक्यमुपपादयितुम् । 'नानुध्यायाद् बहून् शब्दानि' त्यधिकशब्दचिन्तननिषेधात् । यज्ञादिकर्मणां सपत्नीककर्तव्यत्वेन तदध्ययनस्य कथंचिदप्युपयोगासंभवात् । एतेन कर्माधिकाराभावे वेदान्तश्रवणानधिकार एवेति वदन्तः परास्ताः । संन्यासाश्रमविहितकर्मानुष्ठानाधिकारसत्त्वाच्च ॥ ५ ॥

देहात्माध्यासविरहाद् विदुषां नाधिकारिता ।
परकायप्रवेशादेर्न तत्तादात्म्यसत्यता ॥ ६ ॥ [२१]

देहात्माध्यास न होनेसे विद्वानोंको कर्मजन्यफलभोक्तृत्वरूपी अधिकार भी नहीं रहता । यह कहें कि आत्मामें देहतादात्म्य सत्य है तो सही नहीं

है। क्योंकि तादात्म्य तो अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। मरणोत्तर शरीर पड़ा है। आत्मा भी है। पर तादात्म्य कहां है? दूसरे शरीरसे तादात्म्य कैसे उत्पन्न होगा? "जायस्व म्रियस्व" पक्षमें कई महिनेके बाद शरीरमें जीवात्मा आता है तो तादात्म्य नहीं होगा। केवल संयोग मात्र होगा। (अधिक टीकामें द्रष्टव्य)॥ ६॥

विद्योत्पत्तौ तु नास्त्येव कर्माधिकारः। वर्णाश्रमाद्यभिमानविरहात्। तदानीं मास्तु वेदान्तश्रवणाद्यधिकारोऽपि। तज्जन्यफलयोग्यत्वस्यैवाधिकार-पदार्थत्वात्। यथा ज्योतिष्टोमादौ स्वर्गकामस्यैवाधिकारिता। विदुषश्च कर्मजन्यफलस्य स्वर्गादिरनभिलाषात्। विविदिषाया विद्याया वा सम्पन्नत्वेन फलस्य सिद्धस्य जनकतावच्छेदकाधिकारायोगात्। तथा च विविदिषावतां संन्यासोपपत्तिः। विद्यावतां तु शरीरतादात्म्याध्यासविरहात्तन्निबन्धनवर्णा-श्रमाध्यासविरहेणैव कर्माधिकारविरहात् संन्यासः। तस्याश्रमकर्मापि नास्त्येव। ये तु विदुषामपि सर्वकर्मसंन्यासो नास्त्येव आश्रमकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायः स्यादेवेति वदन्ति तेषां मते योगिनां संवत्सरादिपर्यन्त-समाधिस्थितानां महान् प्रत्यवायः स्यात्। न "चाख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी"ति न्यायात्समाधिकाले कर्मकरणाऽशक्तेर्न प्रत्यवाय इति वाच्यम्। समाधेः पूर्वं 'नित्यादि समये समुत्तिष्ठेयमि'ति संकल्पेनोत्थानसंभवात्। अन्यथा निद्रालस्यादिना समयव्यतिक्रमणेऽपि प्रत्यवायो न स्यात्। यत्तु देहतादात्म्यं सत्यमिति कस्यचिन्मतम्। तदसत्। जडचेतन-योस्तादात्म्यायोगात्। समवायवत्तादात्म्यस्यायुतसिद्धत्वेन मरणानुपपत्तेश्च। न च श्यामगुणनाशरक्तगुणसमवायवदेकशरीरनाशपूर्वकशरीरान्तरतादात्म्यं संभवतीति वाच्यम्। मरणसमनन्तरमपि शरीरस्य दाहादेः प्राक् वियुत्य(शरीर) स्थितिदर्शनेनैकनाशविरहात्। न च प्राणसंयोगतादात्म्य-तदभावावेव जीवनमरणे इति वाच्यम्। तथा सति गतं शरीरतादात्म्येन। गतं च वर्णाश्रमधर्मवत्त्वेन। योगिनां परकायप्रवेशपुनरागमनयोर्योग-शास्त्रसिद्धयोरयुतसिद्धतादात्म्येनानुपपत्तेश्च। ननु संयोगसम्बन्ध एवा-स्त्विति चेन्न। भवन्मते अणोरात्मनः सर्वशरीरसंयोगविरहात्। प्रकाशेन संयोगस्तु शरीरान्तरेणापि विद्यत इति कर्मकर्तृप्व्यवस्थानुपपत्तिः।

न चावयविन एकत्वान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अतिरिक्तावयविसत्त्वे मानाभावात् । परलोकदिगमनागमनवतः सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीरावयवत्वविरहेण तत्संयोगिनस्तदन्तवर्तिन आत्मनः स्थूलशरीरसंयोगाभावाच्च । ब्राह्मणो यजेतेत्यादौ ब्राह्मणत्वादिजात्यवच्छिन्नत्वस्यात्मनि ब्राह्मणशरीरसंयोगमात्रेणासंभवाच्च । स्वीयादृष्टविशेषजन्यब्राह्मणादिशरीरविशिष्टत्वं त्ववाच्यार्थो ब्राह्मणादिपदानाम् । ब्राह्मणोऽस्मीत्यादिप्रतीत्यविषयश्च । तादृशशरीरतादात्म्याध्यासवन्तमुद्दिश्यैव ब्राह्मणो यजेतेत्यादिवचनप्रवृत्तिरित्येवं षष्ठे प्रतिपादनाच्च ॥ ६ ॥

न्यायोपजीवनेनैक्यं पूर्वतन्त्रेण चेत्तदा ।
तर्कशास्त्रादिनाप्यैक्यं प्रमाणाद्युपजीवनात् ॥ ७ ॥ [२२]

पूर्वमीमांसाके कई न्यायोंको उत्तरमीमांसामें लिखा है । अतः दोनों एक है । ऐसा यदि कहते हैं तो तर्कशास्त्रमें प्रतिपादित प्रमाणादिकी भी अपेक्षा उत्तरमीमांसामें होनेसे उसके साथ भी एकशास्त्रता होगी । "आसीनः संभवात्" आदि इशारा मात्र करनेसे योगमार्गकी भी अपेक्षा होनेसे उससे भी एकशास्त्रता माननी होगी ॥ ७ ॥

यत्तु पूर्वतन्त्रगतन्यायोपजीवनात् पूर्वतन्त्रेणैक्यमुत्तरतन्त्रस्येति । तन्न । तर्कशास्त्रीयप्रमाणोपजीवनात्तेनाप्यैक्यस्य प्रसङ्गात् । किं बहुना पूर्वपक्षतया बौद्धादिशास्त्रोपजीवनात्तैरप्यैक्यं तव प्रसज्यते । पूर्वपक्षत्वेन तैरेक्यं नो चेत् शारीरकागतपूर्वपक्षसूत्राणां शास्त्रभेदः स्यात् ॥ ७ ॥

कुतो नारचयत् कृत्स्नं शास्त्रमेकतरो मुनिः ।
विघ्नाभावादयुक्तैव कादम्बर्याद्युदाहृतिः ॥ ८ ॥ [२३]

फिर दो ऋषियोंमें एक ही ने पूरा शास्त्र क्यों नहीं लिखा ? आधी कादम्बरी पिताने लिखी आधी पुत्रने, मिलकर एक ग्रन्थ हुआ यह दृष्टान्त अयुक्त है । क्योंकि वाणभट्टकी मृत्यु होनेसे विघ्न आ गया तो पुत्रने पूर्ति की । यहाँ तो ऋषि दोनों रहे । उनके विघ्नकी कोई संभावना नहीं रही । और ऐसी चर्चा भी कहीं नहीं आयी है ॥ ८ ॥

कथं हि कण्ठोऽवरुद्धो जैमिनेः संकर्षणकाण्डानन्तरम् । कुतश्चाष्टादशपुराणमहाभारतादिकर्तुर्वेदव्यासस्य विंशतिलक्षणीलक्षणशास्त्रविरचनायां षोडशसु परमुखनिरीक्षकता । न च कादम्बर्याः पितृसमारब्धायाः पुत्रेण पूरणवदिति दृष्टान्तः संगच्छते । तंत्र विघ्नबाहुल्येन ग्रन्थसमापनात्प्रागेव पितुर्मरणात् पुत्रेण तत्पूरणे हेतुरस्ति । न हि परमतपसोरुभयोरपि मुनितल्लजयोरन्यतरस्याप्यस्ति विघ्नसंभावना । न वा लोके तद्विषयकविघ्नकिंवदन्ती प्रवर्तते । न चैकतरेण समारब्धस्यापरेण पूरणमिति काचित्प्रथा तदा संववृते येन तत्कल्पनाविश्वासौ स्याताम् ॥ ८ ॥

प्रस्थानभेदाच्चानैक्यं समत्वाच्चेत्तदेकता ।
एकं स्यातां सांख्ययोगौ न्यायवैशेषिकावपि ॥ ९ ॥ [२४]

छः आस्तिकदर्शन हैं । यह प्रस्थानभेद मीमांसाओंको दो शास्त्र माननेपर ही संभव है । वेदार्थविचार समान होनेके कारण एकता कहेंगे तो समानताके कारण सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन एक होने लगेंगे । न्यायवैशेषिक भी एक होने लगेंगे ॥ ९ ॥

अपि च प्रस्थानभेदान्नैकत्वं कर्मब्रह्ममीमांसयोः । आस्तिकप्रस्थानषट्कप्रसिद्धेः । धर्मब्रह्मणोर्भेदाच्च । यदि च मीमांसात्वस्य समत्वादेकशास्त्रत्वमुच्यते तदा प्रकृतिपुरुषादिपदार्थनिरूपणत्वस्य समत्वादविरोधाच्च सांख्ययोगयोरप्यैकशास्त्र्यं स्यात् । तथा न्यायवैशेषिकयोरपि । यदि च ज्ञानप्रधानतया सांख्यप्रवृत्तिः । योगाख्यकर्मप्रधानतया योगशास्त्रप्रवृत्तिरिति विशेष उच्यते तदा तुल्यं मीमांसयोरपि । प्रमेयमुख्यतया वैशेषिकप्रवृत्तिः । प्रमाणमुख्यतया न्यायप्रवृत्तिरितिवदत्रापि भव्यप्रधानतया पूर्वतन्त्रप्रवृत्तिर्भूतप्रधानतयोत्तरतन्त्रप्रवृत्तिरिति तुल्यम् ॥ ९ ॥

धर्मं जैमिनिराह स्म बादरायण ईश्वरम् ।
धर्माय जैमिनेर्यत्न ईशायान्यस्य संस्तवः ॥ १० ॥ [२५]

धर्म ही जगत्कारण है, फलप्रद है यह जैमिनि सिद्ध करते हैं । ईश्वर ही जगत्कारण है, फलदाता है यह बादरायण सिद्ध करते हैं । भला इनकी एकता किस प्रकार ? ॥ १० ॥

ननु जैमिनिबादरायणयोर्वेदव्याख्यानप्रवृत्तयोरत्यन्ताऽविरोधात् परस्पर-पूरकत्वाच्च मीमांसयोरेकशास्त्रत्वम् । न्यायवैशेषिकयोस्तु प्रमाणद्वित्व-चतुष्ट्वसमवायप्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वादिभिरस्ति विरोध इति नैकशास्त्रत्वमिति चेत्तुल्यं प्रकृतेऽपि । जैमिनेर्धर्मप्रयोज्यत्वं बादरायणस्येश्वरप्रयोज्यत्वमिति भेदसत्त्वात् । तथा च सूत्राणि—"फलमत उपपत्तेः । धर्मं जैमिनिरत एव । पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशाभ्याम्" इति । तथा च जैमिनेर्धर्मसाधनाय यत्नः । बादरायणस्येश्वरसाधनाय यत्न इति स्पष्टः प्रस्थानभेदः । यत्तु पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीत्येवं परिगणनावसरे धर्मब्रह्ममीमांसयोः पार्थक्येनाऽपरिगणनादैकशास्त्र्यमिति । तदसत् । तत्र सांख्ययोग-वैशेषिकाणामप्यपरिगणनेन तेषां न्यायशास्त्रेणैक्यापत्तेर्मीमांसात्वेनोभयग्रहणं नैक्यप्रयोजकमिति ॥ १० ॥

धर्माधर्मविचारजातमशिषत् श्रीमान् मुनिजैमिनिः
स्वर्गाद्यं फलमिच्छतां सुकृतिनां कामान्वितानां कृते ।
योऽन्यत्रैव च बादरायणमुनिर्धर्मादधर्मादपि
ब्रह्माऽकामहताय शंसति सते तस्मै नमस्तायिने ॥ ३अ ॥

"अथातो धर्मजिज्ञासा" इस सूत्रमें अकारका प्रक्षेप कर धर्म और अधर्म दोनोंको लेकर आगे दोनोंका शासन जैमिनि मुनिने स्वर्गादि-फलाभिलाषी कामयुक्त पुण्यात्माओंके लिये किया । बादरायणमुनिने तो "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" के अनुसार धर्म एवं अधर्मसे दूरस्थित ब्रह्मका विरक्तपुरुषोंके लिये शंसन किया ऐसे कृपालु ऋषिको हम प्रणाम करते हैं ॥ ३ ॥

मीमांसामनपेक्ष्य याज्ञिकवराचारात् क्रियाः कृत्स्नशः
कुर्वन्त्येवमुपासनाश्च सुजनाः किं तत्र शास्त्रश्रमैः ।
मुक्तिस्तूपनिषद्विचारजनितादात्मैक्यबोधात् सतां
तत्र ब्रह्मविचारणा विजयते वैयासिकीयं शुभा ॥ ३आ ॥

मीमांसाके अध्ययनादिकी अपेक्षा रखे विना ही कर्मकाण्डियोंके आचारको देख-देखकर कर्म किये कराये जाते हैं । इसी प्रकार उपासनायें

भी उपासनाकाण्ड पढ़े विना ही गुरूपदेशमात्रसे साधक-जन करते हैं। किन्तु मुक्ति तो उपनिषदोंके विचारसे उत्पन्न हुए आत्मैक्यबोधसे ही संतोंको प्राप्त होती है। उसमें उपयोगी व्यासकृत ब्रह्मविचार तो शुभ एवं परमोत्कृष्ट है॥ ३॥

इति तृतीयं मीमांसयोरैकशास्त्र्यभङ्गप्रकरणम्

*****

(४)
अथ ज्ञानाऽविधेयतावादः

श्रवणं मननं चैवाऽऽवृत्त्या ध्यानं च कुर्वताम्।
ब्रह्मबोधो महावाक्यैरविधेयं फलं भवेत्॥ १॥ [२६]

बार बार श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करनेवाले साधकोंको तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे ब्रह्मबोधरूपी फल प्राप्त होता है जो अविधेय है॥ १॥

अत्र केचिदाहुः ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ज्ञाधातुवाच्यं ज्ञानमुपासनमेव। स एव द्रष्टव्य इत्यत्र दृशेरप्यर्थः। न चैवं द्रष्टव्यः निदिध्यासितव्य इत्यनयोरेकार्थत्वं स्यादिति वाच्यम्। छागपशुन्यायेनैकविधित्वात्। "अग्नये स्विष्टकृते" इत्यत्र चतुर्थीद्वयवत् तव्यप्रत्ययद्वयोपपत्तेः। न च ज्ञानस्याऽविधेयत्वम्। तथा सति यागादेरपि देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागस्य बुद्धिविशेषरूपस्याविधेयत्वापत्तेः। कथं च द्वादशाहे मानसग्रहादेर्दशमेऽहनि विधेयता स्यात्? तस्यापि बुद्धिविशेषरूपत्वात्। श्रवणादीनां ज्ञानविशेषरूपाणां त्वयापि विधेयतास्वीकाराच्चेति। तदसत्। जिज्ञासाघटकज्ञाधातोरुपासनार्थतायां तद्विधेश्च विवक्षितत्तायां ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ब्रह्मोपासनेच्छेतिवद् धर्मजिज्ञासेत्यत्रापि धर्मोपासनेच्छा शब्दार्थः स्यात्। न ह्येवमर्थः केनाप्याचार्येण स्वीकृतः संभवो वा। ननु धर्मजिज्ञासेत्यत्र धर्मोपासनार्थत्वं मास्तु, किन्तु ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ब्रह्मोपासनार्थतायां न किंचिद् बाधकमस्ति, यथाऽथपदस्य प्रथमे दाध्ययनानन्तर्यमर्थः, उत्तरे

कर्मानन्तर्यादिरर्थः । जानातिवेत्त्यादीनामुपासनार्थत्वं चावश्यकम् । "य एवं वेदे" त्यादावुपासनार्थतादर्शनात् । क्वचिद् वेत्तिनोपक्रम्य श्रुतावुपास्तिनोप-संहाराच्चेति चेन्न । न हि क्वाचित्कः प्रयोगो वा, उपक्रमोपसंहारादिर्वा शक्तिग्राहकः "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात् कोशाप्तवाक्यैर्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः" इति स्मरणात् । वस्तुतो व्यवहारो व्याकरणं कोशश्चेति त्रयो लाघवगौरवादितर्कश्च शक्तिनिर्णायको भवति । क्वचिद्वाक्यशेषश्च । अन्ये तु शक्तिग्रहोपाय-मात्रम् । व्याकरणे तु विदज्ञाने, ज्ञा अवबोधन इत्याद्येव पठ्यते । न तु विद उपास्तावित्यादि । "वेत्ति जानाति जानीते वेद बोधति बुध्यत" इत्येवं कोशेऽपि बोधार्थकत्वमेव निरूपितम् ॥ १ ॥

न ज्ञानोपासनार्थैक्यं लोके भिन्नार्थदर्शनात् ।
लोकवेदपृथक्त्वे तु वेदार्थो दुर्ग्रहो भवेत् ॥ २ ॥ [२७]

ज्ञान ही उपासना है अतः ज्ञान विधेय है ऐसा मत ग्राह्य नहीं है । क्योंकि लोकमें दोनोंकें अर्थमें भेद है । लौकिक प्रयोगोंके अर्थसे वैदिक प्रयोगोंका अर्थ भिन्न माना जाये तो वेदार्थ समझना असंभव हो जायेगा ॥ २ ॥

ननु वेत्तिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहारात् क्वचिदुपास्तिनोपक्रम्य वेत्तिनोप-संहाराद् वेदेषु अर्थवैलक्षण्यं स्वीकर्तव्यम् । न चैवमपि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"ति सूत्रस्य लौकिकत्वात्तत्र जानातेरवबोधार्थत्वमेव स्यादिति वाच्यम् । "तद् ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्वे"ति श्रुत्यर्थानुगमनरूपत्वेन श्रौत-जिज्ञासापदप्रयोगात् । अतएव धर्मजिज्ञासेत्यत्र जानातेर्नोपास्त्यर्थकत्वम् । तन्मूलभूतसमानशब्दकश्रुतिविरहात् । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति वाक्यमादायै-वाध्ययनस्यार्थ ज्ञानपर्यन्तत्वाद्वेदार्थभूतधर्मजिज्ञासायाः सूचितत्वादिति चेन्न । लोकवेदाधिकरणे लौकिकवैदिकशब्दानां तदर्थानां च भेदस्य निरस्तत्वात् । "प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागादि" ति । तत्र वार्तिकम्—"भेदे सति अपूर्वत्वात् सर्ववैदिकपदानामनवगतसम्बन्धत्वेनार्थशून्यत्वात् क्रियाकारक-संसर्गात्मकप्रयोगचोदनानामभाव एव स्यादि"ति । सूत्रे "शब्दार्थकत्वमिति वक्तव्येऽर्थैकत्ववचनं फलादेव शब्दैकत्वोक्तिसिद्धिं मत्वा । अथवा वस्तुमात्र-

पर्यायत्वादुभयसाधारण्याभिप्रायेणैवार्थैकत्वोक्तिः" इत्यपि तत्रैव वार्तिके स्पष्टीकृतम् । तस्मादुपक्रमोपसंहारादिना तत्र तत्र विवक्षितार्थनिश्चय-मात्रं न तु तेन शक्तिनिश्चयः । अर्थबोधस्तु लक्षणादिनापि भवितु-मर्हति । तस्माल्लोकसिद्धशक्त्यैव निर्वाहादनेकार्थतायाश्चान्याय्यत्वाद्वेत्ति-जानात्यादीनामवबोधार्थशक्तिकत्वमेव स्वीकर्तव्यम् ॥ २ ॥

तस्माद् दर्शनपर्यन्तप्रत्ययावृत्त्यपेक्षया ।
वेदेत्यादिरुपास्त्यर्थे क्वचिद्वेदे प्रयुज्यते ॥ ३ ॥[२८]

इसलिये उपासना अर्थमें "य एवं वेद" इत्यादि प्रयोग वेदोंमें कहीं कहीं जो आया है वह दर्शन (रूपी वेदन) होने तक उपासना करते रहना चाहिये इस आशयसे लक्षणाप्रयुक्त हुआ, यही मान्य है ॥ ३ ॥

तस्माददृष्टोत्पत्त्यर्थं सकृद्वा, मनःसंतोषार्थं किंचित्कालपर्यन्तं वा, यावज्जीवं वोपासना कर्तव्येति सन्देहे तृतीयकल्पे कर्मान्तरो-पासनान्तरादीनामनवकाशप्रसङ्गाद् द्वितीयकल्पस्यानियतत्वात् प्रथमकल्प-स्यानिष्टत्वाद् दर्शनापरपर्यायवेदनावधिकमुपासनं कर्तव्यमित्येतदर्थविवक्षया वेत्तेः प्रयोग इत्येव सर्वैरुपेयम् । अन्यथा "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेदे" त्यादिश्रुत्युक्तोपासनाफलानां सकृदुपासनया, किंचित्कालोपासनया मरणपर्यन्तोपासनयापि वा क्वचिददर्शनेन श्रुते-र्मिथ्यार्थवादित्वमापद्येत । "अत्स्यन्नं पश्यति" इत्येवं प्रत्यक्षफलनिर्देश-दर्शनाच्च । तस्मादुपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तोपासना फलवतीत्येव निश्चयोऽर्थः । न च भावनात्मकोपासनाप्रयुक्तदर्शनस्य विरहिणो मृतकान्तादिदर्शनव-न्मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम् । "मनो ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिविहितो-पासनाजन्यमनोब्रह्मदर्शनस्य सर्वैर्मिथ्यात्वस्वीकारावश्यकत्वात् । तावतैव तत्फलोपपत्तेः ॥ ४ ॥

उपासनादौ पुंस्तन्त्रे विधिरिच्छाभवे भवेत् ।
वस्तुतन्त्रे न विज्ञाने स प्रमाणभवे भवेत् ॥ ४ ॥[२९]

उपासना पुरुषतन्त्र है । इच्छानुसार कर सकते हैं । उसमें 'करो' इस प्रकार विधि हो सकती है । ज्ञान वस्तुतन्त्र है । प्रमाणाधीन है । आँख

खुलनेपर सामनेकी वस्तु इच्छा हो न हो तो भी दिखायी पड़ेगी। उसमें 'करो' ऐसी विधि संभव नहीं है ॥ ४ ॥

अयं च ज्ञानोपासनयोर्विशेषः उपासना तावत् पुरुषतन्त्रा । सा स्वेच्छया भवतीति पुरुषस्तत्र नियोक्तुं शक्यते । शालग्रामशिलायां विष्णुभावना स्वेच्छया क्रियते । अपरस्तु तत्र शिवभावनां कर्तुमिच्छेत् तर्हि शक्नोत्येव कर्तुम् । तथा च तत्र विधिनिषेधौ प्रवृर्तितुमर्हतः । ज्ञानं पुनर्वस्तुतन्त्रम् । न हि तत्र पुरुषेच्छा कारणम् । प्रमाणस्यैव कारणत्वेन चक्षुर्घटसंयोगे पुरःस्थिते घटे घटदर्शनस्यावश्यंभावात् । द्वादशाहे मानस-ग्रहादेर्भावनामयत्वात्तस्य पुरुषतन्त्रत्वाद्विधिविषयत्वं भवति । यागस्तु यद्यपि न बुद्धिविशेषरूपः । परस्वत्वापादनबुद्धिपूर्वकद्रव्यप्रक्षेपस्यैव यागत्वात् । "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठत" इत्येवं प्रासनोक्तेः । तथापि विशेषणभूतबुद्धेर्विधेयत्वोपगमेऽपि तस्या भावनात्मकतया पुरुषतन्त्राया विधेयत्वं युज्यते । न हि देवतास्वत्वं प्रत्यक्षं येन तद् ज्ञानात्मकं स्यात् ॥ ४ ॥

शैत्यं कार्यं हिमं प्रास्यं मूर्ध्न्यग्निज्वरशान्तये ।
द्रष्टव्य आत्मा श्रोतव्यो ध्यातव्यो भवशान्तये ॥ ५ ॥ [३०]

अग्निज्वरकी शान्तिके लिये मस्तकको शीतल करो, सिरपर बरफ रखो । इस वाक्यमें ज्वर शमन और मस्तक शीतलीकरण दोनोंमें विधि नहीं है । केवल बरफ मस्तकपर रखनेकी विधि है। क्योंकि बरफ रखनेपर मस्तक अपने आप शीतल होगा । अपने आप ज्वर शमन भी होगा । वैसे ही संसार शान्तिके लिये आत्मदर्शन करो, श्रवणादि करो, इस वाक्यमें केवल श्रवणादिकी विधि है । श्रवणादि करनेसे आत्मदर्शन अपने आप होगा और भवशमन भी स्वतः होगा ॥ ५ ॥

तापज्वरेण शिरसि तप्यमाने इदमुच्यते शिरसि शैत्यं कार्यम् शिरसि हिमं क्षेप्तव्यं तथा च तापज्वरशान्तिर्भवतीति । तत्र न तापज्वर-शान्तिर्विधेया फलत्वात् । कारणसामग्रीसमवधाने विनापि विधिं फलोत्पतेः। नापि शैत्यं विधेयम् हिमे शिरसि निक्षिप्ते स्वयमेव शैत्यस्योत्पत्तेः । किन्तु शिरसि हिमक्षेपणमात्रं विधेयं भवति । मोक्षार्थमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य

इत्युक्ते न मोक्षो विधेयः। दर्शने सति मोक्षस्य स्वयमेव संपद्यमानत्वात्। नापि दर्शनं विधेयम्। श्रवणादिकारणसामग्र्यां सत्यां स्वयमेव दर्शनस्य सम्पद्यमानत्वात्। तस्मात् श्रवणादिकमेव विधेयम्। ननु श्रवणादिकमपि ज्ञानरूपमेवेति कथं विधेयं स्यादिति चेन्न। षड्लिङ्गैर्वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणस्य पूर्वापरचिन्तनसंयोजनात्मकस्य मानसक्रियारूपत्वात्। तथा युक्तिभिस्तद्दाढर्यकरणरूपमननस्यापि तथात्वात्। निदध्यासन्सय ध्यानरूपत्वात् त्रयाणां मानसक्रियारूपत्वेन विधेयत्त्वोपपत्तेः। एतत् त्रयमपि प्रमाणसहकार्येव न तु प्रमाणरूपमिति वक्ष्यामः।

अपरे पुरराचार्याः प्राहुः मोक्षो नैव फलम्। उत्पन्नस्य नाशापत्तेरिति न तदर्थतया दर्शनं विधेयम्। आविर्भूतस्वरूपमात्रं मोक्षः। न हि तत्साध्यम्। अधिष्ठानातिरिक्तो न नाशः कल्पितवस्तुन इति सिद्धान्ताद् अज्ञानादिनिवृत्तिरपि स्वरूपानतिरिक्तैव। वस्तुतो दर्शनमपि आविर्भूतस्वरूपमेव। श्रवणादिजनिताखण्डाकारवृत्तिकृताज्ञाननिबर्हणप्रयुक्तस्वरूपाविर्भावस्यैव ज्ञानत्वात्। आत्मन एव ज्ञानत्वेन श्रुतिषु वर्णनात्। न च तत्र विशेषणस्य जन्यतया विशिष्टस्य जन्यत्वमिति वाच्यम्। सविशेषणे हीति न्यानेन पुनर्विशेषणे एव तदुपसंक्रमणेन घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तापत्तेः। तथा च ज्ञानस्याजन्यतया तदपि न विधेयम्। तस्मादविधेयं ज्ञानमिति पक्षः स्थिर एवेति ॥ ५ ॥

श्रवणं मननं मान-मेयाऽसंभावनाहरे।
विपरीतां भावनां तु निदिध्यासनमुद्धरेत् ॥ ६ ॥ [३१]

श्रवणसे प्रमाणसंशय तथा मननसे प्रमेयसंशय निवृत्त होता है। निदिध्यासन विपरीत भावनाका नाशक है ॥ ६ ॥

ज्ञानं प्रमाणजमित्युक्तम्। प्रमाणं च महावाक्यमित्यपि ब्रह्मबोधं प्रति एवं सति श्रवणमनननिदिध्यासनानां कुत्रोपयोगः? न ह्येतानि प्रमाणानि। प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कानन्तर्गतत्वात्। श्रवणस्याप्युक्तरीत्या विचाररूपत्वात् महावाक्यं तु शब्दान्तर्गतमिति युक्तं तस्य प्रमाणत्वमिति चेद्। उच्यते। श्रवणेन प्रमाणगता मननेन च प्रमेयगताऽसंभावना निवर्तते। निदिध्यासनेन तु विपरीतभावना निवर्तते। एते असंभावनाविपरीतभावने पुरुषापराधरूपे

ज्ञानस्य ज्ञानगताज्ञाननिवर्तकशक्तेर्वा प्रतिबन्धके भवतः । श्रवणादिभि-रेतन्निवृत्तौ महावाक्यं तज्जज्ञानं वा विस्रब्धं प्रवर्तते । भच्छूदाहरण-मिहाचार्यैर्दर्शितम् ॥ ६ ॥

तन्नाशाद् दर्शनं तस्मात्तन्नाशेऽन्योन्यसंश्रयः ।
मैवं वेगक्रियावत् स्यादन्योन्यस्योपकारिता ॥ ७ ॥ [३२]

विपरीत भावना नाश होनेपर आत्मदर्शन होगा । आत्मदर्शन होनेपर विपरीत भावनानाश होगा । इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा क्या ? नहीं होगा । गाड़ी आदिमें प्रथम थोड़ी क्रिया हुई तो थोड़ा वेग आया । वेगसे क्रिया बढ़ी, क्रियासे वेग बढ़ा । इसमें जैसे अन्योन्याश्रय नहीं है वैसे प्रथम निदिध्यासनसे थोड़ी विपरीतभावना दूर होगी । तब कुछ और स्पष्ट दर्शन होगा इस रीति से यहां भी अन्योन्याश्रय नहीं है ॥ ७ ॥

नन्वसंभावनाविपरीतभावनयोर्नाशे आत्मदर्शनं स्यादात्मदर्शने सति चासंभावनाविपरीतभावनानाश इत्यन्योन्याश्रयः । तथा च श्रुतिराह-"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति । हृदयग्रन्थिर्विपरीतभावनैव वासनात्मिका । असंभावना तु संशय एवोच्यते । सत्यम् । श्रवणादिनाऽसंभावनादीनां शैथिल्यं प्रत्यक्षसिद्धमेव । तेन च सामान्यदर्शनमपि भवति ततोऽसंभाव-नादेरधिकशैथिल्यं ततो दर्शनदार्ढ्यमिति रीत्या परस्परोपकारस्यानु-भवसिद्धत्वात् । यथा गच्छतः शकटादौ प्रथमं क्रिया ततः किंचिद्वेग-स्ततोऽधिकक्रिया ततोऽधिकवेग इति प्रत्यक्षम् । न हि बाष्पशकटादौ धावति प्रथमक्षणे एव त्रिंशत्क्रोशवेगो भवति । तत्र च नैवान्योन्याश्रयता । एवमिहापि नास्त्यन्योन्याश्रयदोषः । सर्वथा संशयोच्छेदो विपरीत-भावनोच्छेदश्च पूर्णदर्शनादेव भवतीति । न च साक्षात्करे तारतम्यं नोपपद्यते । असंभावनादिन्यूनाधिकभावमादाय तदुपपादने त्वात्माश्रयः स्यादिति वाच्यम् । अविद्याक्षयतारतम्यस्यैव साक्षात्कारे तारतम्यरूपत्वात् दीपप्रकाशः शालां व्याप्नुवन्नप्यल्पमेवान्धकारं विलापयति । विद्युत्-प्रकाशोऽधिकम् । तत्रापि पञ्चविंशतिः-चत्वारिंशत्-शतादिशक्तिक-कुतुपक (बल्ब) प्रकाशेनाधिकाधिकतमन्धकारनाशो दृश्यते । अत एव शतशक्तिक-

कुतुपकेन व्यवहरतः सत्यपि पञ्चविंशतिशक्तिककुतुपकेऽन्धकारः प्रतीयते । प्रकृते चात एव श्रवणाद्यावृत्तिसाफल्यम् । स्मरणाऽऽवृत्तौ स्फुटतरस्मरणवत् श्रवणाद्यावृत्तौ स्फुटतरज्ञानोत्पत्त्युपपत्तेः। तत्र स्फुटतरज्ञानेन सर्ववासनोच्छेदः इत्यतो ग्रन्थिशब्दप्रयोगः श्रुतौ । सर्वथा संशयनिवृत्तिश्चेत्यतः सर्वशब्द-प्रयोगश्चेति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ७ ॥

दृष्टे परात्मनि सति जगदेतन्निवर्तते ।
मिथ्यात्वात् स्थाणुपुरुषो यथा स्थाणौ निरीक्षिते ॥ ८ ॥ [३३]

परमात्माका साक्षात्कार होनेपर यह संसार निवृत्त हो जायेगा । क्योंकि यह मिथ्या है। जैसे ठूँठको पहचाननेपर स्थाणुपुरुष निवृत्त होता है ॥ ८ ॥

ननु द्रष्टव्य इति तव्यप्रत्ययानुसारेण विधिविषयभूतदर्शनमेवेह विवक्षितं न त्वविधेयज्ञानम् । न च यथाश्रुतदर्शनमेव दृशिधात्वर्थः, तव्यप्रत्ययस्त्वहार्थेऽपि भविष्यति, प्रथमोपस्थितधातोरेव शक्यार्थग्रहणौ-चित्यादिति वाच्यम् । दर्शनमात्रस्याकिंचित्करत्वात् । ध्यानात्मकदर्शन-विवक्षायां तूपासनाप्रसन्नः परमात्मा स्वेप्सितफलं साधयिष्यतीति चेन्न । परमार्थदर्शनस्यानर्थसंसारनिवर्तकत्वात् । जगतः परमात्मनि कल्पि-तत्वेनाधिष्ठानदर्शने सति तन्निवृत्त्युपपत्तेः । यथा स्थाणौ प्रत्यक्षीकृते तत्र कल्पितस्य चौरस्य भयहेतोरनर्थकारिणो निवृत्तिरिति ॥ ८ ॥

दृश्यत्वादिवशादेष मृषा संसार ईरितः ।
दृगधीनप्रकाशत्वं दृश्यत्वं परिकीर्तितम् ॥ ९ ॥ [३४]

जगत मिथ्या क्यों ? इसलिये कि यह दृश्य है । दृश्य तो ब्रह्म भी है नहीं । द्रष्टाके अधीन जिसका प्रकाश हो, स्वयं जड़ हो वह दृश्य है (टीका द्रष्टव्य) ॥ ९ ॥

ननु संसारस्य मिथ्यात्वमेव प्रथममसिद्धं, तथा सति ज्ञानेन तन्निवृत्ति-र्नोपपद्यत इति व्यर्थमात्मदर्शनमिति चेन्न । दृश्यत्वादिभिर्वक्ष्यमाणहेतुभि-र्जगतो मिथ्यात्वसिद्धेः । ननु दृश्यत्वं ब्रह्मणोऽप्यस्ति । "द्रष्टव्य" इति श्रुतौ भवतैव दर्शनविषयत्वस्यानुपदमुपपादनादिति चेन्न । आत्मा द्रष्टव्य इत्यत्राखण्डाकारवृत्तिविषयत्वमापादनीय इत्यर्थः । वृत्तिव्याप्यत्वं चोपेमो ब्रह्मणः । किन्तु मिथ्यात्वसाधकहेतुर्दृश्यत्वं दृगधीनप्रकाशत्वलक्षणं नात्मनि ।

तस्य स्वयमेव दृग्रूपत्वेन स्वाधीनप्रकाशत्वविरहात् । न च धर्माधर्मादी-नामतीन्द्रियाणां प्रकाशत्वविरहात्तत्र भागासिद्धिरिति वाच्यम् । दृगधीन-सिद्धिकत्वस्य तत्रापि सत्त्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

ननु च प्रमाणभूतेन महावाक्येन ज्ञानोत्पत्तौ श्रवणादीनामानर्थक्यं स्यात् । न हि प्रमाणमितरसापेक्षं सत्फलमुत्पादयतीति । मन्मते तु उपासनया भगवत्प्रीतावुत्पाद्यमानायां श्रवणादेः सहकारित्वं घटते "श्रुतं हरति पापानी"त्यादि वचनादिति चेन्न । दोषविशेषनिवर्तनौपायिकतया श्रवणादीनामुपयोगस्य दर्शितत्वात् । ब्रह्मदर्शनोत्पत्त्यनन्तरं तु न श्रवणा-दीनामपेक्षा विद्यते । तदुक्तं—"ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः । पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः" इति । ब्रह्मदर्शनेन दोषाणामपि बाधात्तेषामनन्तरमकिंचित्करत्वात् ।

ननु ब्रह्मदर्शनेन मिथ्याभूतदोषाणां प्रपञ्चस्य च बाधश्चेन्मिथ्या भूतरोगादिरपि निवर्तेरन्निति भैषज्यादिवैयर्थ्यं स्यात् । न चेष्टापत्तिः । "मायावादिमतस्थाश्च महारोगेण पीडिताः । मञ्चे शयाना दृश्यन्ते किं च भैषज्यकाङ्क्षिणः" इति यथोक्तेष्टापत्त्यसंभवादिति चेत् । तुल्यं तावपि । "भक्ताश्चोपासिताश्च महारोगेण पीडिताः । वैद्यं नारायणं त्यक्त्वा सुश्रुतं वाग्भटं समशिश्रियुः", इति मयापि श्लोकस्य पठितुं शक्यत्वात् । एतेन "यथा हरीतकीखादः क्रियते दोषशान्तये । तद्वद् दुरितशान्त्यर्थं क्रियतां हरि-कीर्तनम्" इति वचनमपि समाहितम् । हरिकीर्तनेन सकलदुरितनाशेऽन्धस्य चक्षुष्मत्त्वं, खञ्जादेः सपादत्वादिकं चैकपदे स्यात् । "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः । पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव", "हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः" इत्यादिवचनसहस्रसत्त्वात् । न चैषामर्थवादत्वादिकं भवता वक्तव्यम् । नामापराधादिदोषसहस्रापत्तेः । यदि च धृष्टतां कृत्वा प्रारब्धेतर-पापादिनाशकतया संकोच्यते तदाऽद्वैतवादिभिः किमपराद्धम् ? प्रारब्धस्य भोगेनैव नाशस्य वक्ष्यामणात्वाद् भैषज्याद्यपेक्षाया अपि संभवात् । व्यावहारिकसत्तास्वीकारात् ।

ननु च "तत्त्वस्यादिवाक्यानां शतशः श्रवणेऽपि हि । दृश्यन्ते त्वमहंपूर्वो विवादो ब्रह्मवादिनाम्" इति ब्रह्मज्ञाने सत्यपि अध्यासस्य स्पष्टत्वान्न

तत्त्वज्ञानेनाध्यासनिवृत्तिः प्रपञ्चनिवृत्तिर्वा युज्यत इति चेद् ? अयं भवदीयः स्वगतविषयविषयकानुभवस्तेन परगतसमानविषयकहेत्वाभासश्चैव । न हि ब्रह्मज्ञानिनां त्वमहंपूर्वकसाभिनिवेशवादादिप्रवृत्तिरस्ति । केषांचित् पूर्व-संस्कारानुसारेण विवादप्रवृत्तौ रागद्वेषाद्याभासमात्रं स्वीक्रियते । तच्च पञ्चदश्यादौ स्पष्टम् । महीयांसस्तु तत्रापि न प्रवर्तन्त एव । क्वचित्तु लोका विपरीतं मा ग्रहीषुरिति करुणयैव वादादौ प्रवृत्तिर्न तु त्वमहंभावपूर्विका । तस्माद् प्रपञ्चसत्यत्ववादिनां स्वान्तर्गताभिमानरागद्वेषाद्यनुभव एष, तत्पूर्विका परहृदये तत्कल्पना च ॥ ९ ॥

उत्पन्ने ब्रह्मविज्ञाने बाधितार्थानुवृत्तितः
संसारो दृश्यमानोऽपि यथापूर्वं न वर्तते ॥ १० ॥ [३५]

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर जगत् का बाध होता है । फिर भी बाधितानुवृत्ति होगी । जैसे मरुदेशमें पानी का बाध होनेपर भी सूर्यकिरणोंकी चमकसे पानी दीखेगा । किन्तु दीखनेपर भी पूर्ववत् प्रवृत्ति नहीं होगी । जैसे पानीमें तैरने कूदने आदिकी प्रवृत्ति नहीं होती है वैसे संसारमें सत्यसुखादिप्राप्त्यर्थ प्रयत्न नहीं होगा ॥ १० ॥

ननु अहंभावो वा अहंभावाभासो वा किमनया वाक्चातुर्या । ब्रह्मज्ञानेन संसारनिवृत्तौ तद्दर्शनं तत्र प्रवृत्तिस्तेन वादादयश्च नैव भवितुमर्हन्ति । न हि मरुमरीचिकाजले बाधिते तत्र मज्जज्जनोद्धाराय कश्चित्प्रवर्तत इति चेन्न । बाधितानुवृत्त्या तदुपपादनस्य करिष्यमाणत्वात् । मरुमरीचिकाजले बाधितेऽपि चाकचिक्यादिदोषवशेन जलं पुनरपि प्रतीयते एव । तत्र जलपानाय प्रवृत्तिविरहेऽवि चित्रपटमिथ्याचित्रपुरुषदर्शन-प्रवृत्तिवत् कथं मिथ्यातरङ्गा उच्छलन्तीति कौतूहलं भवत्येव । तत्र मज्जनादिके तु न प्रवृत्तिः । प्रतिभासिके व्यावहारिकप्रवत्त्ययोगात् । एवं जातब्रह्मज्ञानस्य व्यावहारिके जगति व्यावहारिकप्रवृत्तिसत्त्वेऽपि पारमार्थिकतत्त्वप्राप्त्यर्थो यत्नो न भवत्येव, न वा तेषु रागद्वेषादयो भवन्ति । ये तु पुनरधीतवेदान्तशास्त्रा अपि पूर्ववदेव रागद्वेषादिकं कुर्वन्ति तेषां ब्रह्मदर्शनं नैव जातम् । 'अस्ति चेन्न स तत्त्वविदि' त्युक्तेः ॥ १० ॥

यथा यथोद्व्रजेत् सूर्यो यथा मेघोऽपगच्छति ।
तथा प्रकाशवैशद्याद् ध्वान्तहानिस्तथातथा ॥ ११॥ [३६]

आवृत्त्या श्रवणादीनां विज्ञानं विमलीभवेत् ।
तथा क्रमेण चाज्ञानहानिसंसारनिर्वृती ॥ १२ ॥ [३७]

ज्ञान होनेपर भी लेशाविद्या रहेगी । सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर आता है, मेघ ज्यों-ज्यों हटता है त्यों-त्यों प्रकाश विशद होता जाता है तो उसी क्रमसे अन्धकार भी निकलता जाता है । अल्प प्रकाशमें अन्धकार भी रहता है । वैसे ही श्रवणादिकी आवृत्ति ज्यों-ज्यों होती है त्यों-त्यों ज्ञानकी निर्मलता और उसी क्रमसे अज्ञानकी और संसारकी निवृत्ति होती है ॥ ११-१२ ॥

ननु सकृद्दर्शनेनैवाज्ञाननिवृत्तौ संसारनिवृत्तिर्भवतीति अज्ञानशेषण-संसारावस्थान-बाधितानुवृत्त्यादयो नोपपद्यन्त इति चेन्न । न हि क्षणदर्शन-मात्रेण सकलाज्ञाननिवृत्तिर्भवति । अज्ञानस्य सावयवत्वात् क्रमश एव तन्निवृत्तिः स्वीक्रियते । यद्यपि सर्वथा सावयवत्वं तस्य नोपगम्यते । तथापि सर्वथा निरवयवत्वमपि न स्वीक्रियते । भावाभावोभयविलक्षणतावत् साङ्गासाङ्गोभयविलक्षणतायाः स्वीकारात् । तदुक्तम्-"साङ्गाप्यनङ्गाप्यु-भयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा" इति । तमोवदेव । तथा हि– यथा यथा सूर्य उद्गच्छति तथा-तथा प्रकाशवैशद्यं सूर्यस्य भवति । मध्याह्ने पूर्णं प्रकाशवैशद्यम् । एवं मेघो यथा यथापसरति तथा सूर्यो विमल-विमलतरादिरूपेण प्रकाशत इति दृष्टम् । एवं क्रमेणैव ध्वान्तहानिरपि भवति । दार्ष्टान्तिके च यथा यथा च श्रवणमनननिदिध्यासनान्यावर्तन्ते तथा तथा ज्ञानं विमलीभवति । यथा यथा ज्ञानं विमलीभवति तथा तथाऽज्ञानमपसरति । तत्र स्थूलाज्ञाननिरासे जगदिदं पलालमिव निःसारं प्रतीयते । पुनरज्ञानहरणे तुच्छं मृषाभूतं भाति । एतत्क्रमेणैव रागद्वेषादि-प्रशमनम् । पूर्णबोधस्तु चरमतत्त्वज्ञानमेव । यत्र प्रारब्धं समाप्यते । यदा च द्वैतदर्शनं सर्वथा निवर्तते ।

यत्तु "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षः" । इत्येवमेकत्रोच्यते ध्रुवानुस्मृत्या मोक्ष इति ।

अन्यत्र च "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्येवं परावरदर्शने सति सर्वग्रन्थिच्छेदनरूप-मोक्षोऽभिधीयते। उभयोरपि श्रुत्योः प्रमाणत्वादन्यतराऽप्रामाण्यमन्यतर-ग्रहणमात्रं वा न शक्यते। अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, न गृह्णातीतिवत् विकल्पस्वीकारोऽपि न युक्तः। विकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वात्। तस्मादत्र तस्मिन् दृष्टे इत्यत्र या दृष्टिरभिहिता सैव ध्रुवानुस्मृतिरित्युभयोरैक्यमेव स्वीकर्तुमुचितम्। ध्रुवानुस्मृतिरेव निदिध्यासनं तदेव च दर्शनं नाम। छागपशुन्यायेन पृथक् कथनमात्रम्। तेन च मोक्षो भवतीत्युभयोः श्रुत्योरेकार्थतेति। तदिदं मौढ्यमात्रम्। स्मृतिदर्शनयोः पर्यायत्वविरहेण लक्षणादोषस्य दुरुद्धरत्वात्। न चैवमष्टदोषदुष्टविकल्पाश्रयणप्रसक्तिरिति वाच्यम्। उपसंहारन्यायेन विकल्पपरिहारात्। अन्यथा कुक्षिंभरीणामनाया-समोक्षो भवन्मते स्यात्। प्रतिदिनपायसरसगुलकादिमिष्टभोजनकवलन-मात्रेण मोक्षसिद्ध्यापत्तेः तादृशाहाराभ्यवहरणेन सत्त्वशुद्धिध्रुवानुस्मृत्योः फलश्रुत्या श्रुत्युक्तत्वात्। आहारशुद्धाविति सप्तम्या प्रयोज्यत्वाभिधानात्। न च मध्ये श्रवणमुपासनाप्रभृतिकं चोपसंहारन्यायेन नेयं "श्रोतव्यो मन्तव्य" इत्यादि- श्रुत्यन्तरानुरोधादिति वाच्यम्। एवं सति "तस्मिन् दृष्टे" इत्यप्युपसंह्रियताम्। एवं चाहारशुद्धिः सत्त्वशुद्धिः विवेकादिः गुरूपसदनं श्रवणं मननं निदिध्यासनात्मकध्रुवानुस्मरणं ततस्तस्मिन्दृष्टे इत्युक्तदर्शनं ततः सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष इत्येवमुपसंहारन्यायेन लब्धत्वे किमर्थं ध्रुवानुस्मृति-दर्शनयोरेकार्थत्वं बलात् स्वीकरणीयम्? "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यती" त्यादावप्येवमेवोपसंहारः क्रियते। एवं सति ध्रुवानुस्मृत्यपरपर्यायोपासनात्मकनिदिध्यासनाद् विधिविषयादेव मोक्षः, दर्शनस्य मोक्षहेतुत्वविरहेण तदन्यथानुपपत्त्या विश्वमिथ्यात्व-साधनानुपपत्तिरित्यादिकं सर्वमाशामोदकादनमेव। तस्मात्—

न ध्रुवानुस्मृतिर्दृष्टिर्विकल्पो नोपसंहृतेः।
दर्शनादेव तन्मोक्षो मिथ्यात्वं बन्धनस्य च ॥ १३ ॥ [३८]

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' इत्यादि श्रुतिमें कथित ध्रुवानुस्मृति और 'द्रष्टव्यः इस श्रुतिमें कथित दर्शन एक नहीं है। प्रथम अनुसन्धानरूप है।

द्वितीय ज्ञानरूप है । अच्छा, ध्रुवानुस्मृति और दर्शनका विकल्प माना जाये । किसी एक से मोक्ष प्राप्ति होगी । नहीं । उपसंहारन्याय ही ऐसे स्थान में माना जाता है सत्त्वशुद्धिके बाद श्रवणादि उसके बाद दृढांनुसन्धान, उसके बाद दर्शन, फिर मोक्ष यह क्रम उपसंहारन्यायसे प्राप्त होता है । विकल्प अष्टदोषवाला होता है । और दर्शनसे संसारबन्धननिवृत्ति (सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः) होती है । अत एव ज्ञाननिवर्त्य होने से जगतका मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि"रित्यादि "भिद्यते हृदयग्रन्थिरि"त्यादि च यद् ग्रन्थिमोक्षप्रयोजकतयाऽभिहतं तदैक्यं नास्त्येव । विकल्पप्रसक्तिस्तु नैव भवत्युपसंहारन्यायात् । दर्शनान्मोक्ष इति पक्षस्यैव स्थितत्वात् । अत एव बन्धनस्य दर्शननाश्यत्वेन मिथ्यात्वमप्यायातीत्यद्वैतसिद्धन्तरीतिरेव श्रुत्यनुकूला भवतीति ॥ ११-१३ ॥

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ।
इत्यन्यमार्गापोहाच्च विकल्पाद्यप्रसक्तितः ॥ १४ ॥ [३९]

उस परमात्मा को जानकर ही मुक्त हो सकता है । मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है इस प्रकार कैवल्योपनिषद् में अन्यमार्ग निराकरण करनेसे विकल्प आदिकी संभावना भी नहीं की जा सकती ॥ १४ ॥

यस्मिन् दुर्हरसर्वसंशयहतिर्दृष्टेऽथ कर्मक्षयो-
ऽविद्योद्भावितवासनादिहृदयग्रन्थिप्रभेदस्तथा ।
यस्य स्याच्छ्रवणादिसन्ततसमावृत्त्या च साक्षात्कृति-
स्तद्ब्रह्मास्त्वविधेयबोधविषयो निःश्रेयसायेह नः ॥ ४ ॥

इस (ब्रह्म) के दर्शन से समस्त संशयोंका छेदन तथा कार्मोंका क्षय होता है तथा अविद्यासे प्रादुर्भूत वासना आदि हृदयग्रथिन्योंका भेदन होता है जो (दर्शन) श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनकी आवृत्तिसे ही संभव है वह ब्रह्म अविधेय ज्ञानका (साक्षात्कारका) विषय होकर हमें निःश्रेयस परमश्रेय मोक्ष प्रदान करें ॥ ४ ॥

इति ज्ञानाविधेयताप्रकरणम्

*****

(५)

अथ बाधितानुवृत्तिवादः

दृष्टतत्त्वस्य महतो व्यवहारोऽखिलो यतेः ।
स्याद् बाधितानुवृत्त्यैव यावत्प्रारब्धसंक्षयम् ॥ १ ॥ [४०]

तत्त्वसाक्षात्कारके बाद यतिका सभी व्यवहार बाधितानुवृत्तिसे ही होता है । जब तक प्रारब्ध समाप्त नहीं होता तब तक यह सिलसिला जारी रहेगा ॥ १ ॥

ननु ज्ञानोपास्त्योर्मास्त्वैक्यम्। तथाप्युपासनार्थे वेत्तिजानात्यादेः प्रयोगो वर्तते इति भवता स्वीकर्तव्यमेव । प्रकृते च द्रष्टव्य इत्यस्योपासनैवार्थो युक्तः । ज्ञानेन संसारनिवृत्त्यनुपपत्तेः । ज्ञानिनामपि संसारदर्शनात् । उपासनार्थतायां चोपासितः प्रसन्नः परमेश्वरः संसारं बाधते । तदुक्तं- "नानुवर्तेत संसारो यत्प्रसादैकबाधितः" इति । स च बाधो मरणोत्तरमेव भगवता क्रियत इति जीवनकाले संसारोपलम्भ इति चेन्न । ज्ञानेन संसारबाधस्यानुभवसिद्धस्यापलपितुमशक्यत्वात् । विद्यन्ते हि संप्रत्यपि बहवो महान्तो ब्रह्मज्ञानबाधितसंसारमरुतोयाः स्वानन्दतृप्ताः । ननु ज्ञाने-नाऽज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यसंसारनिवृत्तेः संसार एव न दृश्येतेति सद्योमुक्ते-स्तादृशज्ञानिनां संसारे स्वानन्दतृप्ततया वर्तमानत्वकथनमयुक्तमिति चेन्न । ज्ञानेन संसारबाधेऽपि बाधितानुवृत्त्या संसारदर्शनस्य तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । न च मूलाविद्याया विरहात्तत्कार्यस्यैवासंभवाद् बाधितानु-वृत्तिरिति रिक्तमेव वच इति वाच्यम् । ज्ञानोत्तरमपि लेशविद्यायाः स्वीकारात् । न च कथं लेशविद्याया अपि स्थितिः । ज्ञानेन तस्या अपि निवृत्तेरिति वाच्यम् । प्रारब्धवशेन प्रतिबद्धतया सहसा तदविनाशात ॥ १ ॥

उपादाने क्षतेऽज्ञाने प्रारब्धं वर्ततां कथम् ।
मैवं तमोवत्साङ्गत्वाल्लेशाऽविद्यानुवर्तनात् ॥ २ ॥ [४१]

प्रारब्ध भी तो अज्ञानका कार्य है । अज्ञान नष्ट हुआ तो प्रारब्ध कैसे रहेगा जो लेशविद्याको रोक सकेगा ? इस प्रश्नका उत्तर पहले दे चुके हैं । अज्ञान तमके समान ही निरवयव नहीं है । अल्पप्रकाशमें अल्पतम

ही नष्ट होता है। वैसे विशिष्ट अभ्यासके न होनेपर अल्प अज्ञान ही नष्ट होता है। लेशाविद्या रहती है॥ २॥

ननूपादानध्वंसेऽपि कार्यानुवृत्तिरुन्मत्तोऽपि नानुसन्धत्ते, कथमज्ञान-रूपोपादाननाशे प्रारब्धानुवर्तनमिति चेत्। उन्मत्त एव नानुसन्धत्त इति युक्तं वचः। उपादाननाशेऽपि क्षणं कार्यानुवर्तनस्यानुन्मत्तैर्नैयायिकादिभि-रुपगतत्वात्। न चोपादाननाशस्य कार्यनाशहेतुत्वात्कार्यकारणभाव-निर्वाहायान्यथानुपपत्त्या तैः कारणनाशोत्तरं क्षणं कार्यानुवर्तनमुपगम्यत इति वाच्यम्। अत्र "तस्य तावदेव चिरम्" इति श्रुत्यन्यथानुपपत्त्योपादान-नाशोत्तरमपि प्रारब्धस्थितिरस्तु। वस्तुतस्तु कारणीभूताविद्यांश एव प्रारब्धावष्टब्धो न नश्यतीति॥ २॥

प्रारब्धरुद्धमज्ञानमाप्रारब्धं न लीयते।
हिमावष्टब्धजलवत् स्वांशेन ज्ञानधन्वनि॥ ३॥ [४२]

जैसे बरफ-ओला आदि से अवरुद्ध जलांश मरुभूमिमें तबतक लीन नहीं होता जबतक बरफ आदि रूप है। वैसे प्रारब्धसे अवरुद्ध अज्ञानांश भी ज्ञानमें तबतक लीन नहीं होता जबतक प्रारब्ध है॥ ३॥

ननु प्रारब्धस्याऽविद्याकार्यतया ज्ञानेत्तरकालं चिरमनुवर्तनं दुर्घटम्। अविद्यासत्त्वे प्रारब्धसत्त्वं प्रारब्धसत्त्वे तत्प्रतिबन्धेनाविद्यासत्त्वामित्य-न्योन्याश्रयताप्रसक्तेरिति चेन्न। मरुभूमौ निपतितस्य तोयस्य सहसा तद्भूम्या प्रशोषणेऽपि हिमकरकाद्यवष्टब्धं न सा शोषयति यावद्धिमादि-भावम्। एवमेव विद्ययाऽविद्याप्रशोषणेऽपि प्रारब्धावष्टब्धमविद्यांशं न सा शोषयति। प्रारब्धावष्टब्धांशरूपा चाविद्या लेशविद्येति निगद्यते। तां केचन वासनामामनन्ति ननु ज्ञाने समुत्पन्ने ज्ञानाभावरूपाऽविद्या कथं लेशेनावतिष्ठेत। न ह्यभावस्यांशोऽस्तीति चेन्न। न हि ज्ञानाभाव एवाज्ञानमविद्या वेति विशदीकृतमन्यत्र। सा च सावयवाऽनिर्वचनीया चेति लेशाविद्यावस्थानं न विरुद्धम्। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य" इति श्रुतिरपि प्रारब्धावष्टब्धाविद्यांशाऽविनाशमेव ब्रवीति॥ ३॥

तिग्मरश्मिप्रकाशेऽपि वृक्षच्छाया तमोमयी ।
दृश्यते तद्वदज्ञानलेशो ज्ञानेऽपि वर्तते ॥ ४ ॥ [४३]

मध्याह्नमें सूर्यका प्रकाश चारों और फैलता है। वृक्षके नीचे प्रकाश रहता है किन्तु तमरूप छाया भी रहती है। इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान साथमें संभव है ॥ ४ ॥

मध्याह्नसमये सौरप्राकाशस्य परितः प्रसरणेऽपि वृक्षिस्याधोभागे छाया तमोरूपिणी दृश्यते । न च तत्र प्रकाशो नास्तीति शक्यं वक्तुम् । छायायां प्रकाशविरहे तत्र कस्यचिदपि वस्तुन उपलब्धेरभावप्रसङ्गात् । तमोवदज्ञानमपि भावपदार्थ इति ज्ञाने जातेऽपि तेन सहसैव कृत्स्नाऽविद्यानाशविरहाल्लेशाविद्यादयो वर्तन्ते ।

यदि वृक्षोपाधिवशात्प्रकाशन्यौन्यादन्धकारलेशो वृक्षादध उपपद्यते तदा प्रारब्धोपाधितो लेशाविद्याप्युपपद्यत एव । एतच्चोपपादितं प्राक् ॥ ४॥

वृत्तावर्थान्तरावेशतारतम्यवशादपि ।
अखण्डाकारतान्यौन्यादेतत् समुपपद्यते ॥ ५ ॥ [४४]

दूसरी बात यह भी है कि अखण्डाकारवृत्तिकालमें भी समूहालम्बनरूपसे कुछ अन्य विषय भी ज्ञानमें समाविष्ट हो जाता है तो अखण्डाकारतामें न्यूनता होने लगती है। इसलिये भी लेशाविद्याका रहना उपपन्न है ॥ ५ ॥

अपि च तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिताखण्डाकारवृतौ अहंकारादिविषयान्तरप्रवेशन्यूनाधिभावाद् वृत्तीनामुत्कर्षापकर्षौ भवितुमर्हतः । तथा सति अविद्याया निवृत्तावपि भवति तारतम्यम् । इत्थं चाऽऽप्रारब्धं यत्किंचिद्विषयान्तरप्रवेशादविद्यालेशो वर्तेतेति तेन ज्ञानिनां जगद्दर्शनं तेन व्यवहारादिश्चोपपद्यते । यथा दोषविशेषादिवशेनाविद्यालेशस्थितेर्बाधितेऽपि मरुजले जलप्रतीतिर्भवति । न च तत्र व्यवहारो न भवतीति वाच्यम् । प्रातिभासिकत्वनिश्चयेन तत्र व्यवहारानुपपत्तेः । प्रपञ्चोऽयं तु व्यावहारिक इति कुतो व्यवहारप्रतिबन्धः पारमार्थिकत्वं बाधितमिति न पूर्ववदेवं तस्य संसारः ।

यत्तु प्रारब्धस्यापि मिथ्यात्वात्तस्यापि ज्ञानेन निवृत्तेर्न तदज्ञाननाश-प्रतिबन्धसमर्थमिति । तदसत् । यत् किलान्यनाशमपि प्रतिबध्नीयात् तत्स्वनाशं कुतो न प्रतिबध्नातु । प्रारब्धनाशस्तु भोगेनैव । "भोगेन त्वितरे क्षययित्वा संपद्यत" इति न्यायात् । न च भोगनाश्यत्वे ज्ञाननाश्यत्व-विरहान्मिथ्यात्वं न स्यादिति वाच्यम् । अन्यनाश्यस्य मिथ्यात्वा-भावनियमविरहात् । न हि दण्डप्रहारनष्टो घटो न मिथ्या । न च दण्डप्रहारनाशस्यापि ज्ञाननाश्यतायोग्यत्वमस्तीति घटादिर्मिथ्या स्यात् । प्रारब्धं तु भोगैकनाश्यमिति मिथ्यात्वं कथं सेत्स्यतीति वाच्यम् । तत्रापि ब्रह्मभिन्नत्वादिलक्षणयोग्यतावच्छेदकसत्त्वात् । भवन्मतेऽपि "नानुवर्तेत संसारो यत्प्रसादैकबाधित" इति वदतः संप्रति प्रसादः कथं न, कथं च न संसारबाध इति वक्तव्यम् । भजति हि भवान् भगवन्तमिति हि भवच्छिष्याः प्रतिपादयन्ति । अहैतुकस्तस्य प्रसाद इति चेत्तर्हि व्यर्थं भजनम् । प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धाद् विद्यमानोऽपि भगवत्प्रसादो न संसारं बाधते चेत् ? प्रारब्धं कस्मान्न नाशयति स इति वक्तव्यम् । प्रारब्धमपि संसारान्तर्गतमेव। कस्मान्न भगवान् स्वप्रसादेन सर्वान् प्राणिनः संसारं प्रबाध्य मोक्षयति । कर्मसापेक्षत्वादिति चेत् ? तत्कर्मैव कुतो न नाशयति ? का तस्यासमर्थता ? लीलेति चेत् ? तस्या लीला अस्माकं समुद्रमज्जनमहो लीलामहिमा निर्घृणस्य । तदलं भट्टपादोट्टङ्कितजटिलदोषजालावर्तनेन । वयं पुनरनिर्वचनीयमखिलं मन्यमाना विवादाद् दूरमास्महे । अनिर्वचनीयत्वं च मिथ्यात्वम् ॥ ५ ॥

यावच्छक्यं तु निर्वाच्यं मनस्तोषाय सूरिभिः ।
अन्तेऽनिर्वाच्यतायां हि सकलं पर्यवस्यति ॥ ६ ॥ [४५]

आपका कहना है—'नानुवर्तेत संसारो यत्प्रसादैकबाधितः' इस उक्तिके अनुसार ईश्वरप्रसादसे संसारबाध होगा । ज्ञानसे नहीं । किन्तु वह ईश्वर सबपर प्रसन्न क्यों नहीं है ? यह कहो कि उपासना करनेवालोंपर ही वह प्रसन्न होता है तो बताईये सबसे उपासना ही वह क्यों नहीं कराता ? क्या वह समर्थ नहीं है ? क्या उसमें प्राणियोंके क्लेशके लिये दया नहीं है ? ईश्वरकी अहैतुकी कृपा मानते हो तो उपासनाको हेतुरूपमें क्यों घुसेड़ते हो ? मनःसंतोषके लिये यथासंभव निर्वचन करो । अन्तमें तो

अनिर्वचनीयतामें ही पर्यवसान है और अनिर्वचनीयत्व ही वस्तुतः मिथ्यात्व है। न कि असत्त्व ही ॥ ६ ॥

मनस्तोषाय यावच्छक्ति निर्वचनं कर्तव्यं सूरिभिः। तथा चेदमपि वक्तुं शक्यते-ज्ञानेन न संसारस्य नाशः। किन्त्वज्ञाननाश एव। तनैवास्य विरोधाद्। अज्ञाननाशे सति तदुपादानकप्रपञ्चनाशो भवति। तथा सत्युपादानाज्ञाननाशप्रयुक्तनाशयोग्यत्वं घटादेरिव प्रारब्धस्यापि तुल्यमेवेति क्व तस्य सत्यत्वापत्तिः। वस्तुतस्तु सर्वमतेनानिर्वचनीय एव संसारः। तथा चोक्तमनुपदमीश्वरसृष्टः संसार इति पक्षे कुतस्तेन सृष्टः कुतः कर्म दग्ध्वा सर्वान्न मोक्षयतीत्यादिकमसमाधेयमेव भवति। सर्वत्रेश्वरेच्छाकथन-मनिर्वचनीयतायामेव पर्यवस्यति ॥ ६

तैलादिदीपसमबुद्ध्यविनाश्यलेशा-
ऽविद्याक्षपां चरमबोधदिवाकरोज्झ्याम्।
आदाय यः करुणया जगदुद्दधार
तं शंकरं हृदि भजेमहि भाष्यकारम् ॥ ५॥

तैलदीपके जलनेपर भी अंधकार रातमें देखनेमें आता है। सूर्यकि प्रखर प्रकाशमें ही अन्धकारका विलोप होता है। वैसे प्रथमादि ब्रह्मबोध-कालमें भी अविद्यारात्रि तम रहता है। चरमब्रह्मबोध से ही उसका सर्वथा नाश होता है। उस लेशाविद्याको रखकर दया परवश हो जिन्होंने जगतका उद्धार किया उन शंकरस्वरूप भाष्यकारको हम प्रणाम करते हैं।

इति बाधितानुवृत्तिवादः

*****

(६)
अथ षष्ठं यज्ञादेर्विविदिषासाधनत्वोपपादनम्

यज्ञादिभिर्भवेदिच्छा तीव्रा विज्ञानगोचरा।
ततस्तदेकनिष्ठः सन् वर्तेत श्रवणादिषु ॥ १ ॥ [४६]

"यज्ञादिना विविदिषन्ति" इस प्रकार श्रुतिमें यज्ञादिको विविदिषाका कारण बताया। अर्थात् यज्ञादिसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर तीव्र-इच्छा

ज्ञानप्राप्त्यर्थ होती है, तो एकनिष्ठासे श्रवणादि करनेमें उसकी प्रवृत्ति होगी ॥ १ ॥

ननु न वेदनमविधेयज्ञानात्मकं युक्तं येन जगन्मिथ्यात्वबाधितानुवृत्त्यादिकं समाधानविधया वक्तव्यम् । किन्तु विधेयमुपासनात्मकमेव । कथमिति चेत् ? "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः । ज्ञानरूपं वेदनं प्रमाणमात्रजन्यम् । न तु यज्ञादिजन्यम् । उच्यते च विविदिषन्ति यज्ञेनेति । तथा च यज्ञादिसाध्यं वेदनं विधेयमुपासनात्मकमेवेति । भवतु वा वेदनं ज्ञानमेव । तथाप्येतच्छ्रुतिबलाद् यज्ञादेरपि ज्ञानहेतुत्वं सिध्यत्येव । न च प्रमाणत एव ज्ञानोत्पत्तिसंभवेऽन्यथासिद्धो यज्ञादिरिति वाच्यम् । शतशः श्रूयमाणेऽपि महावाक्ये साक्षात्काराऽदर्शनाद् यज्ञाद्यनुष्ठायिनां विमलान्तःकरणानां च तद्दर्शनाद् यज्ञादेरपि ज्ञानहेतुत्वसिद्धेरिति चेन्न । "यज्ञेन विविदिषन्ती"ति श्रुतौ मुख्येन प्रत्ययार्थेन वेदनेच्छात्मकेनैव सह यज्ञेनेत्यस्यान्वयौचित्यात् । वेदनं हि पदार्थैकदेशः । "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पादार्थैकदेशेने"ति न्यायेन विविदिषया सार्धमेवान्वयसंभवात् । तथा च सूत्रकृतः । "सर्वपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति। अश्वेन जिगमिषतीत्यादौ जिगमिषा अश्वहेतुका । न चाप्रसिद्धा । कश्चिद्राजा कर्तितहस्तपादः काश्यामेव मर्तुकामोऽप्येकस्मिन्नहनि लक्षणसम्पन्नमश्वं दृष्ट्वाऽजिगमिषत् । हयारूढः काश्यां बहिर्गत्वा पपात ममार चेति कथायाः काश्यां प्रसिद्धत्वात् । तत्राश्वो जिगमिषाहेतुः स्पष्टः । न च विविदिषा ममोत्पद्यतामितीच्छया यज्ञादिसम्पादने वेदनेच्छापि दुर्वारेति वेदनमेव तत्फलं भवत्विति वाच्यम् । वेदनस्य स्वकारणीभूतश्रवणादिभिरेवोत्पाद्यत्वात्तस्मिन्नदृष्टद्वारकतया यज्ञादिकारणकत्वकल्पनायां गौरवात् । न च वेदेनेच्छाया अपि यज्ञादिसाध्यत्वस्याऽप्रत्यक्षत्वाददृष्टद्वारैव तत् कल्पनीयमिति समानम्, इच्छाया विषयसौन्दर्यप्रयुक्तत्वादिति वाच्यम् । एवमुभयोः समाने प्रत्यायार्थस्य मुख्यत्वान्मुख्यान्वयस्यैव सिद्धेः । किं चोत्कृष्टेच्छाया यज्ञसाध्यत्वमनेन गम्यते । न चोत्कृष्टेच्छाया वैफल्यम् । उत्कृष्टेच्छायामन्येच्छातिरस्कारात्संसारवैराग्योपपत्तेः । कामिन्येकाभिलाषुको मतापित्रादीनपि परित्यजतीति

प्रसिद्धम् । अत एव "भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गवे"त्यादिप्रार्थनोपपत्तिः । भक्तेर्भगवद्विषयकोत्कृष्टप्रेप्सारूपत्वात् । प्रीतिरूपो ज्ञानविशेषो भक्तिरिति व्याख्यानं त्वनुपादेयम् । सर्वत्रैव एवंविधव्याख्यानसंभवेन ज्ञानविजातीयाया इच्छायाः सर्वतन्त्रसिद्धाया भङ्गापत्तेः । घटमिच्छतित्यादौ घटविषयक-प्रीत्यात्मकज्ञानवानिति व्याख्यातुं शक्यत्वात् । तस्माद् वेदनविषय-कोत्कृष्टेच्छाविरहे संसारभोगलम्पटाः संन्यस्य गृहादिकं श्रवणादौ न प्रवर्तेरन् युष्मद्वद् इति यज्ञेन परमां विविदिषामुत्पादयन्ति ब्राह्मणाः ॥ १ ॥

तैर्वेदनं चेत् सन् व्यर्थो व्यावर्त्यविरहाच्छ्रुतौ ।
अयं यियासत्यश्वेनेत्यादौ हस्त्यादिवारणम् ॥ २ ॥ [४७]

पूर्वपक्षीका कहना है कि यज्ञादिसे ब्रह्मवेदन (ब्रह्मज्ञान) पाना चाहते हैं यह श्रुतिका अर्थ है । ज्ञानसाधन यज्ञादि है, जिज्ञासासाधन नहीं । जैसे अश्वेन जिगमिषति यहां घोड़े से जाना चाहता है इत्यादि । किन्तु यह बात सही नहीं है । यज्ञेन विदन्ति इस प्रकार कहनेसे उक्त अर्थ स्पष्टतर हो जाता था । तो इच्छार्थक सन् प्रत्यय श्रुति ने जोड़ा क्यों ? फलतः सन् प्रत्यय व्यर्थ हो जाता । अश्वेन जिगमिषति यहां हाथी बैल आदिसे नहीं अश्वसे जाना चाहता है । इसप्रकार व्यावर्त्य है । यहां व्यावर्त्य कुछ है नहीं ॥ २ ॥

अपि च यज्ञेन वेदितुमिच्छन्तीत्यन्वये सन् प्रत्ययवैयर्थ्यम् । यज्ञेन विदन्तीत्येतावतैवोपपत्तेः । अश्वेन जिगमितीत्यत्र न गर्दभेन नापि हस्त्यादिनेति व्यावृत्तिः प्रतीयते । न तथेह यज्ञेन विविदिषन्तीत्युक्ते श्रवणादिव्यावृत्तिः शक्या प्रतिपत्तुम् । न च यज्ञादिभिर्वेदनमिच्छन्ति न तु स्वर्गादिकमितिव्यावर्त्त्यसिद्धिरिति वाच्यम् । पदार्थैकदेशेतरव्यावर्तनस्याति-क्लिष्टत्वात् । तदपेक्षया यज्ञादिभिर्विविदिषां संपादयन्तीति कार्यकारण-विधया इतरव्यावृत्त्यादिकं विनैव बोधनं सुलभम् । वेदनं भवेद्वा न वा, वेदितुमिच्छन्ति इत्यपि क्लेशलभ्यत्वादर्थ उपेक्ष्यः ॥ २ ॥

यज्ञेनेति ततः सन्तः प्राहुर्विविदिषान्वयि ।
वेदनान्वय्यनेकेऽन्ये मा विवादोऽस्त्वतस्त्विह ॥ ३ ॥ [४८]

इसीलिये सन्तलोग यज्ञेनको विविदिषान्वयी मानते हैं। कुछ अद्वैतपक्षवाले भी यज्ञादिसे अन्तःकरणशुद्धि होनेपर परम्परया ज्ञान उत्पन्न होता है इसिलए वेदानान्वयी मानते हैं अतः इस विषयमें विवाद करना अनुपयोगी है ॥ ३ ॥

एवं रीत्या "यज्ञेन विविदिषन्ती"ति श्रौते वाक्ये यज्ञेनेत्येतत् विविदिषान्वयीति केचिदाचार्या वर्णयामासुः। अपरे त्वाचार्या यज्ञेनेति वेदनान्वय्येवेत्याहुः। तेषामाशयः प्रायः प्रागुक्तप्रकारक एव। सर्वैः सत्कर्मभिः परम्पराया वेदनमेव वाञ्छन्ति ब्राह्मणा इति तदर्थेऽपि न विशिष्टः क्लेश इति। इत्थं चात्र विषये भूरिविवादो नावश्यक इति ॥ ३ ॥

उद्रिञ्चद्विषयैषणो विविदिषेत् को निर्विशेषं हरिं
को जह्याद्विषयैषणां विविदिषामुद्रिञ्चतीमन्तरा।
यज्ञाद्यैः परितोषितस्य कृपया यस्यैव सोत्पद्यते
तं भूमानमनन्यभावभङ्गिकं देवं भवं भावये ॥ ६ ॥

विषयकामना जिसकी उभर रही हो वह निर्विशष ब्रह्मकी विविदिषा क्यों करेगा ? और जब तक मनमें उत्कट विविदिषा नहीं होती तबतक विषयकामनाको कौन छोड़ेगा ? वस्तुस्थिति यही है कि यज्ञादि सत्कर्मोंसे प्रसन्न हुए भगवानकी कृपासे ही उत्कृष्ट विविदिषा संभव है। तब विषयैषणात्यागरूपी वैराग्य एवं आगे उससे ज्ञान होगा। अत एव हम प्रथमतः अनन्यभावसे प्रसन्न होनेवाले भूमा शिवकी ही भावना करते हैं ॥ ६ ॥

इति यज्ञादेर्विविदिषासंसाधनत्वोपपत्तिः

*****

(७)

अथ सप्तमं शब्दजन्यप्रत्यक्षनिरूपणम्

साक्षात्कारो महावाक्यैरपरोक्षाद्वयात्मनः।
दशमस्त्वमयं कुम्भ इत्याद्यैरिव जायते ॥ १ ॥ [४९]

दशमस्त्वमसि इस वाक्यसे स्वयंका अपरोक्षज्ञान होता है। यहां दशमत्वकी अपरोक्षता या व्यक्तिकी अपरोक्षता इत्यादि प्रश्न उठानां व्यर्थ

इसलिये है कि अपरोक्षता अनुभवसिद्ध है। अंगुलिनिर्देशकर यह घट है कहनेपर भी घटत्वेन घटका अपरोक्ष ही होता है। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भी अद्वैत आत्माका अपरोक्ष ही होता है॥ १॥

अथात्मसाक्षात्कारः केन प्रमाणेन भवतीति विचार्यते। न च श्रवणेन मननेन निदिध्यासनेन वा स संभवति। श्रवणादीनां प्रमाणत्वाभावात्। न च मनसाऽऽत्मसाक्षात्कारः संभवति, सुखादिप्रत्यक्षे तस्य प्रमाणत्वाभ्युपगमादिति वाच्यम्। द्वैतवादिमते परमात्मना सह मनसः संनिकर्षविरहात्। परमात्मनो व्यापकत्वेन तेन सह मनसः संनिकर्षस्वीकारे जीवात्मन इव परमात्मनोऽपि नित्यं साक्षात्कारः स्यात्। परात्मनः प्रत्यक्षत्वं केनापि नाङ्गीकृतम्। मनसा किल स्वात्मनि वर्तमानं सुखदिकं सक्षात्क्रियते। अन्यत्सर्वं मनोराज्यवत् स्वप्नार्थदर्शनवन्मिथ्यैव। न च सिद्धान्ते आत्मपरमात्मनोरेकत्वादात्मवदेव परमात्मनोऽपि मानसप्रत्यक्षं स्यादिति वाच्यम्। सुखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेनाहं सुखीत्यादिरीत्याऽऽत्ममानस-प्रत्यक्षस्यासंभावात्। आत्मनश्च स्वप्रकाशत्वेन तत्र जडतादात्म्य-संयोगादिसंनिकर्षानुपपत्तेश्च। तस्मात् 'तं त्वौपनिषदमि'ति श्रुतेश्च तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिभिर्महा-वाक्यैरेवात्मसाक्षात्करो भवति। संवित् स्वप्रकाशेत्यादिवाक्येन च प्राञ्च आहुः॥ १॥

अयं ब्राह्मण इत्युक्त्या जातिप्रत्यक्षमिष्यते।
न भिल्लो राजपुत्रोऽसीत्यादावपि तथा मतम्॥ २॥ [५०]

आचार्य कुमारिल भट्ट आदिमे "अयं ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्यसे ब्राह्मणत्वादि जातिका प्रत्यक्ष माना है। "सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या" यह महर्षि कात्यायनका वचन है। तुम भील नहीं, राजपुत्र हो इत्यादि स्थलमें भी शब्दसे प्रत्यक्ष माना गया है॥ २॥

एवं ब्राह्मणोऽयमित्यादिवाक्यादपि ब्राह्मणत्वादिप्रत्यक्षमेव भवति। तथा चोक्तं कात्यायनेन 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्ये'ति। निर्ग्राह्यत्वं प्रत्यक्षत्वमेव। निःशेषेण ग्रहणस्य तत्रैवोपपत्तेः व्याख्यातं च तथा भट्टपादैः "संयुक्त-तादात्म्यादिसंनिकर्षस्य पूर्वमपि सत्त्वेऽपि अज्ञानावृतं ब्राह्मणत्वादि

शब्देन प्रत्यक्षविषयो भवति । न हि तत्र शब्दादन्यः कश्चिदुपायोऽस्ति । आकृतेः सर्वमनुष्येषु समानत्वात्' । एवं न राधेयस्त्वं कौन्तेयोऽसीत्यादौ द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थाखण्डैकरसवृत्तितः ।
अविद्यापनयाद् ब्रह्म स्वप्रकाशं प्रकाशते ॥ ३ ॥ [५१]

गिनती करते समय स्वयंको भूल गया । उस भूलकी निवृत्ति 'दशमस्त्वं' इस वाक्यसे हुई तो दशमका स्वयं साक्षात्कार होता है वैसे तत्त्वमसिसे अविद्या निवृत्ति हो गयी तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होना है ॥ ३ ॥

यथा च चक्षुःसंनिकृष्टे घटे घटोऽयमिति वाक्येन घटत्त्वावरणनिवृत्त्या घटत्वप्रत्यक्षं तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यखण्डाकारवृत्त्या ब्रह्मावरणनिवृत्तौ स्वयंप्रकाशं ब्रह्म प्रकाशते ॥ ३ ॥

अपरोक्षेऽपि विषये तदावरणहानये ।
दशमस्त्वमसीत्यादिशाब्दवृत्तिरपेक्षिता ॥ ४ ॥ [५२]

विषय अपरोक्ष होनेपर भी उसमें आवरण होता है । उस आवरणकी निवृत्तिके लिये 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यवृत्तिकी अपेक्षा होती है ॥ ४ ॥

ननु दृष्टान्ते दशमस्त्वमसीत्यत्र दशमत्वं प्रथमत एवापरोक्षं न वा । यद्यपरोक्षं तदा दशमस्त्वमसीति वाक्यं केवलमनुवादकं स्यात् । यदि च नापोरक्षं तदाऽपरोक्षे विषये शब्दादपि जायमाना वृत्तिरपरोक्षैव भवंतीति रिक्तं वचः । दशमत्वस्यापरोक्षत्वविरहादिति चेन्न । सिद्धान्तानवबोध-निबन्धनत्वादेतत्प्रश्नस्य । ज्ञानेऽप्यज्ञानमस्माभिः स्वीक्रियते । त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यनुभवात् । एवं प्रकाशमानेऽपि अज्ञानावरणमुपगम्यते । दशमस्त्वमसीति वाक्येन तदज्ञानावरणभङ्गे सति प्रकाशमान एव दशमः प्रकाशते । इदमावरणं विस्मरणशब्देन लोका व्यवहरन्ति । परिगणने स्वयमहं मामेव व्यस्मार्षमिति दर्शनात् । एतेनाऽप्रकाशमानस्य प्रकाशनं यदि प्रत्यक्षं स्यात्तदा पर्वतो वह्निमानित्यादौ वह्नेरपि प्रत्यक्षत्वं

स्यादित्यपास्तम् । दशमस्येव प्रकाशमानस्य विस्मरणविरहात् । अपास्तं च घटादिप्रत्यक्षकाले उपनीयमानगुरुत्वादेरपि प्रत्यक्षात्वं स्यादिति । गुरुत्वादेर्द्रव्याद् भिन्नत्वे वा भिन्नाभिन्नत्वेनानिर्वचनीयत्वे वा सर्वथाप्यतीन्द्रियस्याऽप्रकाशमानत्वात् । न हि दशमत्वं द्रव्यान्तरं वा गुणो वाऽतीन्द्रियात्मकः येन तदप्रत्यक्षापादनं युज्यते । न च नवमत्वप्रतियोगिकं दशमत्वमपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतारूपं गुरुत्वादिवदेवातीन्द्रियमिति वाच्यम् । नवमं प्रत्यक्षीकरोमि दशमं प्रत्यक्षीकरोमि, परिगणने कृते नवमत्वं प्रत्यक्षतो दृश्यते इत्यादिप्रत्ययानामपलपितुमशक्यतयाऽपेक्षाबुद्धेस्तत्साक्षात्कारे सहकारिकारणत्वेऽपि नवमत्वादेरपेक्षाबुद्धिघटितत्वविरहात् ॥ ४ ॥

अपरोक्षे भवेदर्थे शब्दादप्यपरोक्षधीः ।
कथं खल्वपरोक्षार्थे परोक्षं ज्ञानमुद्भवेत् ॥ ५ ॥ [५३]

अपरोक्ष अर्थमें शब्दसे भी अपरोक्षज्ञान ही होगा । अपरोक्षवस्तुमें परोक्षज्ञान यह तो विरुद्ध बात है ॥ ५ ॥

ननु शब्देन परोक्षज्ञानमेवोत्पद्यते । न तु साक्षात्कारः । मनःसन्निकर्षस्य निरस्तत्वादिति चेन्न । अपरोक्षे विषये शब्दादपरोक्षज्ञानस्वीकारात् । दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दतः प्रत्यक्षदर्शनात् । यत्तु नरविषाणसाधने खरविषाणदृष्टान्तोऽयमिति । तत्किं नरविषाणसाधने गोविषाणो दृष्टान्ततया वक्तव्य इति मनुते भवान् ? नरविषाणसाधने प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य मनसि विपरिवर्तमानः प्रातिभासिक एव विषाणस्तेन साध्यतयोपक्षिप्येत । तत्र खरविषाण एव दृष्टान्तो भवितुमर्हति यदि पूर्वं स प्रतिभासिकतया सिद्धः स्यात् । तत्त्वमसीति वाक्यम् अपरोक्षज्ञानजनकम् । अपरोक्षविषयविषयकज्ञानजनकत्वात् । दशमस्त्वमसीति वाक्यवदित्यत्र कथं साध्याप्रसिद्धिर्येन नरविषाणसाधनोपमा भवता प्रदीयेत । तत्त्वमसीति वाक्यं प्रसिद्धम् । अपरोक्षज्ञानजनकत्वं चेन्द्रियादौ प्रसिद्धम् । दृष्टान्तोऽसिद्धो न वेति तु संप्रति विचारयिष्यामः । तस्माद् वागाडम्बरेण परान् छलयितुमिव प्रवृत्तो भवानिति गम्यते । अथ दृष्टान्त एव विचार्यते । दशमस्त्वमसीति शब्दश्रवणसमनन्तरं दशमत्वेन दशमसाक्षात्कार एव सर्वानुभवविषयः । पुरतः स्थिते वस्तुनि कुम्भत्वमजानन्तं प्रति अयं कुम्भ इत्युक्ते तत्र

कुम्भत्वप्रकारकप्रत्यक्ष एव भवति । न च तत्र प्रथमं शब्दजनितं परोक्षमेवान्वयबोधकं भवति । पश्चादिन्द्रियसंनिकर्षेण प्रत्यक्षं भवतीति. वाच्यम् । तत्र शाब्दबोधकाले वृक्षेण यदि चक्षुःसंनिकर्षस्तर्हि द्वितीयक्षणे घटप्रत्यक्षासंभवात् वृक्षादिदर्शनोत्तरं घटसंनिकर्षेऽनुत्पन्ने घटप्रत्यक्षस्य सर्वथाऽसंभवात्, घटमहमशृणवं, न त्वपश्यमिति पश्चात्परामर्शः स्यात् । एवमनुमानादिसामग्र्यां सत्यामपि । अयं घटः वह्निव्याप्यधूमवांश्च पर्वत इति वाक्यस्थले घटशाब्दकाले संनिकर्षविगमे घटप्रत्यक्षायोगादुत्तरक्षणे च वह्न्यनुमितेरेव संभवात् पूर्ववद् घटं नाद्राक्षमिति परामर्शापत्तेः । तस्मादपरोक्षवस्तुस्थले शब्दादपरोक्षमेव भवति । इत्थमेव स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशये पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सत्यपि अयं पुरुष इति प्रत्यक्षमेव भवति । न च तत्र तत्र प्रत्यक्षसामग्र्या वर्तमानत्वात्प्रत्यक्षमेवेति वाच्यम् । अयं घटः पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमितिशब्दं विनापि सामग्र्याः प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् विषयापरोक्षस्थले शब्दादपि प्रत्यक्षमेव भवति । आत्मा च स्वयंप्रकाशोऽपरोक्ष इति शब्दादपि तत्रापरोक्षमेव भवति । चक्षुःसंयुक्तसमवायसंनिकर्षसत्त्वेपि घटत्वस्य शब्दात्पूर्वमप्रत्यक्षत्वाद् घटत्वावरणभङ्गार्थमिवात्मपरैक्यावरणभङ्गार्थं शब्दापेक्षणात्सर्वोपपत्तिः ॥ ५ ॥

नन्वध्यक्षेऽनुमित्सातो नानुमा स्याद् भवन्मते ।
न स्यादेव न हीच्छातः पुत्री पुत्रत्वमाप्नुयात् ॥ ६ ॥ [५४]

यदि अपरोक्ष वस्तुमें परोक्षज्ञान न हो तो अनुमित्सा (अनुमानकी इच्छा) होनेपर भी आपके मतमें अनुमान नहीं होगा (नैयायिक लोग प्रत्यक्ष वस्तुमें भी अनुमान मानते हैं) यह मान्यता गलत है । प्रत्यक्षमें अनुमान नहीं ही होगा । पुत्री उत्पन्न होनेवाली है । क्या वहां पुत्रकी इच्छा करने मात्रसे पुत्र उत्पन्न होगा ? ॥ ६ ॥

ननु प्रत्यक्षविषयेऽप्यनुमित्सयाऽनुमितिर्भवतीति विषयापरोक्ष्येण न ज्ञानापरोक्ष्यनियम इति चेन्न । एककाले प्रत्यक्षानुमानात्मकज्ञानद्वयस्यास्वीकारात् । न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातारः इति वाचस्पतिवचनात् ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षहेतुः पुंव्याप्यबुद्धिः पुंस्थाणुसंशये ।
स्यात्प्रत्यक्षं दृढं दृष्टे तदीयव्याप्यदर्शनम् ॥ ७ ॥ [५५]

क्या व्याप्तिज्ञानस्थलमें प्रत्यक्ष होता है ? होता है । संमुख वस्तुमें यह ठूँठ है या आदमी है ऐसा संशय हुआ रातमें । किन्तु हाथ-पाँव दिखाई पड़ा तो पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् ऐसा व्याप्तिज्ञान होनेपर यह आदमी है ऐसा प्रत्यक्ष ही होता है । अतः प्रत्यक्षवस्तुमें व्याप्तिज्ञानसे भी प्रत्यक्ष ही होता है यह बात आयी । प्रत्यक्ष वस्तुमें अनुमान प्रयोग करते हैं तो वह प्रत्यक्ष ही दृढ़ होगा । इसीलिये श्रवणोत्तर मननविधान है ॥ ७ ॥

न च प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका इति वाचस्पतिवचनादेवानुमित्सायामनुमितिरपि भवतीति वाच्यम् । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयोत्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शदपि संनिकर्षसत्त्वेन प्रत्यक्षमेव संशयोच्छेदि जायते तथानुमित्सायां सत्यामपि परामर्शजन्यत्वेनानुमितिसदृशदृढतरसंशयोच्छेदिप्रत्यक्षस्यैवोत्पत्तेः । न हीच्छामात्रेण घटः पटो जायते ॥ ७ ॥

तार्किकानुसिसीर्षा चेदिच्छाऽस्तु प्रतिबन्धिका ।
प्रतिबद्धुं तु को वाञ्छेद् ब्रह्माध्यक्ष्यं सदाशयः ॥ ८ ॥ [५६]

यदि तर्कशास्त्रका अनुसरण करना चाहते हैं, अनुमित्सा होनेपर अनुमिति ही होती है यह मानना चाहते हैं तो अनुमित्साको—इच्छाको प्रत्यक्षका प्रतिबन्धक मानना होगा । किन्तु बात यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रतिबन्ध स्वयं कौन भला आदमी चाहेगा ? ॥ ८ ॥

तार्किकानुसीसीर्षा चेत्प्रत्यक्षप्रतिबन्धिकाऽनुमित्सा स्वीक्रियताम् । किन्तु परमपुरुषार्थब्रह्मप्रत्यक्षप्रतिबन्धनं को वा वाञ्छेत् ॥ ८ ॥

न परोक्षापरोक्षे स्तां युगपत् तार्किकस्य च ।
नित्यापरोक्षं ब्रह्मेति न स्यादेव परोक्षधीः ॥ ९ ॥ [५७]

परन्तु अपरोक्षमें परोक्ष ज्ञान नहीं होता यह बात तो वैसी ही रहेगी । क्योंकि तार्किक मतमें भी परोक्षज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान एक साथ नहीं होते । जब अनुमिति होगी तब वह अपरोक्ष नहीं रहेगा ।

ब्रह्मकी बात अलग है। वह नित्य अपरोक्ष है। अतः उसका अपरोक्ष न रहनेकी बात ही नहीं है॥ ९॥

अपि च तार्किकमतेऽपि परोक्षापरोक्षज्ञाने युगपन्न भवतः। नित्यापरोक्षं ब्रह्मेति तत्रैव परोक्षं कथं जायताम्॥ ९॥

योगिप्रत्यक्षतः सर्वमपरोक्षमिहेति चेत्।
नान्यप्रत्यक्षमन्यस्य नयेदर्थापरोक्षताम्॥ १०॥ [५८]

समस्त जगत् योगिप्रत्यक्षविषय है, अतः अपरोक्ष होनेसे सभी अपरोक्ष होना चाहिये; इस शंकाका उत्तर यह है कि एक पुरुषका प्रत्यक्ष अन्य पुरुषके लिये अपरोक्षता नहीं ला सकता। अतएव कालान्तरीय स्वप्रत्यक्षसे भी वस्तु कालान्तरमें अपरोक्ष नहीं रहती। ब्रह्म सदा अपरोक्ष है यही विशेषता है॥ १०॥

यदपि च सर्वस्यैव योगिप्रत्यक्षत्वादपरोक्षविषयकमेव सर्वं ज्ञानमिति सर्वं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्यादिति। तदपि हास्यम्। योगिनामलौकिकप्रत्यक्षोपग़मेन तावता विषयस्यापरोक्षत्वासिद्धेः। अन्यपुरुषीयप्रत्यक्षेण पुरुषान्तरस्य विषयाऽपरोक्षत्वविरहाच्च। अयं घटो ममापरोक्षो न तु देवदत्तस्येति व्यक्तिपुरस्करेणैव परोक्षत्वापरोक्षत्वयोर्व्यवहारात्। यत्तु स्वर्गस्थानामपरोक्षत्वात्स्वर्गोऽप्यपरोक्षो विषय इति ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यात् स्वर्गद्यपरोक्षं स्यादिति। तत् किं कृतज्योतिष्टोमः पञ्चत्वं गतः प्रेतो भूत्वा भवान् मामिदं पृच्छति किं वा जीवन् सन्? यदि जीवन् सन् तदा तव नापरोक्षः स्वर्ग इत्यप्रश्नः। यदि प्रेतः सन् पृच्छसि तदा प्रेताद् वयमपि बिभीमः। यद्वा मा पृच्छ। यदि तव प्रत्यक्षस्तदा स्वीकुर्मो यदि कृतज्योतिष्टोमादिरसि। वस्तुतस्तु दशमस्त्वमसीत्यादौ क्षणविलम्बेन दशमप्रत्यक्षं सर्वसम्मतम्। वयं तु साक्षादेव शब्देन प्रत्यक्षं ब्रूमः। न त्वनुभवविरुद्धं किंचित्। दर्शितश्चायं घट इति शब्दस्थले प्रत्याक्षानुपगमे दोषः। तत्र क्षणविलम्बे सिद्धप्रत्यक्षभङ्गप्रसङ्गत्॥ १०॥

शब्दोऽनुवादः प्रत्यक्षे परोक्षे नापरोक्षकृत्।
पृच्छ भो दश तान् बालान् ज्ञानेऽप्यज्ञानमीरितम्॥ ११॥ [५९]

'दशमस्त्वं' में यदि दशम ज्ञात है तो शब्द अनुवादमात्र होगा यदि अज्ञात है तो अपरोक्ष न होनेसे शब्दसे अपरोक्ष होगा किस प्रकार ? इसका उत्तर यही है कि उन दस बालकोंको ही जाकर यह प्रश्न करो। यदि दशम प्रत्यक्ष था तो पथिक ने दशमस्त्वमसि यह बेकारही कहा। अप्रत्यक्ष था तो तुमको केवल परोक्षज्ञान हुआ होगा। वे उत्तर देंगे दशम में स्वयं हूँ किन्तु मैं गिनते समय अपनेको भूल गया था। ज्ञानसमयमें भी अज्ञान माना गया है ॥ ११ ॥

ननु दशमस्य पूर्वं प्रत्यक्षत्वे वाक्यस्यानुवादता स्यात्। अप्रत्यक्षत्वे परोक्षो विषय इति कथं वाक्यादपरोक्षज्ञानम्, अपरोक्षविषयज्ञानस्यैव त्वयाऽपरोक्षताप्रतिपादनादिति चेत्। गच्छ तान् बालान् पृच्छ च दशमः पूर्वमेव प्रतिभात इति वृथैव पथिकोऽकथयत्किमिति। पृच्छ च दशमस्त्वमसीति वाक्यतः परोक्षमेव ते ज्ञानं जातं किं वा दशमोऽस्मीति प्रत्यक्षमेवेति। न हि कुतर्ककुसृष्टिमात्रेण वस्तुस्थितिरन्यथयितुं शक्या। प्रतिपत्तिझाटित्यात् प्रत्यक्षताभ्रम इत्यपि पश्चाद् बाधादर्शनेन निरस्तम्। न च परोक्षानन्तरमपरोक्षोत्पत्तिः। तथाननुभवम्। गौरवाद्। अर्थान्तर-प्रत्यक्षसामग्र्यां सत्यां दशमप्रत्यक्षं नाभूदिति परामर्शापत्तेश्च ॥ ११ ॥

साक्षिप्रत्यक्षविषयः सर्वदा सर्वमेव चेत्।
अज्ञातत्वादिनेत्युक्तं न त्वध्यक्षा स्वरूपतः ॥ १२ ॥ [६0]

पूरा जगत् सक्षिवेद्य होनेसे अपरोक्ष ही है। तब छहों प्रमाणोंसे प्रत्यक्ष ही होना चाहिये। इस सवालका भी उत्तर यह है कि मैं घटादिको नहीं जानता हूं, इत्यादि रीति अज्ञातत्वेन घटादि साक्षिप्रत्यक्षविषय है। स्वरूपतः नहीं। नहीं जानते तो उसको अपरोक्ष कौन कहेगा ? ॥ १२ ॥

ननु विश्वस्य ज्ञाततयाऽज्ञाततया च साक्षिवेद्यत्वात् सर्वैः प्रमाणैः सर्वप्रत्यक्षं स्यादिति चेत् ? किमर्थं प्रमाणान्यन्वेषयसि ? तैर्विनापि साक्षि-प्रत्यक्षविषयत्वात्। न चाज्ञानावरणापनुत्तय इति वाच्यम्। जडस्या-ज्ञानावरणविरहात्। तदवच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति चेत् ? तन्न साक्षिवेद्यम्। स्वयं प्रकाशतया तत्प्रत्यक्षमिति चेत् ? किमर्थं साक्षिवेद्यत्वोपन्यासः ? ननु साक्षिवेद्यत्वात् सर्वं जगदपरोक्षम्। तत्र प्रवर्तमानानां सर्वेषां

प्रमाणानामपरोक्षार्थविषयत्वादपरोक्षाज्ञानजनकत्वमिति मदाशय इति चेद् ? हन्त शब्दानभिज्ञः । अज्ञातत्वेन साक्षिवेद्यमित्यस्य घटमहं न जानामीत्याकारः । इदमेवापरोक्षत्वमिति मन्यते भवान् ? घटापरोक्ष्यं नाम अयं घट इत्याकारकं ज्ञानम् । न तु घटमहं जानामीति वा घटमहं न जानमीति वा घटापरोक्ष्यम् । इदमेव घटस्फुरणमित्युच्यते । तच्चावरणनिवृत्तितो भवति । आवरणनिवृत्त्या स्फुरणयोग्योऽर्थोऽपरोक्षविषय इत्युच्यते ॥ १२ ॥

स्वप्रकाशं परं ब्रह्म न परोक्षं कदाचन ।
यत्साक्षादपरोक्षात्तदिति प्राह स्वयं श्रुतिः ॥ १३ ॥ [६१]

ब्रह्म स्वयंप्रकाश हैं । बह कभी भी परोक्ष नहीं होता । श्रुति स्वयं कह रही है—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ॥ १३ ॥

ननु ब्रह्म न जानामीत्येवमज्ञातत्वेनैव ब्रह्मापि प्रकाशत इति चेन्न । यतो न स्वर्गादिवदसन्निकृष्टं ब्रह्म । स्वस्वरूपत्वात् । स्वयं च प्रकाशत इति अज्ञानमेव तत्र साक्षिवेद्यतया विषयीभवति । तथा च श्रुतिः "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इति । अज्ञानावरणात्त्वपुरुषार्थतया वर्त्तत इति ॥ १३ ॥

परोक्षज्ञानजननस्वाभाव्यं संशृणोति यः ।
शब्दानामुक्तयुक्तेः स मानाभावाच्च निर्धुतः ॥ १४ ॥ [६२]

जो यह प्रतिज्ञा करता है कि शब्दका स्वभाव परोक्षज्ञान उत्पन्न करना है वह पूर्वोक्त युक्तियोंसे निरस्त है और ऐसे स्वभाव में कोई प्रमाण भी नहीं है । वसंन्त ऋतुमें सस्योंके पत्ते झड़ जाते हैं यह स्वभाव है इतना कहनेसे क्या यवके पत्ते भी झड़ते हैं ऐसा सिद्ध होगा ? उत्सर्गमात्र कह सकते हैं । प्रायः जो होता है उसको लोग स्वभावपदसे कह देते हैं ॥ १४ ॥

ननु परोक्षज्ञानजनकस्वाभाव्यं शब्दानां सर्वत्रेति चेत् । तदिदं भवता किं प्रत्यक्षतोऽवालोकि ? किं वा कुतश्चिच्छ्रुत्वा ? उभयमप्यप्रामाणिकम् । गामानयेत्यादिवाक्येषु प्रात्यक्षिकार्थबोधजनकत्वदर्शनेन प्रात्यक्षिकार्थबोधजननस्वाभाव्यं शब्दानामित्यपि कुतो न प्रतिजानीथाः ? नन्वपेक्षा-

बुद्धिसहकृतेन मनसा प्रत्यक्षं दशमस्येति चेत् ? तत्सहकृतेन शब्देन प्रत्यक्षमित्येव किं न मन्वीथाः? शब्दविरहे सत्यप्यपेक्षाबुद्धिसहकृते मनसि दशमप्रत्यक्षादर्शनात् । मनसश्चेन्द्रियत्वं निरस्तमन्यत्रेति नितरां तेन प्रत्यक्षासंभवः । न हि प्रत्यक्षयोग्यविषयसामान्ये परोक्षत्वं वयं व्यासेधामः । येन सामान्यतोदृष्टानुमानभङ्ग आपद्येत । किन्तु शब्देतरनिखिलप्रत्यक्ष-कारणसमुदाये सति शब्देन प्रत्यक्षमेव, न परोक्षमिति ब्रूमः । नवम-परिगणनोत्तरं तत्सहकृतस्वप्रत्यक्षसामग्रीसद्भावाद् अपरोक्षः स्वयं शब्देना-परोक्षीक्रियते । तद्विरहे दशमापरोक्षताया अदर्शनात् । पर्वतो वह्निमानि-त्यादौ वह्निप्रत्यक्षसामग्री नास्तीति न तत्र विषयस्यापरोक्षतेति नानुमानेन शब्देन वा विषयापरोक्ष्यम् । न चानुमानेन ब्रह्मणः प्रत्यक्षत्वं स्यादित्यपि युक्तम् । अनुमानस्य अखण्डाकारवृत्तिजनकत्वविरहात् । अखण्डाकार-वृत्तेरेव ब्रह्मापरोक्षरूपत्वात् । अनुमीयमानं ब्रह्म न शुद्धम् । किन्तु विशिष्टम् । तच्च नापरोक्षमिति सारार्थः । अत एव ब्राह्मास्तीत्यादि-वाक्यानामपि नापरोक्षज्ञानजनकत्वं मन्यन्ते वेदान्तविदः । ब्रह्मास्तीत्युक्तेऽ-स्मीति प्रयोगविरहेण स्वभिन्नत्वेनैव फलतो ब्रह्मोपस्थितेस्तस्य च शुद्धब्रह्म-त्वविरहाद् विशिष्टस्य चापरोक्षत्वविरहात् । अत एव दशमोऽस्तीति वाक्यं नापरोक्षज्ञानजनकम् । तदुत्पन्नज्ञानस्य नदीनीचैर्भागोत्तीर्णमानसकल्पि-दशमव्यक्तिसाधारणत्वेन स्वासाधारणाकारविषयकत्वविरहात् । अत एव सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिवाक्यतोऽप्यपरोक्षज्ञानं बहव आचार्या नैव मन्यन्ते ॥ १४ ॥

तदौपनिषदं ब्रह्मापरोक्षं शोकतारणम् ।
परोक्षज्ञानतो नैव स्वरूपावस्थितिर्मता ॥ १५ ॥ [६३]

वह ब्रह्म उपनिषद से ही ज्ञेय है यह "औपनिषदं" इस श्रुतिका कहना है । और यह भी निश्चित है कि अपरोक्ष साक्षात्कार ही शोकसंसारतारक है । परोक्षज्ञान से स्वरूपावस्थिति संभव नहीं है । अब आप निश्चय कर लें कि उपनिषद रूपी शब्दसे परोक्ष अपरोक्षमें कौनसा ज्ञान होगा ? यदि शोकनिवृत्तिरूपी मोक्ष इष्ट है तो शब्दसे अपरोक्षज्ञान ही मानना पड़ेगा ॥ १५ ॥

ननु किमर्थं वाक्येन साक्षात्कारः प्रकृते स्वीकर्तव्यः । विनापि तं सामञ्जस्यसंभवात् । न च 'तरति शोकमात्मविदि'ति श्रुतेः शाब्द-परोक्षज्ञानमात्रस्य शोकातारकत्वात् कारणान्तरविरहाच्च वाक्यजनित-साक्षात्कारस्यैव शोकतारकत्वं स्वीकर्तव्यमिति वाच्यम् । आत्मविदित्यत्र विदधातोरुपासनार्थत्वादुपासनातोषितभगवत्कृपयैव शोकसंसारनिवृत्ति-संभवात् । न च मिथ्यार्थस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वमेवेति वाच्यम् । मिथ्यात्वा-सिद्धेः । दृश्यत्वान्मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य यद्यभिधीयते तदा ब्रह्मणोऽपि द्रष्टव्यश्रुतेर्दृश्यत्वान्मिथ्यात्वमापद्यते । ब्रह्मणि मिथ्यात्वं न पारमार्थिकं चेज्जगतोऽपि मिथ्यात्वं नास्ति पारमार्थिकमिति तौल्याज्जगतः पारमर्थिकत्वं स्यात् । मैवम् । वेत्त्युपास्त्योरैकार्थ्यस्य निरस्तत्वात् । दृश्यत्वं च चित्ता-दात्म्यं न ब्रह्मणीत्यन्यत्र विवृतम् । भगवत्कृपया संसारनिवृत्तिश्चेत् साऽहैतुकीति विनाप्युपासनया संसारो निवर्तेत । उपासनायां सत्यामपि कृपायास्तदजन्यंत्वेन न निवर्तेत । अथ भक्त्यादिभिः भगवत्प्रसादे सति तदीया कृपाऽभिव्यज्यत इत्युच्यते 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मे'त्यादि-श्रुतेरिति मन्यते तदा निष्कर्षोऽयमेव भवति यद् युष्मासु न कोऽपि सत्यमार्गगामी । कस्यापि जीवन्मुक्त्यनुदयात् । अत एव घूकस्य सूर्याभाववद् युष्माकं जीवन्मुक्त्यभावसिद्धान्तः । मिथ्याभाषित्वेन सम्याज्ञानवत्त्वेन भगवद्रोषपात्रत्वात् । अस्मासु च जीवन्मुक्ता बभूवुर्भवन्ति च सत्यमार्गगामित्वेन भगवत्कृपावत्त्वात् । सम्यग्ज्ञानस्यैव भगवत्कृपा-रूपत्वात् ।

शोकनिवृत्तिश्च चरमतत्त्वज्ञाने अविद्यातत्कार्याधिकरणक्षणपूर्वत्वा-भावनियमसिद्धं स्वरूपावस्थानमेव । तच्च तदुत्तरसंसारासद्भाव एव । न च 'नाभावो विद्यते सत' इति वाच्यम् । अनिर्वचनीयत्वेन संसारस्य सद्रूपत्वानभ्युपगमात् । लेशाविद्याकाले तु मिथ्यात्वदृढनिश्चयप्रयुक्ता मन्द-स्थितिः प्रपञ्चस्य । न च परोक्षज्ञानादपि तत्संभवतीति शब्दतः साक्षात्कार-स्वीकारवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । यतो न हि स्वरूपावस्थानं परोक्षज्ञानतो दृष्टम् । किंबहुना मिथ्या दुःखादिकमिति शतशः श्रवणेऽपि न प्रपञ्च-मन्दस्थितिर्नि वा मन्दस्वरूपावस्थानम् । अधिष्ठानसाक्षात्कारजं तु

स्वरूपमान्ध्यमपलपितुमशक्यम् । युष्माकमशुद्धमनीषाणामकृतसाक्षात्काराणां तन्नानुभवसिद्धमिति तु न वस्तुनिह्नवकारणम् । न हि घूकस्य भास्करो नानुभवसिद्ध इति तदपह्नवः संभवति । युष्मन्मतेऽपि ध्रुवादिकृत-नारायणसाक्षात्कारादीनामेवंविधतर्केण निरासापत्तेः । नारायणसाक्षात्कारं विनैवोपासनाबलेन दुःखनिवृत्तिसंभवात् । किमर्थमुपासनयापि साक्षात्कारः स्वीकरणीयः, न ह्युपासनं नाम सप्तमं प्रमाणमस्ति । न च मन एव करणमिति युक्तम् । अनुमित्यादेरपि तत्स्वीकारसंभवेन प्रत्यक्षेतरसकल-प्रमाणभङ्गापत्तेः । यदि च प्रयोजनविचारं विनैव नारायणादिदर्शनं शास्त्रसिद्धत्वादुपगन्तव्यं ध्यानेन तदा शब्देन ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि शास्त्र-सिद्ध इति स्वीकर्तव्य एव । अस्य शास्त्रस्यान्यथानयने नारायणादि-दर्शनशास्त्रमप्यन्यथानीतं स्यात् । ततः परित्यजत्वन्यथानयनात्मकं शास्त्रोपहासम् ।

अपरोक्षत्वं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षनिष्ठात्यन्ता-भावाप्रतियोगित्वात् ज्ञानत्ववदित्यनुमानमपि केचिदत्रोपस्थापयन्ति । यद्यप्ये-बंविधानुमाने न सुधियामास्था । तथापि तत्समर्थयितुमपि शक्यते । यत्त्वत्र वाक्यविषयकश्रावणप्रत्यक्षे सिद्धसाधनतेति । तन्न । शक्तिलक्षणान्यतरा-त्मकवृत्तिद्वारकवाक्यजन्यत्वविवक्षणात् । ननु ब्रह्मेतरविषयकत्वे तत्त्वम-स्यादिवाक्यजज्ञानवृत्तित्वं नास्ति । अस्ति तु हेतुः । मैवम् । ब्रह्मेतरघटादि-विषयकत्वस्य पटाद्यपरोक्षवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन हेतोरपि तत्र विरहात् । न चापरोक्षसामान्यनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हेतुर्वक्तव्य इति वाच्यम् । किमर्थं मया तथा वक्तव्यम् ? अनैकान्तिकत्वं शिरसि वोढुं को वा मूढस्तादृशपरिष्कारं कुर्यात् । अधिकं मूलग्रन्थेषु मृग्यमिति विरम्यते । यदपि योगजन्यप्रत्यक्षत्वं ब्रह्मण उच्यते तदपि "तं त्वौपनिषदं पुरुषमिति" श्रुतिविरुद्धमित्युपेक्ष्यम् ॥ १५ ॥

अप्रतिबद्धाऽसंभावनया विपरीतया धिया च परम् ।
अस्ताभानावरणं यं दर्शयति श्रुतिस्तमेमि शिवम् ॥

[ऊपर चर्चित विचारसे अतिरिक्त यह सैद्धान्तिक बात भी याद रखने योग्य है ।]

असंभावना तथा विपरितभावना ये दो दोष हैं । षड् लिङ्गोंसे श्रुतितात्पर्यग्रहणरूपी श्रवणसे प्रमाणगत असंभावना और उपपत्तिसहित मननसे प्रमेयगत असंभावना निवृत्त होती है । निदिध्यासनसे विपरीत भावना निवृत्त होती है । उससे पूर्व तत्त्वमसि आदि वाक्योंका श्रवण होनेपर भी वह इन दोनों (असंभावना और विपरित भावना) से प्रतिबद्ध होने के कारण स्वकार्य करनेमें असमर्थ रहते हैं । श्रवण मनन और निदिध्यासनसे प्रतिबन्धोंके हटनेपर तत्त्वमसि आदि श्रुतिवाक्य अपना कार्य करते हैं । अर्थात् अभानापादक आवरण को निवृत्त करते हैं । उससे पूर्व वाक्यजन्य ज्ञान परोक्ष या परोक्षसदृश ही होता है । लोकमें भी संशय या विपर्यय होनेपर अयं ब्राह्मणः कहनेपर भी ब्राह्मणत्वप्रत्यक्ष नहीं होता । अस्तु । असंभावना एवं विपरीत भावनासे अप्रतिबद्ध तत्त्वमसि आदि श्रुति अभानापादक आवरणको निवृत्त कर जिस तुरीय परतत्त्वका दर्शन कराती है उस परमशिवके हंम शरणागत हैं ॥

> यतोऽक्षिप्रत्यक्षं क्षणिकमनुमागोचरमपि
> भयं पार्थादीनप्युपवहति दिव्याक्षकलितम् ।
> अतः सर्वातीतं पुरुषमुपयाम्यौपनिषदं
> श्रुतिः साक्षात्त्वं यं नयति दशमस्त्वं वच इव ॥ ७ ॥

चूंकि इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषय वस्तु क्षणिक है, अनुमानविषय भी सोपाधिक होनेसे अनित्य है तथा जो लोग "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" के अनुसार दिव्यदृष्टि मानते हैं उसके अनुसार भी "न लभे च शर्म" "भीतभीतः प्रम्णम्य" भयेन च प्रत्यथितं मनः" "मा ते व्यथा" "भीतमेनं" इत्यादिवचनानुसार अर्जुन जैसोंको भी डरानेवाला वह रूप है जो दिव्य दृष्टिसे दर्शनीय है, अतः मैं तो सर्वातीत निर्विशेष शान्त अद्वैत औपनिषद पुरुषके ही शरणागत हूं जिसे श्रुति "दशमस्त्वमसि" के समान साक्षात्कार कराती है ॥ ७ ॥

इति शब्दजन्यप्रत्यक्षनिरूपणम्

*****

अथाष्टमं विवेकादिसाधनचतुष्टयपूर्ववृत्तत्वनिरूपणम्

विवेकेन विरागेण शमाद्यैश्च मुमुक्षया ।
युक्तोऽधिकार्यथ ब्रह्मजिज्ञासां कर्तुमर्हति ॥ १ ॥ [६४]

विवेक वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुतासे युक्त ही ब्रह्मविद्याशास्त्रमें अधिकारी है । इन चारोंको प्राप्त करनेके बाद ब्रह्मजिज्ञासा करना चाहिये ऐसा सूत्रकार कहते हैं ॥ १ ॥

मीमांसयोर्भिन्नशास्त्रत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । ब्रह्मजिज्ञासा च सपरिकरं निरूपिता । अथाधिकारी क इति विचार्यते । यदर्थं सूत्रे आनन्तर्यार्थकोऽथ शब्दः । वेदाध्ययनान्तर्यं पुर्वतन्त्रेण समानमेव । न चास्य शास्त्रान्तरत्वा-द्वेदाध्ययनानन्तर्यमिहापि वक्तव्यमिति वाच्यम् । पूर्वतन्त्रीयबहुतर-न्यायानामत्र स्वीकृतत्वेनैतन्न्यायस्यापि स्वीकरणादेवोपपत्तेः । अत एव वेदाध्ययनान्तर्यं तु समानमित्येवोक्तं भाष्यकृता । न तु पूर्वोक्तमिति । यत्र येन विना ब्रह्मजिज्ञासा सफलत्वाय न कल्पते सोऽनन्यथासिद्धः पूर्ववर्ती अधिकारशब्देनोच्यते तदानन्तर्यमथशब्दार्थः । इत्थं च भोजनाद्यानन्तर्यं नात्रार्थः । उच्यते । नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमादिषट्सम्पत्तिः मुमुक्षुत्वमित्येतत्साधनचतुष्टयमधिकारस्तदानन्तर्यमथ-शब्दार्थः ॥ १ ॥

सत्सङ्गाद् वृद्धवचनात् सामान्यश्रवणादपि ।
स्युर्विवेकादयः पूर्वकर्मोपास्तिहतैनसाम् ॥ २ ॥ [६५]

वेदान्ताध्ययनके बाद ही नित्य-अनित्य विवेक हो सकता है । एवं वैराग्य भी । तब वह वेदान्त श्रवणसे पूर्व अधिकारी कोटिमें कैसे आ सकता है ? सुनिये, सत्संगसे, वृद्धवचन से और सामान्य श्रवणसे उन साधकों में विवेकादि उत्पन्न होते हैं जिन्होंने कर्म और उपासना से प्रतिबन्धक पाप नष्ट किया ॥ २ ॥

ननु विवेको नाम नित्यानित्यवस्तुपृथक्करणम् । तत्र नित्यं वस्तु परब्रह्मैव । तदतिरिक्तो दृश्यप्रपञ्चोऽनित्यः । एवंविधश्च विवेको "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "अतोऽन्यदार्तम्" इत्यादिश्रुत्यध्ययने सति भवति । तादृशश्रुत्यध्ययने चाधिकारी नित्यानित्यवस्तुविवेकवानित्यन्योन्याश्रयः । तस्माद् वेदान्तविचाराधिकारकोटौ नित्यानित्यविवेकादिकं न प्रवेष्टुमर्हतीति चेत् । तन्न । सत्सङ्गादिना विवेकादिसंभवात् । "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंपदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः" इत्यादिवचनात् । एवं परमात्मैव सत्यः प्रपञ्चोऽयं क्षणभङ्गुरोऽनित्योऽसत्य इत्यादिवृद्धवचनेनापि नित्यानित्य-वस्तुविवेकः सुगमः । न च वेदपूर्वक एव विवेकादिर्हेतुः । अन्यथा बौद्धादेरप्यधिकारापत्तिरिति वाच्यम् । भवन्मते विवेकादेर्हेतुत्वमेव नास्तीति कथं न बौद्धादेरधिकारः ? न चास्मन्मते कर्मानन्तर्यमथशब्दार्थः इति न बौद्धादेरधिकार इति वाच्यम् । सिद्धान्तमतेऽपि इह जन्मनि जन्मान्तरे वा कृतकर्मोपास्तीनामेव शुद्धान्तःकरणानां संजातविवेकादिसाधनानामधिका-रोपगमात् । न चैवं मध्ये विवेकादेरन्तर्गडुत्वम् । कर्मणामव्यवहित-पूर्वत्वविरहेणान्यथासिद्धत्वाद् बहिरङ्गसाधनमात्रत्वाद्वा । न च कर्मणामव्य-वहितपूर्वत्वविरहेऽपि अपूर्वद्वारा हेतुत्वं भविष्यतीति नान्यथासिद्धिः, व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वाभावादिति वाच्यम् । सर्वकर्मानन्तर्यस्य दुर्गमत्वात् यत्किंचित्कर्मानन्तर्यस्य बौद्धादावपि पूर्वपूर्वतरादिजन्मकृत-यत्किंचित्कर्मसंभवाद् अन्यथा मानवजन्मनोऽपि दुर्भणत्वादन्वयव्यतिरेकि-तयाऽवश्यनियतपूर्ववर्त्यानुभविकसाधनानामेवाधिकारतया वक्तव्यत्वात् । क्वचिदुपासनोपहितकर्मभिः क्वचिच्च कर्मोपहितोपासनाभिरिति नैयत्य-विरहाच्च । शून्यवादिनां पूर्णात्मेच्छारूपमुमुक्षत्वविरहाच्च । नास्तिकत्वाच्चा ।

परे तु श्रौतविवेकाऽऽग्रहसत्त्वेऽपि न कश्चिद् दोषः । सामान्यतो गुरुमुखात् सर्ववेदश्रवणे वेदान्तश्रवणस्यापि तदन्तःपातित्वात्तच्छ्रवणेन विवेकाद्युपपत्तेः । न हि वेदाध्ययनमपि कर्मानन्तरमेवेति शक्यं नियमयि-तुम् । कर्मार्थत्वाद् वेदाध्ययनस्य ततः पूर्वं कर्मानुपपत्तेः । न च "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति विधिप्रयुक्तमध्ययनं वक्तव्यम् । तच्चार्थपर्यन्तमिति मीमांसायास्तदन्तःपातित्वात् पृथगिहाधिकारकथनवैफल्यं स्यात् । ततश्च

स्वभावप्राप्तं वेदाध्ययनानन्तर्यं, क्रमप्राप्तपूर्वकाण्डाध्ययनानन्तर्यम्, अध्ययनमात्रस्य व्यर्थत्वात्तदुक्तकर्मानुष्ठानानन्तर्यं चायातीति वाच्यम् । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यर्थज्ञानपर्यन्तविधिस्वीकारेऽपि कर्मानुष्ठानपर्यन्तार्थताविरहात् । "गोपाय मां" "मां ब्रूह्यप्रमादिने" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां योग्याध्यापनेनापि अध्ययनसार्थक्यसंभवात् ज्ञानस्यैवाध्ययनघटकत्वात् । अन्यथा ब्राह्मणादीनां राजसूयाद्यध्ययनस्य, क्षत्रियादीनां वाजपेयाद्यध्ययनस्य कृत्स्नवेदाध्ययनान्तर्गतस्य वैयर्थ्यापाताद् । अध्ययनपदार्थज्ञानानुकूलगुरुमुखश्रवणघटकज्ञानप्रयोजनतया तादृशज्ञानोत्पत्तिमात्रेण विधेः कृतार्थत्वात्तेन वेदान्तविचारस्य साक्षात्कारकारणीभूतस्य क्रोडीकरणायोगाच्च । "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदि" त्यादिपृथग्विधेस्तत एव सार्थक्यात् । तत्र च साक्षात्कारात्मकविज्ञानार्थतया विचारः शिष्याध्ययनगुरुप्रवचनात्मको विहितः । स च विवेकादिषु सत्स्वेव संभवति । तथा च तत्र श्रुतिः–"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन् । तद्विज्ञानार्थमि"त्यादि । अत्र परीक्षणं नाम विवेचनमेव । "अकृतः कृतेने" ति नित्यानित्योक्तेः" । निर्वेद इति वैराग्यम् । "शान्तो दान्त" इत्यादिश्रुतेः शमादयश्च । मुमुक्षुत्वं तु मुख्यम् । स्वर्गकामो यजेतेतिवन्मोक्षकामो विचारयेदिति फलकामित्वस्यैव फलभाक्त्वलक्षणधिकारोपपत्तेः । एतदुक्तं भवति "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति सामान्यविधिनैव सामान्यज्ञानहेतुभूतवेदान्तविचारोऽपि प्राप्त इति तत एव विवेकादयः स्युः । साक्षात्कारलक्षणविज्ञानजनकविशिष्टविचार"श्चाथातो ब्रह्मजिज्ञासे" त्यनेनारभ्यते । तत्र च विवेकादिरधिकारिकोटिप्रविष्टः इति । ननु ब्रह्मकाण्डेऽपि पूर्वकाण्डवद् वाक्यार्थविचारमात्रं कृतं दृश्यते न पुनर्विशिष्टः कश्चन विचार इति कथमस्य विज्ञानहेतुत्वं, कथं च विवेकादिसापेक्षत्वमिति चेन्न । धर्मस्य नित्यपरोक्षत्वात्तद्विचारस्य परोक्षज्ञानफलत्वनियमात् । ब्रह्मणस्तु नित्यापरोक्षत्वात्तत्राविद्याविशेषसद्भावाऽसद्भावाभ्यां परोक्षकल्पत्वापरोक्षत्वभेदसत्त्वात् । तत्र विचारोऽपि विशिष्ट एव । न पुनः सर्वसुगमः स च सद्गुरूपसदनं विना कुतार्किककुमतिद्वैताभिनिवेशवद्भिर्विवेक्तुमशक्य एव ॥ २ ॥

तत्स्वाध्यायमधीयीतेत्येषोऽध्येयः कथं विधिः ।
यद्यन्यतस्तदा तद्वद् विवेकादिः कथं न ते ॥ ३ ॥ [६६]

"तस्मात् स्वाध्यायमधीयीत" यह स्वाध्यायाध्ययनविधि है । इसको पढ़कर तब वेदाध्ययन होगा । किन्तु इस विधिवाक्यको पढ़ेंगे किस विधिवाक्यको सुनकर ? इसे पढ़ेंगे तब विधि मालूम होगी । विधि मालूम हो तब इसे पढ़ेंगे ऐसा अन्योन्याश्रय नहीं है क्या ? यदि कहें कि गुरुजनोंके कहने से ही विना पढ़े भी विधि मालूम पड़ेगी तो वैसे ही गुरुजनादिके कहनेसे विवेकादि नहीं होंगे क्या ? ॥ ३ ॥

किंच "तस्मात् स्वाध्यायमधीयीत", "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यादिविधिवाक्यश्रवणात्स्वाध्यायाध्ययनस्येष्टसाधनतामवगम्य तत्र प्रवर्तन्तां लोकाः । किन्तु स्वाध्यायमधीयीतेत्यादिवाक्याध्ययनं कथं भवेत् ? नहि स्वमधीत्य स्वाध्ययने प्रवर्तयितुं शक्यते । आत्माश्रयात् । तथा च वेदाध्ययने सति स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विध्यर्थज्ञानं तस्मिन् सति वेदाध्ययनमिति दुरुपपादम् । यदि च पित्रादिभिस्तदर्थज्ञापनादेव माणवकस्य वेदाध्ययनप्रवृत्तिस्तदा सत्सङ्गादिभिर्जातनित्यानित्यविवेकानां वेदान्तविचारप्रवृत्तिरिति समानम् । एवं स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति वाक्याध्ययनं विनापि विध्याश्रवणं तावदध्ययनेन संपद्यते चेत् "न स पुनरावर्तते" नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा" इत्यादिवाक्यानामध्ययनं विनाप्यधिकाराश्रयणं संपद्येतेत्यपि समानम् । इत्थमेव श्रीभाष्यादौ वैराग्यमुमुक्षुत्वयोरधिकारकोटिप्रविष्टत्वोक्तिरुपपद्यते । न हि विवेकं विना मोक्षाद्युपयोगि वैराग्यमुपजायते । न हि शमाद्यभ्यासजनितशान्तिसुखानुभवहीनो मुमुक्षुतामुपगच्छति । तथा च स्वोक्तेरप्यर्थं स्वयमजानानस्य पराभिप्रायवेदने का प्रत्याशा ॥ ३ ॥

न कर्मचिन्तानन्तर्यमर्थस्तदनपेक्षणात् ।
उद्गीथाद्यर्थमिति चेत्तच्चिन्ताप्यादितो भवेत् ॥ ४ ॥ [६७]

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" में अथ पदका कर्ममीमांसा करने के बाद ऐसा अर्थ द्वैतवादी कहते हैं । किन्तु कर्मचिन्तनकी अपेक्षा वेदान्तमें है ही नहीं । तो उसके बाद ब्रह्मचिन्तन करो इस कथनका कोई मतलब नहीं

निकलेगा । द्वैतवादी कहते हैं कि वेदान्तमें उद्गीथविद्या, अश्वविद्या आदिका भी वर्णन है । यह उद्गीथादिविद्या कर्माङ्गसामवेद, अश्वमेधाङ्ग अश्वादिको लेकर है । तदर्थ इन कर्मोंका ज्ञान आवश्यक है । किन्तु यह उद्गीथादि उपासना कर्मसमान है । ब्रह्मज्ञानोत्पादनार्थ है । "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं" के अनुसार कर्मको वीर्यवत्तर बनानेके लिये है । तब कर्मके समान इन उपासनाओंको भी पूर्वमीमांसामें ही संपादित करना चाहिये था । क्योंकि वीर्यवत्तर कर्मके बाद ही ब्रह्मविचार सफल होता है । अद्वैतमतमें बहिरङ्गसाधन होनेसे प्रसङ्गतः दोनोंका अल्पविचार ब्रह्मसूत्रमें किया है ॥ ४ ॥

ननु कर्मविचारानन्तर्यमेवाथशब्दार्थः । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यर्थ-ज्ञानसहितसकलवेदाध्ययनविधानाद् एकपदे सकलवेदाध्ययनासंभवात्, क्रमापेक्षायां पाठक्रमेण कर्मविचारस्यैव प्राप्तत्वात् । न हि वेदान्ताध्ययनस्य पृथग्विधिरस्ति । तथा च कर्मज्ञाने सति तत्परीक्षणमपि "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितानि"त्यनेनोपदिश्यमानमुपपद्यत इति चेन्न । ब्रह्मविचारे कर्मापेक्षा-विरहात् । अनपेक्षितस्यापि क्रमागतत्वमात्रेणावश्यापेक्षणीयत्वस्वीकारे "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुतेर्वेदानामानन्त्येन सर्ववेदाध्ययनानन्तर्यं विचारस्य प्राप्नोतीति वेदान्तविचारोऽनन्तकालोत्तरमपि न प्राप्स्यति । अकृतसर्व-वेदाध्ययनस्य क्षत्रियादेर्यज्ञादिकर्मप्रवृत्तिरपि न स्यात् । यज्ञादिकर्मापेक्षित-मन्त्राध्ययनस्य क्रमप्राप्तत्वेन सकलवेदाध्ययनावश्यकत्वात् । यदि च तत्र स्वकर्मापेक्षितयावद्विचार एवापेक्षितस्तदा वेदान्तविचारापेक्षितयावदध्ययन-मेव पूर्वं कर्तव्यमिति क्व कर्मचिन्तायाः पूर्वं प्रसक्तिः ।

ननु कर्माङ्गाश्रितोद्गीथविद्यादेर्वेदान्तान्तःपातित्वात् कर्मविचारपूर्वकत्व-मावश्यकं वेदान्तविचारस्य । न च प्रसङ्गागतानि तानि वाक्यानि चिन्तितानीति वाच्यम् । आनर्थक्यपरिहाराय येन केनापि प्रकारेण ब्रह्मज्ञानसम्बन्धितया अवश्यवक्तव्यत्वादिति चेन्न । उद्गीथोपासनादीनां "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवती" ति श्रुतेः कर्मसमृद्ध्यर्थानां कर्मसमानयोगक्षेमत्वात् कर्मणामनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वविरहे तादृशो-पासनानामपि बहिरङ्गमात्रत्वान्नियताव्यहितपूर्वापेक्षाविरहेणाथशब्दार्थत्वा-

नुपपत्तेः । यदि तु स्वमतानुसारेण मोक्षहेतुतया सहकारितयाऽवश्य-पूर्ववृत्तित्वं प्रतिपाद्यते तदा कर्मवदेवोपासनमपि पूर्वमेव निरूपणीयमिति अथात उपासनमित्यादिरीत्या प्रतिज्ञापूर्वकमुपासननिरूपणमविधाय "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे" ति प्रतिज्ञानमनुपपन्नं स्यात् ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्ट्यर्थमन्ते चेदन्ते स्यात् कर्मचिन्तनम् ।
श्रुतेरारभ्य कर्माणि स्मृतेश्चैव मदर्पणम् ॥ ५ ॥ [६८]

पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि आदित्यादिमें ब्रह्मदृष्टि कर उपासना करनेका विधान है । ब्रह्मस्वरूप जाने विना ब्रह्मदृष्टि कैसे कर सकते हैं । अतः ब्रह्मका वर्णन प्रथम किया और उपासनाका बादमें । इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कर्म भी भगवदर्पित ही मोक्षकारण है । भगवान् (ब्रह्म) का स्वरूप जाने विना अर्पण करेंगे तो वह अन्यदेवताके लिये हो जायेगा । अतः कर्मनिरूपण भी ब्रह्मनिरूपणके बाद क्यों नहीं होना चाहिये ? "आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः" इत्यादि श्रुति है । "यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि.......तत्कुरुष्व मदर्पणं" यह स्मृति है । सकामकर्मका पूर्वमें वर्णन है तो सकाम उपासनाका भी वर्णन कर लेते । कर्मके समान ही उपासना भी दृष्ट अदृष्ट फलदायी है ॥ ५ ॥

ननु. तत्र तत्र ब्रह्मदृष्टिविधानात्तस्याश्च ब्रह्मज्ञानपूर्वकत्वात् प्रथमं ब्रह्मज्ञानाय चिन्तनं, तत उपासनावाक्यचिन्तनमिति चेन्न । "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इति स्मृतेः सर्वेषां कर्मणां भगवदर्पणीयत्वसिद्धेर्भगवज्ज्ञानस्य प्रथमम-पेक्षणात्सर्वप्रथमं ब्रह्मचिन्तनं तत्पश्चात्कर्मोपासनायोश्चिन्तनमिति वैपरित्य-प्रसङ्गात् । न हि स्वर्गादिकामनया क्रियमाणानां कर्मणां वेदान्तेषूपयोगः केनापि स्वीक्रियत इति भगवत्प्रीत्याद्यर्थताया अवश्यस्वीकार्यत्वात् ॥ ५ ॥

शमाद्युपेतताचिन्ता न शमाद्युत्तरेति चेत् ।
सर्वापेक्षाविचारश्च कथं कर्मोत्तरो भवेत् ॥ ६ ॥ [६९]

"शमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु" इत्यादि सूत्रोंमें शमदमादिकी आवश्यकतापर विचार किया है । उसके प्रति शमदमादि ही कारण किस प्रकार ? उत्तरमें सुनो "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः" से यज्ञ, दान, तप आदि सर्वापेक्षापर विचार किया है । उसके अधिकारी कोटिमें सर्वान्तर्गत कर्म कैसे आते हैं ? ॥ ६ ॥

ननु शमादीनामधिकारिकोटिप्रविष्टत्वं न घटते । "शमाद्युपेतः स्यात्" इति शमादिनां वेदान्तचिन्तान्तर्गतत्वेन तेषां वेदान्तविचारहेतुकोटिप्रविष्टत्वायोगादिति चेन्न । ततः पूर्वं "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुते"-रित्युक्तत्वाद् यज्ञादीनामपि चिन्तनीयत्वाद्वेदान्तचिन्तान्तर्गतत्वात्तां प्रति यज्ञादेरपि हेतुत्वं कथमित्युच्यताम् । न च यज्ञादेर्विशिष्य चिन्तायास्तत्र विरहात् तद्धेतुत्वहानिरिति वाच्यम् । शमादेरपि विशिष्य चिन्तायास्तत्राऽप्रवर्तित्वेन तुल्यत्वात् । सूत्राणां सूचकत्वेन विशेषचिन्ता कार्या चेत्कर्मणामपि विशेषचिन्ताऽत्रैव कर्तव्येति जैमिनीयशास्त्रस्यैतत्सूत्रान्तःपातित्वमेवायातीति तच्चिन्ताया ब्रह्मज्ञानोत्तरभावित्ववारणायोगात् ॥ ६ ॥

आवश्यकमिह प्रोक्तं निष्काममिति चेत्तदा ।
अनावश्यककर्माद्यानन्तर्यं साधु भण्यते ॥ ७ ॥ [७०]

"यज्ञेन दानेन तपसा" इत्यादिमें आवश्यक निष्काम कर्मका विचार है ऐसा कहो तो अनावश्यक कर्मोंका पूर्वमीमांसामें विचार हुआ यह बात सामने आयेगी । तब उसका आनन्तर्य, ब्रह्मविचारमें कहते हो तो आपको धन्यवाद देना पड़ेगा ॥ ७ ॥

ननु यज्ञादिश्रुतौ निष्कामकर्मैवोक्तमिति तदेवावश्यकं सर्वापेक्षाश्रुतौ सर्वान्तर्गतमिति चेत् । एवं सति पूर्वतन्त्रे सकामं कर्म वेदान्तानुपयोगि चिन्तितमित्यायाति । तथा सति अनावश्यकसकामकर्मानन्तर्यं ब्रह्मविचारे वदन् श्लाघनीयप्रज्ञोऽसि ॥ ७ ॥

तद्विज्ञानार्थमर्थज्ञमभिगच्छेद् गुरुं कृती ।
प्रोवाच ब्रह्मविद्यां स इति वैचारिको विधिः ॥ ८ ॥ [७१]

पूर्वपक्षः—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यही तो वेदान्तविचारके लिये भी विधि है अतः 'वेदाध्ययन तथा क्रमप्राप्त कर्मविचारके अनन्तर' यही अर्थ यहां स्वतः प्राप्त है। उत्तरपक्षः—नहीं, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय.......प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इस प्रकार ब्रह्मविचारार्थ अलग विधि है। उसीमें "परिक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इत्यादिसे विवेकादिका वर्णन भी अधिकारि-विशेषणरूपमें किया है ॥ ८ ॥

यत्तूक्तं वेदान्ताध्ययनाय पृथग्विधिर्नास्तीति तदसत्। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय....... प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इति पृथग्विधिदर्शनात्।" अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते"त्यादौ "निषादस्थपतिं याजयेदि"त्यादौ च यथाऽष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीतेत्यत्र, निषादस्थपतिर्यजेतेत्यत्र च तात्पर्यं तथाऽत्रापि प्रोवाचेति प्रवचनस्य ब्रह्मविद्याग्रहणतात्पर्यकत्वाद् ब्रह्मविद्यां गृह्णीयादिति विधिपर्यवसन्नत्वाद्विचारविधिसिद्धेः ॥ ८ ॥

क्रममात्रविवक्षायामैकशास्त्र्यं न सिध्यति।
योगशास्त्रादिभिश्चैक्यं किंचित्सापेक्षवादिनः ॥ ९ ॥ [७२]

और क्रमप्राप्त होनेसे कर्मके बाद ब्रह्मविचार करते हैं तो उतनेसे एकशास्त्रता सिद्ध नहीं होगी। कुछ अपेक्षा होनेमात्रसे एकशास्त्रता कहते हैं तो योगशास्त्रके साथ भी एकशास्त्रता होने लगेगी। "आसीनः संभवात्" इत्यादि यहां है ॥ ९ ॥

किं चाथशब्देन क्रमप्रयुक्तानन्तर्यार्थविवक्षायामैकशास्त्र्यं न सिध्यति। किंचित्सापेक्षतामात्रेण वेदप्रामाण्यचिन्तनादिना यद्यैक्यं साध्यते तदा "त्रिरुन्नतं स्थाप्ये" त्यादिप्रतिपादकयोगशास्त्रादिनाप्यैक्यं दुर्वारम्। किं बहुना "अन्नमयं हि सोम्य मनः पञ्चदशाहानि माशी" रित्यादि प्रसङ्गविचारणेन भोजनादेरप्यपेक्षणसत्त्वान्नलपाकशास्त्रादिनाप्यैक्यं स्यात्। "तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयमित्येवमदृष्टोत्पादनद्वारेणापि भोजनस्य यज्ञादिवन्मोक्ष-साधनत्वसत्त्वात् ॥ ९ ॥

क्वचिद्विरोधान्नैक्यं चेत्तुल्यं तज्जैमिनेरपि ।
फलदं जैमिनिर्धर्मं ब्रह्मोचे बादरायणः ॥ १० ॥ [७३]

यदि 'एतेन योगः प्रयुक्तः' के अनुसार कहीं-कहीं विरोध होनेसे योगशास्त्र और वेदान्तशास्त्रकी एकता नहीं कहें तो 'धर्मं जैमिनिरत एव पूर्वं तु बादरायणः' इस प्रकार जैमिनीयके साथ भी कहीं-कहीं विरोध समान है। अर्थात् जैमिनि धर्मको फलप्रद्र कहते हैं बादरायण ईश्वरको ॥ १० ॥

साधिकारा विवेकाद्यैर्जीवन्मुक्ता विदोऽभवन् ।
अज्ञात्वाऽनधिकारित्वान्मरणं वव्रिरेऽपरे ॥ ११ ॥ [७४]

सन्तलोग विवेकवैराग्यादि अधिकारसंपन्न होकर श्रवणादि करते हुए ज्ञानी हो गये और जीवन्मुक्त हो गये । दूसरे (द्वैतवादी) विवेक-वैराग्यादिको अधिकारी-विशेषण न मानकर विना विवेकादि ही वेदान्त पढ़ते रहे । परिणाम यह हुआ कि फल जीवन्मुक्तिके न मिलनेसे जीवन्मुक्ति ही नहीं ऐसा बोलने लगे और मरणको ही पुरुषार्थ मान बैठे ॥ ११ ॥

तस्मादधिकारिविशेषणं विवेकादिचतुष्टयमेव । तत्प्राप्य च सन्त इहैव जीवन्मुक्ताः सन्त आत्मलोकं प्रापुः । विवेकवैराग्यादिरहितास्तु चिरकाल-पर्यन्तं श्रुत्वापि विचार्यापि वेदान्तं प्रत्यक्षफलमननुभवन्तो मरणमेव प्रतीक्षांबभूवुः । मरणोत्तरमेव मोक्ष इति च महता घोषेणोट्टटङ्किरे । तत्र बहवः 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वे'ति श्रुत्वा संशयमापन्नाः यज्ञादींस्तत्यजुः । वैकुण्ठादिलोकवार्ता च गल्पमात्रं विदुः । विवेक-वैराग्यादिमन्तस्तु परिशिलितसमाधयो जीवन्मुक्ताः सर्वं परमात्ममयं पश्यन्तः संसारसागरं तेरुः । ये पुनर्विवेकवैराग्यरहिता अनधिकारिणो वेदान्तानधिजगिरे तेऽनुपलभ्य जीवन्मुक्तिं दिवान्धदिवाकरन्यायेन जीवन्मुक्तिमेव निरस्यन्तो मरणमेव परमपुरुषार्थं चार्वाकवन्मेनिरे । न च मरणोत्तरवैकुण्ठप्राप्त्यादिकं ते मन्वत इति वाच्यम् । तत्र विशेषणी-भूतमरणस्यापि तन्मते पुरुषार्थताध्रौव्यात् । 'को हि तद्वेद यद्य-

मुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वेति" इत्येवं श्रुत्यैव संशायनमुखेन तज्ज्ञापनाच्च। "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ती"त्यादिश्रुतेरिह ज्ञाततत्त्वानां जीवन्मुक्ताना-मस्ति परो मोक्षः। "विमुक्तश्च विमुच्यते" इति श्रुतेः। ये पुनरिह न विदुर्नापि जीवन्मुक्तास्ते "न चेदिहावेदीन्महतो विनष्टिः" इति श्रुतेर्नाशमापुः। स एवास्ति न वेति विकल्पेन श्रुत्या भङ्ग्यन्तरेण बोध्यते ॥ ११ ॥

नाशप्रत्यक्षतोऽर्थानां बहूनां चानुमानतः।
वृद्धैश्चेशैकनित्यत्ववर्णनात् स्याद्विवेकिता ॥ १२ ॥ [७५]

जगतके पदार्थोंमें बहुतोंका नाश प्रत्यक्षसिद्ध है। बहुतोंका अनुमानसिद्ध है। वृद्ध कहते रहते हैं परमात्मा ही सच्चा है। इन सबसे विवेक आसानीसे होता है ॥ १२ ॥

बहूनां प्रियवस्तूनां नाशः प्रत्यक्षमीक्ष्यते। बहूनां चानुमीयते। वृद्धैः पित्रादिभिश्चेश्वरस्यैव नित्यत्वं वर्ण्यमानं श्रूयते। तावतैव पुण्यात्मनां विवेको जायते। क्वचिच्च वेदाध्ययनोत्तराऽपातज्ञानेनापि विवेको भवति ॥ १२ ॥

अनित्यमसुखं लोकमीशं नित्यसुखं तथा।
ज्ञात्वा संसारविषयाद् विवेकी स विरज्यते ॥ १३ ॥[७६]

गीतामें संसारको अनित्य और असुख बताया। अतः मेरा भजन कर कहते हुए परमात्माको नित्य तथा सुखरूप सूचित किया। उसे समझकर वह विवेकी संसारके विषयोंसे विरक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि"त्यादिवचनाच्च अनित्या-सुखविपरितनित्यसुखत्वं मत्पदार्थस्य विज्ञातुं शक्यम्। ईश्वरप्रेप्सा-पूर्वकवैराग्यमेव वास्तविकम् ॥ १३ ॥

वीक्ष्य शान्तिं शमदमप्रभृतौ सत्सु संगतेः।
तद्युतो मोक्षमेवेच्छेदित्येतत्स्वानुभूतिकम् ॥ १४ ॥ [७७]

विरक्त होकर सत्संगमें जाने लगे। वहां शममें शान्ति देखी तो शमदमादिसम्पन्न होकर मोक्षमात्र चाहने लगा। यह सब अनुभवकी बांत है ॥ १४ ॥

सत्सङ्गाशाच्छमादिषु शान्तिं श्रुत्वा तन्निष्ठस्तामनुभूय नित्यसुखपरमात्मप्राप्तिरूपमोक्षमेव समाधियुतः पुरुषो वाञ्छेत्। एतच्चानुभविकमेव सत्प्रसङ्गानाम् ॥ १४ ॥

स्वहेतुना दृष्टफला न चैते विधिगोचराः।
किन्तु ब्रह्मविचारार्थमधिकारिविशेषणम् ॥ १५ ॥ [७८]

विवेकसे वैराग्य इत्यादि प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे विधिविषय नहीं है। फिर भी ब्रह्मविचारके अधिकारीके विशेषणके रूपमें विधिविषय होते हैं ॥ १५ ॥

स्वस्वहेतुजनिता विवेकादयः प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते। फलमपि-विवेकतो वैराग्यं, शमादितो मुमुक्षुत्वमित्यादि प्रत्यक्षमित्यपूर्वत्वविरहान्न विधिगोचरा एते। तथाप्यधिकारिविशेषणतया विधिविषयतामापद्यन्त एव ॥ १५ ॥

ईशं सत्यसनातनं सुखतनुं प्राप्यं विहेयं तथा
संसारं बहुदुःखकण्टकमयं विज्ञाय सत्सङ्गतः।
धन्यः कोऽपि विवेकवानधिकृतो ब्रह्मैव जिज्ञासते।
जीवन्मुक्तिमजन्नसौ विजयते ब्रह्मात्मसंदर्शनात् ॥ ८ ॥

सत्सङ्गमें यह सुनकर कि परमात्मा ही सत्य एवं सनातन (नित्य) सुखरूप है, वही प्राप्य है, यह संसार तो दुःखोंके काँटोंसे भरा है, कोई पुण्यवान् पुरुष ऐसा निकलता है जो विवेकी होकर अधिकारी बनता है और केवल ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मका श्रवणमनननिदिध्यासन) करता है। वह ब्रह्मात्मदर्शन पाकर उससे जीवन्मुक्त हो जाता है और जयकारके योग्य होता है। ॥ ८ ॥

इति विवेकादिचतुष्टयस्य पूर्ववृत्तत्वनिरूपणम्

*****

अथ कथाधिकारविचारः

एवं साधनसम्पन्नो ब्रह्म जिज्ञासते गुरौ ।
तस्य सत्त्वात्प्रपञ्चस्याऽसत्त्वाच्च परमार्थतः ॥ १ ॥ [७९]

इन चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुष गुरुके पास जाकर ब्रह्मजिज्ञासा करता है । क्योंकि ब्रह्म ही सत्य है । प्रपञ्च परमार्थतः सत्य नहीं है ॥ १ ॥

यथोक्तसाधनचतुष्टयसम्पन्नस्याथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रोक्ता ब्रह्म-जिज्ञासा जायते । कुतः ? तस्य ब्रह्मण एव परमार्थतः सत्त्वोपपत्तेः । कथं न जगज्जिज्ञासा सतामिति चेत् ? परमार्थतो जगतोऽसत्त्वादेव ॥ २ ॥

ननु सत्तां प्रमाणादेरस्वीकृत्य कथं कथा ।
मैवं विप्रतिपत्त्यादेरेवात्रावश्यकत्वतः ॥ २ ॥ [८०]

पूर्वपक्षः—प्रपञ्च यदि असत्य है तो उसके अन्तर्गत प्रमाण प्रमेयादिकी सत्ता मानी नहीं जायेगी । उसे न माननेपर शास्त्रविचारका अधिकार ही नहीं हो सकता । प्रमाणको न माने तो शास्त्रचर्चा किस प्रकार ? उत्तरपक्षः—प्रमाणसत्ता मानने मनवानेकी क्या जरूरत ? आप जिसको प्रमाण कहते हैं उससे अविरुद्ध पक्ष-प्रतिपक्ष-विषयकविपत्तिपत्ति उसका परिग्रह ये सब कथाके अङ्ग हैं ॥ २ ॥

ननु प्रमाणादिसत्तामनभ्युपगच्छता कथं कथा प्रवर्त्तयितुं शक्या । प्रमाणादीनामसत्त्वे यदपि किंचिदुक्त्वा स्वविजयपरपराजयादिसंपादनापत्ते-रिति चेन्न । विप्रतिपत्तिसमयबन्धादिना वक्तव्यनियमेनैव कथाप्रवृत्ति-संभवे प्रथमत एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोपयोगाभावात् । प्रमाणादीनां सत्त्वं सत्ताऽस्ति न वेति हि विचारेण साध्यम् । तच्च कथायामेव स्यात् ॥ २ ॥

प्राक्सत्त्वं नैव हेतुत्वं किन्तु प्राग्वृत्तितैव सा ।
अतो विप्रतिपत्त्यादिहेतुत्वे व्याहतिर्न नः ॥ ३ ॥ [८१]

पूर्वपक्षः—पूर्वमें जिसकी सत्ता हो वह कारण है इस लक्षणसे विप्रतिपत्तिमें कथाकी कारणता माननेपर सत्ता भी माननी होगी ।

उत्तरपक्षः—पूर्वमें रहनेवाला कारण इतना ही लक्षण है । उसमें सत्ता जोड़नेकी जरूरत नहीं है ॥ ३ ॥

ननु कार्यनियतप्राक्सत्त्वं हेतुत्वंम् । विप्रतिपत्त्यादेः कथाहेतुत्वं स्वीकृत्य ततस्तत्सत्त्वनिराकरणे व्याहतिरापद्यत इति चेन्न । अनन्यथासिद्धनियत-पूर्ववृत्तित्वमेव हेतुत्वं न हि तत् सत्त्वघटितमिति कथं तेन व्याघात आपाद्यताम् ॥ ३ ॥

शुक्तीन्दौ लोभहेतुत्वं रज्ज्वहौ भयहेतुता ।
यथा विप्रतिपत्त्यादौ कथाकारणता तथा ॥ ४ ॥ [८२]

शुक्तिरजतमें लोभहेतुत्व और रज्जुसर्पमें भयहेतुत्व विना सत्ता ही जैसे होता है वैसे विप्रतिपत्ति आदिमें कथाहेतुत्व भी संभव है ॥ ४ ॥

शक्तिरूप्ये हि लोभहेतुत्वं दृश्यते । रज्जुसर्पे भयहेतुत्वम् । किमेतावता रूप्यादीनां सत्त्वमुपेयते ? तथैव विप्रतिपत्त्यादावपि प्राग्वृत्तित्वमात्रेण कथाहेतुत्वसंभवे कुतस्तत्र सत्ता स्वीकर्तव्या ? । ॥ ४ ॥

बौद्धाद्यैर्निजपक्षोक्तौ नैव चेदनुभाषसे ।
निगृहीतः कथं न स्याः भाषणे साध्यतां तु सा ॥ ५ ॥ [८३]

बौद्धादिने अपना पक्ष रखा । उसपर कुछ नहीं बोलोगे तो अननुभाषण निग्रहस्थानसे निगृहीत माने जाओगे । बोलते हो तो सत्ता सिद्ध करो ॥ ५ ॥

बौद्धादिभिः प्रमाणसत्तामनभ्युपगच्छद्भिः पूर्वपक्षोपस्थापने यदि त्वं नानुभाषासे तदाऽननुभाषणनिगृहीतः स्याः । यदि भाषसे तदा सत्ता प्रमाणादेः साध्यताम् । किमिति प्रथममेव सत्ताभ्युगन्तव्येति ब्रूषे ॥ ५ ॥

नाधिकारी कथायां तदस्वीकर्तेति वक्षि चेत् ।
नाधिकारी कथायां तत् स्वीकर्तेत्यपरो वदेत् ॥ ६ ॥ [८४]

पूर्वपक्षः—मैं बोलूंगा । यह बोलूंगा कि प्रमाणादिकी सत्ता न माननेवाले तुम कथामें अनधिकारी हो । उत्तरपक्षः—किन्तु इसका उत्तर वह भी बोलेगा—तुम प्रमाणादिकी सत्ता मानते हो अतः कथामें अनधिकारी हो तब क्या होगा ? ॥ ६ ॥

ननु प्रमाणादिसत्तानभ्युपगन्ता कथायामेव नाधिकारीति नाननु-भाषणादि दोष इति चेद् ब्रूषे तदाऽपरः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्ता नाधिकारीति वदेत् ॥ ६ ॥

सोऽयं तु बधिरालापः परस्परमशृण्वताम् ।
स्याद्गेहेनर्दितामात्रं मूर्खाणां प्राज्ञमानिनाम् ॥ ७ ॥ [८५]

इस प्रकार परस्पर सुने विना बोलना तो बहरोंका शास्त्रार्थ मात्र होगा । अपने-अपने घरमें गाजना तो पण्डितमानी मूर्खोंका काम है ॥ ७ ॥

एवं परस्परमनधिकारित्वं कथायां ब्रुवाणानां परस्परमशृण्वतां बधिरालापमात्रं स्यात् । तथा वयं बौद्धादीन् व्यजेष्महीति गेहेनर्दितामात्रं मूर्खाणां स्यात् । तथा च स्वमतमनभ्युपगच्छन् कथायामनधिकारीति सामान्यतः प्रतिज्ञातुं शक्यत्वात् कथाया एव लोपः स्यात् । बौद्धादिमत-परासनप्रयासवैयर्थ्यं च । न च शिष्यान् बोधयितुमुच्यत इति युक्तम् । शिष्यैः प्रमाणादिसत्तामनभ्युपगम्य प्रश्नकरणे कथानाधिकारदोषस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । अभ्युपगमे वा प्रश्नवैयर्थ्यम् । अप्रश्ने नापृष्टः कस्य-चिद्ब्रूयादिति निषेधवैयर्थ्यम् । खण्डनवैयर्थ्यं च । न च बौद्धादीनामयं दोष इति बोधयितुमुच्यत इति वाच्यम् । किमर्थं बोधनीयाः ? बौद्धैः सह कथाविरहेण तत्पराजयार्थताविरहात् । स्वयं प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृत्वेन संशयादिविरहात् । न च तत्सत्तासंशयनिवारणार्थम् । कथायां स्वयं प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तव्येति नियमनेन संशयस्य कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ७ ॥

सत्ताभ्युपेयता किं न स्वतःसिद्धा चिदात्मवत् ।
राजाज्ञावशमान्या वा नो चेत् साध्या कथासु सा ॥ ८ ॥ [८६]

सत्ताकी स्वीकर्तव्यता क्या स्वयंप्रकाश होनेसे साध्य नहीं या राजाकी आज्ञा होनेसे मान्य है ? यदि दोनों बातें नहीं तो कथा में उसको साधिये । तब वह स्वीकरणीय होगा ॥ ८ ॥

किं च प्रमाणादिसत्ताभ्युपेयतां चिदात्मवत्स्वयंप्रकाशत्वात्स्वतःसिद्धां किं मनुषे ? न चैतत् केनापि स्वीकृतम् । अथ राजाज्ञावशतो

मन्तव्येत्युच्यते ? तदपि न । क्वचिदेवंविधमूर्खराजसंभवेऽपि सर्वत्र तद्विरहात् । तथा सति च प्रमाणादिसत्ताया अभ्युपेयत्वं कथायामेव त्वया साध्यम् । तदा तदनभ्युपगन्तुः कथानधिकार इति रिक्तं वचः । न च नियमविरहे शास्त्रचर्चापदेशेन कलहमात्रं स्यादिति वाच्यम् । प्रमाणमनुसृत्य वक्तव्यमित्यादिव्यवहारिकसमयबन्धेनैवाव्यवस्थापरिहारोपपत्तेः। पारमार्थिक-सत्त्वाभ्युपगमस्याऽप्रयोजकत्वात् । तच्चाग्रे स्पष्टीकरिष्यामः ॥ ८ ॥

मन्मतानुररीकारी नाधिकारी कथास्विति ।
उक्त्वैव विजयं याहि कृतं शास्त्रर्थचर्चया ॥ ९ ॥ [८७]

सबसे सरल उपाय यही होगा कि मेरे मतको न माननेवाला कथामें अधिकारी नहीं है इतना ही कहकर विजय पा लिया जाये । शास्त्रार्थ चर्चा ही क्यों करें ? ॥ ९ ॥

ननु न स्वतःसिद्धत्वात् न वा राजाज्ञावशात् प्रमाणादिसत्तायाः स्वीकर्त-व्यता । किन्तु तत्सत्त्वाभ्युपगमनियमादिति चेन्न । उभयसम्मतियोग्यस्यैव नियमत्वात् । अन्यथा मन्मतानुपगन्ता नाधिकारीति नियमं बद्ध्वैव सर्वो विजयी स्यात् । "सर्वथानुपपत्तेश्चे"त्यधिकरणानर्थक्यं च तव मते ॥ ९ ॥

व्यवहारिकसत्तैव वाच्या ते सा ममापि च ।
त्रिकालाऽबाध्यता तत्र नेति ब्रूमोऽधिकं वयम् ॥ १० ॥ [८८]

शब्दवाच्य सत्ता व्यावहारिक ही होती है । वही आपके मतमें है । उसे मैं भी मानता हूँ । परन्तु त्रिकालाबाध्य नहीं इतना हम अधिक कहते हैं । उसपर चर्चा करो ॥ १० ॥

वस्तुतस्तु व्यवहारं प्रति व्यावहारिकसत्तैव प्रयोजिका । तथा च विप्रतिपत्त्यादेर्हेतुत्वं व्यावहारिकसत्तयैव निर्वाह्यते । प्रमाणादिसत्तापि व्यावहारिक्येव कथादिप्रयोजिका । न तु त्रिकालाबाध्यत्वलक्षणा पारमार्थिकी सत्ता क्वापि व्यवहारे प्रयोजिका भवंति ॥ १० ॥

समाधौ सकलोऽप्येव प्रपञ्चो बाध्यते ततः ।
चर्चा समाधिहीनानां मिथुनीचारिणामियम् ॥ ११ ॥ [८९]
समाधौ भात्युपादानं नोपादेयं कथं न तत् ।
रज्जौ प्रभासमानायो यथा सर्वो न भासते ॥ ९० ॥

निर्विकल्पक समाधि में सकल प्रपञ्चका बाध होता है । अन्यथा उपादान ब्रह्म का दर्शन समाधि में होता है तो उपादेय जगत् भी दीखता है, अतः विषयभोगमें लगे समाधिहीन मनुष्योंकी ही यह चर्चा है कि प्रमाणादिकी त्रिकालसत्ता है इत्यादि ॥ ११ ॥

ननु त्रिकालाऽबाध्यत्वं मास्तु स्वकालाबाध्यत्वेनैव सत्त्वसिद्धेः । नहि त्रिकालाबाध्यत्वमात्रेणैव पारमार्थिकत्वं प्रतिज्ञातुं शक्यमिति चेन्न । स्वकालाऽबाध्यत्वस्य स्वाप्नार्थशुक्तिरूप्यादावपि सत्त्वेन तेषामपि पारमार्थिकत्वापत्तेः । तेषां पारमार्थिकत्वं त्वन्यत्र सुनिरस्तम् । ननु प्रमाणादयो घटादयश्च न कदापि बाध्यन्ते । केवलमुत्पद्यन्ते नश्यन्ति च । तावतैव कालिकाभावसिद्धौ तेषां बाधस्वीकारानौचित्यादिति चेन्न । ब्रह्मदर्शनकाले सकलबाधदर्शनात् । एवं निर्विकल्पकसमाधौ सकलमपि बाध्यते । न च तदानीं तददर्शनमात्रम् न तु तद्बाध इति वाच्यम् । उपादानब्रह्मदर्शनकाले कार्यादर्शनानुपपत्तेः । अदर्शनमज्ञानम् तत्किं निर्विकल्पकसमाधिस्थमज्ञानिनं मनुते भवान् ? यत्र सार्वज्ञ्यं योगिन आचक्षते तत्राज्ञानमिति चित्रम् । वस्तुतस्तु समाधिमननुभूतवतां गृहेषु काकवन्मिथुनीचारिणामेवेदृशी सकला चर्चा । न तु 'यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्' तस्येत्यास्तां विस्तरः ॥ ११ ॥

व्यावहारिककथां व्यवहारे
व्यावहारिकसताऽधिकरोतु ।
पारमार्थिकसति त्वविवादे
विश्रमी विजयते यतिराजः ॥ ९ ॥

व्यावहारिक सत्तासे व्यवहारकालमें व्यावहारिक कथा चलाईये । उसमें अधिकारी भी बनो । पारमार्थिक सत्ता तो विवादका विषय नहीं है । उसमें विश्राम करनेवाले यतिराजकी जय हो ॥ ९ ॥

इति कथाधिकारविचारः

*****

(१०)

अथ निर्विशेषस्वप्रकाशवादः

निर्विशेषं परं ब्रह्म स्वप्रकाशं तदद्वयम् ।
स्वप्रकाशद्वयायोगाद् विशेषः कल्पितो यतः ॥ १ ॥ [९१]

पूर्वनिरूपित वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व निर्विशेष तथा स्वप्रकाश है। यदि यह कहें कि उस ब्रह्ममें अनेक विशेषतायें हैं। जैसे सत्यत्व, जगत्कारणत्व, दिव्यगुणवत्व आदि तो प्रश्न होगा ये सब विशेष स्वयं-प्रकाश हैं या जड़ हैं ? स्वयंप्रकाश कहते हैं तो क्या हजारों स्वयंप्रकाश स्वतन्त्ररूपसे चमक रहे हैं ? अपना अनुभव यह है कि मैं सुखी, मैं दुःखी आदिमें मैं तो प्रकाशक है, सुखादिरूप विशेष प्रकाश्य है। स्वयंप्रकाश हो तो परप्रकाश्य न होते। वैसे ब्रह्मका आनन्दादि स्वयंप्रकाश होते तो स्वयं ब्रह्मको उसका पता न होता। क्योंकि परप्रकाश्यताभाव ही स्वयंप्रकाशता है। यदि ये सभी विशेष जड़ हैं, आत्मप्रकाश्य हैं तो दृश्य होनेसे मिथ्या हो जायेंगे। तब मिथ्या विशेषोंसे सविशेषता नहीं होगी॥ १॥

तदिदमद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं विजातीयभेदरहितम्। विजातीयत्वेनाभिमतस्य पारमार्थिकसत्त्वाभावात्। द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वादित्युक्तम्। तदेतद् स्वगतभेदरहितमपि भवतीति निर्विशेषमित्युच्यते। न हि स्वप्रकाशद्वयमनुभूयते। एकेन स्वप्रकाशेन परस्य प्रकाशयितुं शक्यत्वान्नश्वरणां विशेषाणां स्वप्रकाशत्वस्वीकारवैयर्थ्याच्च। अहं सुखी, अहं दुःखीत्यादिरीत्या स्वप्रकाशचैतन्येन सुखादीनां प्रकाश्यत्वानुभवाच्च। न च मास्तु स्वप्रकाशो विशेषः। जडेनैव तेन सविशेषत्वं संभवत्येवेति वाच्यम्। जडानां कल्पितत्वस्य साधयिष्यमाणत्वात् कल्पितेन विशेषेण सविशेषत्वानुपपत्तेः। न च सुखादिकं सत्यत्वेनानुभूयत इति वाच्यम्। तत् किं रज्जुसर्पादयो दर्शनकाले सत्यत्वेन नानुभूयन्ते॥ १॥

ब्रह्मणा जीववत्ते च दृश्यन्तामात्मनेति चेद्।
परस्परं च जानीयुरप्रक्रियमनागमम्॥ २॥[९२]

पूर्वपक्षः—स्वप्रकाश भी परप्रकाश्य हो सकता है। जैसे जीव स्वयंप्रकाश होनेपर भी ब्रह्म उसे जानता है अर्थात् प्रकाशित करता है। वैसे ब्रह्मगत तथा आत्मगत स्वयंप्रकाश विशेषोंको ब्रह्म वा आत्मा प्रकाशित कर लें। उत्तरपक्षः—तब आत्मा सुखादिको जानता है और सुखादि आत्माको जानते हैं। मतलब इस प्रकारसे ये सभी विशेष नाना जीवात्मा हीं हो जायेंगे। फिर इस प्रकार प्रकाशित करनेकी प्रक्रिया क्या है यह भी बताना होगा। इन स्वयंप्रकाशोंका परस्पर तादात्म्य होता है या संयोग होता है या और कोई सम्बन्ध जिससे इनका प्रकाशन हो। प्रक्रियाओंका

निराकरण आगे होगा। और इन सबकी स्वयंप्रकाशतामें आगमादि कोई प्रमाण नहीं है। घटादिके समान जड़ होनेपर भी इनका प्रकाशन संभव होनेसे स्वयंप्रकाश मानना व्यर्थ भी है॥ २॥

ननु ब्रह्मण आनन्दादयो जीवस्य सुखादयश्च भवन्तु स्वयंप्रभा एव, का तत्र हानिः ? स्वयंप्रकाशा अपि जीवा ब्रह्मणा ज्ञायन्त इति प्रकाश्यन्त एवेति चेन्न। एवं सति आत्मा सुखादि जानीयात्, सुखादिश्चात्मानं जानीयादिति पृथक् जीवान्तराण्येव सुखादीनि स्युः। आत्मनि घटपटाद्य-भावा अपि धर्मा इति तेषां स्वयंप्रकाशत्वे तत्कुक्षिगतघटादयोऽपि प्रकाश्येरन्निति सर्वेषां सर्वज्ञत्वं स्यात्। का च प्रक्रिया तेषां प्रकाशने ? न हि तादात्म्यं स्वयंप्रकाशयोरत्यन्तभिन्नयोर्घटपटवत्। संयोगस्तु न स्वस्फुरण परस्मिन्नाधत्ते। येन तद्विषयकस्वज्ञानेन स्वकृते सुखादयः स्फुरेयुः। यदपि किंचिदुक्त्या समाधानं तत् प्रमाणशून्यत्वादेवोपेक्ष्यम्। घटादिवज्जडत्वेऽपि आत्मना तत्प्रकाशसंभवेन तेषां स्वप्रकाशतास्वीकारवैयर्थ्याच्च। ब्रह्मण स्वस्मादत्यन्तभिन्ना जीवाः प्रकाश्यन्त इत्यप्यप्रक्रियमनागमं चैव॥ २॥

स्वयं नाख्याति नान्यस्तां वेत्ति कः प्रतिपादयेत् ?
तत्तादात्म्यसमापन्नो निर्विशेषां हि संविदम्॥ ३॥ [९३]

पूर्वपक्षः—संवित् निर्विशेष है यह बतलानेवाला कौन है ? स्वयं संवित् बोलती नहीं है। दूसरा तो जड़ होनेसे कुछ जानता ही नहीं, कैसे बोलेगा ? उत्तरपक्षः—संवित्तादात्म्यापन्न अहंकार बोलता है कि मेरी संवित् निर्विशेष है॥ ३॥

ननु संविन्निर्विशेषेति कः प्रतिपादयति ? किं स्वयमेव सा ? किं वा तां तथानुभूय परस्तथा प्रतिपादयति ? नाद्यः। संविदः प्रतिपादनक्रिया विरहात्। नान्त्यः। परस्य तज्ज्ञाने वा तज्ज्ञानं संविदो भिन्नमभिन्नं वेति पुनः प्रश्नः स्यात्। भिन्नत्वेऽवेद्यत्वसिद्धान्तभङ्गः। अभिन्नत्वे तस्य प्रतिपादयित्रा सम्बन्धाभावात् प्रतिपादनासंभव इति चेन्न। अन्योन्याध्यासे संवित्तादात्म्यापन्नाहंकारादिरूपपुरुषः प्रतिपादयतीत्यसामञ्जस्याभावात् अन्योन्याध्यासात् स्व(अहंकारादिपुरुष)तादात्म्यापन्नमपि स्वीयत्वेन प्रतिपा

निर्विशेषा मदीया संविदिति प्रतिपादनोपपत्तेः । अन्यथा मतान्तरेऽपि स्वयंप्रकाशो जीवो न प्रतिपादयति तस्य स्वयं प्रतिपादकत्वविरहात् । नापि परः । तस्य जडस्य ज्ञानविरहादिति तुल्या भवत्यापत्तिः । न च जीवः स्वगतकृत्या इन्द्रियाणि प्रयोज्य पुरुषेण प्रतिपादयतीति वाच्यम् । कृति-प्रभृतेरन्तःकरणनिष्ठत्वात् । आत्मनिष्ठत्वेऽपि अन्यगतकृत्याऽन्यत्र क्रिया नोपपद्यते । नोदनाद्यभावात् ॥ ३ ॥

विशेषविषयत्वान्न निर्विशेषेति चेन्न तत् ।
अनृतत्वाद् विशेषाणां सुप्त्यादौ विरहादपि ॥ ४ ॥ [९४]

पूर्वपक्षः—मैं सुखी हूं इत्यादि रीति कुछ विशेषको लेकर ही संवित् होती है । अतः संवित् निर्विशेष होती ही नहीं । उत्तरपक्षः—विशेष मिथ्या होनेसे उसको लेकर सविशेष कैसे होगी ? सुषुप्ति आदिमें विना विशेष भी संवित् प्रकाशित होती है ॥ ४ ॥

ननु विशेषसहितैव सुख्यहमित्यादिरीत्या संविद् भासते । न हि सा विशेषं पृथक्कृत्य क्वचिदपि भासत इति निर्विशेषत्वसिद्धिर्न भवतीति चेन्न । विशेषाणामनृतत्वेन तद्वत्त्वेन भानेऽपि सविशेषत्वासिद्धेः । न च निर्विशेषभानं कदापि न भवतीति युक्तम् । निर्विकल्पकसमाधौ प्रसिद्धेः । सुषुप्तिमूर्च्छादौ निर्विशेषसंविद एव भासमानत्वाच्च । न च सुषुप्त्यादौ नाहं किंचिदवेदिषमिति ज्ञानप्रतिषेध एवेति वाच्यम् । अस्य स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वेन ज्ञानप्रतिषेधायोगात् । न चैवमपि अज्ञानमेवात्र विशेष इति निर्विशेषत्वं नास्तीति वाच्यम् । अज्ञानसाक्षितया संविदो भानेऽपि अज्ञानकर्मकत्वाभावात् । तथात्वे अज्ञानं जानामीति सकर्मकतया प्रतीयेत ॥ ४ ॥

श्रुत्यादितः समाधेश्च विशेषाणां प्रबाधने ।
निर्विशेषं परं ब्रह्म भासते संविदात्मकम् ॥ ५ ॥ [९५]

'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे विशेषोंका जब बाध होता है, समाधिमें केवल अधिष्ठान ब्रह्मका ही प्रकाशन होता है, तब संवत्स्विरूप निर्विशेष ब्रह्म भासमान होता है ॥ ५ ॥

"नेह नानास्ति किंचन" "तत्त्वमसी"त्यादिश्रुतेरशेषविशेषबाधात् समाधौ बाधावधेर्भानाच्च निर्विशेषं ब्रह्म भासते । न च शब्दस्य सविशेषवस्तुन्येवाभिधानसार्थ्यमिति वाच्यम् । तत एव भागत्यागलक्षणोपगमात् । "यतो वाचो निवर्न्त" इति श्रुतेः । "नेति नेत्यात्मे" ति निषेधविशिष्टात्मा निगद्यते । तत्र निषेधांशत्यागाच्छुद्धात्मप्रतिपत्तिः । एवं तत्त्वमस्यादावपि ॥ ५ ॥

अस्थूलाऽव्यवहार्यनिष्कलमुखैः शब्दैरशेषानपि
प्रत्येकं प्रतिषिध्य शेषमशिषद्यन्निर्विशेषं श्रुतिः ।
यद् भासेत सदा स्वयंप्रभमखण्डाकारवृत्तौ सतां
तत् सत्यादिपदोपलक्षितपदं ब्रह्म प्रपद्यामहे ॥ १० ॥

"अस्थूलमनण्वमह्रस्वं" इत्यादि "अदृष्टमव्यवहार्यम्" इत्यादि एवं "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि श्रुतियोंने प्रत्येक विशेषका प्रतिषेध कर जिस निर्विशेषको शेष बचाया, ज्ञानियोंकी अखण्डाकार वृत्तिमें जिस स्वयंप्रकाश तत्त्वका सदा भान होता है, सत्य ज्ञानादिपदके लक्ष्य उस ब्रह्म के हम शरणागत हैं ॥ १० ॥

इति निर्विशेषस्वप्रकाशवादः

*****

(११)

अथ निर्विशेषविषयकनिर्विकल्पकवादः

तत्त्वमस्यादिवाक्याद्धि निर्विशेषं प्रकाशते ।
निर्विकल्पकवृत्तिश्च तत्राऽज्ञाननिवर्तिनी ॥ १ ॥ [९६]

"तत्त्वमसि" आदि वाक्यसे निर्विशेष ब्रह्म प्रकाशित होता है । अर्थात् उससे निर्विकल्पक वृत्ति होती है उससे अज्ञाननिवृत्ति होती है तो ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

निर्विशेषं तद् ब्रह्म यद्यपि स्वयंप्रकाशम् तथाप्यज्ञानावृतत्वान्न प्रकाशते । मेघावृत इव सूर्यः । तदुक्तं—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति । तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तु अज्ञानापसरणे पुनरितरानपेक्षमेव तत्प्रकाशते ।

ननु वाक्येन कथमज्ञाननिवृत्तिः कथं च ब्रह्मप्रकाशनमिति चेत् । शृणु । तत्त्वमस्यादिवाक्यजनितबोधात्मकनिर्विकल्पकवृत्त्याऽज्ञानापसरणमिति । तदप्युक्तं 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमि'त्यादि ॥ १ ॥

सप्रकारकमेवेष्टं ज्ञानमित्याह कश्चन ।
तन्न प्रकारभूतार्थज्ञानस्य प्रागपेक्षणात् ॥ २ ॥ [९७]

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान हमेशा सप्रकारक (सविशेष विषयक) ही होता है। यह इसलिए ठीक नहीं है कि प्रकारका ज्ञान पहले होना चाहिये तब विशिष्ट ज्ञान होगा। दण्ड पहले देखें तब कहेंगे यह दण्डी है ॥ २ ॥

ननु निर्विकल्पकं ज्ञानमप्रसिद्धम् । सर्वस्यापि ज्ञानस्य किंचित्प्रकारकत्वनियमात् । यस्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमिति व्यवहारः स प्रथमपिण्डग्रहणात्मकः । सोऽपि तत्तदाकारविशिष्टविषयक एव । आकारस्याकारिणस्तत्सम्बन्धस्य चेन्द्रियसंनिकृष्टत्वेन प्रथममेव ग्रहणे बाधकाभावात् । जातिक्रियादिविशेषविशिष्टद्वितीयादिपिण्डज्ञानं सविकल्पकमुच्यत इति चेन्न । तत्प्रकारकप्रत्यक्षं प्रति तद्विषयकज्ञानस्य कारणतायाः सुरभिचन्दनमित्यादौ दृष्टत्वेन प्रकारीभूतधर्मविषयकज्ञानस्य प्रथममावश्यकत्वात् । तत्र चायं घट इत्यादौ घटत्वादिप्रकारके ज्ञाने पूर्वं जायमानं घटत्वादिज्ञानं निर्विकल्पकमेव भवितुमर्हति । तत्र धर्मान्तराभावात् । तत्रापि प्रकारान्तरसत्त्वे तज्ज्ञानं घटत्वादिज्ञाने कारणमिति तदेव निर्विकल्पकमापतति । न च घटत्वादिकं न घटादतिरिक्तमिति न तन्निर्विकल्पोक्तिसंभव इति वाच्यम् । तर्हि निष्प्रकारकं घटज्ञानमेव निर्विकल्पकमिति कुतो निर्विकल्पकाऽसिद्धिः । न च घटत्वं घटरूपमेवेति घट एव विशेष्यतया प्रकारतया च भासत इति वाच्यम् । तथा सति घटवान् घट इति घटो घट इति वा ज्ञानाकारः स्यात् किंचिद्विशेषमन्तरा प्रकारविशेष्यभावायोगात् । यश्च विशेषः स्वीक्रियते प्रकारतया भासमानः स एव पूर्वं निर्विकल्पकविषयीभूतः स्यात् । न च सुरभिचन्दनमित्यादौ सौरभज्ञानस्य कारणत्वमस्तु न तु घट इत्यादौ घटत्वज्ञानस्य तथात्वमिति वाच्यम् । कार्यकारणभावद्वयस्वीकारे गौरवात् । देवदत्तत्वादिविस्मरणकाले पिण्डग्रहणे सत्यपि अयं देवदत्त इति

प्रत्यक्षानुदयात् तत्प्रकारकप्रत्यक्षे तद्विषयकज्ञानकारणताया आवश्यकत्वाच्च ॥ २ ॥

संसर्गिसाक्षात्कारश्च संसर्गाध्यक्ष्यकारणम् ।
संयोगीत्याद्यनाध्यक्ष्यात् सिद्धं तन्निर्विकल्पकम् ॥ ३ ॥ [९८]

सम्बन्धका प्रत्यक्ष तभी होता है जब उसके दो सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष पहले हो जाता है । सम्बन्धियों को देखे विना ही यह संयोग है इत्यादि प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः विशिष्टप्रत्यक्षसे पूर्व निर्विकल्पक मानना ही पड़ेगा ॥ ३ ॥

अपि च संसर्गसाक्षात्कारं प्रति संसर्गिसाक्षात्कारस्य कारणत्वमुपगन्तव्यम् । अन्यथा देवदत्तेन सह चक्षुःसंयोगे सति दण्डप्रत्यक्षविरहे केवलं संयोगी देवदत्त इति दण्डोल्लेखं विना केवलसंयोगप्रत्यक्षं स्यात् । न हि दण्डप्रतियोगिकसंयोगमादाय दण्डसाक्षात्कारविरहसमये संयोगी देवदत्त इति प्रत्यक्षं कस्याप्यानुभविकम् । न च तत्संयोगेन संनिकर्षो नास्तीति शक्यं वक्तम् । चक्षुःसंयुक्तदेवदत्ततादात्म्यादिलक्षणसंनिकर्षस्य विद्यमानत्वात् । एवं सति प्रथमपिण्डदर्शनकाले यस्य कस्यापि धर्मस्य वैशिष्ट्यं तत्र चेद् भासेत तत् प्रति संसर्गिद्वयसाक्षात्कारस्य पूर्वं वक्तव्यत्वे निर्विकल्पकमेव तद् बलादापद्यते । न च समकालिकतया संसर्गिद्वयसाक्षात्कारस्य हेतुत्वं शक्यं वक्तुम् । कारणस्य पूर्ववर्तित्वनियमात् । तच्च कारणं क्वचित्कार्यकालवर्त्येव भवतीत्यन्यदेतत् ॥ ३ ॥

विशिष्टं ज्ञायते तत्र किं विशेष्यं विशेषणम् ।
इति पृष्टे क्षणं निर्विकल्पकं ह्यनुभूयते ॥ ४ ॥ [९९]

प्रथम सामान्य आकारविशिष्ट वस्तु दीखती है । फिर सूक्ष्मनिरीक्षणसे गोत्वादिजातिरूपसे गोपिण्ड देखते हैं ऐसा पूर्वपक्षमत है । उसमें प्रथम जो आकारविशिष्ट वस्तुज्ञान हुआ उसमें विशेषण क्या है ? विशेष्य क्या है ? यह पूछनेपर केवल आकार और केवल वस्तुपर ध्यान जायेगा कि नहीं ? वही तो निर्विकल्पक है ॥ ४ ॥

विशिष्टं ज्ञायत इत्युक्तौ तत्र किं विशेष्यं किं च विशेषणमिति पृष्टः विशेष्यविशेषणविषयकनिर्विकल्पकमेव प्रतिपद्यते । न तु विशेषणे विशेषणान्तरं ज्ञायते । तथा सति तत्रापि विशेषणान्तरमित्यनवस्थापातात् । न ह्यनन्तविशेषणविशिष्टं कस्याप्यानुभविकम् ॥ ४ ॥

नित्यातीन्द्रियतां ये तु निर्विकल्पस्य मन्वते ।
एतेनैव निरस्तास्तेऽनुभूतेर्दर्शितत्वतः ॥ ५ ॥ [१००]

जो लोग निर्विकल्पकको अतीन्द्रिय मानते हैं उनके लिये यही समाधान है । क्षणभरके लिये विशेषण और विशेष्यपर ध्यान जाता ही है ॥ ५ ॥

तार्किकास्तु निर्विकल्पकज्ञानस्य नित्यातीन्द्रियतां मन्यन्ते । तदेतेन निरस्तम् । विशिष्टप्रत्यये किं विशेष्यं किं च विशेषणमिति पृष्टेन निर्विकल्पकघटघटत्वादिविषयोपस्थितेः । न हि तत्र किंचिद्धर्मविशिष्टं विशेषणादिकमुपतिष्ठते । तस्य विशेषणतया भानविरहात् ॥ ५ ॥

निर्विकल्पः कथं शाब्दः सोऽन्वयावगमात्मकः ।
मैवं तात्पर्यरहितो भासतामन्वयः कथम् ॥ ६ ॥ [१०१]

पूर्वपक्षः-किन्तु शाब्दबोधका दूसरा पर्याय अन्वयबोध है । अन्वयज्ञान विशिष्टविषयक ही होगा । उत्तरपक्षः-अन्वयमें जहां तात्पर्य नहीं है वहां अन्वयबोध नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यजनितनिर्विकल्पबोधः शाब्दज्ञानरूपः स्यात् । न हि शाब्दज्ञानं निर्विकल्पकं भवति । अन्वयबोधो हि शाब्दज्ञानम् । तदा संसर्गावगाहित्वेन निर्विकल्पकत्वभङ्गः स्यात् । मैवम् । संसर्गतात्पर्यविरहात् तात्पर्यरहितसंसर्गादेः शाब्दधीविषयत्वायोगात् ॥ ६ ।

सोऽयमित्यादिवाक्येषु निरस्यान्योन्यभिन्नताम् ।
अखण्डं बुध्यते तत्त्वमन्वयादिविवर्जितम् ॥ ७ ॥ [१०२]

हरिद्वारमें जिसको देखा था वही यह व्यक्ति है इस आशयसे 'सोऽयं' वाक्यप्रयोग किया । वहां वह अलग, यह अलग इस भेदबुद्धिके

निराकरणमें ही तात्पर्य है। न कि दोनों का आपसी सम्बन्ध बतानेमें। वहां सम्बन्धके विना भी शाब्दबोध देखनेमें आता है॥ ७।

नन्वन्वयरहितबोधस्य नैरर्थक्यमदृष्टचरत्वं चेति चेन्न। सोऽयमित्यादौ तस्य दृष्टत्वात्। तत्र कालभेदादिप्रयुक्तभ्रमविषयभेदवत्त्वे प्राप्ते सोऽयमिति वाक्यमन्योन्यभेदं निरस्याखण्डं तत्त्वं संसर्गत्वप्रकारत्वादिरहितं वाक्यतो बुध्यते॥ ७॥

भेदप्रसक्तिविरहात्तन्निषेधाऽप्रसङ्गतः।
घटो घट इति व्यर्थं वाक्यं नूनं न बोधकृत्॥ ८॥ [१०३]

पूर्वपक्षः—फिर 'घटो घटः' ऐसे वाक्यसे भी अखण्ड बोध होगा। उत्तरपक्षः—नहीं, घट घट है कि नहीं ऐसा संशय होता ही नहीं अतः वाक्य ही व्यर्थ है॥ ८॥

नन्वेवं घटो घट इत्यादितोऽप्यखण्डबोधः स्यात्। न चोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यान्न बोध इति वाच्यम्। सोऽयमित्यादावपि भागत्यागोत्तरमुद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यात्तत्रापि बोधाभावप्रसङ्गादिति चेन्न। न वयमुद्देश्यविधेयभावेनान्वयबोधं सोऽयमित्यादौ ब्रूमः। येन तदैक्येनान्वयानुपपत्तिः स्यात्। किन्त्वखण्डार्थबोधम्। तत्र नोद्देश्यविधेयभावः। न च वाक्यवैयर्थ्यम्। पूर्वदृष्टाद् भिन्नोऽयमिति भेदप्रसक्तिसत्त्वेन तत्प्रतिषेधार्थतया सार्थक्यात्। घटो घट इत्यत्र भेदप्रसक्तिर्नास्त्येवेति तादृशवाक्यवैयर्थ्यमेव। तथा च तत्राखण्डार्थतात्पर्यविरहादुद्देश्यतावच्छेदकविधेयैक्याच्छाब्दबोधो न भवति। सोऽयमित्यत्र तु सोऽयं नवा अयं स न वेत्युभयसंशयादिप्रतिबन्धदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकत्वं लाघवादखण्डबोधस्यैवाङ्गीकरणीयम्। अन्यथा वाक्यद्वैतकल्पनाप्रसङ्गेनातिगौरवापत्तेः॥ ८॥

निर्विकल्पकसमाधिसंस्फुरन्
किं नु षड्गुणविकल्पभाग् भवेत्।
उन्मिषेद् यदिह निर्विशेषस-
त्मन्महे मनसि तन्महन्महः॥ ११॥

निर्विकल्पक समाधिमें परमात्माका दर्शन सर्वसंमत है । क्या निर्विकल्पकमें भी विकल्प आयेगा ? यदि नहीं तो ऐश्वर्यादिगुणविकल्प उसमें क्यों भासने लगा ? उस समाधिमें जो निर्विशेष सद्रूपी महत् ज्योति प्रभासित होती है उसीका हम मनन चिन्तन करते हैं ॥ ११ ॥

इति निर्विशेषविषयकनिर्विकल्पकवादः

*****

(१२)

अथ सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षनिरूपणम्

तन्निर्विशेषं सन्मात्रं प्रत्यक्षेणानुभूयते ।
घटाद्यं कल्पितं तत्र घटोऽस्तीत्यादिधीपदम् ॥ १ ॥ [१०४]

प्रत्यक्षप्रमाण उस निर्विशेष सन्मात्रको ग्रहण करता है । घटोऽस्ति इत्यादिमें केवल अस्ति (सत्) का ग्रहण है । घटादि तो उसमें कल्पित है । उसका तो सद्भानके बाद अनुभानमात्र होता है ॥ १ ॥

यथोक्तं निर्विशेषसन्मात्रं प्रत्यक्षेण गृह्यते । घटः सन्, पटः सन्नित्यादौ प्रत्यक्षेण सदनुभवात् । न च तत्र घटाद्यनुविद्धमेव सन् प्रतीयते न तु सन्मात्रमिति वाच्यम् । घटादीनां कल्पितत्वेन प्रत्यक्षाभासमात्रत्वात् । तस्य सत्प्रत्यक्षानुभानमात्ररूपत्वात् ॥ १ ॥

यत्साक्षादपरोक्षात् सद् ब्रह्म सर्वान्तरं महत् ।
तमेव भान्तमनुभात्येतत् सर्वं यदीक्ष्यते ॥ २ ॥ [१०५]

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" इस श्रुतिमें ब्रह्मको ही अपरोक्ष बताया है । जो सर्वान्तर है । "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं" इस प्रकार जो दीखता है वह सब ब्रह्मभानके पीछे भासित होता है—ऐसा श्रुतिमें कहा है ॥ २ ॥

एतच्चाभिहितं श्रुत्या "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे"ति ब्रह्मण एव प्रत्यक्षत्वं "तमेव भान्तमनुभाति सर्वमि"ति जगतोऽनुभानमात्रत्वं च । अनुभानं नाम यथाऽनुमानं मानोत्तरमानं तथा भानोत्तरभानम् । तच्च मानादिव भानादपि

न्यूनमेव । रूप्यादेरधिष्ठानेदमर्थप्रकाशाधीनप्रकाशवद् ब्रह्मप्रकाशाधीन-भानत्वाज्जगतोऽनुभानम् ॥ २ ॥

सामान्यग्रहणादूर्ध्वं विशेषग्रहणं भवेत् ।
विशेषः स्वान्यभेदात्मा सापेक्षग्रहणो यतः ॥ ३ ॥ [१०६]

'सत्' सामान्य है । घटादि विशेष है । सामान्यज्ञानके बाद ही विशेष ग्रहण होगा । क्योंकि विशेष इतरव्यावर्तक होता है । स्वान्यभेदरूप है । वह सापेक्ष है । इतर समझमें आनेपर इतरभेदका ख्याल आयेगा । अतएव बादमें उसका ज्ञान होगा । जिसको अनुभान कहते हैं ॥ ३

सल्लक्षणसामान्यग्रहणोत्तरमेव घटादिविशेषग्रहणं भवति । विशेषो नाम स्वान्यभेदात्मकः । भेदश्च प्रतियोगिसापेक्षग्रहण इति स्वान्यग्रहण-सापेक्षः । तथाहि घटो नील इत्यत्र नीलपदं नीलेतरव्यावर्तनपुरःसरं नीलत्वं बोधयति । अन्यथा नीलपदप्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः । व्यावर्तकं विशेषणमिति प्रसिद्धेश्च । इतरव्यावृत्तिमकृत्वा नीलपदोच्चारणे घटो घट इतिवत्प्रयोग-नैरर्थक्यमेव स्यात् । तथा च नीलत्वमितरभेदगर्भमितीतरग्रहणसापेक्ष-ग्रहणम् । एवं सन् घटः पटः इत्यादावपि । न च भेदमनन्तर्भाव्य केवलं नीलत्वं गृह्यताम् । एवं सन् घट इत्यत्र घटत्वमिति वाच्यम् । अव्यावर्तने सामान्याधिकबोधानुपपत्तेः । तथा सति प्रथमं सामान्यमेव गृहीतं न तु विशेष इति घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः । न हि सामान्यविशेषयोरत्यन्त-भेदोऽस्ति । इतरव्यावृत्तिप्रयुक्तमेव विशेषत्वम् । तस्माद्युक्तमेवानुभानं विशेषस्य । एवं च सर्वस्यापि विशेषस्य परस्परसापेक्षत्वात् कल्पितत्वमेव सामान्ये ॥ ३ ॥

सापेक्षत्वेऽपि युगपद्धीरानुभविकीति चेत् ।
शतपत्रसूचिभेद-साहित्यमतिवद्धि सा ॥ ४ ॥ [१०७]

पूर्वपक्षः—भले सापेक्ष हो फिर भी एक ही क्षणमें सामान्यविशेष इतरभेदादि अनुभवमें आते हैं । उत्तरपक्षः—प्रतियोगिज्ञानके विना 'न' इस प्रकार अभावका ज्ञान नहीं होता । अतः प्रथम प्रतियोगिज्ञान, फिर भेदज्ञान यही क्रम मान्य होगा । एक ही क्षणमें सब हुआ यह एक

भ्रममात्र है। जैसे सौ कमलपत्रोंको रखकर जोरसे सूई मारी तो सौ पत्ते एक साथ विध गये ऐसा लगेगा। वस्तुतः वहां एक पत्तेके विधनेके बाद दूसरा विध गया। फिर तीसरा। यही क्रम है॥ ४॥

ननु सन् घट इति प्रत्यक्षकाले सत्ता घटः घटेतरः तद्भेदश्चेत्येते सर्वे युगपद् गृह्यन्त इति नानुभानवाचोयुक्तिः संगतेति चेन्न। भेदग्रहणस्य प्रतियोग्यनुयोगिसापेक्षत्वविरहे नेत्याकारकप्रत्यक्षप्रसङ्गात्। तस्माच्छतपत्र-सूचिभेदयौगपद्यप्रतीतिवद् भ्रम एव विशेषग्रहणयौगपद्यप्रतीतिरपि॥ ४॥

विशेषे भेदधीर्ज्ञाने भेदे ज्ञाते विशेषधीः।
अन्योन्याश्रयतैवं स्यात् स्यादेव पितृपुत्रवत्॥ ५॥ [१०८]

स्वान्यभेदमें स्व, विशेष हुआ। उसका ज्ञान होनेपर स्वभेदपूर्वक स्वान्य ज्ञात होगा। स्वान्य ज्ञात होगा तब स्वान्यभेदवान् स्व (विशेष) ज्ञान होगा। यह तो अन्योन्याश्रय हो गया। अवश्य। पितृज्ञानाधीन पुत्रज्ञान और पुत्रज्ञानाधीन पितृज्ञान होनेसे ऐसा अन्योन्याश्रय सह्य है॥ ५॥

ननु सन् घट इत्यादौ सामान्यात्मकं सदेव घटादिविशेष इतर-भेदापेक्षया भवति। इतरश्च घटादिस्तद्भेदापेक्षयेति। पटादिश्च विशेषो घटादिभेदापेक्षया भवति। एवं सति परस्पराश्रयता। न हि विशेषत्वेनानुपस्थिते तद्भेदः। न च भेदानुपस्थितो विशेष इति। सत्यम्। स्यादेवमन्योन्याश्रयता। यथा पितृत्वपुत्रत्वादौ। पितृत्वापेक्षं पुत्रत्वं पुत्रत्वापेक्षं च पितृत्वम्। न चेतरेतरापेक्षं न वस्तुतत्त्वं भवतीति वाच्यम्। अनिर्वचनीयवादिनां तस्येष्टत्वात्। भूषणमिदं मिथ्याभूतजगत इति॥ ५॥

स्वरूपतः स्वं विज्ञाय स्वान्यभेदोऽवबुध्यताम्।
स्वरूपं च विशेषः स्यान्नैवं नैवं सदेव तत्॥ ६॥ [१०९]

पूर्वपक्षः—प्रथम घटज्ञान सत् के साथ हो जायेगा। बादमें स्वान्यभेदरूपी विशेषत्वेन घटज्ञान होगा। अतः अन्योन्याश्रय भी नहीं अनुभानता भी नहीं। उत्तरपक्षः—नहीं। घट स्वरूपतः विशेषक नहीं

होगा । इतरभेद ज्ञात होनेसे पूर्व 'सत्' इतना ही ज्ञान होगा । सत् इतना ग्रहण घटग्रहण नहीं है ॥ ६ ॥

ननु विशेषत्वेन भेदकत्वेन ज्ञानं पश्चादास्तां, स्वरूपतो ज्ञानं घटादेः सद्ग्रहणकाले एव भवतीति नानुभानवाचोयुक्तिर्युक्ता, तदेव स्वरूपं विशेषः स्यात्पश्चाद्विशेषत्वेन ज्ञायतामिति चेन्न। विशेषत्वेन तद्ग्रहणकाले विशेषत्वेन त्वदभिमतः सदेव । न तु विशेषः । भेदकत्वाभावाद् भिन्नप्रत्ययाविषयत्वाच्च ।॥ ६ ॥

सद्योजातशिशूनां हि सन्मात्रग्रहणं भवेत् ।
चिराद्विशेषधीर्भेदे इति वैज्ञानिका जगुः ॥ ७ ॥ [११०]

नवजात शिशु आंख खोलता है तो उसको सन्मात्रका ग्रहण होता है । काफी समयके बाद आकारोंमें परस्पर भेद देखकर व्यावृत्त घटपटादि सत् का ग्रहण होता है यह बात आजके वैज्ञानिकोंने सिद्ध की है ॥ ७ ॥

आधुनिकवैज्ञानिका अपि सम्यक् परीक्ष्येदमेव निर्णिन्युर्यत् सद्योजात-शिशोः प्रथमं सन्मात्रग्रहणं भवति । चिरकालानन्तरं च भेदधीपूर्वक-विशेषज्ञानं भवति इदमस्ति तदस्तीति । तस्मात् प्रथमं सज्ज्ञानमेव भवति, पश्चादेव घटादिज्ञानम् ॥ ७ ॥

प्राचीनवासनोद्बोधाद् भेदान् सप्रतियोगिनः ।
ईक्षणात्कल्पयत्येष मृषाभूतानिति स्थितिः ॥ ८ ॥ [१११]

पूर्वपक्षः—केवल सत् ही शिशु भले देखे, किन्तु वस्तु तो भिन्न-भिन्न थी ही, केवल उसे ज्ञान नहीं हुआ । उत्तरपक्षः—(नहीं) प्राचीन (पूर्वजन्मीय) वासना उसकी (अदृष्ट से) उद्बुद्ध हो जाती है तब प्रतियोगी एवं भेदकी वह कल्पना करता है । अतएव विशेष प्रतियोगी आदि सभी मृषा है ॥ ८ ।

चिरात् तस्य शिशोः प्राचीनवासनोद्बोधो भवति । तदा घटपटादीन् पृथक्-पृथक् भेदसहितान् स्वीयसंकल्पात् कल्पयति । ते च सर्वे मृषाभूता एव । ननु पाकृस्थिता एव घटादयो भेदाश्च विशेषत्वभेदत्वादिनाऽज्ञाताः

पश्चात्तथा बालेन ज्ञायन्त इति चेन्न । अन्योन्याश्रयदोषदुष्टतायाः प्रथममेव निवेदितत्वेन कल्पनामात्रपर्यवसानात् ॥ ८ ॥

सदेवासीदिदं ह्यग्रे वासनातस्तदैक्षत ।
बहु स्यामित्यतः सृष्टिं श्रुतिरप्याह विस्फुटम् ॥ ९ ॥ [११२]

इसी बातको स्पष्टतया श्रुतिमें भी बताया । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तदैक्षत बहु स्यां" "स इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च" इत्यादि (अर्थ पूर्वोक्त ही) ॥ ९ ॥

श्रुतिरपीममेवार्थं समर्थयन्ती किलाह—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति" "तदैक्षत बहु स्यामिति" "तत्तेजोऽसृजत" "स इदं सर्वमसृजत यदिदं किं चे"त्याद्या ॥ ९ ॥

नैवानुवृत्तधीहेतोः सद्भेदः शक्यसाधनः ।
सत्त्वेन सा चेत् सद्ध्येतदनाकारं हि सत्पदम् ॥ १० ॥ [११३]

पूर्वपक्षः—घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादि प्रतीति में एक सत्में घटादि कल्पित नहीं है । प्रत्येक सत् अलग-अलग है । घट ही सत्, सत् ही घट । वैसे पट सत्, गृह सत् आदि है । उत्तरपक्षः—किन्तु घटः सन् पटः सन् इत्यादि सत् की अनुवृत्ति बुद्धिगोचर हो रही है । अतः सत् एक ही है । पूर्वपक्षः—अनुवृत्ति सत्त्वजातिको लेकर है । सत् अलग-अलग है । सत्त्व जाति एक है । जैसे गोव्यक्ति अलग-अलग है, गोत्व जाति एक है अतएव गौः गौः ऐसे प्रत्येक गौमें अनुवृत्ति प्रत्यय है । उत्तरपक्षः—ऐसा नहीं । आकृतिग्रहणा जातिः । आकृति एक होनेपर गोत्वादि जाति है । सत् तो सारी दुनियां है किन्तु समानाकारता सबमें कहां है ? सत्पदार्थ अनाकार है ॥ १० ॥

ननु घटः सन् पटः सन्नित्यादौ सत्पदार्था भिन्ना एव । ते च परस्परभिन्नघटादिरूपा एव । तथा च न सामान्ये सति विशेषा घटादयः कल्पिता इति चेन्न । तथा सति सत्सदित्यनुवृत्तप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् । न च तद्गतसत्त्वधर्मेणानुगतेनानुवृत्तप्रत्ययो भवतीति वाच्यम् । तदेव तर्हि

सत्पदार्थः । न हि सदित्युक्ते कश्चिदाकारविशेष उपतिष्ठते, येन तदतिरिक्तं सत्त्वं सिध्येत् ॥ १० ॥

सद्भिन्नं यदि सत्त्वं स्यादसदेव भवेद् ध्रुवम् ।
घटः सन्निति पर्यायः सच्च नानार्थको भवेत् ॥ ११ ॥ [११४]

और यह सत्त्व जाति सत् में रहनेवाली सत् से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि गौसे गोत्व जैसा भिन्न है वैसे सत् से सत्त्व भिन्न है तो सत् से भिन्न असत् माना जायेगा । यदि अभिन्न है तो सत् ही अनुवर्तमान सिद्ध हुआ । और घटः सन् यह सत् घटमात्र पर्याप्त है तो घट और सत् पर्यायवाची होगा । और सत्पद नानार्थक होगा । क्योंकि सत्पदका कभी घट अर्थ है, कभी पट अर्थ ॥ ११ ॥

यदि सद्गतं सत्त्वं सतो भिन्नं तदा तदसदित्युक्तं स्यात् । तस्मात् सदेव सत्त्वम् । तच्च यदि प्रतिव्यक्ति भिन्नं तदा घटः सन्निति पर्यायमात्रोक्तिः स्यात् । घटः सन् पटः सन्नित्यादौ प्रत्येकघटपटादिंः सत्पदार्थः इति नानार्थता सत्पदस्यापतति । न चैतत्सर्वमनुवृत्तप्रत्यये परिपन्थिनि सति संभवति ॥ ११ ॥

ये तु वैशेषिकाः सत्त्वजातिं काञ्चन मेनिरे ।
अस्ति जातिरभावोऽस्तीत्यादौ तेषां हि का गतिः ॥ १२ ॥ [११५]

जातिको पदार्थान्तर माननेंवालोंके लिये कोई रास्ता ही नहीं है । जो वैशेषिकादि सत्त्वको जाति मानते हैं उनको जातिरस्ति अभावोऽस्ति इत्यादि प्रयोग एवं प्रतीतिका उपपादन करना पड़ेगा । उस प्रतीतिसे जाति, अभाव आदिपर सत्त्व सिद्ध होता है । किन्तु वे जाति आदिपर जाति नहीं मानते ।" सामान्य परिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः" । ऐसा उनका कहना है ॥ १२ ॥

ये तु वैशिषिका घटेषु घटत्वमिव सत्सु सत्त्वजातिं मन्यन्ते तैः जातिरस्ति, जातिः सती, अभावोऽस्ति, अभावः सन्नित्यादौ गतिश्चिन्त्या । न च सामानाधिकरण्येन तत्र जातिप्रत्यय इति युक्तम् । घटोऽस्ति,

जातिरस्तीत्यादौ सम्बन्धभेदस्य प्रतीतिवैलक्षण्यस्य च केनचिदप्यननु-भवात् ॥ १२ ॥

अन्यप्रयोगवत् षष्ठीसामानाधिकरण्यतः ।
राहोर्मूर्धेतिवद् भाषाऽनभिधानं तथा क्वचित् ॥ १३ ॥ [११६]

पूर्वपक्षः—यदि सत् और सत्ता एक है तो घटकी सत्ता ऐसा षष्ठीप्रयोग क्यों होता है ? उत्तरपक्षः—आत्माका स्वरूप इस प्रयोगमें आत्मा और स्वरूप अलग है क्या ? राहुका सिर कहते हैं । यह भाषा का प्रयोगमात्र है । देवदत्तका शरीर ब्राह्मण है । इसी प्रकार देवदत्तका ब्राह्मण है ऐसा नहीं बोलते । वैसे घटका सत् यह भी नहीं बोलते ॥ १३ ॥

ननु सत्सत्त्वयोर्यद्यैक्यमेव तदा घटः सन्निति सामानाधिकरण्येन घटस्य सत्त्वमिति षष्ठ्या च कथं प्रयोग इति चेत् ? प्रत्ययसत्त्वासत्त्वनिबन्धन भाषामात्रमिदम् । कम्बुग्रीवादिमान् घटः कम्बुग्रीवादिमतो घटत्वमिति भावप्रत्ययसत्त्वासत्त्वाभ्यां षष्ठीसामानाधिकरण्यतः प्रयोगोऽन्यत्र भवतीतीहापि तथा । वस्तुतश्चाभेद एव । यथा राहोः शिरः आत्मनः स्वरूपमित्यादौ । घटस्य सत्त्वमित्यत्र तादात्म्यं प्रकारतया भासते । घटः सन्नित्यत्र संसर्गतयेत्येतावतैव प्रतीतिवैलक्षण्याग्रहिणोऽपि समाधातुं शक्याः । घटस्य सत् इति प्रयोगस्त्वनभिधानान्न भवति । यथा न्यायनये करोतियतत्योः समानार्थकत्वेऽपि घटं करोतीतिवद् घटं यतत इति न प्रयोगः । कुतः । अनभिधानादेव । अन्यथाऽभेदे षष्ठी राहोः शिर इत्यत्रास्तीति देवदत्तो ब्राह्मण इत्यर्थे ब्राह्मणस्य देवदत्त इत्यपि प्रयोगः स्यात् ॥ १३ ॥

तस्मात् सदेव सत्त्वं स्यादसत्त्वमसदेव च ।
नानुवर्ति घटो नास्ति पटो नास्तीतिवत्त्वसत् ॥ १४ ॥ [११७]

इसलिये सत् ही सत्त्व है । अलग धर्म नहीं है । वैसे असत्त्व भी असत् ही है । न कि शशविषाण कूर्मरोमादिमें अनुवर्तमान कोई धर्म । असतमें क्या धर्म होगा और स्वयं असत् हो तो धर्म क्या होगा ? जैसे घटो नास्ति, पटो नास्ति इस प्रकार नास्तिका अनुवर्तन देखकर उसे

अधिष्ठान नहीं मान सकते । क्योंकि नास्तिका असत् अर्थ है । वह अधिष्ठान क्या होगा ? अभावको पदार्थान्तर माननेवालों के मतमें भी अभाव अधिष्ठान नहीं है । क्यों कि अभाव को वना घट ही नहीं ऐसा नहीं होता ॥ १४ ॥

एवं च सदेव सत्त्वं न तु सतो धर्मविशेष इति स्थितम् । तथाऽसत्त्वमप्यसदेव । न तु असतो धर्मविशेषः । न ह्यसत्सु गगनकुसुमशशविषाणादिषु असत्त्वं नाम कश्चन भावात्मको धर्मः संभवति । असद्रूपत्वादेव नानुवर्तमानत्वमपि । घटः सन् पटः सन्नित्यादिप्रयोगान्तरसादृश्येनासत्त्वधर्मानुवृत्तिभ्रान्तिरेव । असत्त्वशब्दार्थस्य धर्मवदाभासमानत्वात् । यत्तु घटो नास्ति पटो नास्तीत्येवमनुवृत्तिप्रत्ययादसत्त्वमपि घटाद्यधिष्ठानं स्यादिति । तदसत् । असत्त्वस्यासद्रूपतयाऽधिष्ठानत्वायोगात् । नास्तीत्यस्यासत्त्वार्थत्वात् । अतिरिक्ताभावस्वीकारपक्षेऽपि सत्त्वं विना यथा घटादिर्न तिष्ठति तथाऽसत्त्वं विना घटाद्यनवस्थितिविरहान्नाधिष्ठानत्वमभावस्य ॥ १४ ॥

सत्त्वमात्राद् घटध्वंसे घटः सन्निति नैव धीः ।
घटाभावादन्यथा तु स्यान्नृशृङ्गं सदित्यपि ॥ १५ ॥ [११८]

पूर्वपक्षः—यदि घटपट आदि सबका अधिष्ठान सत् नित्य है तो घटके फूटनेपर भी घटः सन् होना चाहिये । क्योंकि सत्त्व नष्ट नहीं हुआ है । उत्तरपक्षः—सत्त्व नष्ट नहीं हुआ यह ठीक है किन्तु घट तो नष्ट हो गया । तब वह किसका अधिष्ठान हो ? घटके विना भी सत्वमात्रसे घटः सन् होने लगे तों नृशृंगके विना भी सत्त्वमात्रसे "नृशृंगं सत्" भी होने लगेगा ॥ १५ ॥

ननु सत्त्वं यदि एकं घटादेरधिष्ठानं च तदा घटादिध्वंसोत्तरमपि घटः सन्नित्याद्यनुगतप्रतीतिः स्यादिति चेन्न । घटध्वंसे सति घटविरहाद् घटः सन्निति प्रत्ययानुपपत्तेः । न हि सत्त्वमात्रं तादृशव्यवहारप्रयोजकम् । अन्यथा सत्त्वधर्मस्य सर्वमते विद्यमानत्वान्नरविषाणं सदित्यपि प्रतीतिः प्रामाणिकी स्यात् ॥ १५ ॥

घटनाशो मृदात्मा चेन्मृदस्तीत्यस्ति धीर्मृदि ।
इति तत्रानुवृत्तं नः सत्त्वं तत् क्वापि न क्षतिः ॥ १६ ॥ [११९]

पूर्वपक्षः—घट नष्ट हुआ तो नृश्रृंग के समान असत् थोडा ही हुआ है। घट मृद्रूप होकर रहेगा। तब घट भी है सत् भी है घटः सन् क्यों नहीं होता ? उत्तरपक्षः—घट मृद्रूप हो गया तो मृदस्ति, मृत् सती ऐसी प्रतीति तो होती ही है। वहां मृदात्मक घटमें सत्त्वकी अनुवृत्ति है। अतः कोई दोष नहीं है॥ १६॥

ननु न घटनाशोऽसद्रूपः। न वाऽभावरूपः। किन्तु मृद्रूप इति सत्त्वानुवृत्तिर्घटे स्यादिति चेत्। सत्यम्। मृद्रूपत्वे मृदस्तीत्येवं तत्र सत्त्वानुवृत्तिरप्यस्तीति का नो हानिः। तस्मादनुवर्तमानं सद् घटादि-विशेषाणामधिष्ठानमेवेति सिद्धम्॥ १६॥

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
इत्युक्तं सति सर्वेषां कल्पितत्वं मधुद्विषा॥ १७॥ [१२०]

इस अनुवर्तमान सत् को ही लेकर गीतामें "मयि सर्वमिदं प्रोतं" बताया। जैसे अनुवर्तमान सूत्रमें व्यावर्तमान मणिगण प्रोत है वैसे अनुवर्तमान सत् रूपी मुझमें व्यावर्तमान जगत् प्रोत है। अनुवर्तमानसे व्यावर्तमान भिन्न होता है। अतएव सतसे भिन्न होनेके कारण जगत् असत् है। कल्पित है॥ १७॥

एतदेव भगवताप्युक्तं गीतायां "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवे"ति। न चान्तर्यामितया सूत्रस्थानीये मयि सर्वमिदमनुस्यूतमिति तदर्थ इति वाच्यम्। कया प्रतीत्या तदिदं विषयीक्रियत इति वक्तव्यम्। न च घटोऽन्तर्यामी पटोऽन्तर्यामीत्यादिप्रतितिः कस्यचिद् भवति। न च भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरित्यादिरूपा प्रतितिः सेति वाच्यम्। एवंविधप्रतितेरपि लोकानां विरहात्। न चात एवौपनिषदत्वमुच्यत इति वाच्यम्। स खलु चतुर्भुजोऽनन्तनागशायी विष्णुर्वैकुण्ठे वर्तते। न तु घटपटादौ। अत्र वर्तमानस्तु सन् घटः सन् पट इत्यादिप्रतीतिसिद्धसत्त्वरूप एव। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वमि"त्यनेनैकवाक्यत्वात्। औपनिषदत्वं तु व्याख्यातम्। तस्मान्मरणोत्तरमात्रसाक्षात्करणीयवैकुण्ठादिवर्तिनारायणं प्रतिपाद्य लोकान् मरणाय प्रेरयन्तो वाऽदृष्टफलमात्रावलम्बनेन स्वीयमौढ्यमाच्छाद्य जनान् वञ्चयन्तो वा हेडनीया एते बुधैः॥ १७॥

सतीदं कल्पितं सर्वं तत्सद्भानानुभासितम् ।
तस्मादद्वैतसन्मात्रं प्रत्यक्षमिति सिध्यति ॥ १८ ॥ [१२१]

निष्कर्ष यही है कि सत् में समस्त जगत् कल्पित है । सत्का ही प्रत्यक्ष होता है। सर्प जैसे रज्जुभानके अनुभात है वैसे जगत् सद्भानके अनुभात है । अतः प्रत्यक्ष सन्मात्रग्राही है ॥ १८ ॥

तस्मिन्नधिष्ठानभूते सति कल्पितमिदं विश्वं न सतोऽतिरिक्तम् ! तदपि सद्भानानुभासितम् । ततश्चाद्वैतसन्मात्रमेव प्रत्यक्षमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वादनुभानं निरस्यता ।
तमेव भान्तमनुभात्येषा नैवेक्षिता श्रुतिः ॥ १९ ॥ [१२२]

प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध होनेके कारण पूर्वोक्त अनुमान गलत है ऐसा जो बोलते हैं, लगता है उन लोगोंने "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं" इस श्रुतिको नहीं देखा है ॥ १९ ॥

सत एव प्रत्यक्षं घटादेरनुभानमात्रमित्यादिकं प्रत्यक्षादिसकलप्रमाण-विरुद्धत्वादसंगतमित्येवमद्वैतमतं निरस्यता नूनं "तमेव भान्तमनुभाति सर्व"-मिति श्रुतिर्नावलोकिता । अवलोकनेऽपि कुसृष्टितोऽन्यार्थकरणं कथं स्यादित्येव चिन्तितं, न तु वास्तविकं श्रुतितात्पर्यमालोचितम् ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षस्यैव ये त्वाहुः प्राबल्यं श्रुत्यपेक्षया ।
ते त्वग्रे निरसिष्यन्ते नास्तिका वेदनिन्दकाः ॥ २० ॥ [१२३]

जो लोग श्रुतिकी अपेक्षा प्रत्यक्षको प्रबल मानते हैं, प्रत्यक्षसे श्रुत्यर्थबाध स्वीकार करते हैं उनका जबर्दस्त निराकरण आगे होगा जो वेदनिन्दक होनेसे "नास्तिको वेदनिन्दकः" इस मनुस्मृतिके अनुसार नास्तिक हैं ॥ २० ॥

ये पुनराहुः प्रत्यक्षप्रमाणस्य शास्त्रस्य च विरोधे प्रत्यक्षस्यैघ प्राबल्यम् "आदित्यो यूप" इत्यादौ तथा दर्शनादिति, तेषां निराकरणमग्रे भविष्यति । वेदनिन्दका एते नास्तिका एव वेदन्यक्करणादित्यसंभाष्या एव ॥ २० ॥

व्यावर्तन्ते सति ह्यर्थाः सर्पमालादिवद् गुणे ।
स्युर्व्यावहारिका आद्याः सर्पाद्याः प्रातिभासिकाः ॥ २१ ॥ [१२४]

न पारमार्थिकोऽपेक्ष्यः स इति ज्ञातुमक्षमम् ।
तृतीयप्रकृतिं को वा तत्त्वं बोधयितुं प्रभुः ॥ २२ ॥ [१२५]

अनुवर्तमान सत् ही परमार्थ है । उसीका प्रत्यक्ष होता है । घटपटादि सभी व्यावर्तमान है, अपरमार्थ है, अतएव अनुभासमान है । जैसे रज्जु अनुवर्तमान है उसमें सर्प, माला, जलधारा आदि कल्पितार्थ व्यावर्तमान है, अतएव अपरमार्थ है । रज्जुके भानके पीछे अनुभासमान है । सत् घटादि एवं रज्जुसर्पादिमें इतना ही फरक है कि सत् घटादि व्यावहारिक है, रज्जुसर्पादि प्रातिभासिक है । पारमार्थिक भेद कहीं भी अपेक्षित नहीं है । इस बातको विवेक करनेमें असमर्थ तृतीय प्रकृतिके लोगों को कौन समझा सकता है ? ॥ २१-२२ ॥

वस्तुतश्च सन् घट सन् पट इत्येवमनुवर्तमाने सति घटादयो व्यावर्तमाना अयं सर्पः, इयं माला, इयं जलधारेत्येवमिदन्त्वेनानुवर्तमानायां रज्जौ व्यावर्तमानाः सर्पमालादय इव कल्पिताः । तत्र प्रथमे व्यावहारिका भेदाः द्वितीये प्रातिभासिकाः । पारमार्थिकभेदस्तु व्यवहारे प्रतिभासे वा नापेक्ष्यत इतीदं तत्त्वमसकृदावेद्यमानमप्यप्रबुध्यन्तः षण्ढाः केन वा बोधयितुं शक्येरन् दुराग्रहमात्रस्थिताः । एतेन भेदापह्नवलोभेन भेदं विधिनिषेधयोः स्वयं समर्थयन् मूर्खः स्ववाग्वज्रेणं खण्डित इति वदतः स्वाप्नविजयोऽपि परास्तः ॥ २१-२२ ॥

घटादिरस्तीत्यनुगच्छदस्ति सद्
घटादिहाने सति निर्विशेषणम् ।
भुजङ्गमालादिषु रज्जुवल्लसत् ।
तदेव साक्षादपरोक्षमाश्रये ॥ १२ ॥

घटोऽस्ति पटोऽस्ति इस प्रकार अनुवर्तमान अस्ति पदार्थ सत् तत्व घटादिके छोड़नेपर निर्विशेषण होकर शुद्धरूप भासित होगा जैसे सर्प, माला आदिमें रज्जु । वही सत् साक्षात् अपरोक्ष है । क्योंकि श्रुति. वैसा प्रतिपादन करती है । उसी सत्तत्त्वको मैं अवलम्बन करता हूँ ॥ १२ ॥

इति सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षनिरूपणम् ।

*****

अथ भेदनिरासः

अनिर्वाच्येन भेदेन प्रत्ययव्यवहारयोः ।
संभवान्न सुसंसाधो भेदोऽयं पारमार्थिकः ॥ १ ॥ [१२६]

अनिर्वचनीय अत एव मृषारूपी व्यावहारिक भेदसे ही भेदप्रतीति तथा भेदव्यवहारकी उपपत्ति होनेसे पारमार्थिक भेद उक्त प्रतीति और व्यवहारसे सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥

ननु कथं पारमार्थिको भेदो नास्तीति भण्यते । तदभावे स्ववचन-विरोधबाधापसिद्धान्तादिप्रसङ्गात् । भेदप्रतितेः सार्वलौकिकत्वात्तत्कारण-स्यापह्नोतुमशक्यत्वादिति चेन्न । अनिर्वचनीयेनाऽऽविद्यिकेन भेदेन प्रत्यय-व्यवहारयोः संभवात् पारमार्थिकभेदासिद्धेः ॥ १ ॥

भेदबुद्ध्यादिहेतुत्वरूपेणास्य निरूपणम् ।
आत्माश्रयादसत्तत्र भेदस्य घटकत्वतः ॥ २ ॥ [१२७]

भेदबुद्धिकारणत्वं इस प्रकार निर्वचन संभव नहीं है । क्योंकि उसमें भेद घटक होनेसे आत्माश्रय दोष है । बुद्धिकारणत्वं यह लक्षण अभेदमें भी जायेगा ॥ २ ॥

ननु भेदबुद्धिकारणत्वमित्येव तस्य निर्वचनमिति चेन्न । तत्र भेदस्य घटकतया प्रविष्टत्वेनात्माश्रयात् । न हि भेदशब्दमात्रं लक्षणे प्रविष्टम् । तथा सत्यव्याप्त्यादिदोषप्रसङ्गात् । किन्तु भेदरूपोऽर्थ एव प्रवेशयितव्यः । तथा च तज्ज्ञानं विना लक्षणार्थज्ञानायोगादात्माश्रयतैव ॥ २ ॥

न तत्प्रत्ययमात्रेण शक्यः साधयितुं च सः ।
खनीलिम्नोऽपि दृष्टत्वात्प्रत्ययव्यवहारयोः ॥ ३ ॥ [१२८]

दूसरी बात भेदबुद्धि होने मात्रसे उसके कारणके रूपमें भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता । आकाशकी नीलिमाकी प्रतीति और व्यवहार दोनों होते हैं तो क्या आकाशनीलिमा सिद्ध हो जायेगी ? ॥ ३ ॥

न च भिन्न इत्याकारकप्रत्ययव्यवहारविषयत्वेन भेदः साधनीय इति वाच्यम् । तत्राप्यर्थस्य प्रवेष्टव्यत्वात् । तादृशव्यवहारादिमात्रस्य वस्त्वसाधकत्वात् । आकाशस्य नीलिमा इत्येवं सर्वे प्रतियन्ति व्यवहरन्ति च । न चैतावता गगननीलिमा पारमार्थिकः सिद्ध्यति ॥ ३ ॥

मायिकत्वेऽपि दृश्यानां सत्तां प्रत्यक्षतः स्थिताम् ।
स्वीकृत्याप्युच्यतेऽद्वैतं भेदाऽसिद्ध्यापि सिध्यति ॥ ४ ॥ [१२९]

यद्यपि दृश्यपदार्थ मायिक होनेसे अद्वैत निश्चित है तथापि प्रत्यक्षसे दीखनेवाली घटादिसत्ताको मानकर भी हम यह कहते हैं कि भेद सिद्ध न होनेसे अद्वैत सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

यद्यपि घटपटादिलक्षणानां सर्वेषां वस्तूनामाविद्यिकत्वादेव द्वैतवत्ता न प्राप्नोति । तथापि प्रत्यक्षतो घटपटादीनां स्वरूपस्य दृश्यमानत्वात्तदीयसत्तामभ्युपगम्य कृत्वा चिन्तेयं प्रवर्त्यते । भवतु नाम तेषां सत्त्वं, तथापि तेषां परस्परभेदासिद्धेरद्वैतं सुस्थितं भवतीति ॥ ४ ॥

भेदे भेदान्तरं चेत्स्यादनवस्था सुदुस्तरा ।
नो चेद् विनैव तं सर्वभेदव्यवहृतिर्भवेत् ॥ ५ ॥ [१३०]

घटभेद पटमें है । वह बीचका भेद और पट एक ही है या अलग ? भेद अभावपदार्थ है और पट भावपदार्थ है अतः दोनों भिन्न हैं कहें तो भेदका भेद पटमें आया । वह द्वितीय भेद पट नहीं है तो एक तृतीय भेद और रखो । इस प्रकार अनवस्था निश्चित है । यदि भेदका भेद पटमें नहीं है फिर भी पृथक्त्वव्यवहार होता है तो प्रथम भेदके विना भी पृथक्त्वव्यवहार कर लो ॥ ५ ॥

तथाहि घटादिभेदः पटादौ, पटादिस्वरूपं वा पटादिधर्मविशेषो वा । नाद्यः । घटभेदो दण्डेऽपि पटस्वरूपं तर्हि स्यादित्यद्वैतं स्यात् । अनन्ततत्स्वरूपत्वे दुर्ज्ञानत्वाद् व्यवहारभङ्गः स्यात् । यद्यतिरिक्तो धर्मविशेषस्तदा ततोऽपि भेदः पटे वक्तव्यः, भेदस्याभावात्मकस्य द्रव्यत्वानुपपत्तेः यदि स भेदोऽपि पृथगस्ति तदा तस्मादपि भेदः पटे इत्यनवस्था । भेदान्तरं विनैव भेदपटयोर्यदि भेदव्यवहारस्तदा तथैव भेदं विनैव घटपटयोरपि भिन्नत्वव्यवहारोऽस्त्वित्यद्वैतसिद्धिः ॥ ५ ॥

अनिर्वाच्यस्य भेदस्य स्वीकाराच्च न नः क्षतिः ।
युष्मदस्मत्प्रत्ययेति भाष्यं तेनैव संगतम् ॥ ६ ॥ [१३१]

वस्तुतः हम अनिर्वचनीय भेद मानते हैं जिससे व्यवहार होता है । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः इत्यादि भाष्य भी उसी अनिर्वचनीय किन्तु व्यावहारिक भेदको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है ॥ ६ ॥

ननु पटादौ घटभेदः स्वरूपं वा धर्मो वेति विकल्पयता स्वरूपधर्मयोर्भेदोऽवगतो न वा ? यद्यवगतस्तदा भेदसिद्धिः । यद्यनवगतस्तदा विकल्पनुपपत्तिरिति चेन्न । तदवगमेऽनवस्थोक्तेरनवगतभेदेनैव घटभेदपटयोर्भेदव्यवहार इत्यायातेऽनवगतभेदेन मयापि व्यवहारः कृतः इत्युत्तरे किं तव वक्तव्यम् । अपि चोक्तविकल्पं शृण्वतां मध्यस्थानां शाब्दबोधोत्पत्तेः पृष्टार्थस्योत्तरं त्वया दातव्यमन्यथाऽननुभाषणरूपनिग्रहापत्तिः । त्वयानवगमे चाज्ञाननिग्रहापत्तिः । एतेन 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोरि'-त्यादि भेदनिबन्धनभाषणमपि व्याख्यातम् । वस्तुतस्त्वाविद्यिकस्य व्यावहारिकस्य भेदस्याभ्युपगमात्सर्वव्यवहारप्रत्ययोपपत्तिरित्यन्यत्र स्थितं विस्मृत्यैव मध्ये-मध्ये एवंविधप्रश्नमुत्थापयति मन्दमतिः कुमतिः । एतेन भेदाभावः साध्यमानो भेदादभिन्नो न वा । यदि भिन्नस्तदा भेदसिद्धिः । यद्यभिन्नस्तदा भेद एव तिष्ठतीति सिद्ध्यसिद्धिभ्यां भेदसिद्धिरित्यपि परास्तम् । आविद्यिकत्वादनिर्वाच्यभेदादिविषये निर्वचनाय नोदनमप्यसंगतम् । त्वया च पारमार्थिकः स्वीक्रियत इति त्वयैव सर्वं निर्वाच्यं न तु मया ॥ ६ ॥

यत्त्वभेदः स्वरूपं वा धर्मो वेति विकल्पनम् ।
निर्वक्तव्यं त्वयैवात्र न त्वनिर्वाच्यवादिना ॥ ७ ॥ [१३२]

पूर्वपक्षः—घटपटादि सबका अभेद है कहनेवालोंको यह बताना चाहिये कि यह अभेद स्वरूप है या धर्म ? स्वरूप हो तो कहीं भी अभेदभ्रम नहीं होगा । धर्म है तो भेदसिद्धि हो जायेगी । उत्तरपक्षः—निर्वचनका ठेका

आपने लिया है । हम व्यवहारानुसार सब मानते हैं । अभेद भी अनिर्वचनीय है ॥ ७ ॥

यत्तु कश्चिदाह अयमभेदः स्वरूपं वा धर्मो वा प्रथमे भेदभ्रमः क्वचिदपि न स्यात् । धर्मश्चेत् सिद्धो भेद इति । तत्र ब्रूमः । अस्य समाधानं भेदानवस्थां परिहृत्य त्वयैव वक्तव्यं निर्वचनगर्वधारिणा । न तु मयाऽनिर्वचनीयवादिना ॥ ७ ॥

भेदं तु प्रतिषेधामो न त्वभेदं विदध्महे ।
न भेदं नाप्यभेदं हि प्रब्रूमः पारमार्थिकम् ॥ ८ ॥ [१३३]

हम केवल भेदका प्रतिषेध करते हैं । न कि अभेदका विधान । हम भेद या अभेद दोनों को पारमार्थिक नहीं मानते ॥ ८ ॥

भेदं केवलं प्रतिषेधामो वयम् । न पुनरभेदं विदध्मः । न च भेदमभेदं वा पारमार्थिकमाचक्ष्महे । किन्तु नेति नेतीति सकलद्वैतप्रतिषेधेन स्वस्वरूपे तिष्ठामः । एतदुत्तरं वक्तुमशक्नुवन् द्वैतवादी परं देवानां प्रियादि-शब्दैराक्रोशति चेदाक्रोशतु । ये केचनात्र दोषा दृश्यन्ते ते सर्वे स्वशिरसि स्वोपानत्प्रहारमात्रम् । अस्माभिर्वक्तव्यत्वाभावात् । व्यवहारमात्राय तु वयं सर्वं ब्रूमः । व्यवहारे तु न स्वरूपधर्मादिचिन्ता । तां विनैव हालिकैरपि व्यवहारात् । तथा चोक्तम् ॥ ८ ॥

अनिर्वाच्यमभेदं च भेदवन्मन्महे वयम् ।
सैद्धान्तिकानां यत्नेन निरुक्तिर्लोकतुष्टये ॥ १३४ ॥

तदुक्तं—
अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा ।
तत्तानि कस्मान्न यथाभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वमिति ॥

एवं चाभेद इति कश्चिद् ब्रूयात्तदा तत्खण्डनमपि शक्यमेव कर्तुम् । न ह्यस्माकं भेदसाधने वाऽभेदसाधने वाऽभिनिवेशः । उभयथापि द्वैत-प्रसक्तेः । अनन्तपुरुषायुषेणापि भेदादिनिर्वचनस्य केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । प्रपञ्चितमिदमन्यत्रेति विरमामः ॥

व्यावहारिकभिदां समुपेत्य
प्रत्ययव्यवहृती गमयन्तः ।
तां विधूय परमार्थतया स्वे
शेमहे ससुखमद्वयतत्त्वे ॥ १३ ॥

व्यावहारिकभेद को लेकर प्रतीति और व्यवहृतिका उपपादन करते हुए अन्तमें पारमार्थिकरूपसे उस भेदका भी निषेधकर अद्वैततत्त्वमें हम आनन्दसे शयन करते हैं ॥ १३ ॥

इति भेदनिरासः

*****

(१४)

अथ वेदप्रामाण्यपरिग्रहोपपत्तिः

नैवेन्द्रियमनांस्यस्मिन् प्रविशत्यद्वये पदे ।
अवेदविन्न मनुते तं वृहन्तमिति श्रुतेः ॥ १ ॥ [१३५]

इस अद्वयतत्त्वमें इन्द्रिय तथा मनका प्रवेश नहीं है । केवल वेदसे ही उसका ज्ञान होता है । "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" ऐसी श्रुति है—वेदको न जाननेवाला उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मको नहीं जान सकता ॥ १ ॥

यद्यपि प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहीत्युक्तं प्राक् । तथाऽपि नेन्द्रियादिविषयत्वेन प्रत्यक्षत्वम् । "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः" इति श्रुतेः । किन्तु स्वयंप्रकाशत्वात् साक्षादपरोक्षत्वाच्च । चक्षुरादिजनितवृत्त्या घटाद्याकाराविद्यापनये सति प्रथमं घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यं प्रत्यक्षतया प्रकाशते तदनन्तरमवच्छेदकतया स्थितं घटादिकमपि प्रकाशत इति तत्र रहस्यम् । यद्यपि आवरणापनये चैतन्यप्रकाशे तदैव घटादिप्रकाशोऽपि भवतीति न तत्र क्षणव्यवधानमस्त्यावश्यकं वा । तथापि स्वप्रकाशचैतन्यप्रकाश-प्रयुक्तप्रकाश एव घटादिप्रकाश इति तदनुभानमित्युच्यते । प्रतिबिम्बस्य बिम्बभानानुभानवत् । इत्थमेव मनः प्रयुक्तमपि न प्रत्यक्षत्वम् । मनसा हि सुखादिसाक्षात्कारोपगमे तत्राप्यावरणाद्यपसारणादिकस्य समानत्वात् । योगिनो योगजमानसप्रत्यक्षं वोदाहरणम् ।

नन्वेनं शब्दप्रमाणेऽपि तुल्यम् । शब्दजनितवृत्त्याऽऽवरणभङ्गमात्र-स्वीकारादिति चेत् सत्यम् । अयमत्र विशेषः । इन्द्रियकरणेन मनःकरणेन

च जायमाना वृत्तिर्घटाद्यवच्छिन्नचैतन्याकारा भवतीति नाखण्डाकारा। तत्त्वमस्यादिवाक्यजनितवृत्तिस्त्वखण्डाकारा भवतीति। तथा च श्रुतिः— "नावेद विन्मनुते तं बृहन्तमि"ति वेदाजनिता मानसवृत्तिर्न बृहद्विषयाऽखण्डविषयेति तदर्थः। न च ध्यानादिनाखण्डाकारवृत्तिसंपादनं संभवतीति वाच्यम्। ध्यानादीनां प्रमाणत्वविरहाज्ज्ञानात्मकाखण्डाकारावृत्तिजनकत्वविरहात्॥ १॥

ऋगादिभिरवच्छिन्नं चैतन्यं वेदशब्दितम्।
तदुद्भवं हि विज्ञानं ब्रह्म बोधयितुं क्षमम्॥ २॥ [१३६]

ऋगादिमन्त्रावच्छिन्नचैतन्य ही वेद है। उससे उत्पन्न विज्ञान ही ब्रह्मको बोधित करनेमें समर्थ है। अस्मद्वाक्यावच्छिन्न चैतन्य और वेदवाक्यावच्छिन्न चैतन्यमें वैसा ही फरक है जैसे घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें। प्रतिबिम्ब पक्षमें भेद स्पष्टतर होता है॥ २॥

ननु कुतो वेदस्य महिमा येन वेदेनैव ब्रह्मबोधो भवतीति। उच्यते। ईश्वरो मायावच्छिन्नचैतन्यम्। वेदा ऋगाद्यवच्छिन्नचैतन्यम्। नन्वेवमस्मदादिवाक्यानामपि तत्तदवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वादीश्वरतुल्यत्वमेव, यदि च ऋगादिशब्देष्वेव कश्चन विशेष इति तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैव महीयस्त्वं नास्मदादिवाक्यावच्छिन्नस्य, तदा ऋगादावेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वसिद्धेस्तदवच्छिन्नचैतन्यपर्यन्तानुधावनवैयर्थ्यापत्तेरिति चेन्न। एवं पुनः मायावच्छिन्नचैतन्यस्य जगत्कारणत्वमपि भज्येत। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मायाया एव कारणत्वापत्तेः। अथ जडायास्तस्या न जगत्कारणत्वमित्युच्यते तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न हि लौकिकवाक्येष्वेवं संभवति। सामान्यज्ञानकारणमात्रत्वात्। वेदस्तु संसारनिरोधकविलक्षणविज्ञानहेतुत्त्वात्तदवच्छिन्नचैतन्यमेव। अत एव वेदं शब्दब्रह्मेति व्यवहरन्ति। शब्दानामापाततः समानत्वेऽपि वेदेषु सविशेषत्वमनादिस्वभावसिद्धम्। कथमन्यथा वेदपुण्यं मन्यन्ते न त्वस्मदादिवाक्यपुण्यम्॥ २॥

ब्रह्मेतरमृषात्वात्ते श्रुतिः स्यात् बौद्धगीःसमा।
तत्किं गुणाऽहितुल्या ते बौद्धगीः कर्णगोचरा ?॥ ३॥ [१३७]

पूर्वपक्षः—अद्वैतमतमें ब्रह्मसे भिन्न सभी मिथ्या है तो वेद भी मिथ्या होनेसे बौद्धवचनके समान अप्रमाण होंगे। उत्तरपक्षः—और आपके मतमें कानमें आया बौद्धवचन रज्जुसर्पसदृश मिथ्या है क्या ? बादमें यह शब्द नहीं था, रस्सी थी ऐसा बाध होता है क्या ? स्वरूपतः आयके मतमें भी बौद्धवचन सत्य है तो क्या वह प्रमाण है ? अर्थतः सत्य है या मिथ्या है यह विचार करो। वेद अर्थतः सत्य है। बौद्धवचन अर्थतः मिथ्या है यही सबको कहना होगा ॥ ३ ॥

अत्राहुर्भेदिनः—ब्रह्मेतरस्य सर्वस्य तव मिथ्यात्वाद्वेदानामपि तथात्वाद् मिथ्यावेदेन सत्यज्ञानायोगाद् अन्यथा बौद्धादिशास्त्रैरपि सत्यार्थज्ञानापत्तेर्न वैदिकत्वं सत्यस्य ब्रह्मणः सिध्येदिति। अत्रोच्यते। किं भवन्मते बौद्धशास्त्रं रज्जुसर्पवन्मिथ्या भवति ? यादृशं स्वरूपसत्यत्वं वेदानां त्वन्मते तादृशमेव स्वरूपसत्यत्वं बौद्धशास्त्रस्यापि त्वयैवाङ्गीक्रियते, जगतः सत्यत्वात्। न हि बौद्धशास्त्रं रज्जुसर्पवन्नासीदस्ति भविष्यतीति त्रिकालाबाध्यं तव मते। तथा सति तत्खण्डनप्रयासवैयर्थ्यापातात्। यदि च बौद्धशास्त्रं स्वरूपतः सत्यमसत्यं वा, अर्थतस्त्वनृतमेवेति विभाव्यते तदा वेदानां स्वरूपतः सत्यत्वमसत्यत्वं वाऽर्थतस्तु सत्यत्वमेवेति कथं बौद्धशास्त्रतुल्यत्वं वेदानाम् ?

यदप्यत्र स्वीयपाण्डित्यप्रदर्शनेन जनवञ्चनाय विकल्प्य दूषितम्-शब्दस्वरूपसत्यत्वाद्वा, परमार्थप्रामाण्याश्रयत्वाद्वा, प्रमातृत्वसत्यत्वाद्वा, सत्य-प्रमितिहेतुत्वाद्वा, नित्यत्वाद्वा, निर्दोषत्वाद्वा, व्यवहारसंवादित्वाद्वा, महाजन-परिग्रहाद्वा, वेदत्वाद्वा, अविद्योत्थाभिमानशून्यत्वाद्वा स्वतःसिद्धविशेषाद्वा वेदानां वैशेष्यं न संभवति। सर्वेषामपि प्रायो बौद्धशास्त्रेषु तुल्यतया बौद्धैः स्वीकारादिति। तत्तुच्छम्। त्वन्मतेऽपि तुल्यत्वात्। वेदत्वाद्वा इति कल्पं परित्यज्य सर्वेषां कल्पानां वैभाषिकादिभिः स्वशास्त्रेषु स्वीकारात्। अयं सर्प इति शब्दस्वरूपसत्यत्वेऽपि रज्जौ प्रतीयमानसर्पबोधकवाक्यस्य न महीयस्त्वमित्येवं प्रत्येकविवरणादिकं त्वन्मतेऽपि समानत्वाद् व्यर्थप्रयास-मात्रं तदुपेक्ष्यते ॥ ३ ॥

सत्यत्वेऽपि च बौद्धोक्तिरर्थसत्यं न बोधयेत् ।
स्वाप्नोपदेशो मिथ्यात्वेऽप्यर्थसत्यं प्रबोधयेत् ॥ ४ ॥ [१३८]

स्वरूपतः सत्यरूपापि बौद्धोक्तिर्न सत्यमर्थं गमयति । ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्त इत्येवं स्वप्नकाले यो गुरूपदेशस्तस्य स्वरूपतो मिथ्यात्वेऽपि सत्यमर्थं गमयत्येव । तस्माच्छब्दानां स्वरूपतः सत्यत्वादिचिन्तन-मनुपयुक्तमेव ॥ ४ ॥

बौद्धवचन स्वरूपतः सत्य होने पर भी सत्य अर्थका बोध नहीं कराता । स्वप्नमें कभी-कभी प्राप्त होने वाला उपदेश स्वरूपतः मिथ्या होने पर भी सत्य अर्थ को बोधित करता है ॥ ४ ॥

यत्ते सत्यं वयं तद्धि प्रब्रूमो व्यावहारिकम् ।
तदूर्ध्वसत्यापेक्षं च मिथ्यात्वं तस्य चक्ष्महे ॥ ५ ॥ [१३९]

'वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः' ऐसा एक श्लोक बतानेसे कुछ नहीं होता । जिसे द्वैती सत्य कहते हैं उसीको वेदान्ती व्यावहारिक सत्य कहते हैं । इससे ऊपर जो पारमार्थिक सत्य है, जहांतक द्वैतवादियोंकी बुद्धि गयी ही नहीं, उस पारमार्थिक सत्यकी अपेक्षा घटादिको मिथ्या कहते हैं ॥ ५ ॥

यदप्याहुः—'वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम् । बोद्धानृतो बुद्धिफले तथानृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसद' इत्यादि । तत्सर्वमसांप्रदायिकपुस्तकाध्ययनमात्रप्रयुक्तदुर्ज्ञानदुरालापमात्रम् । यद्धि सत्यत्वं घटादेर्यूयमाचड्ढ्वे तदेव वयं व्यावहारिकसत्यशब्देन ब्रूमः । व्यावहारिकजगदपेक्षया यदूर्ध्वं परमार्थसत्यत्वं ब्रह्मणस्तदपेक्षया च जगतो मिथ्यात्वं ब्रूमः । अजगर्दभाद्यपेक्षया महाकायो हयः । परं स गजापेक्षया दभ्रो भवति । न हि दभ्रत्वं महत्त्वं चात्रापेक्षिकत्वाद्विप्रतिषिद्धं भवति । शुक्तिरजताद्यपेक्षया घटादिः सत्यः । ब्रह्मापेक्षया च मिथ्येति तद्वदेव । एवं च युष्मत्स्वीकृतसत्यत्वमेव घटादीनां वेदानां चोपगच्छाम इति कथं ब्रह्मदृष्टिरहितैस्तदपेक्षमिथ्यात्वं शक्यमापादयितुम् । न ह्यदृष्टगजो गजमनपेक्ष्यैवाश्वः क्षुद्र इति वक्तुमीष्टे ॥ ५ ॥

व्यावहारिकसत्योर्ध्वं ब्रह्म बौद्धा न मेनिरे ।
ते नास्तिका यदा तर्हि यूयं कस्मान्न नास्तिकाः ॥ ६ ॥ [१४०]

व्यावहारिक सत्यको बौद्धलोग संवृतिसत्य कहते हैं । (थोड़ा फरक अवश्य है) इससे ऊपर पारमार्थिक सत्य ब्रह्मको न माननेसे वे नास्तिक कहलाये । तब उस सत्यको न माननेवाले द्वैतवादी भी नास्तिक क्यों नहीं हैं ? ॥ ६ ॥

यद्यपि बौद्धाः प्रातिभासिकव्यावहारिकभेदभिन्नं सत्ताद्वयं न मन्यन्ते । तदुभयमेकीकृत्य संवृतिसत्त्वमाचक्षते । तथापि तत्स्वीकृतप्रायम् । किन्तु तदूर्ध्वं पारमार्थिकसत्यं न मन्वत ऐवेति ब्रह्माऽस्वीकारात्ते नास्तिकाः । भेदिनोऽपि व्यावहारिकसत्यादूर्ध्वसत्त्वं ब्रह्म न मन्वत इति कथं न ते नास्तिकाः ॥ ६ ॥

बौद्धा वेदानमन्वाना नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
प्रत्यक्षबलिनो यूयं न कस्मात्तत्सहोदराः ॥ ७ ॥ [१४१]

बौद्ध वेदोंको नहीं मानते अतः मनुस्मृतिके अनुसार नास्तिक हैं तो यह बात द्वैतवादीमें भी बराबर है । प्रत्यक्षको प्रबल प्रमाण मानकर श्रुतिको उन लोगोंने भी नीचा दिखाया है । कुछ अंशको ठीक मानना ही पर्याप्त नहीं है । वैसा तो अग्निर्हिमस्य भेषजं इत्यादिं अंशका खण्डन बौद्ध भी कहां करते हैं ? शमदमादि साधनोंको भी वे मानते हैं जो श्रुत्युक्त हैं ॥ ७ ॥

ननु बौद्धा वेदप्रामाण्यं नाङ्गीकुर्वन्तीत्यतो नास्तिकाः । "नास्तिको वेदनिन्दक" इति मनुस्मरणान्न वयं तथेति चेन्न । प्रत्यक्षप्राबल्यं मन्वानैर्युष्माभिर्वेदानां न्यक्करणात् प्रायो वेदाप्रामाण्यस्यैव स्वीकृतत्वान्मानवीयनास्तिकलक्षणस्य युष्मास्वपि समानत्वात् ॥ ७ ॥

अपोह्य यूयं स्पष्टार्थं द्वैतेऽनेढ्वं श्रुतीर्बलात् ।
असदेवेति शून्ये न नास्तिका अप्ययूयुजन् ॥ ८ ॥ [१४२]

"एकमेवाद्वितीयं" इत्यादि श्रुतिका स्पष्ट अर्थ हटाकर श्रेष्ठत्व अर्थ करते हुए सद्वितीयमें श्रुतिको द्वैतवादियोंने लगाया । ऐसा पाप बौद्धोंने भी नहीं किया । अन्यथा 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिको आगे रखकर वे शून्यवादका समर्थन श्रुतिसे ही कर डालते ॥ ८ ॥

तथाहि स्वमनीषया द्वैतसिद्धान्तं तदनुकूलप्रक्रियाविशेषं चोपस्थाप्य श्रुतिं तदनुकूलतया यूयं व्याचड्ढ्वे । 'एकमेवाद्वितीयमि'त्यादिस्पष्टार्थ-श्रुतिमद्वैतप्रतिपादिनीं 'ग्रामेऽयं पण्डितोऽद्वितीय इतिवत् श्रेष्ठार्थतया क्वचिच्चान्यविधया नयध्वे । प्रत्यक्षविरोधं चार्थान्तरस्वीकारे हेतुं भाषध्वे । एवं चापूर्वार्थे सर्वत्र प्रत्यक्षविरोधेन श्रुतिप्रामाण्यं नास्ति । प्रत्यक्षार्थे चावगतार्थविषयकत्वेन प्रामाण्यं नास्तीति सर्वश्रुतेरप्रामाण्यमेव स्वीकृतम् । स्फुटीकरिष्यते चेदमुत्तरत्र । एवंविधा व्याख्या बौद्धैरपि कर्तुं शक्याऽसीत् । स्वसिद्धान्तानुकूलाभासरूपायाः "असदेवेदमग्र आसीदि"त्यादि श्रुतेः सत्त्वात्, अन्यस्याः सर्वस्याः श्रुतेरपि प्रकारान्तरेण तैर्व्याख्यातुं शक्यत्वात् । किन्त्वेवंविधं धौर्त्यं तैर्न कृतमिति ते युष्मत्तः श्रेयांसः । परलोको देवादिश्च बौद्धैरपि स्वीकृत एव ॥ ८ ॥

व्यावहारिकखाराब्धौ निर्मग्नोद्विग्नलोचनाः ।
पारमार्थिकसत्यं तदक्षमन्त न वीक्षितुम् ॥ ९ ॥ [१४३]

व्यावहारिक जगत् रूपी खारे सागरमें डूबनेसे आंखे लाल हो गयीं, कमजोर हो गयीं । परिणाम यह हुआ कि द्वैतवादीकी पारमार्थिक सत्यको देखनेकी क्षमता खतम हो गयी ॥ ९ ॥

नानाविकल्पजालजटिले कामक्रोधादिग्रहोदग्रे खारसंसारसागरे निमग्ना उद्विग्नलोचना खारनीराहरणस्फुटितोदराः कथमिव पारमार्थिकमूर्ध्वं रसं क्षणमपि रसयितुं क्षमेरन् । कथमिव च ते जगत्सत्तोर्ध्वसत्तां कल्पयितुमपि कल्पेरन् ॥ ९ ॥

अखण्डाकारवृत्त्यैव यया ब्रह्मावगम्यते ।
तामेव खण्डयन्तोऽमी पण्डितानां दयेलिमाः ॥ १० ॥ [१४४]

जिस अखण्डाकार वृत्तिसे ब्रह्मदर्शन होता है उसीका खण्डन करनेके लिये पीछे पड़े इनको देखकर कभी-कभी दया आती है ॥ १० ॥

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितश्रवणमनननिदिध्यासनसहकृतमहावाक्य-जनिताखण्डाकारवृत्त्या यया तद् ब्रह्मावगम्यते तदुपायगवेषणादूरत्यक्तास्तां

खण्डयितुमेव प्रयतमाना अमी मूढ़ाः शतकोटिजन्मभिरपि ब्रह्मावगन्तुं न प्रभवेयुरिति पण्डितानां तादृशा दयनीया एव भवन्ति ॥ १० ॥

वराकैः सद्गुरुर्नार्चि न समाधिरलम्भि यैः ।
ब्रह्मादयोऽपि हन्तैतान् नैव बोधयितुं क्षमाः ॥ ११ ॥ [१४५]

इन बेचारोंने गुरुओंकी अर्चना कर श्रद्धासे शास्त्र सुना नहीं । समाधि इनको कभी लगी नहीं । इन्हें तो ब्रह्माजी भी शायद बोधित नहीं कर सकेंगे ॥ ११ ॥

इतस्ततः पुस्तकमधीयानाः सद्गुरुशरणागतिं योगसमाधिं च विनैव कुतर्कबलेन ब्रह्मसत्तां निरस्यन्त एते ब्रह्मादिभिरपि बोधयितुमशक्या एव ॥ ११ ॥

यत्तु संवृतिसत्यत्वमुदाहारि तथागतैः ।
प्रातिभासिकसत्तुल्ययोगक्षेमं तु तद् मतम् ॥ १२ ॥ [१४६]

बौद्ध लोग जगतको संवृतिसत् कहते हैं । वह तो लगभग प्रातिभासिक सत्यका ही नामान्तर है । हम व्यावहारिक सत्य मानते हैं यही फरक है ॥ १२ ॥

यत्पुनः वेदोऽनृत इत्याद्युक्तं तत्र बौद्धः संवृतिसत्यत्वमात्रं वेदादीनां प्रतिपादयति । न पुनर्वयं संवृतिसत्यत्वमात्रं ब्रूमः । किन्तु व्यावहारिक-सत्यत्वम् । संवृतिसत्यत्वं तु प्रातिभासिकसत्तासमानयोगक्षेमम् ॥ १२ ॥

व्यावहारिकसत्याभिः श्रुतिभिः पारमार्थिकम् ।
स्वाप्नोपदेशवच्छक्यं नेतुमन्यत् पुरेरितम् ॥ १३ ॥ [१४७]

हमारे मतमें श्रुतियां व्यावहारिक सत्य हैं । स्वप्नोपदेशके समान वे पारमार्थिक तक पहुंचा सकती हैं । शब्दब्रह्म पक्ष तो पहले ही बता चुके हैं ॥ १३ ॥

इत्थं च व्यावहारिकसत्याभिरपि श्रुतिभिः पारमार्थिकं ब्रह्म बोधयितुं शक्यं, यथा स्वाप्नोपदेशेनापि सत्यबोधो भवति तथेति । शब्दब्रह्मपक्ष-स्तूक्तः । ॥ १३ ॥

अक्षप्राबल्यमाख्यन् दलयतु यदि वा सिद्धवेदप्रकर्षम् ।
प्रामाण्यं तस्य धुन्वन्निखनतु यदि वा निर्विशेषस्वरूपम् ।
किं शब्दब्रह्मणोऽतो भवति किमु परब्रह्मणो वा सतां वा
निष्ठीवत्यूर्ध्ववक्त्रः खरकरमहसो दूषणायैष नूनम् ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षकी प्रबलता कहकर स्वतःसिद्ध वेदप्रकर्षको यदि ये नष्ट करना चाहते हैं या इस प्रकार वेदका प्रामाण्य खतम कर निर्विशेषस्वरूपको मिटाना चाहते हैं, जो भी हो इससे शब्दब्रह्म रूप वेदोंका क्या बिगड़नेवाला है और परब्रह्म निर्विशेषका और तत्त्वज्ञानियोंका भी क्या बिगड़नेवाला है ? यह तो सूर्यको दूषित करने के लिये मुंह उठाकर थूंकना ही है ॥ १४ ॥

इति वेदप्रामाण्यपरिग्रहोपपत्तिः

*****

(१५)

अथ दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वानुमानम्

कल्पितं सदसद्भिन्नं प्रबाध्यं सदसत्समम् ।
ज्ञेयं स्वशून्येऽनिर्वाच्यं स्वाश्रयाभावकं मृषा ॥ १ ॥ [१४८]

मृष (मिथ्या) वह है जो कल्पित हो, सदसद्विलक्षण हो, बाधित हो, होना न होना बराबर हो, अपनेसे रहितमें ज्ञेय हो, अनिर्वचनीय हो, अपने आश्रंयमें स्थित अभावका प्रतियोगी हो ॥ १ ॥

ननु यदि सर्ववादिभिः सामान्यतः स्वीकृतं सत्यत्वमस्ति प्रपञ्चस्य तर्हि मिथ्यात्वं किमिति वेदान्तिभिर्निगद्यत इति । उच्यते । यद्धि कल्पितं तन्मिथ्या भवति । यथा शुक्तिरजतम् । एवं सदसद्भिन्नादि ॥ १ ॥

आह धाता यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुतिः ।
तदैक्षत बहुस्यां सत् प्रजायेयेति चापरा ॥ २ ॥ [१४९]

पूर्वकल्पमें जैसी कल्पना की थी वैसी ही कल्पना इस कल्पमें ब्रह्माने की और जगत् तैयार किया। उस परमात्माने ईक्षण से सृष्टि बनायी। इन श्रुतियोंमें कल्पितत्व और दृष्टिसृष्टित्व स्पष्टोक्त है। यही मिथ्यात्व है॥ २॥

कल्पितं चेदं जगद् भवति। तथा च श्रुतिः—"धाता यथापूर्वमकल्पयदि"ति। न च तत्राकल्पयदित्यस्यासृजदित्येवार्थ इति वाच्यम्। कल्पनया सृष्टेरेव मुख्यार्थत्वात्। तथा च श्रुत्यन्तरं—"तदैक्षत बहु स्यां प्राजयेयेति तत्तेजोऽसृजते"त्यादि। इक्षणं संकल्प एव। तदितरकारणविरहादीक्षणमांत्रकृतसृष्टिर्दृसृष्टिरूपा मिथ्यात्वे पर्यवस्यति॥ २॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयं तु प्रपञ्चेऽतः सदसद्भ्यां विलक्षणः॥ ३॥ [१५०]

गीतामें कहा है—असत् का भाव नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता। प्रपञ्च पूर्वमें न होनेपर भी बीचमें भावको पाप्त होता है और बीचमें होनेपर भी बादमें अंभाव हो जाता है। भाव होनेसे असत् नहीं, अभाव होनेसे सत् नहीं। तब सदसद्विलक्षण ही तो जगत् हुआ। यही तो मिथ्यात्व है॥ ३॥

सदसद्विलक्षणत्वाच्च मिथ्या जगत्। कालत्रयेऽपि यद्वर्त्तते तत्सदित्युच्यते। "नाभावो विद्यते सत" इति वचनात्। यस्य कदापि सत्त्वं नास्ति तदसदित्युच्यते। सत्तु ब्रह्मैव। असच्च शशविषाणादि। तदुभयविलक्षणमिदं जगत्। यथा शुक्तिरजतमिति। बाध्यत्वान्न सत्। दृश्यत्वान्नासत्। ततः सदसद्विलक्षणमित्यपि व्याख्या॥ ३॥

बाध्यत्वाच्च समाध्यादौ प्रबाध्यं जगदुच्यते।
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृतिरिति च श्रुतेः॥ ४॥ [१५१]

समाधि आदिमें जगत् का बाध होता है। अतः जगत् प्रबाध्य है। श्रुतिमें भी अन्तमें विश्व मायाका बाध बताया है। यह बाध्यत्व मिथ्यात्व है॥ ४॥

प्रबाध्यत्वादपि प्रपञ्चो मिथ्या । यथा शुक्तिरजतम् । समाध्यादौ जगद्बाधाद् बाध्यत्वं जगतः सिद्धम् ॥ ४ ॥

बाध्यत्वं न पृथग्धर्मो यद्बाधात् सज्जगद् भवेत् ।
यथाऽसत्त्वं न सन् धर्मोभाषामात्रमिदं मतम् ॥ ५ ॥ [१५२]

जगतमें जो बाध्यत्व है वह बाधित है या नहीं ? यदि है तो जगतमें बाध्यत्व न रहा तो जगत् सत्य हुआ । यदि बाध्यत्व बाधित नहीं है तो बाध्यत्व ही द्वितीय सत्पदार्थ हुआ इत्यादि कथन चञ्चलता मात्र है । बाध्यत्व कोई पृथक धर्म नहीं है, वह भाषा प्रयोगमात्र है । जैसे असत् शशविषाणमें जो असत्त्व है वह सत् है या असत् ? यदि सत् है तो सदाधार सत् ही होगा । यदि असत् है तो असत्व न होनेसे शशविषाण सत् हो जायगा । क्या ऐसा कोई तर्क करता है ? यह भाषा प्रयोगमात्र है । "शशविषाणादेरसत्त्वात्" इत्यादि प्रयोग है । असद् ही असत्व भी है ॥ ५ ॥

ननु बाध्यत्वं बाध्यं न वा ? यदि बाध्यं तदा जगत्सत्यतापत्तिः । अबाध्यत्वे तेनैव द्वैतापत्तिरिति चेत् । कुतर्कमात्रमिदम् । शुक्तिरजते बाध्यत्वमस्ति। तस्य आद्ये बाध्यत्वपक्षे शुक्तिरजतसत्यत्वापत्तिः द्वितीये मिथ्यारजते कथं सत्यधर्मः स्यात् । तथा च सत्यधर्माश्रयतया सत्यत्वमिति वक्तुं शक्यत्वात् । एवं समाधौ जगद्बाध्यत्वं बाध्यं न वा । बाध्यत्वे जगदबाध्यतापत्तिः । अबाध्यत्वे तद्दर्शनापत्तिः । वस्तुतस्तु बाध्यत्वं न द्रव्यगुणाद्यात्मकः पृथगर्थः । किन्तु बाध्यस्वरूप एव । जगतो बाध्यत्वमिति भाषाप्रयोगमात्रमित्यवोचाम । तथा च बाध्यत्वं बाध्यं न वेत्यादि प्रश्न एव निरर्थकः । यथा नृशृङ्गादेरसत्त्वं सद्वा असद्वेति तद्वत् ॥ ५ ॥

परिछिन्नस्य सत्त्वं न सदनन्तं प्रवर्धयेत् ।
नासत्त्वमल्पयेद्विश्वं ततस्तु सदसत्तमम् ॥ ६ ॥ [१५३]

परिच्छिन्नोंका अस्तित्व अनन्तको बढ़ा नहीं सकता । और उनका असत्व घटा भी नहीं सकता । फलतः परिच्छिन्नोंका होना न होना बराबर है । वे मिथ्या हैं ॥ ६ ॥

सदसत्समत्वाच्च प्रपञ्चो मिथ्या । अनाद्यनन्तसंसारे परिच्छिन्ना-नामस्तित्वनास्तित्वे समाने । न ह्यस्तित्वेनाधिक्यं न वा नास्तित्वेन न्यौन्यम् । यथा शुक्तौ रंजतस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां न कश्चन विशेष इति । आकाशादेरप्युत्पत्तिनाशश्रवणात्परिच्छिन्नत्वमेव ॥ ६ ॥

नेह नानास्ति तत्रैव प्रपञ्चोऽयं प्रतीयते ।
स्वशून्ये दृश्यमानत्वं जगतोऽस्य मृषात्मता ॥ ७ ॥ [१५४]

यहां नाना वस्तु नहीं है यह श्रुति कह रही है और वहीं प्रपञ्च दीख रहा है । अर्थात् स्वयंसे रहितमें स्वयं दीख रहा है । यही मिथ्या-रूपता है ॥ ७ ॥

स्वाभाववति प्रतीयमानत्वाच्च मिथ्या । "नेह नानास्ति किंचने"त्यादिश्रुतेः प्रपञ्चाभाववति ब्रह्मणि सन् घट इत्यादिरीत्या घटादेः प्रतीतेः । यथा रजताभाववत्यां शुक्तौ प्रतीयमानं रजतमिति ॥ ७ ॥

कार्यं न कारणाद् भिन्नं नाभिन्नं नोभयात्मकम् ।
न सन्नासन्न सदसदनिर्वाच्यं जगन्मृषा ॥ ८ ॥ [१५५]

कार्य कारणसे भिन्न नहीं अभिन्न नहीं, भिन्नाभिन्न भी नहीं । तथा कारणमें कार्य सत् नहीं, असत् नहीं, सदसत् भी नहीं । जगत् कार्य है । अनिर्वाच्य है, मृषा है ॥ ८ ॥

अनिर्वाच्यत्वाच्च मिथ्या । न हि कारणे कार्यं सत्त्वासत्त्वाभ्यां भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां च निर्वक्तुं शक्यम् । एतच्चान्यत्र विस्तरेणोक्तम् । तथा च "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति दृष्टान्तपूर्वया "तत्सत्यं स आत्मे"ति श्रुत्या कारणीभूतसत एव सत्यत्वकथनाज्जगतो मिथ्यात्वम् । आकाशादेरपि कारणत्वं ब्रह्मण इति सर्वः प्रपञ्चः कार्यात्मक एव ॥ ८ ॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे नेति नेतीति च श्रुतेः ।
स्वाश्रयस्थनिजाभावप्रतियोगित्वतोऽनृते ॥ ९ ॥ [१५६]

मूर्तामूर्तात्मक पृथिवी, जल, तेज और वायु आकाश ये ब्रह्मके ही रूप हैं । ऐसा कहती है प्रथम श्रुति । फिर कहती है—नेति नेति ब्रह्ममें

ये दोनों रूप नहीं हैं। अर्थात् जहां ये हैं वहीं ये नहीं हैं। यही तो मृषा है ॥ ९ ॥

स्वसामानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाच्च प्रपञ्चो मिथ्या । तथा हि "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चे" त्युपक्रम्य द्वयोरपि "अथात आदेशो नेति नेति" इति द्विरावृत्तनकारेण निषेधान्मूर्तामूर्तरूपाधिकरणे मूर्तामूर्तद्वयनिषेधान्मिथ्यात्वं मूर्तामूर्तात्मकप्रपञ्चस्य सिध्यति । रजताधिकरणशुक्तिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं रजतस्य यथेति ॥ ९ ॥

दृश्यत्वाच्च जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वतोऽपि च ।
कार्यत्वाच्च मृषा द्वैतं सिद्धं मोक्षेऽभयत्वतः ॥ १० ॥ [१५७]

यह द्वैत प्रपञ्च दृश्य होनेसे परिच्छिन्न होनेसे और कार्य होनेसे मिथ्या है। मोक्षमें अभय होता है। द्वितीय होता तो भय रहता अतः द्वितीय मिथ्या है ॥ १० ॥

दृश्यत्वादिभिः प्रत्येकहेतुभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं सिध्यति । वृत्तिव्याप्तेर्ब्रह्मण्यभ्युपगमेऽपि फलव्याप्तिलक्षणदृश्यत्वस्य हेतुत्वान्न ब्रह्मणो मिथ्यात्वम् । न च फलव्याप्यत्वं न धर्माधर्मगुरुत्वादाविति वाच्यम् । योगिप्रभृतीनां फलव्याप्यत्वस्य तत्र सत्वात् । शब्दाऽजन्यवृत्तिविषयत्वं वा दृक्तादात्म्यं वा अस्वप्रकाशत्वादिरूपं वा दृश्यत्वमपि सुवचमेव । न च सन् घट इत्यादि प्रत्यक्षविषयत्वमस्ति ब्रह्मण इति वाच्यम् । तत्र सदंशे फलव्याप्यत्वाभावात् । विशिष्टतया तदुपगमे तु मिथ्यात्वमिष्टमेव । एवं जडत्वादेरपि मिथ्यात्वं जगतः सिध्यति । न च हेतोरप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसी" ति श्रुत्यनुपपत्तेरेवानुकूलतर्कत्वात् । तथा हि "द्वितीयाद्वै भयं भवती" ति श्रुतिः सत्त्वेन प्रतीयमानाद् द्वितीयाद् भयमाचष्टे । न च जनकस्योपदेशप्राप्तिकाले सकलद्वितीयध्वंसः शक्यस्वीकारः । तथा सति "अभयं वैं जनक प्राप्तोऽसी" ति वचनश्रवणासंभवादुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । तस्मात्तत्र द्वितीयमिथ्यात्वनिश्चयेनैवाभयप्राप्तिर्वक्तव्येति सर्वस्य द्वितीयस्य दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वं सिध्यति ॥ १० ॥

प्रबाधन्ते सन्तः सकलमितिभिर्विष्णुतनुतां
कथं निष्ठीवादिं हरिवपुषि कुर्या मिति मतेः ।
ब्रुवाणाऽन्तर्यामिश्रुतिरपि शरीरं भगवतो
जगौ प्रोतं सूत्रे जगदनृतमन्तः स जयति ॥ १५ ॥

यह जगत् विष्णुका शरीर है, सत्य है इत्यादि बात सर्वप्रमाणबाधित है लोग सोच भी नहीं सकते । क्या हम थूंकते भगवानके शरीरपर ? क्या हम पाखाना जाते हैं भगवानके विग्रहपर ? इत्यादि सोचनेपर लोग पागल हो जायेंगे । 'यस्य पृथिवी शरीरमेष त आत्माऽन्तर्यामी' यह श्रुति सूत्रस्थानीय परमात्मामें मणिस्थानीय जगतको केवल पिरोया बताती है । न कि असली शरीर ही वह अन्दर आत्माके रूपमें स्थित है, जगत् मिथ्या है यही श्रुतिका तात्पर्य है । सर्वान्तर्यामी उस परमेश्वरकी जय हो ॥ १५ ॥

इति दृश्यत्वादिना जगन्मिथ्यात्वानुमानम्

*****

(१६)

अथ व्यावर्तमानत्वेन जगन्मिथ्यात्वसाधनम्

सति व्यावर्तमानत्वादपि नाना मृषोदिताः ।
स्वाभाववत्स्वाश्रयैकवृत्तित्वं तद् भिदावताम् ॥ १ ॥[१५८]

'सत्' रूपी एकसूत्रमें मणिवत् व्यावर्तमान होनेसे भी घटपटादि नाना जगत् मिथ्या है । व्यावर्तमानका अर्थ है–अपना अभाव जहां हो उसी आश्रयमात्रमें रहनेवाला । यह व्यावर्तमानत्व भेदयुक्त समस्त वस्तुओंमें है ॥ १ ॥

अनुवर्तमाने सत्तत्त्वे व्यावर्तमानत्वादपि मिथ्यात्वमाचार्यैर्निरूपितम् । घटः सन्, पटः सन्नित्येवं सदनुवर्तते । तत्र व्यावर्तन्ते घटपटादय इति । स्वनिरूपितप्रतियोगिताविशिष्टधर्मपर्याप्त्यधिकरणत्वसम्बन्धेन भेद-विशिष्टत्वं व्यावर्तमानत्वम् । स्वं भेदः । प्रतियोगितावैशिष्ट्यं धर्मे

स्वाश्रयवृत्तित्वस्वविशिष्टानुयोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन । स्ववैशिष्ट्यमनुयोगिनि स्वावच्छिन्नाधिकरणमात्रवृत्तित्वस्वावच्छिन्नाभाववद्वृत्तित्वस्वनिरूपकत्वस्ववृत्तित्वैतच्चतुष्टयसम्बन्धेन । चरमं स्ववृत्तित्वं स्वाश्रयमात्रवृत्तितावच्छेदकत्वस्वाभाववद्वृत्तितावच्छेदकत्वोभयसम्बन्धेन घटः सन्, पटः सन्नित्यत्र घटपटयोर्भेदः तत्प्रतियोगिता घटे, तदाश्रयवृत्तित्वं घटपटगतद्वित्वे । तच्च स्वविशिष्टानुयोगिनि पटेऽपि वर्तत एव । स चानुयोगी पटः स्वावच्छिन्नघटाश्रये सति केवलं वर्तते । घटाभाववत्यपि सति पटदेशावच्छेदेन वर्तते । प्रतियोगितानिरूपकश्च सोऽनुयोगी । तादृशपटविशिष्टत्वं घटप्रतियोगितायामपि । पटाश्रयसन्मात्रवृत्तितावच्छेदकत्वात् । पटाभावाश्रयसद्वृत्तितावच्छेदकत्वाच्च । घटावच्छेदेन सति पटाभावात् तथाविधद्वित्वाश्रयौ घटपटौ व्यावर्तमानावुच्येते यथा सूत्रे मणयः । एकमण्यभावावच्छेदेन सूत्रे द्वितीयमणेः द्वितीयमण्यभावावच्छेदेन प्रथममणेर्वर्तमानत्वाद् व्यावर्तमानत्वम् परस्परभिन्नत्वं चेति तेषां व्यावर्तमानत्वम् ॥ १ ॥

घटो महान् घटो व्येतीत्यादि तुल्यं तु सन् घटः ।
मैवं हेमाङ्गदसममुपादानत्वतः सतः ॥ २ ॥ [१५९]

पूर्वपक्षः—घट महान् है, घट हिल रहा है इत्यादिमें महत्व, हिलना आदि घटका धर्म है, न कि महतमें घटपटादि व्यावर्तमान है । वैसे घटः सन् यहां घटका धर्म सत्व है, न कि सतमें घटादि व्यावर्तमान । उत्तरपक्षः—घटः सन् में कुण्डलं सुवर्णमेव, बुद्बुदो जलमेव इत्यादिके समान सत् उपादान कारणके रूपमें प्रस्तुत होता है न कि धर्म के रूपमें ॥ २ ॥

ननु घटः सन् घटोऽस्तीत्यादिप्रतीत्या घटे सत्त्वधर्मो विषयीक्रियते । यथा घटो महान् घटश्चलतीत्यादौ महत्वचलनादिका गुणक्रिया इति न सति घटादीनां व्यावर्तमानतेति चेन्मैवम् । सत उपादानत्वात् । न हि महत्त्वं क्रियादिकं चोपादानकारणम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत तत्तेजोऽसृजते' त्यादिश्रुतेः सत उपादनकारणत्वावगमात् । यथा सुवर्णघटः मृद्घट इत्यादौ । न हिं कुण्डलं सुवर्णमित्यादौ कुण्डलस्य सुवर्णत्वं धर्मः प्रतीयते । न च कुण्डले सुवर्णमिति प्रतीतेः कुण्डलस्य सुवर्णाधारत्वम् ।

आधारस्य पूर्वभावित्वात् । उपादानभूतं च सत् घटः सन्नित्यादावनुवर्तते ॥ २ ॥

सापेक्षमुत्तरोत्थं चाऽव्याप्तं च महदादिकम् ।
व्यापकं निरपेक्षं च पूर्वभ्वपि सदीक्ष्यते ॥ ३ ॥ [१६0]

पूर्वपक्षः—क्या प्रमाण है ? महत्वादि धर्म है, सत् उपादान है जो कहते हो ? उत्तरपक्षः—महत्व सापेक्ष है । द्रव्योत्पत्ति के बादमें दीखता है और समस्त घटोंमें व्याप्त नहीं है । सत् जगदव्यापक है । निरपेक्ष है । घटोत्पत्तिसे पूर्व ही मृद अस्तिके रूपमें स्थित है ॥ ३ ॥

अण्वपेक्षया घटादेर्महत्त्वं पृथिव्याद्यपेक्षयाणुरूपत्वम् । किं च घटोत्पत्त्यनन्तरं महत्त्वादि न तु प्राग्भावि । तथाऽव्यापकमिति नोपादानम् । सत् पुनर्जगद्व्यापकं निरपेक्षं मृदादिषु पूर्वमेव स्थितमित्युपादानं भवितुमर्हति ॥ ३ ॥

सदग्र आसीत्ततेजोऽसृजतेत्यादिका श्रुतिः ।
ब्रूते मृन्मयदृष्टान्तादप्युपादानमेव सत् ॥ ४ ॥ [१६१]

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तत्तेजोऽसृजत" यह श्रुति सत् को उपादान कारण बता रही है । न कि धर्म । निमित्तकारण भी नहीं । क्योंकि "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं" इत्यादि दृष्टान्त उपादान कारणको लेकर ही दिखाया है ॥ ४ ॥

'सदेवसोम्येदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजते'त्यादिश्रुतिः सत उपादानत्वं ब्रवीति । कार्यस्य मृन्मयदृष्टान्तकथनेनोपादेयत्वकथनाच्च ॥ ४ ॥

सतोऽन्तर्यामिणो नोपादानतास्ति ममेति चेत् ।
मैवं वेदविरुद्धार्थमतानादरणाद् बुधैः ॥ ५ ॥ [१६२]

पूर्वपक्षः—मेरे मतमें (विशिष्टाद्वैत मतमें) सत् अन्तर्यामी है । वह उपादान कारण नहीं है । उत्तरपक्षः—पूर्वश्लोकमें वेदार्थ दिखाया । उससे विरुद्ध बात बोलनेवालोंकी बात विद्वदादरणीय नहीं है ॥ ५ ॥

ननु सन्नोपादानम् । अन्तर्यामित्वादिति न सति कल्पितत्वं जगतो युज्यत इति चेन्न । मृत्पिण्डमृन्मयदृष्टान्तपूर्वकं सन्मूलत्वस्य श्रुत्युक्तत्वेनोक्तार्थस्य वेदविरुद्धत्वेनानुपादेयत्वात् ॥ ५ ॥

मन्यमानस्य सामान्यं सत्तां वैशेषिकस्य च ।
अभावोऽस्ति सती जातिरित्यादिर्नोपपद्यते ॥ ६ ॥ [१६३]

सत्ताको वैशेषिक जाति मानते हैं । पर उनके मतमें अभावः अस्ति, जातिः सती इत्यादि प्रतीति का क्या होगा ? अभावादिमें जाति नहीं रहती ॥ ६ ॥

सत्ताख्यं परसामान्यं मन्यमानस्य वैशेषिकस्यानुसरणे जातिः सती समावायोऽस्ति अभावः सन्नित्यादिव्यवहाराणामुपपत्तिर्न विद्यते । अथ सत्ता जात्यादौ सामानाधिकरण्येन प्रतीयत इति चेन्न । द्रव्यं सत् सामान्यं सदित्यादौ प्रतीतिवैलक्षण्यादर्शनात् । जातित्वं सद् इत्यत्र तु सामानाधिकरणवृत्तित्वं सम्बन्धो वक्तव्यः । तस्य च संसर्गतया भाने मानाभावः । तथा सति घटत्वादेः समानाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धेन सत्तात्वजातित्वादौ सत्त्वेन 'सत्तात्वं' घटः' 'जातित्वं घट' इत्यादि प्रत्ययः स्यात् । तेन धूमत्वं वह्निमानित्यादिश्च प्रतीतिः स्यात् । केवलसत्तामात्रस्यायं वृत्तिनियामकसम्बन्ध इति तु प्रतिज्ञामात्रसमधिगम्यम् ॥ ६ ॥

ज्योतींषि विष्णुरित्यादौ बहवः सन्तु विष्णवः ।
विष्णुत्वं तत्र जातिश्च वैशेषिकपदायिनः ॥ ७ ॥ [१६४]

"ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः" इत्यादि वचनमें बहुत सारे विष्णुको मान लीजिये और उनमें एक विष्णुत्व जाति मान लीजिये । तब आप सच्चे वैशेषिकपादसेवक बन सकते हैं ॥ ७ ॥

'ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि'त्यादौ च तुल्ययुक्त्या बहवो विष्णवः तत्र विष्णुत्वं जातिरित्यपि वैशेषिकपदानुगामिना स्वीक्रियेत । एवं स्थिते सति सद्भिरिदमेव स्वीकार्यं यत् 'सदेव सोम्ये' ति श्रुतिसिद्धं सदग्रे कल्पनायाः प्राक् आकाशादिविकल्परहितमासीत् । तत्रैव व्यावर्तमाना आकाशादयः समुद्रवीचीन्यायेन मरुतोयन्यायेन वा समुद्भूताः । अनुवर्त-

मानं तु सदेव । अनुवर्तमानाच्च व्यावर्तमानं भिन्नमिति सतो भिन्ना आकाशादयः सद्विलक्षणत्वलक्षणमिथ्यात्वानुपतिताः । अत्र च भेदसत्यत्वं जगत्सत्यत्वं च स्थापयतापि द्वैतिना 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरि'त्यादि-भगवत्पादभाष्यस्य मुहुरावर्तनादवश्यमेव किंचित्पुण्यमलम्भीति मन्ये । व्यावहारिकभेदमादाय भाष्यप्रवृत्तेरुपपादितत्वेन निर्दोषे भाष्ये दोषप्रक्षेपण-प्रयासस्य सूर्योपरि निष्ठीवनप्रयासमात्रत्वात् । यद्यपि व्यावर्तमानत्वस्य लक्षणान्तराण्यन्यैरुक्तानि सुसमर्थनानि विद्यन्ते तथापि शब्दतस्तथार्था-नवगमात् कुतश्चिदन्यत्वं, यत्र क्वाप्यसत्त्वं प्रध्वंसवत्त्वमित्यादिकं व्यावर्त-मानत्वलक्षणं न समर्थयितुं प्रयतामहे ॥ ७ ॥

व्यावर्तन्ते भुवनमणयो यत्र सूत्रेऽनुवृत्ते
रज्जौ मालाभुजगजलधारादिवत् सत्यसत्याः ।
यत्सत्यत्वात् सदिव सकलं भाति शुक्तीन्दुतुल्यं
सर्वात्मानं प्रियतमनिजात्मानमीडे मृडं तम् ॥ १६ ॥

अनन्त भुवन मणिसमान जिस अनुवर्तमान सत् रूपी सूत्रमें पिरोये व्यावर्तमान हो रहे हैं जैसे रज्जुमें सर्प, जलधारा आदि असत्य व्यावर्त-मानरूपसे दीखते हैं जिसकी सत्तासे जगत् सत्यवत् दीखता है जैसे सीपकी सत्यतासे इन्दु (रजत) की सत्यता दीखती है उस सर्वात्मा परमप्रिय निजात्मा आनन्दरूपी मृड भगवानकी हम स्तुति करते हैं ॥ १६ ॥

इति व्यावर्तमानत्वेन मिथ्यात्वनिरूपणम्

*****

(१७)

अथ दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः

दृग्दृश्ययोर्न सम्बन्धो भवत्याध्यासिकेतरः ।
स्वप्ने तथैव दृष्टत्वाद् दृश्यं मिथ्या न संशयः ॥ १ ॥ [१६५]

पूर्वपक्षः—दृश्य होनेसे मिथ्या है तो क्या अदृश्य होनेसे शशविषाणादि सत्य है यह बोलना चाहते हैं ? उत्तरपक्षः—नहीं । स्वयंप्रकाश न होनेसे

दृश्य जगत् मिथ्या है। क्योंकि दृक् और दृश्य इन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं बनता। दृश्य बाहर है। दृक् अंदर है। इनका क्या सम्बन्ध हो ? अतः स्वप्नमें जैसे आध्यासिक सम्बन्धसे ही दृश्य दीखता है अतएव दृश्य मिथ्या भी है वैसे जाग्रत में भी निश्चित होता है ॥ १ ॥

दृश्यत्वाज्जगन्मिथ्येति कथम् ? तत्किमदृश्यत्वाद् गगनकुसुमादिकं सत्यमिति मंस्यसे। दर्शनादिज्ञानेन हि प्रमाणेन दृश्यसिद्धिरिति कथं तेनैव मिथ्यात्वसिद्धिः स्यादिति चेद्। उच्यते। दर्शनादिज्ञानेन दृश्यसत्त्वं तदा सिद्ध्यति यदि दृग्दृश्ययोः कश्चन वास्तविकः सम्बन्धः स्यात्। न चैतद् घटते। संयोगसमवायादीनां प्रसिद्धसम्बन्धानामभावात्। दृग् नाम ज्ञानमान्तरम्। दृश्यं बाह्यम्। न हि तयोः संयोगादि संभवति। न च कालिकसम्बन्धो भवेदिति वाच्यम्। तथा सति तत्कालीनसकलदृश्य-प्रकाशापत्तेः। एतेन दैशिकविशेषणतापि प्रत्युक्ता। ननु प्रत्यक्षतो घटादेरुप-लम्भात्तदन्यथानुपपत्त्या कश्चन सम्बन्धविशेषः सिध्यति। यथा समवायादि-रर्थापत्त्या स्वीक्रियते वैशेषिकादिभिः। न च वस्तुनो मिथ्यात्वेनान्यथोपपत्त्या न दृग्दृश्यसम्बन्धविशेषसिद्धिरिति वाच्यम्। अर्थापत्तिविघटनापत्तेः। दृशोऽभावे इव दृक्सम्बन्धाभावेऽपि दृश्यानुपपत्तेरिति चेन्न। त्वयाऽर्थापत्ति-प्रमाणस्यातिरिक्तसम्बन्धस्य चानुपगमेनापसिद्धान्तापत्तेः। किं च स्वप्ने दर्शनस्य दृशोऽभावेऽनुपपत्तेर्दृक्सम्बन्धाभावेऽपि तथात्वं स्यादिति तत्रापि वास्तविकदृक्सम्बन्धस्य सत्यदृश्यस्य च स्वीकारापत्तेः। न च स्वाप्नार्थो मिथ्या जाग्रति बाधादिति न तत्र दृक्सम्बन्धो वास्तविक इति वाच्यम्। तथा सति दृश्यमिथ्यात्वेनान्यथोपपत्तेर्जाग्रत्यपि तथात्वं केन वारयितुं शक्यते ? न हि दृश्यसत्यत्वं सिद्धमस्ति ॥ १ ॥

न च सृष्टिश्रवणतः स्वाप्नः सन्निति सांप्रतम्।
बाधात् विश्वस्य च स्वप्नवैधर्म्योक्तिविरोधतः ॥ २ ॥ [१६६]

पूर्वपक्षः—"अथ रथान् रथयोगात् पथः सृजते" इस प्रकार श्रुतिमें स्वप्न कालमें सृष्टि बतायी है। अतः ईश्वरसृष्ट स्वप्नपदार्थ सत्य है। उत्तरपक्षः—जाग्रत होनेपर स्वप्नपदार्थोंका बाध होता है। स्वप्नपदार्थ क्षणिक है इतना कहकर समाधान नहीं होगा। तब जातमृतके समान पैदा

होते ही थोड़ा रहकर स्वप्नमें मर गया ऐसी प्रतीति होती। दूसरी बात ब्रह्मसूत्रमें स्वप्नसमान संसार है इस बौद्धमतका खण्डन करते हुए बताया—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'। आपके मतमें स्वप्न—पदार्थ सत्य होनेसे जाग्रत पदार्थमें क्या वैलक्षण्य है ? जाग्रत पदार्थोंमें स्थायिता वैधर्म्य कहते हो तो प्रकरण विरोध होगा। वहांका प्रकरण सत्यत्व मिथ्यात्वको लेकर है॥ २॥

ननु स्वाप्नार्थः सत्य एव। 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत' इति सृष्टिश्रवणाद् ईश्वरसृष्ट्यावश्यकत्वेन तत्सत्यत्वावश्यकत्वादिति चेन्न। अविद्याप्रयुक्तजैवसृष्टेरेव तत्रोक्तत्वात्। अन्यथा स्वप्नदृष्टगजतुरगसुवर्ण-भवनादिभिः स्वप्नद्रष्टुरिभ्यत्वप्रसङ्गेन संतोषापत्तेः। जाग्रति तद् बाध-दर्शनाच्च। तदानीं रथरथयोगादयो नासन्निति जाग्रतोच्चारणात्। "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ती"ति श्रुतेश्च। न च सृष्टेः पूर्वं रथादयो नासन्निति तदर्थ इति वाच्यम्। सृष्टेः पूर्वं तदभावस्य स्वतः सिद्धत्वात्। न हि तद्घटसृष्टेः प्राक् तत्सत्त्वं केनापि शङ्क्यते। यत्रायं स्वपिति तत्र शालायां खट्वायां च रथरथयोगाद्यभावस्य स्वयमेव ज्ञातत्वाच्च। तज्ज्ञाने वा तत्र सर्पोऽस्तीति ज्ञात्वा कस्तत्र शयीत, यतः स्वप्ने सर्पो दृश्यते। किंच "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि"ति सूत्रविरोधः। बौद्धैः स्वाप्नवदसत्त्वं घटादेरा-शङ्कितमनेन निरस्तम्। भवन्मते स्वाप्नार्थस्य सत्यत्वात् कथं तद्वैधर्म्यं जाग्रदर्थस्य ? न च स्वाप्नार्थस्याल्पकालिकत्वात्तद्वैधर्म्यम्मिति वाच्यम्। बहूनां जाग्रदर्थानामाल्पकालिकत्वेन तद्वैधर्म्यासिद्धेः। संसारः स्वप्नतुल्योऽय-मित्यस्मद्वचनं श्रुत्वा च कुत आक्रोशसि ? ज्ञपय लोकान् शिष्यांश्च संसारः स्वप्नतुल्योऽयमिति। का ते हानिः ? उभयोस्त्वन्मते सत्यत्वात्। वस्तुतस्त्वियमेव स्वाप्नसृष्टिश्रुतिः सृजतेः कल्पयतिसमानार्थतां गमयन्ती तत्तेजोऽसृजतेत्यादावपि कल्पयत्यर्थतां बोधयति।

यत्त्ववेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमिति वदताऽ-परोक्षव्यवहारयोग्यस्य घटादेरस्वप्रकाशत्वं वेद्यत्वप्रयुक्तं वक्तव्यमिति बदतो-व्याघात इति। तत्तुच्छम्। न ह्यस्माभिर्वेद्यत्वादिकं वास्तविकं स्थापनीय-मस्ति। ब्रह्मणः स्वतः सिद्धत्वान्न साधनीयता। अन्यस्य व्यवहारमात्रत्वान्न

स्थापनीयता । भवतैव सत्यत्वेन सर्वं स्थापनीयमस्ति । इत्थं च मुहुर्मुहु-"र्युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरि"त्यादि भाष्यादिकमुद्धृत्य स्वव्याघातकत्वादि-कथनं स्वीयमौर्ख्यमात्रप्रदर्शनमेव । आविद्यिकं वेद्यत्वं व्यवह्रियमाणमादायैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः ॥ २ ॥

> एकस्थं विषयत्वाद्यं नैव सम्बन्धतास्पदम् ।
> पदार्थान्तरमाचक्ष्व पृथक् चेत् समवायवत् ॥ ३ ॥ [१६७]

पूर्वपक्षः—विषयविषयीभावसम्बन्ध ज्ञान और विषयका है । उत्तरपक्षः—विषयत्वविषयित्व इन दोनोंको लेकर विषयविषयिभाव कहा जाता है । वह एक धर्म नहीं है । घटपटभाव कहनेमात्रसे कोई एक धर्म सिद्ध नहीं होता । यदि विषयत्व या विषयित्व सम्बन्ध कहते हैं तो एक-एकमें रहनेवाले दोनों संबन्ध नहीं हो सकते । क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है । अतः समवायके समान पदार्थन्तर मानना पड़ेगा । और आपके मतमें द्रव्य और गुणसे अतिरिक्त पदार्थ है नहीं ॥ ३ ॥

ननु विषयविषयिभावः सम्बन्धो दृग्दृश्ययोरिति चेन्न । न हि विषये विषयिणि च वर्तमानः कश्चन धर्मविशेषोऽस्ति । विषयविषयिणोर्द्वित्वेन विषयत्वं विषयित्वं च पृथगेव । नैयायिकशिरोमणिभिर्गदाधरभट्टाचार्यप्रभृतिभिरपि तथैव व्यवस्थापनात् । तस्मात्पृथगेव किमपि पदार्थान्तरं सम्बन्धतया स्वीकार्यम् । तथा सति नैयायिकैर्यथा समवायः पदार्थान्तरतया स्वीकृतस्तथा त्वयापि पदार्थान्तरात्मको दृग्दृश्ययोः सम्बन्धो वक्तव्यः । न चार्थापत्तिसिद्धतया इष्टत्वमिति वाच्यम् । द्रव्यगुणौ द्वावेव पदार्थाविति स्वीकृतसिद्धान्तपरित्यागेनापसिद्धान्ततापत्तेः । एवमन्यमतेष्वपि । सप्त-पदार्थवादिभिरष्टमस्य दृग्दृश्यसम्बन्धस्य स्वीकरणीयत्वापत्तेः । यत्तु विषयतानिरूपकत्वं दृश्यस्य दृशि सम्बन्धः । विषयितानिरूपकत्वं ज्ञानस्य विषये सम्बन्ध इति तदपि पूर्वतुल्यम् । तत्र निरूप्यं विषयत्वादि निरूपकं ज्ञानादीति निरूप्यनिरूपकभावः पर्यवस्यति । स च नैकनिष्ठ इति । निरूपकत्वं च ज्ञानजनकत्वं मध्ये सम्बन्धान्तरमपेक्षेत । निरूपकत्वं पृथक् चेत् पदार्थान्तरतया परिगण्यताम् । ननु अपसिद्धान्तमनादृत्य नव्य-

नैयायिकवत् प्रागल्भ्येनाभ्युपगम्यतां पदार्थान्तरमिति चेन्न । स्वप्न-दृष्टान्तेनाध्यासिकसम्बन्धेनान्यथोपपत्त्या सम्बन्धान्तरकल्पनायोगात् ॥ ३ ॥

कथं व्यवहिते सोऽयं भूतार्थे चावकल्पताम् ।
अर्थापत्त्या नासदर्थः शक्यः कल्पयितुं बलात् ॥ ४ ॥ [१६८]

वह कल्प्यमान सम्बन्ध दूरस्थ व्यवहितादिमें कैसे होगा ? भूतार्थमें कैसे होगा ? अर्थापत्तिकी भी सीमा होती है । द्वितीय सम्बन्धी है नहीं, और द्विष्ठ सम्बन्ध हो गया यह भला किस प्रकार ? यदि नहीं तो भूतार्थज्ञान किस प्रकार ? ॥ ४ ॥

नन्वभ्युपगम्यतां पदार्थान्तरम् । पदार्थद्वयोक्तेर्निदर्शनमात्रत्वादिति चेन्न । व्यवहितविप्रकृष्टादिविषयप्रकाशानापत्तेः । किं च भूतभविष्यदर्थयोः कथं सम्बन्धः ? न हि सम्बन्धिनं विनैव सम्बन्धो भवितुमर्हति । न ह्यर्था-पत्त्याऽसदर्थः शक्यते कल्पयितुम् ॥ ४ ॥

असम्बद्धप्रकाशे च नियमो नोपपद्यते ।
सर्वं वस्तु प्रकाशेत प्रतिज्ञानं तथा सति ॥ ५ ॥ [१६९]

यदि ज्ञान असम्बद्धका भी प्रकाशन करेगा तो नियम नहीं रहेगा । फलतः प्रत्येक ज्ञानमें सभी वस्तु प्रकाशित होंगे ॥ ५ ॥

यदि तेन सम्बन्धेनासम्बद्धवस्त्वपि प्रकाशेत तदाऽस्मिन् ज्ञाने घट एव प्रकाशतेऽस्मिंश्च पट इति नियमो न स्यात् । प्रत्येकस्मिन् ज्ञाने सर्वमेव वस्तु प्रकाशेत ॥ ५ ॥

घटमात्रं घटज्ञाने प्रकाशेतेति चेन्न तत् ।
आत्माश्रयादन्यथा च सर्वः सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥ ६ ॥ [१७०]

घटज्ञानमें घट ही प्रकाशित होगा ऐसा कहें तो आत्माश्रय दोष होगा । वह ज्ञान घटज्ञान ही क्यों है ? पटज्ञान क्यों नहीं ? असम्बद्ध प्रकाशन मानेंगे तो सभी सर्वज्ञ बन जायेंगे ॥ ६ ॥

घटज्ञाने घट एव प्रकाशेतेति नियम इति चेदात्माश्रयः तद् ज्ञानं घटज्ञानमित्येव कुतः ? पटज्ञानं कुतो न ? तथा च सर्वं ज्ञानं सर्वविषयकं स्यादिति सर्वः सर्वज्ञः स्यात् ॥ ६ ॥

संस्कारस्यापि भूतार्थसम्बन्धो नोपपद्यते ।
न हि नष्टस्य कुम्भस्य दृष्टः स किल भूतले ॥ ७ ॥ [१७१]

संस्कारमें भी भूतार्थसम्बन्ध संभव नहीं है । नष्ट घटका भूतलसे क्या सम्बन्ध रहेगा ? ॥ ७ ॥

ननु प्रत्यक्षे वस्तुसांनिध्यसत्त्वादनुमानादौ तत्तत्संस्कारसत्त्वेन तज्जन्यस्य तत्प्रकाशननियमान्न दोष इति चेन्न । अन्तर्ज्ञानस्य बहिर्वस्तुना व्यवधानावश्यंभावात् । संस्कारस्यापि भूतार्थसम्बन्धानुपपत्तेः । न हि नष्टघटस्य सम्बन्धो भूतले विद्यते ॥ ७ ॥

असम्बद्धो न सम्बन्धः सम्बद्धत्वेऽनवस्थितिः ।
अनिर्वाच्यस्ततः सर्वः सम्बन्धो नैव संशयः ॥ ८ ॥ [१७२]

और यह नया कल्पित सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियोंसे सम्बद्ध हो तो ही सम्बन्ध माना जा सकेगा । अन्यथा घट और पटके बीचमें आये हुए पत्थरके समान एक नया पदार्थमात्र होगा । उससे सम्बन्ध नहीं होगा । यदि यह सम्बन्ध सम्बद्ध है तो एक नया सम्बन्ध और आया वह भी सम्बद्ध है तो अनवस्था होगी । इसी युक्तिसे सूत्रकारने समवायखण्डन किया है—'समवायाभ्युपगमश्च साम्यादनवस्थितेः' । अतएव अनवस्थाको इष्टापत्ति मानना भी शास्त्रबहिर्भूत है ॥ ८ ॥

अपि च सम्बन्धो मध्यागतो द्वाभ्यां सम्बन्धिभ्यां यद्यसम्बद्धस्तदा सम्बन्धिद्वयाऽयोजकत्वम् । अविद्वयमध्यनिक्षिप्तरज्जुवत् । यद्यविद्वयबद्धैकरज्जुवत्सम्बद्धत्वमुच्यते तदा तत्र सम्बन्धान्तरमित्यनवस्था । विनापि सम्बन्धान्तरं तत्र सम्बद्धत्वस्वीकारे प्रथमसम्बन्धस्यापि वैयर्थ्यापत्तिः । तथा सत्यसम्बद्धयोः सम्बद्धत्वप्रतीत्यापत्तिः ॥ ८ ॥

अन्यथानुपपत्त्युक्तिमात्रेण न कृतार्थता ।
तया साध्यः पदार्थो हि निर्वक्तव्यो मनीषिणा ॥ ९ ॥ [१७३]

दृश्य जो दीख रहा है अतः अन्यथानुपपन्न होकर कोई सम्बन्ध जरूर होना चाहिये इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिको बोलनेमात्रसे कृतार्थता नहीं होती । 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' ऐसा न्याय है । प्रथम आप लक्षण

बताईये फिर उसमें प्रमाण दीजिये । लक्षण नहीं है तो वस्तु मिथ्या होजायेगी । तब प्रमाणोपन्यास व्यर्थ होगा ॥ ९ ।

यत्तु सम्बन्धान्तरानपेक्ष एव कोऽपि सम्बन्धो दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या सिद्ध्यतीति तन्मौढ्यमात्रम् । न ह्यन्यथानुपपत्तिर्नाम काचनेश्वरेच्छा । न हि प्रमाणोक्तिमात्रेण गतार्थता । तेनावगम्यमानपदार्थनिर्वचनमपि कर्तव्यम् । लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिरिति सिद्धान्तात् । योऽयं कल्प्यते सम्बन्धः सोऽसम्बद्ध एवेतरौ सम्बध्नातीति कश्चन चमत्कारो वा माया वा स्यात् । तत्र द्वितीयमभ्युपगच्छामः । अनिर्वचनीया मायेति । प्रथमे कोऽयं चमत्कार इति निर्वक्तव्यम् । अनिवर्चने तु द्वितीयकोटावेव प्रवेशः स्यात् ॥ ९ ॥

एतेन शक्तिः सम्बन्धो यथा पदतदर्थयोः ।
इत्यप्यपास्तं सम्बन्धपारम्पर्यानिवारणात् ॥ १० ॥[१७४]

पद और पदार्थका जिस प्रकार शक्ति सम्बन्ध है वैसे दृक् और दृश्यका शक्ति सम्बन्ध है यह समाधान भी निरर्थक है । शक्तिको किसीने भी दृक् दृश्य सम्बन्ध माना नहीं है । अतिरिक्त शक्ति मानेंगे तो पदार्थान्तर होगा । सम्बन्धपरम्पराकी आपत्ति दोष भी है । पदपदार्थशक्ति तो साध्यसम है ॥ १० ॥

एतेन दूरस्थयोरपि पदतदर्थयोर्गोपदगवार्थयोर्यथा शक्तिसम्बन्धस्तथा दृग्दृश्ययोरपि शक्तिसम्बन्धो भविष्यतीति प्रत्युक्तम् । केनापि तदनभ्युपगमात् । अतिरिक्ताभ्युपगमे पदार्थान्तरतापत्तेः । गोंपदस्य शक्तिर्गवीति षष्ठीसप्तमीभ्यां सम्बन्धान्तरकथनेन पूर्ववदनवस्थाया दुर्वारत्वाच्च । न चेदात्माश्रयः ।"समवायाभ्युपगमश्च साम्यादनवस्थितेरि" ति सूत्रेऽनवस्थितेरनिष्टत्वोक्तेः ॥ १० ॥

दूष्यदूषकभावादिमनिर्वाच्यं प्रचक्ष्महे ।
तेनैव व्यवहारः स्यात्तथात्वे चेत् सुखी भव ॥ ११ ॥[१७५]

पूर्वपक्षः—जो आप दृग् और दृश्यके सम्बन्धमें दूषण देते हैं वे दूषण और दूष्यके सम्बन्ध में है या नहीं ? यदि है तो वैसा ही दृग् और दृश्यमें भी होगा । यदि नहीं तो दूषण आपका बना नहीं तो दृग्दृश्यसम्बन्ध रह

गया । उत्तरपक्षः—यदि आप हमारी मान्यताका समानयोगक्षेम मानते हैं तो हम कहते हैं– दूष्य और दूषकका अनिर्वचनीय सम्बन्ध है । उसीसे व्यवहार चलेगा । यही आप मानते हैं तो सुखी रहो ॥ ११ ॥

यत्त्वत्र दृग्दृश्ययोः सम्बन्धं दूषयसि तत्र दूष्यदूषकयोः कश्चन सम्बन्धोऽस्ति न वा। यदि विद्यते तदा तथैव दृग्दृश्ययोरपि सम्बन्धः स्यात् । यदि नास्ति तदा दूषणानुपपत्तिरिति । तत्रोच्यते । अनिर्वचनीयेनाध्यासिक-सम्बन्धेन व्यवहारतज्जन्यप्रतीत्यादिरस्मन्मतेन । तथैव त्वयाप्यङ्गीक्रियते चेत्तदा सुखी भव ॥ ११ ॥

यश्चोभयोः समो दोष इति न्यायोऽत्र नाञ्चति ।
न साम्यं परिहारेऽस्ति ह्यनिर्वाच्यत्वमन्तरा ॥ १२ ॥[१७६]

दोनोंका दोष और परिहार समान हो तो एक दूसरे पर आरोप मत लगाओ । यह न्याय यहाँ पर लागू नहीं होता । हां, परिहारमें आप अनिर्वाच्यता मानते हैं तो समानता होगी । किन्तु तब आप जगन्मिथ्यात्ववादी हो जायेंगे ॥ १२ ॥

"एतेन यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा पुनः । नैकः पर्यनुयोक्त-व्यस्तादृगर्थविचारणे ।" इति न्यायस्याप्यनवसरः । परिहारे साम्यविरहात् । भवान् अस्ति कश्चित् सम्बन्ध इति वदति । न तु निर्वक्ति। वयमाध्यसिक-सम्बन्धं ब्रूमः । यद्यनिर्वचनीयत्वेन साम्यं तदा सुखी भवेत्येवोत्तरम् । नन्वाध्यासिकसम्बन्धेन दूषणं न वस्तु दूषयितुं क्षमते । न हि मरुमरीचिका-जलं मरुभूमिं क्लेदयतीति चेन्न । वस्तुतो दूष्यमाणस्याप्याध्यासिकत्वात् । न जगत् सत्यं प्रतीतिमात्रमिति हि वयम् । त्वदीयां भाषामाश्रित्य तु दूषणं ब्रूमः । न पुनरस्माकं ततः किंचिद् ग्राह्यमस्ति । स्वसिद्धस्वप्रकाशानन्दतुष्टा वयम् ॥ १२ ॥

भ्रान्तिसिद्धं जगत्सत्त्वमनिर्वाच्यैर्हि दूषणैः ।
वारयामो वयं स्वाप्नरोगं स्वाप्नौषधैर्यथा ॥ १३ ॥ [१७७]

भ्रान्तिसिद्धजगत् की सत्ताको हम अनिवर्चनीय दूषणोंसे दूषित कर रहे हैं । जैसे स्वप्न की बिमारी स्वप्न की औषधियों से दूर करते हैं ॥ १३ ॥

स्वाप्नरोगस्य स्वाप्नौषधेन निवारणमिव युष्माकं भ्रान्तिसिद्धसत्यत्व-मनिर्वचनीयदूषणेन निवारयामः केवलम् । ऐतावांस्तु विशेषः । दृष्टान्ते प्रातिभासिकत्वं दार्ष्टान्तिके व्यावहारिकत्वमिति ॥ १३ ॥

तादात्म्यमेव सम्बन्धो जाग्रति व्यावहारिकः ।
स प्रातिभासिकः स्वप्ने दृश्युभौ तेन कल्पितौ ॥ १४ ॥ [१७८]

तब प्रातिभासिक दोषोंसे भी मतदूषण आसान होगा । नहीं । जाग्रतमें व्यावहारिक चित्तादात्म्य सम्बन्ध है । स्वप्नमें प्रातिभासिक चित्तादात्म्य है । हां, ये दोनों चितमें ही कल्पित हैं ॥ १४ ॥

ननु व्यावहारिके व्यवहारतो नामनिर्वचनं भवत्येव । गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणमित्यादिदर्शनादिति को नामायं सम्बन्धो भवतो मते । योऽसौ स ममापि भविष्यतीति चेत् ? चित्तादात्म्यमेव विषयत्वमित्यस्मत्सिद्धान्तः । दृशि चैतन्यलक्षणायां जडस्य तादात्म्यमाध्यासिकमेव भवति । तच्च जाग्रदादौ व्यावहारिकम् । स्वाप्नार्थे प्रातिभासिकम् । पारमार्थिकं तादात्म्यं तु नास्त्येव । दृग्रूपे च चैतन्ये तेन तादात्म्येन जाग्रदर्थः स्वाप्नार्थश्च कल्पितौ भवतः । न हि सम्बन्धान्तरेण दृक्सम्बद्धं प्रकाशेत । प्रकाशन्ते च जाग्रदर्थाः स्वाप्नार्थाश्चेति दृक्तादात्म्यवन्तः सर्वे । एतच्चेत् त्वयाभ्युप-गम्यते तर्हि नास्ति विवादावसरः । तथा सति स्वदूषणमनुद्धृत्य परदूषणं वक्तुकामस्याऽप्राप्तकालनिग्रहस्थानं च ॥ १४ ॥

द्वित्रादिकक्षपर्यन्तमबाध्यं व्यावहारिकम् ।
स्यात् प्रातिभासिकं बाध्यं निर्बाधं पारमार्थिकम् ॥ १५ ॥ [१७९]

दो तीन या कहीं चार पांच आदि कक्षातक बाध नहीं होता है तो उसे व्यावहारिक मानते हैं । उतनेमें बाध हो जाये तो वह प्रातिभासिक है । सर्वथा बाध न हो तो उसको पारमार्थिक कहते हैं । जैसे दूरसे कोई आ रहा है तो यज्ञदत्तने विष्णुमित्रसे पूछा यह देवदत्त दीखता है । विष्णुमित्रने कहा हां । बस इतनेसे व्यवहार हो जायेगा । इतनेमें चैत्र

आकर बोला अरे, वह मैत्र है। मैंने नजदीकसे देखा। तो बाध हो गया, प्रातिभासिक हुआ ॥ १५ ॥

ननु चितः समत्वात्तत्तादात्म्ये व्यावहारिकादिभेदः कथम् ? द्वित्रादिकक्षापर्यन्तं यस्य बाधो न भवति स व्यावहारिक इत्युच्यते। द्वित्रादिकक्षाभ्यन्तरमेव यद् बाध्यं तत्प्रातिभासिकमित्युच्यते। यस्य कदाचिदपि क्वचिदपि बाधो न भवति नित्यस्वप्रकाशरूपोऽयं पारमार्थिक इत्युच्यते। सत्ताभेदं परे प्राहुस्तदन्यत्र विस्तृतम् ॥ १५ ॥

मृषात्वेनेक्षणं बाधो वस्तुनोऽनीक्षणं क्वचित्।
जीवन्मुक्तौ च मुक्तौ च समाधौ क्वचनान्तिमः ॥ १६ ॥ [१८०]

जगत्को मृषा देखना बाध है। और कहीं न देखना भी बाध है। प्रथम जीवन्मुक्तिमें और द्वितीय विदेहमुक्तिमें है। ज्ञानियोंकी निर्विकल्पक समाधिमें भी द्वितीय बाध होता है ॥ १६ ॥

बाधो नाम क्वचिन्मिथ्यात्वावलोकनम्। क्वचिच्च दर्शनसामग्र्यां सत्यामपि वस्त्वनवलोकनं बाधः। जीवन्मुक्तानामाधिकारिणामीश्वराणां प्रथमम्। विदेहमुक्तौ समाधौ च द्वितीयम्। यथा मरुमरीचिकाजलस्य दूरतो मिथ्यात्वावेक्षणं बाधः। समीपतोऽनवलोकनमेव बाध इति ॥ १६ ॥

दृश्यं दृगेव न जडं लभते स्फुरत्तां
दृग्योगमप्यतितरामसमत्वहेतोः।
सर्वात्मना स्फुरति यो भुजगात्मनेव
रज्जुः स मे दिशतु शं मुहुरन्तरात्मा ॥ १७ ॥

दृश्य दृक् से भिन्न नहीं है। क्योंकि जड़में स्वतः स्फुरणा नहीं हो सकती। यदि कहें कि दृक् के सम्बन्धसे दृश्यमें स्फुरण होता है सो भी ठीक नहीं। सम्बन्ध सममें होता है। अंधकार और प्रकाशका क्या सम्बन्ध ? जैसे रज्जु सर्परूपमें भासित होती है वैसे परमात्मा जगत् रूपसे भासित होता है। वह अन्तरात्मारूपी परमात्मा हमें मंगल प्रदान करें ॥ १७ ॥

इति दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः

*****

अथ बाह्यार्थप्रकाशोपपत्तिः

अज्ञानानुभवो नैव नित्यमुक्तचिदात्मनः ।
कथं बन्धादिकं मैवं जीवानां तदुदीरणात् ॥ १ ॥ [१८१]

प्रश्न—नित्यमुक्त ब्रह्मको अज्ञान नहीं हो सकता । तब बन्ध किस प्रकार ?

उत्तरः—अज्ञान तथा बन्धन जीवको होता है, ब्रह्मको नहीं ॥ १ ॥

ननु नित्यमुक्तस्वप्रकाशचैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवो न संभवति । ततश्चाज्ञानप्रयुक्तबाह्यार्थानुभवोऽपि नैव घटते । ततश्च कथं चिदात्मनो बन्धनम् । बन्धनं हि अविद्यातत्कार्यानुभवात्मकः । बन्धाभावे मोक्षः कस्येति शास्त्रादिवैयर्थ्यमिति । अत्रोच्यते । जीवानामेवाज्ञानानुभवतत्प्रयुक्तबन्धनादिकं न तु ब्रह्मण इत्यनुक्तोपालम्भमात्रमिदम् ॥ १ ॥

अनादिसिद्धभेदास्ते बन्धमोक्षभिदायुजः ।
ऐक्यात्संसरति ब्रह्मेत्युपचारवचः सताम् ॥ २ ॥ [१८२]

पूर्वपक्षः—परंतु प्रथम अज्ञान हो तब जीव पैदा होगा । जीवके पैदा होनेसे पूर्व वह अज्ञान ब्रह्ममें ही मानना पड़ेगा । उत्तरपक्षः—जीव पैदा नहीं होता । वह अनादि है । भेद भी अनादि है । फरक इतना ही है कि भेद बाधित होता है । कहीं-कहीं "ब्रह्मैव संसरति मुच्यते" इत्यादि लिखा है । वह वास्तविक अभेदको लेकर है । औपचारिक है ॥ २ ॥

ननु प्रथममज्ञानं ततो जीवभावस्तद्भेदाश्च । एवं च ब्रह्मण एवाज्ञानानुभवादिकं प्रथमतो वक्तव्यमिति चेन्न । जीवानामनादित्वादनादिसिद्धभेदत्वाच्च तेषामेवाज्ञानानुभवबन्धनादिकम् । क्वचिद् "ब्रह्मैव संसरति मुच्यत" इत्यादि सतां वचनं जीवब्रह्मणोरैक्यमादायौपचारिकम् । अविद्याविशिष्टत्वेन जीवस्य ब्रह्मभिन्नताया अनादित्वात् । भवत्वज्ञानानुभवो ब्रह्मण इत्यभ्युपगमोक्तिः परेषामनुक्तोपलम्भमात्रम् । न हि समाधिस्थो जीवोऽप्यनुभवत्यज्ञानं कुतो ब्रह्मणस्तदनुभवः ॥ २ ॥

सर्वज्ञत्वादिकं सर्वं मायावच्छिन्नचेतने ।
ईश्वराख्ये, स मायादि मिथ्यात्वेनानुपश्यति ॥ ३ ॥ [१८३]

पूर्वपक्षः—यदि ब्रह्म माया एवं जगत्का अनुभव न करता हो तो वह सर्वज्ञ किस प्रकार ? यदि सर्वानुभव करता हो तो अज्ञान भी मानना होगा । उत्तरपक्षः—ईश्वर ही में सर्वज्ञत्वादि है । ईश्वर मिथ्यात्वेन सर्वको जानता है । अतएव बद्ध भी नहीं है । जीव ज्ञानोत्पत्तिसे पहले सत्यत्वेन जगत्को देखता है । ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद मिथ्यात्वेन देखता है यही विशेषता है ॥ ३ ॥

ननु यदि ब्रह्म मायादिकं नानुभवति तदा तस्य सर्वज्ञत्वादिकं न स्यात् । तदनुभवे वा बन्धनादिकमपीति नित्यमुक्तत्वं न स्यादिति चेन्न । ईश्वरस्यैव सर्वज्ञत्वादिकम् । सोऽपि मिथ्यात्वेनाज्ञानतत्कार्यादिकमनुभवतीति न बद्धो भवति । जीवस्तु ज्ञानोत्पत्तेः प्रागज्ञानतत्कार्ये सत्यत्वेनानुभवति । ज्ञानोत्तरं मिथ्यात्वेनेति विशेषः । विदेहकैवल्ये तु ब्रह्मरूपेणावस्थानान्न सत्यत्वेन नापि मिथ्यात्वेनानुभवति ॥ ३ ॥

न जगद् वेत्ति चेदज्ञं ब्रह्म स्यादिति चेन्न तत् ।
न जगद् विद्यते नास्य भावात्माज्ञानमेव यत् ॥ ४ ॥ [१८४]

पूर्वपक्षः—यदि सर्वज्ञत्वादि ब्रह्ममें नहीं तो वह अज्ञानी होगा । उत्तरपक्षः—जगत् हो तब उसका अज्ञान कहा जायेगा । दूसरी बात अज्ञान भावरूप होता है यह बतायेंगे । वह ब्रह्ममें नहीं है ॥ ४ ॥

न चैवं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वाभावेनाऽज्ञत्वं स्यान्मुक्तजीवस्य वेति वाच्यम् । सर्वस्मिन् सति हि तज्ज्ञानविरहेणाज्ञत्वं कथंचित्प्रसज्यते । सर्वस्यैव विरहे कुतः सर्वज्ञता कुतश्चाज्ञानिता वस्तुतस्त्वज्ञानं न ज्ञानाभावोऽस्मन्मते, किन्तु भावपदार्थ इति वक्ष्यामः । न तत्स्पर्शो ब्रह्मणि । मुक्तजीवे च तन्नष्टमिति नाज्ञत्वप्रसङ्ग एव ॥ ४ ॥

रज्जुसर्पमजानन् किमज्ञानीत्युच्यते नरः ।
तं जानन् प्रत्युत भवेदज्ञानी ह्यनृतेक्षणः ॥ ५ ॥ [१८५]

क्या रज्जुसर्पको न जाननेवाला अज्ञानी कहलाता है ? बल्कि जो रज्जुसर्पको देखता है वही अज्ञानी होता है ॥ ५ ॥

न हि रज्जुसर्पमपश्यन्नज्ञानीत्युच्यते । प्रत्युत रज्जुसर्पं पश्यन्नेवाऽज्ञानी मूढ इत्युच्यते । यतः सोऽज्ञानमूलकमनृतमीक्षते ॥ ५ ॥

मायाकल्पितबाह्यार्थप्रकाशो हीशजीवयोः ।
न ब्रह्मणो नापि मुक्तजीवस्येति विनिश्चयः ॥ ६ ॥ [१८६]

अतः मायाकल्पित बाह्य अर्थका प्रकाश जीव और ईश्वरको ही होता है । न कि ब्रह्मको या मुक्त जीवको । यही सिद्धान्त है ॥ ६ ॥

मायायास्तत्कल्पितबाह्यार्थानां च प्रकाशो जीवेश्वरयोरेव भवति न तु मायासंस्पर्शरहितस्य ब्रह्मणो मुक्तजीवस्य वा तथाभूतस्येत्येव निश्चयः ॥ ६ ॥

मिथ्या पश्यन् जगज्जीवो जीवन्मुक्तो भवेदिह ।
ईश्वरोऽनादितः पश्यन् नित्यमुक्तोऽखिलं मृषा ॥ ७ ॥ [१८७]

पूर्वपक्षः—तो क्या ईश्वर अज्ञानी है ? उत्तरपक्षः—ईश्वर तो क्या जीव भी जगत्को बाधित देखता है तो मुक्त होता है । ईश्वर अनादिकालसे ही जगत्को बाधित देखता है अतः नित्यमुक्त होता है । (लेशाविद्याको लेकर अज्ञानी नहीं होता इत्यादि आगे देखेंगे) ॥ ७ ॥

यदा जीवो जगदिदं मिथ्यात्वेन पश्यति स जीवन्मुक्तो भवति । ततः पूर्वं तु बद्धः । ईश्वरस्त्वनादित एव जगदिदं मिथ्यात्वेन पश्यतीति स नित्यमुक्त इत्येष विशेषो जीवेशयोः ॥ ७ ॥

बाधेऽपीष्टा बाधितस्यानुवृत्ति-
र्धन्वन्यम्भो वीक्षते ज्ञानवांश्च ।
मायाकार्यं वीक्षते यस्तथेशो
ऽनादिप्राप्ते बाधिते सोऽवतान्नः ॥ १८ ॥

बाध होनेपर भी बाधितानुवृत्ति होती है। मरुभूमिमें जानकार व्यक्तिको भी जल जैसा दिखाई पड़ता ही है। माया एवं उसके कार्य जगत्को ईश्वर बाधितरूपसे देखता है। सो भी अनादिकालसे। वैसा वह ईश्वर हमारी रक्षा करे ॥ १८ ॥

इति बाह्यार्थप्रकाशोपपत्तिः

*****

(१९)

अथ ब्रह्माश्रयाज्ञानवादः

ब्रह्माश्रयं विदुः केचिदज्ञानं ब्रह्मगोचरम्।
जीवमज्ञानजं नाऽज्ञानाश्रयं तेऽनुमेनिरे ॥ १ ॥ [१८८]

अज्ञान ब्रह्मविषयक है और ब्रह्माश्रित है ऐसे कुछ आचार्य मानते हैं। उनका कहना है कि अज्ञानसे उत्पन्न जीव अज्ञानका आश्रय कैसे होगा ? ॥ १ ॥

तदिदमज्ञानं ब्रह्माश्रितं वा जीवाश्रितं वेति विचारे संक्षेपशारिरकाचार्यादयो ब्रह्माश्रितमज्ञानमूचुः। कथम् ? अज्ञानप्रयुक्तत्वाज्जीवस्य। "पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर" इति न्यायात् ॥ १ ॥

ननूभावप्यनादी स्तां विशिष्टं किन्त्वनाश्रयः।
विशेषणस्य तत्रात्माश्रयाद् ब्रह्माश्रयं ततः ॥ २ ॥ [१८९]

पूर्वपक्षः—जनक अज्ञान जन्य जीवसे पहले रहा होगा। तब वह कहां था ? यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञान तथा जीव ये दोनों ही अनादि हैं। तब जीवाश्रित माननेमें क्या दोष ? उत्तरपक्षः—विशेषणका आश्रय उसी विशेषणसे विशिष्ट नहीं होता। घटका आश्रय भूतल होगा न कि घटविशिष्ट भूतल। अतः शुद्ध चैतन्य ब्रह्माश्रित ही अज्ञान है। और तद्विशिष्ट ही जीव है ॥ २ ॥

नन्वज्ञानं जीवश्चेत्युभावप्यनादी स्वीक्रियेते । तथा च पूर्वपश्चिमभावविरहादज्ञानाश्रयत्वं जीवस्य कथमनुपपन्नमिति । सत्यम् । एवमप्यज्ञानविशिष्टचैतन्यमेव जीवः, स च नाज्ञानाश्रयो भवितुमर्हति । आत्माश्रयताप्रसङ्गात् । विशिष्टवृत्तेर्विशेषणवृत्तित्वात् । तस्माच्छुद्धब्रह्माश्रितमज्ञानं तद्विशिष्टश्च जीव इति युक्तम् ॥ २ ॥

अन्ये तु ज्ञप्तितः पौर्वापर्यमज्ञानजीवयोः ।
विशेषणमविज्ञाय विशिष्टं ज्ञायतां कथम् ॥ ३ ॥ [१९०]

अज्ञानविशिष्ट चैतन्य जीव है । अज्ञान कहां रहता है पूछनेपर अज्ञानविशिष्ट चैतन्यमें ऐसा उत्तर नहीं होता । अतः ज्ञप्तितः पौर्वापर्य होनेसे ब्रह्ममें अज्ञान है ऐसा अन्य मत है ॥ ३ ॥

अन्ये तु ज्ञप्तितः पौर्वापर्यमज्ञानजीवयोरस्त्येव । न हि विशेषणमविज्ञाय विशिष्टं ज्ञायते । तत्र विशेषणं कुत्रेति जिज्ञासायां विशिष्टमुपस्थापयितुं न शक्यते विशेषणस्य सम्यग्ज्ञानानुदयेन विशिष्टज्ञानोपस्थापनासंभवात् । तस्माच्छुद्धं प्रथममुपस्थाप्य तत्र विशेषणवैशिष्ट्यमानेयम् । यथा घटत्वं न घटत्वविशिष्टे । किन्तु शुद्धे घटे । न चैवमज्ञानविशिष्टस्यानाश्रयत्वेऽपि शुद्धमाश्रयो भवितुमर्हति । शुद्धोऽपि घटो घट एव तथा शुद्धोऽपि जीवो जीव एवेति वाच्यम् । शुद्धचैतन्यस्य ब्रह्मत्वाद् दृष्टान्तवैषम्यात् इति वदन्ति ॥ ३ ॥

जीवोऽज्ञानप्रयुक्तः स्यादजन्योऽनादिरप्ययम् ।
प्रयोजकाश्रयो नैव प्रयोज्यः स्यादितीतरे ॥ ४ ॥ [१९१]

और लोगोंका कहना है कि जीव भले अज्ञानसे जन्य न हो, अनादि हो, फिर भी अज्ञान प्रयुक्त तो है ही । प्रयोजकका आश्रय प्रयोज्य नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

अपरे तु जीवस्याज्ञानजन्यत्वविरहेऽप्यज्ञानप्रयुक्तत्वमवश्यं मन्तव्यम् । 'जीवशौ मायया करोती'ति श्रुतेः । तथा च सति प्रयोजकाश्रयत्वं प्रयोज्यस्य न घटते । प्रयोजकं निरपेक्षं भवति । प्रयोज्यं सापेक्षमिति वदन्ति ॥ ४ ॥

असङ्गो नाश्रयस्तस्मात् कल्पिताश्रयता सतः ।
आध्यासिकोऽस्य सम्बन्धोऽनादिरेवाभ्युपेयते ॥ ५ ॥ [१९२]

पूर्वपक्षः—ब्रह्म असङ्ग है । वह आश्रय किस प्रकार ? उत्तरपक्षः—कल्पित आश्रयता ब्रह्ममें है । आध्यासिक सम्बन्ध अनादि है ॥ ५ ॥

ननु ब्रह्मापि कथमाश्रयः । तस्यासङ्गत्वादिति चेन्न । कल्पितस्याश्रयत्वस्य तत्र संभवात् । तत्र सम्बन्ध आध्यासिक एव । आध्यासिकत्वेऽप्यनादिरयं सम्बन्धः । अनादिषट्कान्तर्गतत्वात् ॥ ५ ॥

कल्पितत्वेन सिद्धाः षट् सा चानिर्वचनीयता ।
सद्विलक्षणतां भावविशेषो वा मृषात्वकृत् ॥ ६ ॥ [१९३]

पूर्वपक्षः—ये आध्यासिक सम्बन्धादि अनादि हो तो मायाजन्य नहीं । तब मिथ्या भी कैसे ? उत्तरपक्षः—ये सभी कल्पितत्वेन अनादिसिद्ध हैं । अनिर्वचनीयत्व या सद्विलक्षणत्व ही कल्पितत्व है । अथवा मिथ्यात्व पारमार्थिक सत्ताशून्यका एक भावविशेष है ॥ ६ ॥

ननु तेषां मायाजन्यत्वविरहे कथं मिथ्यात्वम् । उच्यते । कल्पितत्वेनैव षडिमेऽनादिसिद्धाः । अन्यथा मायाया मायाजन्यत्वविरहात् कथं मिथ्यात्वं स्यात् । कल्पितत्त्वं नामानिर्वचनीयत्वं वा सद्विलक्षणत्वं वा स्वभावविशेषो वा । सतो विलक्षणः कश्चन स्वभावो वर्तत इति वैलक्षण्यं त्रिकालाऽबाध्यत्वविरहात् । स च स्वभावो मिथ्यात्वमनादिष्वप्यानयति । नन्वज्ञानं क्वचिल्लब्धपदमन्यत् प्रयोजयति । अलब्धपदमज्ञानं कथं सम्बन्धं प्रयोजयेत् । सम्बन्धे प्रयुक्ते तेन लब्धपदमज्ञानं सम्बंन्धं प्रयोजयतीत्यन्योन्याश्रयापातादिति चेन्न । एवंविधदोषस्याऽनिर्वचनीयाज्ञानभूषणत्वात् । न चैवं जीवस्याप्यज्ञानाश्रयत्वे आत्माश्रयादिप्रागुक्तदूषणानां भूषणत्वं कथं नेति वाच्यम् । यावत्संभवं दूषणपरिहारे बोधसौलभ्यात् । अत एव जीवाश्रितमज्ञानमिति पक्षान्तरमस्त्येव ॥ ६ ॥

आकाशनीलिमा मिथ्याऽनादिकालात् प्रवर्तते ।
इतिव्यवहृतौ भावविशेषो विषयीभवेत् ॥ ७ ॥ [१९४]

आकाशकी नीलिमा अनादिकालसे मिथ्या है इस व्यवहारमें भावविशेष ही मिथ्यात्व प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

आकाशनीलिमा अनादिकालतो मिथ्यारूप एव प्रवर्तते इति लोका व्यवहारन्ति । तत्र यदि मायाजन्यत्वं मिथ्यात्वं तदाऽनादित्वोक्तिर्न घटते । ततश्च मिथ्यात्वं नाम धर्मविशेष एव लोकप्रतीतिविषयः ॥ ७ ॥

ननु ब्रह्मणि नाज्ञानं युक्तं सूर्ये तमो यथा ।
मैवं पूषण्युलूकस्य तिमिरं दृष्टिगोचरम् ॥ ८ ॥ [१९५]

पूर्वपक्षः—ब्रह्म ज्ञानप्रकाशरूप है । उसमें अज्ञान किस प्रकार रहेगा ? क्या सूर्य में भी अन्धकार रह सकता है ? उत्तरपक्षः—हां, रह सकता है । उल्लूको सूर्यमें तम दीखता है ॥ ८ ॥

ननु ब्रह्म प्रकाशस्वरूपम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । तत्राज्ञानं तमोलक्षणं न घटते । न हि माध्याह्नार्कमरीचिषु तमःस्थितिसंभव इति चेन्न । तिग्मकरकरनिकरेष्वेव घूकानां तमसो दृष्टिगोचरत्वात् प्रकाशेऽपि तमःस्थितौ बाधकाभावात् ॥ ८ ॥

भ्रान्तिसिद्धमसद् ध्वान्तं घूकादेः पूषणीति चेत् ।
मूढानां भ्रान्तितः सिद्धं ब्रह्मण्यपि तमस्तथा ॥ ९ ॥ [१९६]

पूर्वपक्षः—अरे, सूर्यमें तम उल्लूकी कल्पनामात्र है । उत्तरपक्षः—जी हां, ब्रह्ममें अज्ञान भी मूढकल्पित है । वास्तविक नहीं है ॥ ९ ॥

ननु पूषणि न वस्तुतस्तमोऽस्ति । किन्तु घूकानां भ्रान्तिसिद्धं तदिति चेत् । तुल्यं ब्रह्मण्यपि । न वस्तुतस्तत्राज्ञानमस्ति । मूढानां भ्रान्तिसिद्धं तत्राज्ञानम् । ननु मूढत्वं मोहयुक्तत्वमज्ञानवत्त्वं, तथा चाज्ञानसिद्धमज्ञानमित्यत्रात्माश्रय इति चेत् । सत्यम् । बाधितत्वेनानादिसिद्धमित्यत्र तात्पर्यात् । 'भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण । मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेणे' ति संक्षेपकाचार्याः ॥ ९॥

साधकं ब्रह्म तमसस्तत्सिद्धिर्नैव तद्विना ।
तदेव बाधकं च स्याद् ज्ञायमानं स्वरूपतः ॥ १० ॥ [१९७]

ब्रह्मरूपी ज्ञानप्रकाश अज्ञानका साधक है। अज्ञान है यह मालूम कैसे पड़ा ? ज्ञानसे। वह ज्ञानप्रकाश वास्तविकरूपसे ज्ञायमान होनेपर अज्ञानका बाधक होगा ॥ १० ॥

प्रत्युत ब्रह्मचैतन्यमज्ञानसाधकमेव। ज्ञानस्यैव जगत्साधकत्वेनाज्ञान-साधकताया अपि तत्रैव स्वीकर्तव्यत्वात् ॥ १० ॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्यबाधकतोदिता।
ज्ञानेन तु तदज्ञानमिति बाधकतोदिता ॥ ११ ॥ [१९८]

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" इस गीतावचनसे अबाधकता सिद्ध होती है। और "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितं" से बाधकता भी सिद्ध होती है ॥ ११ ॥

नन्वेवं ज्ञानमेवाज्ञानसाधकं चेदन्यस्याज्ञानबाधकत्वाभावात्कदाप्यज्ञानं बाधितं न स्यादिति चेन्न। ज्ञायमानब्रह्मचैतन्यस्याज्ञानबाधकत्वोपगमात्। एतदेव भगवानप्याह–"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन" इति। यदि ह्यज्ञानमावरणायोपस्थितं तदैव तज्ज्ञानं कथं नाज्ञानबाधकमभूत्। यदि नाभूत्तदा पश्चाज्ज्ञानेन तदज्ञानं कथं नाशितं स्यात् ? तस्मात् स्वतो ब्रह्मचैतन्यं सर्वजगतस्तन्मूलस्य चाज्ञानस्य साधकं भवति। शास्त्राचार्यादिभिर्ज्ञायमानं तदेव ब्रह्मचैतन्यम-ज्ञाननिवर्तकं भवतीत्येव सिद्धान्तः स्वीकार्यः ॥ ११ ॥

साधिकापि तृणादिनां मण्यारूढाऽर्कदीधितिः।
बाधिका स्याद् यथा तद्वद्वृत्त्यारूढाचितिर्भवेत् ॥ १२ ॥ [१९९]

सूर्यप्रकाशमें तृणादि पुष्ट होते हैं अतः वह साधक है। किन्तु सूर्यकान्तमणिमें आरूढ होनेपर वही सूर्यप्रकाश तृणादिको जला डालता है-बाधक होता है। वैसे वृत्त्यारूढ चैतन्य भी अज्ञाननाशक होता है ॥ १२ ॥

तृणादीनां साधिका पोषणकारिणी चार्कदीधितिर्मण्यरूढा सती तेषामेव दाहकत्वेन बाधिका भवति। एवमेव स्वतोऽज्ञानतत्कार्यसाधकमपि ब्रह्म-चैतन्यमखण्डाकारवृत्त्युपारूढं सत्तस्यैवाज्ञानतत्कार्यस्य बाधकं भवति ॥ १२ ॥

अनादितोऽज्ञानमनुप्रवृत्तं
पुष्णन् स्वयं वृत्तिगतश्च मुष्णन् ।
जयत्यसौ कोऽपि नृसिंहवेषो
मच्चित्तसिंहासनसंनिविष्टः ॥ १९ ॥

अनादिकालसे आ रहे अज्ञानका स्वयं पोषण करने वाले और अखण्डाकार वृत्तिगत होनेपर स्वयं अज्ञान तत्कार्यका मोषण करनेवाले शोषकपोषकोभयस्वरूप नृसिंहवेष भगवान् मेरे चित्तरूपी सिंहासनपर विराजमान हो । उस भगवानकी जय हो ॥ १९ ॥

इति ब्रह्माश्रयाज्ञानवादः

*****

(२०)
अथ ब्रह्मणोऽवेद्यत्वस्थापनम्

वृत्तिव्याप्यजुषोऽप्येव न फलव्याप्यता चितः ।
अनुभाव्या ततो नैषा चितिर्ह्यनुभवात्मिका ॥ १ ॥ [२००]

चैतन्यरूप ब्रह्म वृत्तिव्याप्य होनेपर भी फलव्याप्य नहीं है । अतएव अनुभवात्मक यह चैतन्य अनुभाव्य नहीं माना जाता । जैसे घटको देखते समय प्रथम घटाकार चित्तवृत्ति होती है, तब घटमें प्रकाशन (स्फुरण) रूपी फल होता है, वैसे ब्रह्ममें वृत्ति होनेपर भी उसका तत्प्रयुक्त स्फुरण नहीं होता । कारण वह हमेशा स्फुरणरूप ही है ॥ १ ॥

सैषा ब्रह्मचितिरनुभूतिरूपा स्वयंप्रकाशा नानुंभाव्या भवति । अज्ञानावरणनिवारणार्थं वृत्तिव्याप्तिस्वीकारेऽपि फलव्याप्यत्वलक्षणमनुभूतिकर्मत्वं नैव तस्याः ॥ १ ॥

अनुमित्यादिभिर्नैवानुभाव्यत्वमुपेयते ।
नैयायिकादिभिस्तत्त्वं पारिभाषिकमीरितम् ॥ २ ॥ [२०१]

पूर्वपक्षः—अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात् ऐसा अनुमान वेदान्ती करते हैं। यह अनुमान ही अनुभूति होनेसे अनुभाव्यता ब्रह्ममें आ गयी। उत्तरपक्षः—अनुमान अनुभव कहां है ? नैयायिक लोग स्मृतिको अलग करनेके लिये पारिभाषिक अनुभूति शब्दका प्रयोग अनुमानादिमें करते हैं। अनुमान करके कोई नहीं बोलता कि मैं पर्वतमें वह्निका अनुभव करता हूँ। देवदत्त दुःखी है सुनकर क्या कोई कहता है कि मैं दुःखका अनुभव कर रहा हूँ ? ॥ २ ॥

यत्तु अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वादित्यद्वैतिप्रदर्शितानुमिति-रूपानुभूतावेव पक्षविधया अनुभूतेः कर्मत्वाद् वदतोव्याघात इति; तत्र ब्रूमः। अनुमित्यादेरनुभूतित्वं केन शिक्षितो भवान् ? न हि पर्वते वह्न्यनुमितिसमनन्तरं पर्वते वह्निमनुभवामीति बालोऽपि वदति। गौर्वने चरतीति श्रुत्वा वने चरन्तीं गामनुभवामीति भवादृशा एवालौकिका वदितुमर्हन्ति। ननु नैयायिकगुरोः शिक्षां लब्ध्वाऽहं ब्रवीम्यनुमित्यादि-रप्यनुभूतिरिति। प्रत्यक्षानुमित्यादीनां चतसृणामेव प्रमितीनां तैरनुभूतित्व-स्वीकारादिति चेत् ? अस्तु नैयायिकादीनां चतसृषु पारिभाषिकतयाऽनु-भूतिशब्दप्रयोगः। न वयं पारिभाषिकतया ब्रूमः। न वा वाच्यार्थतया। किन्तु निरस्तोपाधिकं शुद्धं चैतन्यं लक्षयित्वा। तत्र वृत्तिजन्यस्फुरण-रूपफलाश्रयत्वविरहादनुभूतिकर्मत्वं नास्तीति ब्रूमः॥ २ ॥

वित्तिक्रियाफलं स्फूर्तिर्वित्तिकर्म तदाश्रयः।
प्रथमस्फूर्तिवैयर्थ्यं स्फूर्तौ स्फूर्त्यन्तरं यदि ॥ ३ ॥ [२०२]

'घटं वेत्ति' यहां वेदनक्रिया है। उसका फल है घटका स्फुरण उस स्फुरणका आश्रय वेदनक्रियाका कर्म है। वैसे "ब्रह्म वेत्ति" में वेदनक्रियाका फल स्फुरण यदि ब्रह्ममें मानते हैं तो वह घटवत् जड होगा। ब्रह्म स्वयं स्फुरणरूप है। उसमें अन्य स्फुरणकी आवश्यकता नहीं है। एक स्फुरणमें दूसरा स्फुरण मानेंगे तो प्रथम स्फुरण व्यर्थ होगा ॥ ३ ॥

क्रियाजन्यफलाश्रयत्वं हि कर्मत्वम्। जानातिक्रियायाः फलं स्फुरणं, तदाश्रयश्च ज्ञानकर्म भवति। न हि ब्रह्मचैतन्ये ज्ञानजन्यं स्फुरणमस्ति।

तस्य स्वयं स्फुरणरूपत्वात् । न हि स्फुरणे स्फुरणान्तरं विद्यते । यदि विद्येत तदा तेनैवार्थप्रकाशोपपत्तौ प्रथमस्फुरणवैयर्थ्यमेव ॥ ३ ॥

सूर्ये सूर्यान्तरं चेत् स्यात् प्रथमः किं करिष्यति ।
अनुभूतिस्ततो न स्यादनुभाव्या कथंचन ॥ ४ ॥ [२०३]

सूर्यको प्रकाशित करनेके लिये दूसरे सूर्यकी जरूरत नहीं है । यदि दूसरा सूर्य हो तो वही जागत्‌को भी प्रकाशित कर लेगा । प्रथम सूर्यकी आवश्यकता क्या होगी ? इसी प्रकार अनुभूतिके लिये दूसरी अनुभूतिकी आवश्यकता नहीं होगी ॥ ४ ॥

यदि सूर्यप्रकाशनाय सूर्यान्तरं स्वीक्रियेत तदा तेनैव सूर्यान्तरेण घटादेरपि प्राकशसंभवेन प्रथमसूर्यवैयर्थ्यमेव । तत्र सूर्यान्तरं चेदनवस्था च । न च परानुभूतिविषयकानुमित्यादिना तादृशस्फुरणरूपफलमुत्पद्यते । परोक्षत्वात् । तथा चाचार्यस्य ज्ञानवत्तामनुमाय तदुपसदनादिकं क्रियत इति आचार्यनुभूतेः शिष्यानुभूतिकर्मत्वं ध्रुवमित्यादिकं प्रंलापमात्रमेव । तथा चानुभाव्यत्वेंऽननुभूतित्वमित्युपहास्यमित्येतदेव प्रक्रियानभिज्ञस्य पण्डितंमन्यस्योपहास्यम् । यदि सूर्यप्रकाशनाय सूर्यान्तरं स्वीक्रियेत तदा तेनैव घटादेरपि प्रकाशसंभवेन प्रथमसूर्यवैयर्थ्यमुक्तमेव । अननुभूता ह्यनुभूतिर्नास्त्येव । सा स्वप्रकाशतयाऽनुभूत्यन्तरेण वेति तु विवादः । तत्र यद्यनुभूत्यन्तरं तदा तयैव घटाद्यः प्रकाशेरन् । न चानुभूत्यन्तरस्य घटादिविषयकत्वाभावः शक्यकथनः । घटमहं जानामीति घटस्यापि तत्र विषयीकरणात् ॥ ४ ॥

न जन्यं ब्रह्मचैतन्यं प्रतिबिम्बं तथेति चेत् ।
बिम्बे न तत्प्रक्रमते न फलव्याप्यता ततः ॥ ५ ॥ [२०४]

पूर्वपक्षः—वृत्ति हो तो प्रतिबिम्ब होगा ही । उसकी आवश्यकता हो या नहीं यह अलग बात है । प्रतिबिम्ब आ गया है । वृत्तिव्याप्यताके समान प्रतिबिम्बात्मक फलव्याप्यता भी अवश्य होगी ही । उत्तरपक्षः—प्रतिबिम्ब बिम्बके सामने कुण्ठित हो जाता है । दर्पणमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ा तो उसका प्रकाश वापिस जाकर सूर्यको प्रकाशित नहीं करता । वहांतक

वह जा ही नहीं सकता । अतः ब्रह्ममें फलव्याप्यता नहीं हो सकती । स्वयं ब्रह्मचैतन्य फल कहें तो वह नित्य होनेसे वृत्तिक्रियाजन्य नहीं होगा ॥ ५ ॥

वस्तुतस्तु ब्रह्मचैतन्यात्मकानुभवस्य नित्यत्वान्नास्य वित्तिक्रिया-जन्यत्वम् । तत्प्रतिबिम्बस्य जन्यत्वसंभवेऽपि न तद् ब्रह्मचैतन्यस्फुरणरूपं संभवति । न हि सूर्यप्रतिबिम्बं सूर्यस्फुरणात्मकं येन सूर्यः स्फुरेत् । कुण्ठीभवत्येव केवलं प्रतिबिम्बात्मकप्रकाशो बिम्बप्रकाशाभिमुखमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

यस्यामतं तस्य मतमविज्ञातं विजानताम् ।
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति श्रुतेः ॥ ६ ॥ [२०५]

ब्रह्म मननविषय नहीं हो सकता यही ब्रह्मका मनन है । ब्रह्मविषयकज्ञान नहीं हो सकता यही ज्ञान ब्रह्मका ज्ञान है । उस विज्ञाता आत्माको किससे जान सकेंगे? किसीसे नहीं, इत्यादि श्रुतियोंमें पूर्वोक्त बात ही बतायी है ॥ ६ ॥

अत्र च श्रुतयः "यस्यामतं तस्य मतम्", "अविज्ञातं विजानतां" "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्", "येनेदं सर्वं विजानीते तं केन विजानीयात्", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "न शब्दगोचरो यस्य योगिध्येयं परं पदमि"त्याद्याः । अत्र तस्य विज्ञातमविजानतामित्यादौ स्पष्टा ज्ञातत्वोक्तिरिति यदाह कश्चित् तद् विरोधालंकारानभिज्ञस्य सोरस्ताडनरोदनमात्रम् । यो मनोऽविषयत्वं मनुते स एव कृतमननः, यो विज्ञानाविषयत्वेन विजानाति स विजानाति इत्यादिरर्थः । विज्ञातारमरे इत्यादिः स्पष्टार्थः । ब्रह्मविदित्यस्यापि ब्रह्मगोचराखण्डाकारवृत्तिमानित्यर्थः । तथा च न ज्ञानजन्यस्फुरणाश्रयत्वलक्षणवेद्यत्वं कुत्राप्युच्यते ॥ ६ ॥

प्रकाश्यः कुम्भादिः स्वमनुपतता सौरमहसा
प्रकाश्यो नैवेनो निजसृतपरावृत्तघृणिभिः ।
जगद् वेद्यं वृत्तिप्रतिफलतिचैतन्यमहसा
न चैतन्यं तन्मे स्फुरतु परिशुद्धं श्रुतिनुतम् ॥ २० ॥

घटादि वस्तु अपनेपर पड़ी सूर्यकी रोशनीसे प्रकाशित होती है, किन्तु उसी प्रकार सूर्यसे निकली हुई रोशनी वापिस आकर सूर्यको ही व्याप्त कर स्वयंको प्रकाशित करे ऐसी बात नहीं हो सकती। क्योंकि, वह प्राकाशरूप है ही। वैसे वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्यसे युक्त होकर जगत् विदित होता है उस प्रतिबिम्बसे युक्त होकर ब्रह्म भी प्रकाशित हो यह बात नहीं हो सकती। वह अवेद्य परिशुद्ध चैतन्य मेरे हृदयमें स्फुरित हो॥ २०॥

इति ब्रह्मावेद्यत्वव्यवस्थापनम्

*****

(२१)

अथ संविदनुत्पत्तिवादः

सैषा नित्या चितिर्वृत्तेरुत्पत्तिध्वंसभाक्त्वतः।
घटाकाशवदाऽऽकारजनिनाशादिधीपदा॥ १॥ [२०६]

यह चैतन्य नित्य भी है। उसकी उपाधि चित्तवृत्ति उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली होनेके कारण घटाकार ज्ञान उत्पन्न हुआ इत्यादि व्यवहारका विषय होता है, वस्तुतः नहीं। जैसे घटाकाश उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि उपाधिके उत्पत्ति और विनाशके कारण होता है। स्वयं वह उत्पत्तिविनाशवान् नहीं है॥ १॥

सैषा स्वप्रकाशात्मस्वरूपा संविदुत्पत्तिविनाशरहिता।. ननु घटज्ञान-मुत्पन्नं नष्टमित्यादिप्रतीतेरवस्थाविशेषात्मकसंविद उत्पत्तिविनाशावेष्टव्यौ। अन्यथा घटादीनामप्युत्पत्तिविनाशौ प्रतिक्षिप्येयातामिति चेन्न। घटाद्या-कारान्तःकरणवृत्तेरुत्पत्तिविनाशावादाय वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ये उत्पत्तिविनाश-प्रतीत्युपपत्तेः। घटाकाशोत्पत्तिविनाशप्रतीतिवत्॥ १॥

न चावस्थाविशेषाः स्युर्घटज्ञानादयश्चितेः।
नाशापत्तेः स्मृतिश्चाह ह्यविकार्योऽयमुच्यते॥ २॥ [२०७]

चेतन आत्माकी नाना अवस्था ही ज्ञान इच्छादि है । ऐसा माननेका अर्थ होगा आत्मा विकारी है । विकारीका फिर नाश भी होने लगेगा । गीतामें स्पष्ट ही बताया है कि यह आत्मा अविकारी है ॥ २ ॥

ननु घटज्ञानादयश्चितेरवस्थाविशेषा उत्पद्यन्ते नश्यन्तीति तद्विषयिणी प्रतीतिरियं घटज्ञानमुत्पन्नं नष्टमित्यादिरिति चेन्न । एवं सति चितेर्विकारित्वं दुर्वारम् । तथा च विकारिण्या नाशश्च ध्रुवः । अपि च स्मृतिराह- "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमि" ति ॥ २ ॥

नावेदिषं किंचिदिति सुषुप्त्याद्याश्रिता स्मृतिः ।
अवस्थाप्रापकाभावात् कथमेवोपपद्यताम् ॥ ३ ॥ [२०८]

इन्द्रियसंनिकर्ष आदि आत्माका अवस्थान्तर करानेवाले होंगे । तब सुषुप्तिमें जो अज्ञानका अनुभव होता है, जिसको लेकर मैंने कुछ नहीं जाना ऐसी स्मृति होती है वह कैसे उपपन्न होगी ? ॥ ३ ॥

सुषुप्तिमधिकृत्य नाहं किंचिदवेदिषमित्यज्ञानपरामर्शश्च कथं त्वन्मते उपपद्यताम् । अवस्थाविशेषप्रापकेन्द्रियसंनिकर्षादेर्विरहेण सुषुप्तौ ज्ञानाभावेन स्मृतिविरहेण परामर्शानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

ननु चानुपलब्ध्या स्यात्तज्ज्ञानं जाग्रतीति चेत् ।
अज्ञातप्रतियोग्यादेस्तदसंभव एव ते ॥ ४ ॥ [२०९]

यह कहें कि अनुपलब्धिप्रमाणसे ज्ञानाभावका ज्ञान जाग्रतमें होता है । तो उत्तर यह है कि प्रतियोगीके ज्ञानके विना अनुपलब्धिप्रमाणसे अभावज्ञान नहीं हो सकता । सुषुप्तिमें प्रतियोगिज्ञान कहां होता है ॥ ४ ॥

नन्वनुपलब्धिप्रमाणेन सुषुप्तौ ज्ञानानुपलब्धेर्जाग्रति तज्ज्ञानाभावस्य प्रत्यक्षमनुपलब्धिप्रमाख्यं भविष्यतीति चेन्न । अनुपलब्ध्याऽप्यभावबोधार्थं प्रतियोग्यादिज्ञानस्यावश्यकत्वात् ॥ ४ ॥

मध्याह्नेऽश्वेक्षणे प्रातर्नाश्वोऽभूदितिवद् भवेत् ।
तन्नोषोऽध्यक्षवत्सुप्तिकालाध्यक्षं न ते यतः ॥ ५ ॥ [२१०]

पूर्वपक्षः—मध्याह्नमें घोड़ा सामने आया तो कहता है प्रातःकाल यहां घोड़ा नहीं था । इसी प्रकार जाग्रत ज्ञानको देखा तो पूर्वसुषुप्तिमें ज्ञान

नहीं था ऐसा अनुभव हो सकता है। उत्तरपक्षः—प्रातःकालका प्रत्यक्ष हुआ था। तब मध्याह्नमें घोड़ेको देखनेपर प्रातः नहीं था बोलने लगा। इस प्रकार सुषुप्तिकाल यदि प्रत्यक्ष होता तो काम बन जाता। किन्तु सुषुप्तिमें कोई ज्ञान ही आपके मतमें नहीं तो उस कालका प्रत्यक्ष कैसे होगा? यदि काल प्रत्यक्ष है तो अवस्थाप्रापक कौन? ॥ ५ ॥

ननु मध्याह्ने गजं संमुखमवलोकमानो ब्रवीति प्रातर्गजो नाभूदिति तत्र प्रातःकाले गजदर्शनं नापेक्षितम्। एवं सुषुप्तिकाले ज्ञानदर्शनविरहेऽपि जाग्रति ज्ञानदर्शनात् सुषुप्तिकाले ज्ञानं नासीदित्यनुपलब्धिप्रमा भविष्यतीति चेन्न। प्रातःकालस्य प्रत्यक्षितत्वात्तदानीं गजो नाभूदिति वक्तुं शक्यत्वात्। अन्यथा सुषुप्तिकाले इह गजो नासीदित्यप्यनुपलब्धिप्रमाणेन ज्ञायेत। सुषुप्ते मयि इह गज आगतो न वेति न जानामि प्रातस्तु नाभूदेवेति हि सर्वे ब्रुवते। इत्थं चाधिकरणप्रत्यक्षमावश्यकमेव। न च सुषुप्तिकाल-रूपाधिकरणप्रत्यक्षमासीदिति तदाश्रितगजाभावविषयकानुपलब्धिप्रमा नाव-कल्पते ॥ ५ ॥

सुप्तत्थितो हि मध्यह्ने दृष्ट्वाश्वं पुरतः स्थितम्।
प्रातर्नाभूदयमिति किं ब्रूतेऽनुपलब्धितः ॥ ६ ॥ [२११]

और मान लीजिये कोई आदमी मध्याह्नतक सोता है। फिर जगा तो अश्वको देखा। तो क्या वह बोलेगा कि प्रातःकाल घोड़ा नहीं था? क्यों? उसने न प्रातःकाल देखा और न स्थान देखा प्रातः समयमें ॥ ६ ॥

अपि च कश्चित्सुष्वाप मध्याह्नपर्यन्तम्। तदानीं कश्चनाश्वो वा नवनिर्मितमूर्तिविशेषो वा पुरो दृष्टः। तदानीं किमयं जानीयात् प्रातः-कालेऽश्वो नासीत्, मूर्तिर्नासीदिति। नैव जानीयात्। तत्कस्य हेतोः? प्रातःसमयाद्यनीक्षणात् ॥ ६ ॥

आकल्य सुप्तिसमयं ज्ञानाभावस्तु वीक्ष्यताम्।
आकल्य सुप्तिसमयमश्वाभावोऽपि वीक्ष्यताम् ॥ ७ ॥ [२१२]

सुषुप्तिसमय की कल्पना करके ज्ञानाभाव प्रत्यक्ष मानें तो वैसे अश्वाभावप्रत्यक्ष भी होने लगेगा ॥ ७ ॥

(आकल्योदरमुर्व्याश्च जलाभावोऽनुवीक्ष्यताम्।
अनुमाय वनं तत्र सिंहाभावोऽवलोक्यताम् ॥

इष्टापत्तिस्तु नो रात्रौ कुञ्जरोऽत्रागतो न वा।
इत्यादिसंशयस्तर्हि त्वन्मते नोपपद्यते॥
न स्याद्विसंवादिकूपखनननायास एव च
न स्यात् सिंहभयं चैव काननं प्रविविक्षतः।
कुतश्चैत्रगृहं चैत्राभावनिश्चायनाय च
गम्यं स्मृत्वैव तद्गेहं तदभावोऽवलोक्यताम्॥ ८॥

अत्र कश्चन पण्डितंमन्य आह—अर्थापत्त्याऽनुमानेन वा सुषुप्तिसमयं ज्ञात्वा तत्र प्रबुद्धपुरुषो ज्ञानाभावमनुपलब्ध्या बुध्येतेति। तन्मौढ्यात्। तथैव सुषुप्तिसमयमवसाय गजाभावादेरप्यनुलब्ध्या ज्ञानापत्तेः॥ ७॥ (एवं पृथिव्युदरमनुमाय तत्रानुपलब्ध्या जलाभावज्ञानं स्यात्। तथा वनमनुमाय तत्र सिंहाभावज्ञानं स्यात्। न चेष्टापत्तिः। रात्रौ गज आगतो न वा गजोऽभवन्न वेत्येवं संशयानुपपत्तेः। एवं क्वचिद्विसंवादिकूपखननप्रवृत्तिर्न स्यात्। जलाभावस्य दृष्टत्वात्। तथा वनं गच्छतः सिंहभयं न स्यात्। कुतश्च गृहे चैत्रो नास्तीति निश्चायनार्थं चैत्रगृहं गत्वा द्रष्टव्यम्। तस्मात्तदधिकरणादिप्रत्यक्षमभावज्ञाने कारणं वक्तव्यम्। न हि सुषुप्तौ यचित्प्रत्यक्षम्।)

इष्टापत्तिस्तु नो रात्रौ तुरगोऽत्रागतो न वा।
इत्यादिसंशस्तर्हि त्वन्मते नोपपद्यते॥ ८॥ [२१३]

यदि कहें कि रातको अश्वाभावज्ञान स्वीकार करेंगे तो यह संभव नहीं है। रातको यहां घोड़ा था कि नहीं इत्यादि संशय तब नहीं होना चाहिये॥ ८॥

न चेष्टापत्तिः। रात्रौ तुरगोऽत्रागतो नवेत्यादि संशयाद्यभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानोत्पतौ ज्ञानमवश्यं प्रत्यक्षीक्रियेतेति वाच्यम्। तत्प्रत्यक्षप्रयोजकमनःसंयोगादिसामग्र्यन्तरविरहात्। अन्यथा सुषुप्तावात्मन एव कुतो न प्रत्यक्षमहस्मीति। तथा सति कथं ज्ञानात्यन्ताभावप्रतिज्ञोपपद्येत। कथं च न किंचिदवेदिषमिति ज्ञानसामान्याभावोक्तिरुपपन्ना स्यात्॥ ८॥

तद्योग्यानुपलब्धिर्हि तस्य सत्त्वप्रसञ्जनात्।
प्रसञ्जितोपलब्धेः स्यादभावोऽभावबोधकृत्॥ ९॥ [२१४]

योग्यानुपलब्धि अभावबोधका कारण माना गया है । योग्यानुपलब्धिका अर्थ है यदि यहां घट होता तो दिखाई पड़ता । नहीं दिखाई पड़ता है अतः नहीं है ॥ ९ ॥

तथा च योग्यानुपलब्धिरेवाभावबोधिका । सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा ॥ ९ ॥

किंच सुप्तोऽहमित्येतज्ज्ञानं तव कथं भवेत् ।
सुप्तोत्थानमृतोत्थानमूर्च्छोत्थानादितौल्यतः ॥ १० ॥ [२१५]

और यह भी बताईये कि मैं सो गया था यह ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि सुप्त, मूर्च्छित, मृत इन तीनों अवस्थाओंमें ज्ञानाभाव समान है ॥ १० ॥

किंच तत्समये सुप्तो वा मृतो वा मूर्च्छितो वेति कथं ज्ञायते ? ज्ञानाभावस्य सर्वत्र समानत्वात् । यदि सुप्तिज्ञानमभूत्तदा ज्ञानसामान्याभावः कथं स्यात् ? अवस्थाविशेषसद्भावः कथं वार्येत ॥ १० ॥

ज्ञानविस्मृतिरित्येव निद्रादोषात्कथं न ते ।
अज्ञानाध्यक्ष्यमेवास्मन्मतेऽतस्तु न स भ्रमः ॥ ११ ॥ [२१६]

जैसे कल देखी हुई बहुतसी चीजें आज भूल जाते हैं वैसे निद्रा दोषके कारण स्वप्नप्रत्यक्षका विस्मरण ही क्यों न माना जाये ? हमारे मतमें अज्ञानका साक्षिप्रत्यक्ष होनेसे भ्रम होनेकी कोई आशंका नहीं है ॥ ११ ॥

किंच ह्यो दृष्टादिकमपि 'नाहं दृष्टवानि'त्येवं विस्मृत्या लोको वदति । अत्र च निद्रादोषाज्जातमपि ज्ञानं न स्म्रियत इत्येव किं न स्यात् ? तथा च नाहं किंचिदवेदिषमिति भ्रमस्तव मते संभवति । मम तु तदानीं भावात्मकाज्ञानसत्त्वात्तत्प्रत्यक्षं साक्षिवेद्यत्वाद् भवतीति नाहं किंचिदवेदिषमित्यस्य न भ्रमत्वम् ॥ ११ ॥

ऊरीकार्यं त्वया कस्मात् संविद्रूपत्वमात्मनः ।
अवस्थाज्ञानमात्रेण सौस्थ्याद् वैशेषिकादिवत् ॥ १२ ॥ [२१७]

विशिष्टाद्वैतवादी आत्माको संविद्रूप मानते भी क्यों हैं ? वैशेषिकादि मतके समान अवस्था ज्ञानसे ही सभी कार्य संपन्न हो सकते हैं ॥ १२ ॥

अपि चावस्थाविशेषात्मकोत्पत्तिविनाशशालिज्ञानाभ्युपगमे किमर्थमात्मनो ज्ञानरूपत्वं त्वया स्वीकर्तव्यम् । वैशेषिकवज्जडात्मस्वीकारेणाप्युपपत्तेः ॥ १२ ॥

नभसोऽश्रावणत्वेऽपि शब्दः श्रावण ईक्ष्यते ।
ज्ञानाधिकरणत्वेन नीता ज्ञानश्रुतिश्च तैः ॥ १३ ॥ [२१८]

पूर्वपक्षः—यदि आत्मा जड़ हो तो उससे बना ज्ञान भी जड़ होगा । उत्तरपक्षः—नहीं । आकाश अश्रावण होनेपर भी शब्द श्रावण देखनेमें आया है । "सत्यं ज्ञानं" इस श्रुतिमें ज्ञान शब्दका ज्ञानाधिकरण अर्थ वैशेषिकोंने किया है और अर्थ बदलना तो बायें हाथका खेल है ॥ १३ ॥

न चात्मनो जडत्वे तदीयावस्थाविशेषरूपं ज्ञानमपि जडं स्यादिति वाच्यम् । नभसोऽश्रावणत्वेऽपि तदीयावस्थाविशेषरूपशब्दस्य श्रावणत्वात् । विद्युतोऽचाक्षुषेत्वेऽपि अवस्थाविशेषे तस्य प्रकाशरूपेण चाक्षुषत्वात् । न च ज्ञानश्रुत्यनुपपत्तिः । ज्ञानाधिकरणत्वेन नैयायिकैस्तस्या व्याख्यातत्वात् । ' "अदृष्टं द्रष्टृ", "विज्ञातारमि"त्यादिश्रुतिषु ज्ञानाधिकरणत्वेन वर्णनाच्च ॥ १३ ॥

मोक्षे चोत्पादकाभावादज्ञत्वं ते प्रसज्यते ।
प्रकाशः प्रसरत्येवेत्यपसिद्धान्ततापि ते ॥ १४ ॥ [२१९]

दूसरी बात—मोक्षमें ज्ञानोत्पादक इन्द्रियसंनिकर्षादिके न होनेसे आत्मा जड़ होने लगेगा । तीसरी बात—विशिष्टद्वैतमतमें ज्ञानका प्रसरणमात्र होता है, उत्पत्ति नहीं होती । बैठा देवदत्त उठ गया तो क्या बैठा देवदत्त मर गया और उठा देवदत्त जनमा ? ॥ १४ ॥

मोक्षे चावस्थाविशेषोत्पादकाभावादज्ञत्वमात्मनस्तव मते स्यात् । प्रकाशः प्रसरत्येव ॥ १४ ॥

इन्द्रियद्वारकज्ञानप्रसरादुदयादिगीः ।
इति मूलविरुद्धं च संविदुत्पत्तिसाधनम् ॥ १५ ॥ [२२०]

इन्द्रियोंके कारण जो ज्ञानका प्रसार होता है उसीको लेकर उत्पन्न हुआ इत्यादि व्यवहार होता है—इस प्रकार मूलकारके वचनके विरुद्ध भी यह आपका संविदुत्पत्ति सिद्ध करनेका प्रयास है ॥ १५ ॥

ननु ज्ञानस्यात्मतोऽपृथक्त्वादात्मनोऽप्रकाशत्वे ज्ञानस्याप्यप्रकाशत्वं स्यादिति चेन्न । तथा सति संविद उत्पत्त्यादेरसिद्ध्यापत्तेः । अवस्था-विशेषशब्दघटनस्याकिंचित्करत्वात् । न ह्युपविष्टोत्थितदेवदत्ते उपविष्ट-देवदत्तो नष्टः, उत्थितदेवदत्त उत्पन्न इति व्यवहृतिर्भवति । न चाप्रकाश-मानस्य काष्ठगताग्नेः प्रकाशमानकिरणा यथा न भवन्ति तथाऽप्रकाश-मानात्मनः किरणस्थानीयज्ञानं प्रकाशमानं कथमिति वाच्यम् । अप्रकाश-मानविद्युतः प्रकाशमानकिरणदर्शनात् । न च तत्र विद्युताऽग्निरुत्पद्यते तस्य प्रकाशमानकिरणा भवन्तीति वाच्यम् । तथैव जीवस्य ज्ञानमुत्पद्यतां तत्किरणाश्च प्रसरन्तु, किमर्थं जीवस्य प्रकाशमानत्वस्वीकारः ? न च मध्येऽग्न्युत्पत्तिस्थानीयज्ञानोत्पत्तिकल्पनागौरवम् । किरणसमुदायानामेवाग्नि त्वात् । कथमन्यथा सौरकिरणेष्वौष्ण्योपलब्धिः । न च मोक्षे ज्ञानोत्पादक-विरहान्न किरणप्रसरः स्याद्, मम तु विद्यमानकिरणा एव पूर्वं प्रकृतिनिरुद्धाः प्रसरन्तीति वाच्यम् । एतन्मतस्य निरसिष्यमाणत्वेऽप्यभ्युपगम्य वदामः । किरणानां विद्यमानत्वादुत्पत्तिः कस्य ? नाशश्च कस्य ? ननु प्रकृतिनिरोधा-निरोधाभ्यां तथेति चेत् ? एवं सति गवाक्षपटापावरणे गृहे प्रकाश आगत इत्येव व्यवहारो न तूत्पन्न इति । तत् कथं संविदुत्पत्तिः ? तदेव शृङ्गसदृशकर्णवान् शश इति वचनं शृङ्गद्वयवान् शश इति व्याचक्षाणस्य वृत्तं—तमिममिन्द्रियद्वारकं ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यवहार इति मूल-मुत्पत्तिविनाशवती संविदिति व्याचक्षाणस्य तवापततीत्यहो व्याख्यान-कौशलम् । वस्तुतस्तु अनुत्पद्यमानस्याविनश्यत एव सूर्यस्य पृथिवी-व्यवधानतदभावप्रयुक्तोदयास्तमयव्यवहारौ यथा तथा ज्ञान-व्यवधानवृत्ति-कृततदपनयन प्रयुक्तावेवोदयास्तमयव्यवहारौ नित्यसंविद आत्मनः ॥ १५ ॥

यत्र वृत्ति जनिनाशगोचरा
ज्ञानमुद्भवति नश्यतीति धीः ।
सर्वगापि तमसाऽऽवृता स्फुरेद्
वृत्तिषु स्फुरतु सा चितिर्हृदि ॥ २१ ॥

वृत्तिकी उत्पत्ति और नाशको लेकर जिस चित्‌में ज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि प्रतीति होती है, सर्वव्यापक होनेपर भी जो अज्ञानसे आवृत होती है और वृत्तियोंमें प्रकाशित होती है वह मेरे हृदयमें स्फुरित हो ॥ २१ ॥

इति संविदनुत्पत्तिवादः

*****

(२२)

अथ संविन्निर्विकारत्वसमर्थनम्

निर्विकारैव सा संवित् सविकारा हि नश्यति ।
प्रकाशप्रसरादीनां कल्पनाऽप्यसती ततः ॥ १ ॥ [२२१]

वह संवित् निर्विकार ही है । सविकार हो तो विनाशी होती । प्रकाशका प्रसार होता है इत्यादि कल्पना तो सर्वथा असंगत है ॥ १ ॥

आत्मस्वरूपैव सा संवित् । न तु तदवस्थाविशेषादिरूपा । सा च निर्विकारैव । सविकारत्वे नाशित्वादात्मनाशप्रसङ्गात् । ननु कोऽयं विकारः । उत्तरावधिमत्त्वं वा पूर्वावधिमत्त्वं वाऽवस्थाविशेषत्त्वं वा । नाद्यः । साध्यहेत्वोरैक्यापत्तेः । न द्वितीयः । ध्वंसस्य विनाशाभावात् । न तृतीयः । आकाशादेस्तथात्वेऽपि नित्यत्वादिति चेद् ? मतभेदेन पक्षत्रयमपि युक्तमेव । न ह्यवधिशब्दो ध्वंसपर्यायः । न हि भारतावधिर्हिमालयः कन्याकुमारी चेत्युक्ते भारतध्वंस इत्यर्थप्रत्ययोऽस्ति । कालनिरूपितावधिश्चरमक्षणः । यस्य चरमक्षणोऽस्ति तस्य नाशो भवति तदुत्तरक्षणे । न च चरमत्वं ध्वंसघटितम् । स्ववृत्तित्वे सति स्वध्वंसाधिकरणावृत्तितत्कत्वं तदीयचरमक्षणत्वमिति वाच्यम् । तावता क्षणध्वंसप्रवेशेऽपि वस्तुध्वंसाऽप्रवेशेन साध्यहेत्वैक्यविरहात् ।। द्वितीये ध्वंसस्याभावरूपत्वेऽपि सादिभावस्य नाशावश्यंभावात् । तृतीये आकाशादीनामपि प्रलये नाशोपगमात् । वस्तुतस्त्वत्र प्रथमद्वितीयकल्पौ व्यर्थमेवोत्थाप्येते । सविकारत्वेऽनित्यत्व-

मिति वदता दुग्धे दधिप्रभृतिवत् शरीरे बाल्यादिवद् वृक्षे फलादिवत् विकारवत्त्वेऽनित्यत्वप्रसक्तौ तात्पर्यात् ॥ १ ॥

नाऽकल्पितो विकारोऽस्ति ब्राह्मण्यप्यस्ति कल्पितः ।
मैवं, ब्रह्मणि नैवास्ति विकारो व्यावहारिकः ॥ २ ॥ [२२२]

पूर्वपक्षः—आपके मतमें अकल्पित विकार है नहीं और कल्पित विकार तो ब्रह्ममें भी है । तब ब्रह्म भी विनाशी हो जायेगा । उत्तरपक्षः—ब्रह्ममें मूढ कल्पित प्रातिभासिक विकार हो सकता है । हम प्रातिभासिक विकारको लेकर विनाशी नहीं कह रहे । वैसे फिर प्रातिभासिक नाश भी ब्रह्ममें संभव है । व्यावहारिक विकार व्यावहारिक नाशका कारण है यह हम कह रहे हैं । त्रिविध सत्ताका व्यवहार आपके मतमें नहीं है । अतः आपके प्रति कहते समय इतना ही कहना है कि जो विकारी है वह विनाशी होगा ॥ २ ॥

ननु कल्पितो वाऽकल्पितो वा विकारो विवक्ष्यते । नाद्यः । तस्य ब्राह्मण्यपि सत्त्वात् । न द्वितीयः । अकल्पितविकाराऽप्रसिद्धेरिति चेन्न कल्पितविकारस्यैव नाशहेतुत्वम् । कल्पितत्वमत्र व्यावहारिकतारूपमेव प्रवेश्यम् । ब्रह्म विकारीति मूढ़जनकल्पितविकारः प्रातिभासिक एव । निर्विकारं निरञ्जनमित्यादिषु प्रसिद्धविकारस्तु व्यावहारिकः । तस्य ब्रह्मण्यभाव एव । विकारशब्दश्च व्यावहारिकविकारे एव रूढः । न हि रज्जौ सर्पभ्रमे रज्जुः सर्परूपेण विकरोतीति प्रयोगोऽस्ति । न च जगदिदं व्यावहरिकमिति ब्रह्मणो व्यावहारिकविकार एवैष इति वाच्यम् । यतो ब्रह्मणो विवर्तोऽयमस्मन्मते संसारः । न तु विकारः । विकारस्तु मायाया इत्येव हि बहूनामाचार्याणां मतम् ॥ २ ॥

प्रकृतिः सविकारापि सांख्यानां नैव नश्यति ।
नैयायिकानां खादिश्च मैवं श्रुतिविरोधतः ॥ ३ ॥ [२२३]

पूर्वपक्षः—विकार नाशका प्रयोजक नहीं है । सांख्यमतमें प्रकृतिका विकार होता है । पर नाश नहीं होता। न्यायमत में आकाशादिका शब्दादिविकार होता है । किन्तु उसका नाश नहीं होता । उत्तरपक्षः—

श्रुतिसे विरुद्ध होनेके करण दोनों ही मत अनुपादेय है (श्रुति कहती है– "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः आकाशः संभूतः") ॥ ३ ॥

ननु सविकारापि प्रकृतिः सांख्यमते न नश्यति । तथा शब्दादिरूपेण विक्रियमाणानामाकाशादीनां वैशेषिकमतेन नाशो नास्ति । तस्मात्सविकारस्य नाशित्वमव्यापकमिति चेन्न । श्रुतिविरोधात् ॥ ३ ॥

भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः प्रकृतिश्च सा ।
तस्मादात्मान आकाशः संभूत इति च श्रुती ॥ ४ ॥ [२२४]

ज्ञान होने पर अन्तमें विश्वमायाकी निवृत्ति होती है । वही माया प्रकृति है । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' । उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ इत्यादि श्रुति है ॥ ४ ॥

"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत" इति च श्रुतिदर्शनात् श्रुतिविरुद्धस्य तन्मतस्यानुपादेयत्वात् ॥ ४ ॥

उत्पत्तेर्नभसो नाशो बाधाच्च प्रकृतेस्तथा ।
न संविद उभे मैवम् विकारत्वेन संग्रहात् ॥ ५ ॥ [२२५]

पूर्वपक्षः—वेदान्तमतमें आकाश उत्पन्न होता है अतः नाशावान है । प्रकृतिका बाध होता है अतः नाशावान है । परंतु संवित्का बाध एवं उत्पत्ति नहीं है तो नाशवान कैसे सिद्ध होगा । उत्तरपक्षः—प्रत्येक हेतुको नाशप्रयोजक क्यों कहना चाहिये । विकारत्वेन सकल विकार नाशप्रयोजक है । संवितमें कोई भी विकार आया तो वह नाशी हो जायेगी ॥ ५ ॥

ननु आकाशः संभूत इति श्रूतौ उत्पन्नत्वोक्तेस्तदेव नाशप्रयोजकम् । प्रकृतिश्च मायेति तत्र बाध एव नाशप्रयोजकः । संविद्रूप आत्मा नोत्पद्यते नापि बाध्यते तथा च तन्नाशः कथमिति चेन्न । विकारत्वावच्छिन्नस्य नांशप्रयोजकत्वात् । प्रत्येकस्य नाशप्रयोजकतायां गौरवात् ॥ ५ ॥

ननु नाशोऽपि यास्केन विकारत्वेन भाषितः ।
मैवमाधारविरहान्न स नाशप्रयोजकः ॥ ६ ॥ [२२६]

पूर्वापक्षः—सभी विकार नाशप्रयोजक हैं । क्योंकि नाशको भी महर्षि यास्क ने विकार बताया है । घटनाश हुआ तो वह नाश फिर घटनाश

करायेगा क्या ? उत्तरपक्षः—घटनाशका आधार घट है नहीं, अतः वह नाशकारण नहीं है। विकार तथा प्रतियोगी दोनों हों तब नाश होता है। ॥ ६ ॥

ननु विकारत्वेन विकाराणां नाशप्रयोजकत्वं न संभवति । यास्केन नाशस्यापि विकारतया परिगणानात् । तस्य नाशकत्वविरहादिति चेन्न । नाशं प्रति विकारवद् विकाराधिकरणमपि कारणम् । नाशे सत्यधिकरणं नास्तीति कं स नाशयेत् । तथा च फलोपधायकत्वविरहेऽपि स्वरूप-योग्यतास्वीकारे नास्ति क्षतिः ॥ ६ ॥

भाववृत्तिविकारश्चेद् यास्काचार्यविवक्षितः ।
विभागाद्यात्मकः स स्यात् स च नाशप्रयोजकः ॥ ७ ॥ [२२७]

यदि यह विचार करें कि विकार हो तो विकारी भी आश्रय होना चाहिये तो नाश पदसे अवयवविभाग या कालविशेषसम्बन्धादि विवक्षित होगा। तब तो वह नाशप्रयोजक होगा ही ॥ ७ ॥

ननु षड् भावविकारा इत्यत्र भाववृत्तिविकार एव यास्केन विवक्षित इति न निराधारत्वोक्तिर्युक्तेति चेन्न । तथा सति नाशपदेन विभागो वा कालसम्बन्धादिर्वा वक्तव्य इति तस्य नाशप्रयोजकत्वमस्त्येव ॥ ७ ॥

अनैकान्तिकता ध्वंसे न भावत्वविशेषणात् ।
न च तत्त्वं तवाभाव आश्रयात्मा स कस्यचित् ॥ ८ ॥ [२२८]

पूर्वपक्षः—ध्वंस उत्पन्न होनेसे विकारी है। किन्तु उसका नाश नहीं होता। अतः विकार नाशका प्रयोजक नहीं है। उत्तरपक्षः—भावत्व विशेषण है। भावविकार नाशप्रयोजक है। इसपर द्वैतवादी कहते हैं यह तर्ककौशल-की प्रदर्शनीमात्र है। परंतु यह कहनेवाला स्वयं द्रव्य एवं गुणसे अतिरिक्त किसी पदार्थतत्त्वको नहीं मानता। तब किस मुखसे यह दोषापादन है ? वेदान्तियोंमें कुछ लोग ध्वंसका भी ध्वंस मानते हैं। अन्य ध्वंसको आश्रयात्मक मानते हैं। ध्वंस का भी बाध अन्त में होगा ही ॥ ८ ॥

ननु ध्वंसस्योत्पत्तिविकारसत्त्वेऽपि नाशाभावादनैकन्तिकतेति चेन्न । भावत्वविशिष्टविकारस्यैव नाशप्रयोजकत्वात् । यत्त्वेवं प्रदर्शितं तर्ककौशल-मिति । तदपस्मारमात्रम् । द्रव्यगुणयोरेव पदार्थत्वं वदतो ध्वंसेऽनैकान्ति-

कताया एवानुत्थानात्। अन्ये तु ध्वंसस्यापि ध्वंसमाचक्षते । अन्ये त्वधिकरणात्मक एवायं ध्वंस इति पृथक् पदार्थविरहान्न नाशप्रश्न उत्तिष्ठतीति वदन्ति ॥ ८॥

विकारोऽसन्न भवति कुक्षिं भित्वोदयन्नसौ ।
संविदं नाशयेद् बीजमङ्कुरो हि यथोदयन् ॥ ९ ॥ [२२९]

असत् का जन्म नहीं होता। विकार जो अन्दर है वही बाहर आयेगा जैसे अंकुर बीज को फाड़ता हुआ बाहर आता है वैसे यह भी है। तब संविदरूपी आत्माका पेट फाड़कर निकलनेवाला यह विकार आत्माको ही नष्ट कर डालेगा ॥ ९ ॥

"नासतो विद्यते भाव" इति भगवद्वचनाद् विकारः पूर्वमसन्नेव पश्चान्न भवति–न भावं प्रतिपद्यते । तथा च संविदः कुक्षिस्थित एवायमवस्थाविशेषाख्यविकार इति स उदयन् संविदः कुक्षिं भित्वाभ्यन्तरादुदयेत् । तदा स संविदमपि नाशयेदेव । यथाङ्कुरो बीजोदरस्थितो बीजं नाशयति तद्वदिति ॥ ९ ॥

बहिः स्थितश्चेत् प्रत्यक्षः स्यान्नैवावरणं मतम् ॥
अणोरावरणे स्वात्मप्रकाशो घटतां कथम् ॥ १० ॥ [२३०]

पूर्वपक्षः–आत्मा अणु होनेसे उसके अन्दर विकार संभव नहीं है। अवस्थाविशेषरूपी विकार बाहर ही स्थित है। उत्तरपक्षः– तब सुषुप्तिमें भी उसका प्रत्यक्ष होगा। हमेशा अवस्थाविशेषात्मक ज्ञान प्रकाशित होता ही रहेगा। ज्ञानका आवरण आप मानते नहीं हैं। आवरण मानेंगे तो आत्माका भी प्रकाश नहीं होगा। तब आत्मा स्वयंप्रकाशरूप से प्रकाशित नहीं होगा। आवरणके अन्दर स्वयंप्रकाश कहेंगे तो उसके अवस्थाविशेष भी आवरणके अंदर होनेसे उसका भी प्रकाश होने लगेगा। फिर तो आवरण मानना व्यर्थ ही होगा। और ऐसा तो है नहीं कि स्वयं अन्दंर हो, अवस्थाविशेष बाहर हो। अवस्थाविशेष पहले असत् था, बादमें सत् हो गया कहेंगे तो 'नासतो विद्यते भावः' इस वचनका वज्रप्रहार आप नहीं सह सकेंगे। हमारे मतमें कार्य सदसद्विलक्षण होने से चल भी जाता। आपके मतमें कार्य सत् ही है। गीतावचनके अर्थको बदलते है तो गीता भी अप्रमाण होगी। अपनी ही बातको आप प्रमाण मानेंगे यह तो नास्तिक का ही लक्षण है ॥ १० ॥

अयं विकारो यदि जीवात्मनो बहिः स्थितस्तदा सुषुप्त्यादावपि अवस्थाविशेषप्रत्यक्षं स्यात् । न चावृतत्वं तव मते घटते । अणोर्जीव-स्यावरणे स्वात्मप्रकाश एव विलीयेत ॥ १० ॥

प्रकाशप्रसरो नैव दीपस्येवात्मनो भवेत् ।
तैलक्षयेण निर्वाणाच्छून्यवादस्तवापतेत् ॥ ११ ॥ [२३१]

अणु आत्माका प्रकाश दीपकके प्रकाशके समान फैल जाता है यह भी असंगत सिद्धान्त है । दीपकमें तेल जलता रहता है । वैसे आत्मामें कौनसा तेल जल रहा है ? भोजनादि तेल के स्थान में हो तो तेल समाप्त होनेपर दीपक बुझ जाता है वैसे आत्मदीप भी भोजनादिविशिष्ट शरीरनाशसे बुझ जायेगा तब आपका शून्यवाद हो जायेगा । बल्कि शून्यवादी बौद्ध जन्मान्तर मानते हैं । आपका तबतक तेल न होनेसे एक ही जन्ममें जीव बुझेगा ॥ ११ ॥

अणोरात्मनः प्रकाशप्रसरो दीपप्रकाशप्रसरवदित्यप्यसंगतम् । दीपे तैलज्वलनात्प्रकाशो जायते । तैलक्षये च दीपनिर्वाणं भवति । एवं भोजना-दिरूपतैलसमाप्तौ तवात्मापि निर्वास्यतीति शून्यवादस्तवैवापद्यते ॥ ११ ॥

मण्यादावपि सूर्यादेः किरणस्यैव संग्रहः ।
तत् किं सावयवो जीवः संगृह्णीयात्कुतः स तम् ॥ १२ ॥ [२३२]

मणिप्रभा दृष्टान्तसे भी काम चलेगा नहीं। मणि आदि स्वयंप्रकाश नहीं है । सूर्य आदिसे वह तेजका संचय करती है यह आधुनिक वैज्ञानिकोंने सिद्धान्तित किया है । और मणिके समान यह जीवात्मा सावयव है क्या ? कहां से ज्ञान का प्रकाश संग्रह करता है यह भी बताना पड़ेगा । ये सब अवैज्ञानिक असंगत कल्पनायें हैं ॥ १२ ॥

न च मणिप्रभाप्रसरवदिति वाच्यम् । मण्यादावपि सूर्यादीनामेव प्रकाशसंचय इत्याधुनिकवैज्ञानिकैर्निर्णयनात् कस्माच्च मणिवदात्मा ज्ञान-प्रकाशं संगृह्णीयादिति च वक्तव्यम् ॥ १२ ॥

घटाद्यवच्छिन्नचितो वृत्त्याऽऽवृतिनिवारणे ।
प्रकाशन्ते घटाद्या नो नाणुरात्मा प्रकाशयुक् ॥ १३ ॥ [२३३]

हमारे मतमें आत्मा व्यापक है । प्रायः आवृत रहता है । वृत्तिसे घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यका आवरण भंग होता है तो उतनी जगह अनावृत होकर प्रकाशित होता है । तब उसमें अवच्छेदक घटादि भी प्रकाशित होते हैं । अतः किसी प्रकार का दोष नहीं । क्योंकि वह आत्मा प्रकाशरूप है ॥ १३ ॥

मन्मते तु नात्माऽणुरूपः प्रकाशसंयोगी वा। किन्तु स्वयंप्रकाशो व्यापकः । स चाविद्यावरणावृतः प्रायः । घटाद्याकारवृत्युत्पत्तौ तदवच्छिन्नचिदावरण-भङ्गा त्तावन्मात्रा चित् प्रकाशत इति तदवच्छेदकघटादिप्रकाशो भवति । तथा च निर्विकारत्वादात्मनो नित्यत्वं नापि शून्यतापत्तिरिति ॥ १३ ॥

परिणामिहेम खलु सावयवं
विकरोति दुग्धमपि सावयवम् ।
अतथाविधानवयवा हि चिति-
र्विदधातु नः कुशलमेकरसा ॥ २२ ॥

सुवर्ण कुण्डलरूपसे परिणत होता है । वह सावयव है । दूधका दहीके रूपमें विकार होता है । वह भी सावयव है । चैतन्य आत्मा निरवयव है । उसका अवस्थाविशेषरूपी परिणाम या विकार संभव नहीं है । प्रकाशप्रसाररूपी विकार भी संभव नहीं है । वह एकरस चितिशक्ति हमारा कुशल करें ॥ २२ ॥

इति संविन्निर्विकारत्वसमर्थनम्

*****

(२३)
अथ संविन्नानात्वनिरासः

वृत्तिभेदेन नानात्वप्रतीतेरुपपत्तितः ।
न भेदः संविदो नाशगौरवादिप्रसङ्गतः ॥ १ ॥ [२३४]

संवित्में नानात्वकी प्रतीति चित्तवृत्तियोंके भेदसे ही उपपन्न है, अतः संवित् नाना नहीं है। उसको नाना माननेपर परिच्छिन्नता होगी, नाशगौरवादिदोष होगा ॥ १ ॥

संविन्नानेति बहव आहुः । किन्तु वृत्तीनां नानात्वात्तदुपाधिभेदेनैव तदवच्छिन्नसंविन्नानात्वप्रतीत्युपपत्तेः घटाकाशकरकाकाशादिवदौपाधिक एव भेदो न वास्तविकः । गौरवात् । वस्तुपरिच्छेदेन नाशापत्तेश्च । संविन्न नाना अनुभूतित्वादनाशित्वादित्यादयः प्रयोगाः शक्यन्ते प्रयोक्तुम् । स्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्वानुयोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टान्यधर्मः पक्षतावच्छेदका वच्छेदेन साधनीयः । संवित्त्वं न नानावृत्ति अनुभूतिमात्रवृत्तित्वादिति वा प्रयोगः । अत्र यथोक्तभेदविशिष्टान्यत्वं साध्यम् ॥ १ ॥

भिन्ना सा छेद्यभेदेन युक्ता छेदनभेदवत् ।
नैवं छेद्याश्रिता छित्तिर्न संविद् दृश्यमात्रगा ॥ २ ॥ [२३५]

पूर्वपक्षः—यह संवित् नाना उचित है । छेद्यभेदसे छेदन भेदके समान ज्ञेयभेदसे ज्ञानभेद क्यों नहीं ? उत्तरपक्षः—छेदन छेद्याश्रित है । ज्ञान ज्ञेयाश्रित नहीं है ॥ २ ॥

ननु छेद्यभेदाच्छेदनभेदो दृष्टः । तथा दृश्यभेदात्संविद्भेदोऽपि युज्यते । मैवम् । छेदनं छेद्यमात्राश्रितमिति च्छेद्यभेदेन च्छेदनभेदः शक्योपपादनः । संवित्तु न दृश्यमात्रवर्तिनी । पुरुषनिष्ठा हि सा ॥ २ ॥

प्रकाश्यभेदसत्त्वेऽपि प्रकाशैक्यं विलोक्यते ।
गौर्नील इति किं ज्ञानं नानाद्रव्यगुणाश्रिता ॥ ३ ॥ [२३६]

ज्ञेय भिन्न होनेपर ज्ञान भी भिन्न होगा ऐसा नियम नहीं है । गाय नीली है यह एक ज्ञान है । ज्ञेय् गो द्रव्य तथा नील गुण दो हैं । किन्तु ज्ञान एक ही माना जाता है ॥ ३ ॥

घटपटादिप्रकाश्यभेदेऽपि सौरादिप्रकाशैक्यं भवति । न हि घटपटादिमात्राश्रितः प्रकाशो यतः । अन्यथा नीलो गौरिति ज्ञाने नैल्यं गुणः गौर्द्रव्यमिति दृश्यभेदेन ज्ञानभेद आपद्यते । तथा च वैशिष्ट्यज्ञानविलोप एवागत्यापद्येत ॥ ३ ॥

न नानावृत्ति संवित्त्वं स्वप्रकाशैकवृत्तितः ।
ब्रह्मत्ववदितीहास्ति प्रयोगोऽप्यैक्यसाधकः ॥ ४ ॥ [२३७]

संवित्त्व नानावृत्ति नहीं है । क्योंकि स्वयंप्रकाशमात्रवृत्ति है । जैसे ब्रह्मत्व इत्यादि अनुमान प्रयोग भी संविदेकत्वका साधक है ॥ ४ ॥

संवित्त्वं न नानावृत्ति । स्वप्रकाशैकवृत्तित्वाद् ब्रह्मत्ववदिति प्रयोगोऽपि द्रष्टव्यः ॥ ४ ॥

व्यवहारिकमस्त्येव संवित्त्वं धर्मलक्षणम् ।
तेन पक्षाऽप्रसिद्ध्यादिर्नाशङ्क्योऽत्र कुतार्किकैः ॥ ५ ॥ [२३८]

संवित्त्व आदि व्यावहारिक धर्म मान्य है । अतः पक्षाप्रसिद्धि आदि दोष नहीं है ॥ ५ ॥

ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात् संवित्त्वादिधर्मस्तत्र न संभवंति इति प्रथमानुमाने पक्षतावच्छेदकाऽप्रसिद्ध्यादिः । द्वितीये पक्षाप्रसिद्ध्यादिरिति चेन्न । व्यावहारिकसंवित्त्वादिधर्मस्याभ्युपगमात् ॥ ५ ॥

प्रकाश्यभेदाद्द्विविधैव भासते
घटग्रहाद्याकृतिरर्कदीधितिः ।
तथैकरूपा विविधायते चितिः
स्फुरत्वसावेकरसा सदैव नः ॥ २३ ॥

प्रकाश्य घटादि एवं ग्रहादि भेदसे सूर्यप्रभा नांना जैसी दीखती है । [ग्रह यज्ञपात्रविशेष है । और आकाशमें उपग्रहादि हैं । रातको उपग्रहके समान गोलाकारमें सूर्यप्रकाश ही तो दीखता है ।] वैसे ज्ञानचैतन्य भी वृत्तिभेद एवं घटादि भेदसे नाना जैसा हो जाता है । वस्तुतः एकरस है । वही हमारे लिये सदा स्फुरित हो ॥ २३ ॥

इति संविन्नानात्वनिरासः

*****

(२४)

अथ संविन्निर्विशेषत्वसमर्थनम्

निर्विशेषा च सा संवित् सर्वधर्मविवर्जिता ।
नाशादेः प्रतिषेधेन नित्यत्वादेः समर्थनात् ॥ १ ॥ [२३९]

वह संवित् निर्विशेष है । क्योंकि उसमें कोई विशेष धर्म नहीं है । पूर्वपक्षः—धर्म नहीं तो नित्यत्वादिका व्यवहार किस प्रकार ?

उत्तरपक्षः—नाशका प्रतिषेध होनेसे नित्य कहते हैं । जडत्वका प्रतिषेध करने से चेतन कह देते हैं ॥ १ ॥

अशेषविशेषरहिता च सा संवित् । तत्र कस्यापि धर्मस्य विरहात् । ननु पारमार्थिकस्य कस्यचिद्धर्मस्याऽभाव उच्यते किं वा कल्पितस्य । नाद्यः । पारमार्थिकधर्माऽप्रसिद्धेः, तदभावस्य घटादावपि संभवाच्च । कल्पितस्य च धर्मस्य तत्र स्वीकारात् । ब्रह्मण्येव सर्वस्य संसारस्य कल्पितत्वादिति चेन्न । शुद्धायाः संविदो व्यवहाराविषयत्वेन व्यावहारिकस्य धर्मस्य तत्राभावात् । न हि कल्पितेन धर्मेण वैशिष्ट्यमधिष्ठानस्य संभवति । यश्च विशिष्टः स व्यावहारिक एव भवति । तथा ईश्वरो जीवश्च । तथा च श्रुतिः—"निर्विशेषं निरञ्जनम् । अलक्षणमलक्ष्यं तदप्रतर्क्यमनुपममिति" (यो. शि. ३-१६) "निर्विशेषे परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते" (कठउ. ३५) इति च । ननु निर्विशेषत्वमेव विशेष इति चेन्न । विशेषाणां केवलं प्रतिषिध्यमानतया तदभावरूपविशेषाऽस्वीकाराद् वागाडम्बरमात्रत्वात् । अन्यथा निर्विशेष-शब्दवैयर्थ्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । तथा सति निर्विशेषत्वधर्मविरहाद् विशेषाणां च प्रतिषेधादिष्टसिद्धेः । न वा पदार्थद्वयवादिनोऽभावः पदार्थान्तरम् । यद्यप्यत्रानुमानादिकं न प्रवर्तते तथापि प्राङ्भिस्त-त्प्रदर्शनादुच्यते । अनुभूतिनिर्विशेषा अनुभूतित्वाद् व्यतिरेकेण घटवदिति । न चानुभूतित्वमेव धर्मः, तदसत्त्वे स्वरूपासिद्धेः, तत्सत्त्वे तेनैव सविशेष-त्वादिति वाच्यम् । अनुभूतित्वस्य पृथग्धर्मत्वाभावात् । अनुभूत्यनति-रिक्तत्वात् । तथाप्यभेदेन पक्षे सत्त्वाददोषः । जडत्वप्रतिषेधमात्रं वाऽनु-भूतित्वमिति । एवं नित्यत्वस्वयंप्रकाशत्वादिरपि नाशप्रतिषेधजडता-प्रतिषेधादिरूप एव ॥ १ ॥

समानसत्त्वावच्छिन्नविशेषाभाव एव वा ।
साध्यतां तेन नो साध्याऽप्रसिद्ध्यादि च दूषणम् ॥ २ ॥ [२४०]

अथवा समानसत्ताक विशेषका अभाव निर्विशेष पदका अर्थ है । ब्रह्म पारमार्थिक है । उसके समानसत्ताकधर्मका अभाव ब्रह्ममें है । घटसमानसत्ताक घटत्व घटमें है, अतः वह निर्विशेष नहीं है ॥ २ ॥

ननु व्यावहारिकसत्ताकस्य सर्वस्य जगतस्तत्र सत्त्वाद् व्यवहार-विषयीभूतव्यावहारिकसम्बन्धस्यापि सत्त्वात्कथं न सविशेषत्वमिति चेद् ? एवमपि ब्रह्म सविशेषमित्युच्यमाने ब्रह्मसमानसत्ताकेन सम्बन्धेन तादृश-विशेषवत्त्वस्यैव प्रतीतेर्न सविशेषत्वं संभवति । अथवा स्वाश्रयत्वेनाभि-मतार्थसमानसत्ताकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकविशेषसामान्याभावो निर्विशेष-त्वम् । ब्रह्मणि स्वसमानसत्ताकधर्मविरहान्निर्विशेषत्वम् । घटादेः स्वसमान-सत्ताकगुणधर्मादिसत्त्वात्सविशेषत्वम् । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नाभावश्च व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोताकतया सर्वत्र सुलभः ॥ २ ॥

नाधिष्ठानेन धर्मश्च कल्पितः सज्जते क्वचित् ।
स्वयं संसर्गविधयाप्यनिर्वाच्यं हि भासते ॥ ३ ॥ [२४१]

अधिष्ठानके साथ कल्पित धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं होता । मरुमरीचिकामें कल्पित जलका सङ्ग मरुभूमिमें नहीं हो सकता । विशिष्ट प्रतीति तो स्वयं सम्बन्धरूपसे भासनेमात्रसे ही हो जायेगी । अनिर्वाच्य ही जो ठहरा । उसके लिये अनवस्थित सम्बन्धपरम्पराको मानना सर्वथा व्यर्थ है ॥ ३ ॥

किं च कल्पितधर्मो नाधिष्ठानेन सज्जते । न हि मरुमरीचिकाजलसङ्गो मरौ भवति । एवं ब्रह्मणि कल्पितः संवित्त्वादिर्न ब्रह्मणा सम्बध्नाति । घटे घटत्वं व्यावहारिकमपि सज्जते । न ह्येवं विषमसत्ताको मानाभावात् । न चैवं संवित्त्वादिधर्मवत्त्वप्रतीतिः कथमिति वाच्यम् । स्वयं संसर्गतयापि भानात् । अनिर्वाच्यसम्बन्धान्तरस्वीकारेऽनवस्थापाताद् व्यर्थत्वाच्च ॥ ३ ॥

नित्यत्वादिर्न भवति पृथक् पूरुषान्निर्विशेषात्
पार्थक्यं तु व्यवहृतिवशात्कल्प्यते तत्र तत्र ।
यद्वा नाशप्रभृतिविनिषेधो हि बोधाय वेदै-
स्तत्रोक्तस्तं पुरुषमनिशं निर्विशेषं प्रपद्ये ॥ २४ ॥

निर्विशेष आत्मासे नित्यत्वादि धर्म पृथक् नहीं है । ये पृथक् हैं ऐसा भाव व्यवहार के लिये कल्पित है । अथवा नाशादिका प्रतिषेधादि ही

नित्यत्वादि है। आत्मबोधार्थ वेदोंने उनका निषेध किया उस निर्विशेष पुरुषके हम शरणागत हैं ॥ २४ ॥

इति संविन्निर्विशेषत्वसिद्धिः

*****

(२५)

अथ संविद् आत्मत्वनिरूपणम्

संविदात्मैव न त्वेष धर्मोऽवस्थोत वाऽऽत्मनः।
तस्मादात्मन आकाशः श्रुतिर्ज्ञानं जगौ तदा ॥ १ ॥ [२४२]

संवित् आत्मा ही है। न कि आत्माका धर्म या अवस्था। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' यहां (तदा) तत्पदसे पूर्वोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' इस ज्ञानको श्रुति ग्रहण कर रही है। अतः ज्ञान और आत्मा एक ही है यह श्रुतिसंमत है ॥ १ ॥

पूर्वोपपादिता संविदात्मैव। न त्वात्मनो धर्मो वाऽवस्था वा। अतएव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्युपक्रान्तं ज्ञानं परामृशन्ती श्रुति'स्तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इत्येवं ज्ञानस्यात्मत्वमाह ॥ १ ॥

आत्मा संवित्पदस्यार्थः संविदात्मपदस्य च।
तत आत्मा संविदिति संविदात्मेति चोच्यते ॥ २ ॥ [२४३]

संवित्पदका अर्थ आत्मा और आत्मपदका अर्थ संवित् है। इस प्रकार संवित् आत्मा है, आत्मा संवित् है ऐसा व्यवहार करते हैं। अतएव 'संवित् आत्मा' यहां आत्माका ज्ञाता अर्थ हो तो ज्ञान ज्ञाता कैसे हो इत्यादि शंका नहीं उठ सकती ॥ २ ॥

ननु संविद आत्मत्वमुच्यते किंवा आत्मनः संवित्त्वम्। प्रथमे आत्मत्वं ज्ञातृत्वमिति ज्ञानस्य ज्ञानाश्रयत्वलक्षणज्ञातृत्वं न घटते। स्वाधीन-व्यवाहाराद्याश्रयत्वं चेत्तदापि ज्ञानमात्रस्य व्यवहाराश्रयत्वानभ्युपगमाद-युक्तम्। द्वितीये आत्मनः संवित्त्वं स्वप्रकाशत्वं चेत् सिद्धसाधनम्।

ज्ञानतादात्म्यं चेत्तदा धर्मिणो धर्मतादात्म्यानुपपत्तेरयुक्तमिति चेन्न । संविद आत्मपदार्थत्वमात्मनः संवित्पदार्थत्वं वोच्यत इति पूर्वोक्तदोषाणामप्रसक्तेः । तत आत्मा संविदिति, संविदात्मेति च भण्यते । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"-त्याद्युक्तश्रुतेः । न च "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशो भाक्त" इति वाच्यम् । मुख्यव्यपदेशे बाधकाभावात् ॥ २ ॥

वृत्त्युपाधिमुपाश्रित्य लोके सा ज्ञानमुच्यते ।
अन्तःकरणमाश्रित्योपाधिमात्मेतिगीयते ॥ ३ ॥ [२४४]

वही संवित् वृत्ति उपाधिसे लोकमें ज्ञान कहलाती है । और अन्तःकरण उपाधिसे ज्ञाता—आत्मा कहलाती है । श्रुतिमें तो ज्ञान आत्मा एक ही अर्थमें है ॥ ३ ॥

स्वपरप्रकाशिका संविदखण्डा चैका च । वृत्तिभेदेन भिन्नत्वमिव प्रतपिद्यमाना तदुपाधिना ज्ञानमित्युच्यते । अन्तःकरणोपाधिना क्वचिदा-त्मेति क्वचिज्ज्ञातेति च लोके व्यवह्रियते । उपाधिपरित्यागेन च ब्रह्मे-त्युच्यते । न पुनर्द्रव्यगुणादिकम् । द्रव्यत्वगुणत्वादेस्तत्र विरहात् ॥ ३ ॥

चलचित्रे गजाश्वाद्याश्छाया आयान्ति यान्ति च ।
भास्यभासकभासानां नैव भेदोऽत्र विद्यते ॥ ४ ॥ [२४५]

चित्रपटपर हाथी, घोड़ा आदिकी छाया आती है । वहां प्रकाशक, प्रकाश्य और प्रकाश तीनों एक ही है, भिन्न नहीं है ॥ ४ ॥

वैद्युते चलचित्रे (सिनेमाख्ये) गजाश्वादिच्छाया आयान्ति यान्ति च तत्रैक एव प्रकाशः । स एव प्रकाशकश्चित्राणाम् । प्रकाश्योऽपि स एव । छायाया दर्शनायोगात् । स एव प्रकाशनमपि ॥ ४ ॥

एकैव संविदायातान् प्रकाशयति सुस्थिरा ।
घटगेहादिकानर्थान् परं भिन्नेव भासते ॥ ५ ॥ [२४६]

संवित् एक ही है । वह स्थिर है । अपने संमुख आये घट गृहादि अर्थोंको प्रकाशित कर भिन्न जैसी लगती है ॥ ५ ॥

एकैव संवित् व्यापिका । तदभिमुखमागतान् अर्थान् घटगेहादिकान् प्रकाशयन्ती प्रकाश्यभेदेन भिन्नेव भासते न तु वस्तुतो भिन्ना । तत्र

घटप्रभानं भिन्नं गेहप्रभानं भिन्नमित्येवमौपाधिकभेदमात्रं, तथेहापि । संविदि घटाद्यगमनगमने तु वृत्त्युद्भवाभिभवमात्रनिबन्धने ॥ ५ ॥

आत्मा संविद् भवति न पृथग् ज्ञानमप्येव संवित्
चित्तोपाधेः प्रथम उदितो वृत्त्युपाधेर्द्वितीयम् ।
सैषाऽविद्याऽभ्युदितभिदया धर्मधर्मिस्वभावा
सैवाऽखण्डा जयति परमानन्दसन्दोहरूपा ॥ २५ ॥

संवित् ही आत्मा है । और संवित् ही ज्ञान भी है । चित्त उपाधि होनेपर संवित् आत्मा कहलाती है । वृत्तिउपाधि होनेपर ज्ञान कहलाती है । अविद्यासे उत्पन्न भेदसे एक ही वह धर्म एवं धर्मीकि रूपमें भासती है । वही अखण्डरूपसे भासित होने लगती है तो परमानन्दरूपसे भासित होती है ॥ २५ ॥

इति संविदात्मत्वनिरूपणम्

*****

(२६)
अथ अहमर्थपर्याप्तात्मत्वनिरासः

अहमर्थो न शुद्धात्मा किन्त्वहंकारयुङ् मतः ।
नाहं सुषुप्तिमोक्षादौ लयाद् बाधाद् यथायथम् ॥ १ ॥ [२४७]

बहुतसे लोग कहते हैं—मैं' यह शुद्धात्माको लेकर कहते हैं । किन्तु बात सही नहीं है । वह अहंकारसहित आत्माको लेकर प्रतीति हो रही है । सुषुप्तिमें आत्माका भान तो है । किन्तु अहं ऐसा भान नहीं होता । मोक्षमें भी अहंका भान नहीं होता । सुषुप्तिमें अहंकारका लय होता है । मोक्षमें बाध होता है ॥ १ ॥

संविद्रूपश्चोक्त आत्मा नाहंपदशक्यार्थः । अहंपदार्थस्त्वहंकारयुक्त-चैतन्यमेव, न तु शुद्धचैतन्यम् । अहमर्थस्यैवात्मत्वे सुषुप्त्यादौ तत्प्रत्यय-प्रसङ्गात् । तत्र सुषुप्तावहंकारस्य लयः । मोक्षे बाधः यद्यहमर्थ एवात्मा स्यात् सुषुत्यादौ भासेत ॥ १ ॥

अनध्यस्ताहमोऽभावादुत्थितो योजयन्नहम् ।
अहमस्वाप्समित्याह सुप्तावल्पाऽप्रतीतितः ॥ २ ॥ [२४८]

पूर्वपक्षः—सुषुप्तिसे उठनेपर अहमस्वाप्सं ऐसा जो परामर्श होता है उसमें अहंका भी भान हो रहा है । उत्तरपक्षः—नहीं । अहं यह परिच्छिन्न है, अल्प है । सुषुप्तिमें परिच्छिन्नका भान नहीं होता । सुषुप्तिमें बाहर आनेका अर्थ है अहंकारका प्रादुर्भाव । और बिना अध्यासका अहंकार नहीं होता । अतः आत्माके साथ तादात्म्यापन्न होकर अहंकार आता है । अतः तत्काल जुड़े अहंकारको लेकर "अहमस्वाप्सं" ऐसा बोलते हैं ॥ २ ॥

न चोत्थितस्याहमस्वाप्समिति परामर्शादस्त्वहमर्थावभासस्तदानीमिति वाच्यम् । जाग्रति समुद्भूताहंकारेण योजयित्वाऽहमस्वाप्समिति परामर्शोपपत्तेः । यथा पूर्वं दृष्टं पण्डितत्वेनाज्ञातमपि संप्रति ज्ञातपाण्डित्यमुद्दिश्योच्यते—अयं पण्डितः पूर्वं काश्यां दृष्ट इति । न च सुषुप्तावहंकारविरहे नाहमासमित्यपि प्रत्ययः स्यादिति वाच्यम् । काश्यामयं पण्डितो नासीदिति यथा न प्रत्ययस्तद्वदुपपत्तेः । न च सुषुप्तावहंकारो नास्ति। पण्डिते पाण्डित्यमासीदिति वैलक्षण्यमिति वाच्यम् । अयं पण्डितो बाल्ये मया विलोकित इत्यपि प्रयोगदर्शनात् । नचैवमपि विद्यमानमेवाहंत्वं सुषुप्तौ न ज्ञातमित्येव किं न स्यादिति वाच्यम् । त्वन्मते आत्मन एवाहमर्थत्वात्तदऽप्रतीतेरनुपपत्तेः । न च तस्य ज्ञातत्वं समर्थयितुं शक्यम् । अहंत्वस्य परिच्छिन्नत्वात् । स्वप्ने परिच्छिन्नतयाऽऽत्मनः प्रतीतिविरहात् ॥ २ ॥

अज्ञानवृत्त्या बोधः स्यात् संस्कारश्च भवेदतः ।
तज्जस्तद्वानहंकारः परामृशति जाग्रति ॥ ३ ॥ [२४९]

पूर्वपक्षः—परंतु जाग्रतमें सुषुप्तिका स्मरण किस प्रकार हो ? साक्षिज्ञान तो नित्यापरोक्ष है । साक्षीमें संस्कार एवं स्मृति नहीं होती । स्मरणादि अन्तःकरणके धर्म हैं । अन्तःकरण सुषुप्तिमें है नहीं । उत्तरपक्षः—अज्ञान त्रिगुणात्मक होनेसे सत्त्वांशसे वृत्ति एवं संस्कार हो सकता है । अज्ञानाकार और सुखाकार अज्ञानवृत्ति वहां भी होती है । पूर्वपक्षः—परंतु फिर भी अज्ञान अनुभविता है । स्मरण अन्तःकरण करेगा यह

वैयधिकरण्य होगा । उत्तरपक्षः—नहीं, अज्ञानसे ही अन्तःकरण उत्पन्न होता है अतः अज्ञानगत संस्कार स्वयमेव अन्तःकरणमें आ जायेगा । जैसे तन्तुकी रक्तिमा पटमें ॥ ३ ॥

नन्वहंकारो यदि सुषुप्तौ न स्यात्तदा को नाम सुषुप्तेरनुभविता ? यद्यात्मैवानुभविता तदा तत्प्रकाशस्यैकरसत्वात् संस्कारो न भवितुमर्हति । ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्थापरिणामो वा ज्ञानध्वंसोत्तरोत्पत्तिकगुणविशेषो वा संस्कारो नात्मनि संभवति । अहंकारसत्त्वे तु तद्वृत्तिर्ज्ञानं स्यात् तदीय-सूक्ष्मावस्थापरिणामो वा तादृशवृत्तिध्वंसजन्यगुणविशेषो वा संस्कारोऽहंकारे भवितुमर्हतीति पश्चात् परामर्शोपपत्तिरिति चेन्न । अज्ञानस्य तदानीं सत्त्वात्तदीयसत्त्वगुणांशे ज्ञानप्रतिबिम्बस्य ज्ञानसुखाऽज्ञानाद्याकारवृत्तेश्च संभवेन संस्कारोपपत्तेः । न च वृत्तिरज्ञाने भवेत् परामर्शश्चान्तःकरणे इति वैयधिकरण्यमनुभवस्मृत्योः स्यादिति वाच्यम् । अज्ञानजन्यत्वादहंकारादेः कारणगुणस्य कार्येऽनुवर्त्तमानत्वोपपत्तेः । तन्तुरक्तिम्न इव पटे । न च तदानीमज्ञानसद्भावे मानाभाव इति वाच्यम् । न किंचिदवेदिषमिति परमर्शेन तत्सिद्धेः । न चैष ज्ञानसामान्याभावविषयः । अज्ञानसुषुप्ति-सुखादीनामनुभवसत्त्वेन ज्ञानसामान्याभावस्य वक्तुमशक्यत्वादिति स्पष्टी-करिष्यमाणत्वात् । न च घटादिविषयकज्ञानाभावविषयकोऽयं परामर्श इति वाच्यम् । सुषुप्तौ विषयानुपस्थित्या विषयघटितज्ञानाभावविषयकत्वेन व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् । जाग्रदुपस्थितविषयविषयकज्ञानाभावविषयकत्वे वा ज्ञानान्तरं स्वीकृतमिति ज्ञानसामान्याभावसिद्धान्तहानिः स्यात्पृथगज्ञान-सिद्धिश्च स्यात् ॥ ३ ॥

अखण्डं सुखमज्ञानमखण्डा वृत्तिरेव च ।
अल्पत्वापेक्षया सुप्तौ सा नास्तीति बुधा जगुः ॥ ४ ॥ [२५०]

पूर्वपक्षः—परंतु बहुतसे आचार्योंने सुषुप्तिमें अज्ञानवृत्ति नहीं मानी है । उनके साथ विरोध होगा । माना कि बहुतसे आचार्योंने अज्ञानवृत्ति मानी भी है किन्तु जो अज्ञानवृत्ति नहीं मानते हैं उनके मतमें सुषुप्तपरामर्श कैसे होगा ? उत्तरपक्षः—सुषुप्तिमें सुख विषयप्रयुक्त न होनेसे वह आत्मसुख ही है, अखण्ड है । अज्ञान भी विषयोल्लेखपूर्वक न होनेसे अखण्ड

जैसा ही है । अतः उनकी वृत्ति भी अज्ञानसदृश अखण्ड जैसी होनेसे परिच्छिन्नविषयक वृत्ति उस समय नहीं होती । उसीका अभाव पूर्वाचार्यविवक्षित है ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरानुसरणमतिक्लिष्टमिति तत उपरम्यते । नन्वेवं सुषुप्तावपि वृत्तिस्वीकारे बहुभिर्विद्वद्भिस्तदस्विकारात्तैर्विरोधः स्यात् । तन्मते च का स्यादुपपत्तिरित्यपि वक्तव्यं स्यादिति चेन्न । सुषुप्तौ सुखं तावन्न शब्दादिपरिच्छिन्नविषयप्रयुक्ततया परिच्छिन्नं, शब्दादीनां तदानीमभावादित्य-परिच्छिन्नाखण्डसुखमेव । अज्ञानमपि घटमहं न जानामि पटमहं न जानामीत्येवं न तत्तदर्थपरिच्छिन्नविषयकमिति तदप्यखण्डोपममेव । तथा सत्यज्ञानं तद्वृत्तिश्च सुखादिविषयिणी समकक्षे इति नास्ति वृत्तिरित्या-पाततो जगुर्बुधाः ॥ ४ ॥

जानाति खलु नाहायमहमस्मीति संप्रति ।
आत्मानमित्यहंकाराभावं सुप्तौ श्रुतिर्जगौ ॥ ४ ॥ [२५१]

सुषुप्तिको लेकर श्रुतिमें कहा है "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति" अर्थात् उस समय यह मैं हूं ऐसा बोध नहीं होता । वहां 'अहमस्मि' इस अहंकारका अभाव बताया है ॥ ५ ॥

श्रुतिरपि सुषुप्तौ–"नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मी"-त्येषाऽहंकाराभावमाचष्टे । न च "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमि"ति श्रुतेरज्ञानसुखाद्यनुभवोऽपि तदानीं निरस्येतेति वाच्यम् । यतोऽज्ञानं न बाह्यं नान्तरं सर्वोपादानत्वात् । एवं सुखमपि आत्मनः स्वरूपं न बाह्यं नान्तरम् । बाह्या घटादय आन्तराः सुखदुःखभयादयः । तान् न वेदेति तदर्थत्वात् । न चास्यां श्रुतावपि "अयमहमस्मी"त्यस्य अहं देवदत्तोऽस्मि ब्राह्मणोऽस्मीत्यादिज्ञानराहित्यमेवोच्यत इति वाच्यम् । सुषुप्तौ अहमहमित्येवं प्रत्ययस्य केनाप्यनौनुभवात् अहंकारप्रत्ययाभावस्यापि तुल्य-त्वात् । ननु मन्मतेऽहमर्थस्यात्मत्वेन सुषुप्तौ तत्प्रत्ययप्रसङ्गेऽपि अहमह-मित्येवं सुषुप्तौ नान्वभूवमिति परामर्शविरोधेनेष्टापत्तिस्वीकारासंभवेऽपि भवन्मतेऽहंकारस्याहमर्थस्य स्वरूपतः स्थितौ को दोषः इति चेन्न । तत्प्रतीतिं विना तत्सत्त्वस्वीकारानौचित्यस्यैव दोषत्वात् ॥ ५ ॥

खादीनि यन्त्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि ।
इत्यात्मनि जगौ सुप्तावन्तरिक्षोऽहमो लयम् ॥ ६ ॥ [२५२]

"इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप । प्रविशन्ति ह्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि" इस प्रकार अन्तरिक्ष योगीश्वरने सुषुप्तिमें अहंका लय आत्मामें बताया है ॥ ६ ॥

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप । प्रविशन्ति ह्यंकारं स्वगुणैरहमात्मनि" इति प्रलयवर्णनेऽन्तरिक्षेण योगेश्वरेणोक्तम् । नित्यप्रलयेऽपि तत्समानमेव । अहमर्थः स्वगुणैस्त्रिविधः स्वकार्यैः सह आत्मनि महत्तत्त्वे तच्च प्रकृताविति द्रष्टव्यमिति तत्र टीका तस्मादहंकारोऽपि क्रमशोऽविद्यायां लीयत एव ॥ ६ ॥

ज्ञाताऽहमर्थो मोक्षं हि स्वनाशं कथमिच्छतु ।
मैवं जडत्वात्तन्नाशाऽनाशयोः का विचारणा ॥ ७ ॥ [२५३]

पूर्वपक्षः—अहं शब्दका अर्थ ही ज्ञाता है । मोक्ष अहंकारनाशरूप है । अपना नाश स्वयं कौन चाहेगा ? उत्तरपक्षः—अहंकार जड़ है । उसके नाश में कोई हित अहित—नहीं है । अतः उसके नाश या अनाशका विचार व्यर्थ है । आत्माका नाश तो नहीं होता ॥ ७ ॥

नन्वहमर्थो ज्ञाता । मोक्षश्चाहंकारनाशात्मकः । स कथं स्वनाशमभिलषतु तदर्थं यततां वेति चेन्न । अहमर्थस्य जडत्वात्तस्य नाशानाशविचारवैयर्थ्यात् । तस्य हिताहिताद्यभावात् ॥ ७ ॥

प्रकृतिः कुरुते पुंसो ह्यपवर्गं स्वनाशनम् ।
कदली फलमाधत्ते स्वनाशाय ततोऽस्तु किम् ॥ ८ ॥ [२५४]

सांख्यमतमें प्रकृति पुरुषका मोक्षसंपादन करती है जो स्वनाशरूप है । केला स्वनाशके लिये फल उत्पन्न करता है । तो इन सबसे क्या होना है ?

प्रकृतिः पुरुषस्य प्रथमं भोगमन्तेऽपवर्गं च स्वयं करोति । तत्रापवर्गे स्वनाश एव । 'कृतार्थं प्रति नष्टमि'ति पातञ्जलस्मरणात् । तस्य व्याख्याऽन्यत्रास्मत्कृता द्रष्टव्या । एवं कदलीफलं स्वनाशाय करोति । तत्र कथमेतदिति न प्रश्नः । जडत्वेन तस्य हिताहितयोरभावात् ॥ ८ ॥

शबलस्यात्मनोऽज्ञानतज्जदुःखनिवृत्तये ।
भङ्क्त्वाऽविद्यां स्वयं नश्येदहं चेत् का भवेत् क्षतिः ॥ ९ ॥ [२५५]

शबल आत्मामें अज्ञान तथा उससे उत्पन्न दुःखकी निवृत्तिके लिये यदि अहंकार अविद्याको नष्ट कर स्वयं नष्ट होता हो तो उसमें क्या हानि है ? ॥ ९ ॥

नन्वात्मनि शुद्धे नास्ति दुःखम् । तच्चाहंकारे चैतन्यप्रतिबिम्बसमन्विते । स कथं स्वनाशमभिलष्येद् । अभिलाषापि यतस्तत्रैव वर्तत इति चेन्न तदध्यासेन चैतन्ये दुःखवत्त्वारोपात् तन्निवृत्तयेऽहंकारोऽखण्डाकारवृत्त्याऽविद्यां भङ्क्त्वा स्वयमपि नश्येच्चेत् का हानिः । न हि प्रकृतिपरिणामदुःखादि-वृत्त्या प्रकृतेरेव दुःखित्वमचेतनत्वात् । किन्तु तदध्यासनिबन्धनदुःखित्वं चेतनस्यैवेति । विशिष्टस्यानिर्वचनीयभेदादिस्वीकारेण शुद्धे दुःखाभावेऽपि विशिष्टे तद्वत्त्वोपपत्तेश्च । न हि स्फोटकाक्रान्तस्कन्धस्य स्फोटकवेदना-प्रयुक्तवेदनाध्यासे स्फोटकशल्यक्रियानभिलाषादिकम् । न च वेदना वास्तविकी जीवे । सुषुप्तिमूर्च्छादौ स्फोटकाध्यासविरहे तददर्शनात् ॥ ९ ॥

देहादौ नन्वनात्माहमर्थाध्यासः कथं शृणु ।
आत्माध्यासवशादेष आत्मवद् वर्तते यतः ॥ १० ॥ [२५६]

प्रश्नः—यदि 'अहं' अनात्मा है तो उसका अध्यास शरीरादिमें किस प्रकार ? उत्तरः—आत्माध्यास अहंकारमें होनेसे वह आत्मवत् हो जाता है ॥ १० ॥

ननु अहंकारस्य जडत्वे कथं तदध्यासो जडेषु देहादिष्विति चेन्न । अहंकारे प्रथममात्माध्यासात्तस्यात्मवच्चेतनत्वेन भासमानतया तदध्या-सोपपत्तेः । तथा हि प्रथममात्माध्यासोऽहंकारे । तदेव सर्वबीजम् । अत एवाहंकारात्मनोर्विवेकोऽतिदुर्धरः । तदध्यासो बुद्ध्यादौ तत इन्द्रियेषु ततो देहे ततः पुत्रादिष्विति संसारोऽयं प्रवर्वृतीति ॥ १० ॥

भाति द्वयमहंबुद्धौ चिच्चाहंकार एवं च ।
जडचेतनयोर्ग्रन्थिस्तयोः संसारकारणम् ॥ ११ ॥ [२५७]

'अहं' इस प्रतीति में दो तत्त्व भासित होते हैं । एक चित् है, दूसरा अहंकार है । अहंकार जड है, चित् चेतन है । इन दोनोंकी ग्रन्थि संसारका कारण है ॥ ११ ॥

अहमिति न शुद्धात्मप्रत्ययः । द्वे तत्त्वे अहमिति प्रत्यये भासेते । अहंकारश्चैतन्यं च । तयोर्ग्रन्थिरन्योन्याध्यासलक्षणो जडचेतनग्रन्थिरित्यभिधीयते स एव संसारकारणं भवति ॥ ११ ॥

इदं जडप्रधानं स्याच्चित्प्रधानमहं भवेत् ।
मेयमातृव्यवहृतिस्तुल्यत्वेऽप्युभयोस्ततः ॥ १२ ॥ [२५८]

पूर्वपक्षः—युष्मत्प्रत्यय इदं में भी जड और चेतन है और अस्मत्प्रत्यय अहंमें भी जड और चेतन है तो इदं प्रमेय है, अहं प्रमाता है यह विभाग नहीं बनेगा । अतः अहंमें केवल चेतन ही स्वीकार करना चाहिये । उत्तरपक्षः—इदंमें जडकी प्रधानता है । अहंमें चेतनकी प्रधानता है । इतनेसे ही प्रमेय प्रमाता भेद सिद्ध होगा ॥ १२ ॥

नन्वयं घट इत्यादावपि घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं भासते । अहमित्यत्राप्यहंकारावच्छिन्नं चैतन्यं भासत इति तुल्यत्वमुभयोः । न चेष्टापत्तिः । तथा सति युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिभावव्यवस्थानुपपत्तिरिति चेन्न । अयं घट इत्यादिप्रत्यये जडस्य घटादेः प्राधान्यम् । अहमित्यात्मनश्चेतनस्य प्राधान्यमिति भेदात् । अत एव प्रमेयप्रमातृविभागव्यवस्थाप्युपपद्यते । न च तयोर्विषयविषयिभावकथनपरभाष्यादहमर्थ आत्मैवेति किं न स्वीक्रियतामिति वाच्यम् । "महाभूतान्यहंकार" इत्यादिनाऽहंकारस्य क्षेत्रत्वाभिधानादहमिति प्रत्ययविषयस्याहंकारस्यात्मत्वानुपपत्तेः । यत्तु तत्र "बुद्धिरव्यक्तमेव चे" त्येवं बुद्धेरपि "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" इति न्यायसूत्रानुसारेण ज्ञानस्वरूपायाः क्षेत्रत्वोक्तेः संविदपि नात्मा स्यादिति । तन्न । बुद्धिपदेन सांख्यपठितबुद्धेर्ग्रहणेन संविदस्तत्राऽग्रहणात् संविद आत्मत्वे बाधकाभावात् । अत एव "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे"ति बुद्धेः प्रकृतित्वोक्तिः संगच्छते । न हि संविदः प्रकृतित्वं तवाप्यनुमतम् । न च "इतरेषां चानुपलब्धेः" इति न्यायान्महत्तत्त्वादीनामवैदिकत्वमेव बादरायणाभिमत-

मिति वाच्यम् । एवमपि महाभारते गीतायां च सांख्याभिमततत्त्ववर्णन-दर्शनादनुवादभाषया तदुक्तेरदोषत्वात् । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः पर' इत्येवं श्रुतावपि बुद्ध्यादिदर्शनाच्च । तेषामन्तःकरणवृत्तिविशेषमात्रत्वाभ्युपगमेनोपपत्तौ पृथक् तत्त्वस्वीकारो व्यर्थः, प्रत्यक्षतः कार्यतश्चानुपलब्धेरिति सूत्राकाराभिप्रेतोऽर्थः ॥ १२ ॥

आत्मादेशसमानार्थेऽहंकारादेशदर्शनात् ।
आत्माहमिति चेत्तन्न पौनरुक्त्यप्रसङ्गतः ॥ १३ ॥ [२५९]

पूर्वपक्षः—'अथातोऽहंकारादेशः । अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्' ऐसा कह-कर 'अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्' इस प्रकार समान अर्थमें आत्मादेश श्रुतिमें किया है । अतः अहमर्थ तथा आत्मा एक ही है । उत्तरपक्षः—तब वहां पुनरुक्ति निश्चित है । वस्तुतः 'स एवाधस्तात्' का परोक्षत्व दूर करने—'अहमेवाधस्तात्' कहा । संघातवारणार्थ 'आत्मै-वाधस्तात्' कहा ॥ १३ ॥

ननु भूमानं प्रकृत्य 'स एवाधस्तादि'त्युपपाद्य 'अथातोऽहंकारादेश अहमेवाधस्तादि'त्यादि 'अथात आत्मादेशः आत्मैवाधस्तादि' ति च तुल्यप्रतिपादनात् भूमा, अहम्, आत्मेति पर्याया एवेति चेन्न । तथा सति पौनरुक्त्यापत्तेः । न चायमभ्यास इति वाच्यम् । शब्दपरिवर्तनवैयर्थ्यात् । तस्मात्' स इति परोक्षत्वं वारयितु'महमि'त्युक्तम् । तथापि संघातभ्रमः स्यादिति 'आत्मे'त्युक्तमिति व्याख्या युज्यते । तदुच्यते ॥ १३ ॥

मा भूत् परोक्षं सदिति मा भूत् संघात इत्यपि ।
त्रयोक्तेः संगतिस्तत्त्वमसिशोधनतोऽपि वा ॥ १४ ॥ [२६०]

वस्तुतः 'स एव अधस्तात' मे 'सः' से प्राप्त परोक्षत्व वारण करने 'अहमेवाधस्तात्' कहा और अहंमें प्राप्त संघातत्वको मिटानेके लिये 'आत्मा' कहा । और ये तीन तत्त्वमसिके पदार्थशोधक भी हैं ॥ १४ ॥

परोक्षत्वव्यावर्तनार्थं द्वितीयपर्यायः । संघातत्वव्यावर्तनार्थं तृतीय-पर्यायः । अथवा 'स एवाधस्तादि' ति तत्पदार्थशोधनम् । 'अहमेवाधस्तादि'

ति त्वंपदार्थशोधनम् । 'आत्मैवाधस्तादि' त्यसिपदार्थबोधनमिति । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमि' त्यादौ च तत्त्वमसिवद् भागत्यागलक्षणया बोधः ॥ १४ ॥

सुषुप्तौ नैवाहंमतिरथ चिदात्मा विलसति
स्वरूपज्ञः सर्वं भवति मनुसूर्यप्रभृति सः ।
परिच्छिन्नोऽहं स्यात् स पुनरपरिच्छिन्नविभवो
निरस्याहंकारं स्फुरतु सकलात्मा हृदि मम ॥ २६ ॥

सुषुप्तिमें अहंकार भासित नहीं होता । किन्तु आत्मा भासित होता है । अतः अहं और आत्मा समानार्थक नहीं है । दूसरी बात–'अहं' परिच्छिन्न है । किन्तु आत्मज्ञानीको व्यापक आत्माका अनुभव होता है । तभी तो वामदेव ऋषिने कहा मैं ही मनु सूर्य आदि था । वह अपरिच्छिन्न आत्मा अहंकारको छोड़कर सर्वात्मरूपसे मेरे हृदयमें स्फुरित हो ॥ २६ ॥

इत्यहमर्थपर्याप्तात्मत्वनिरासः ।

*****

(२७)

अथ ज्ञातृत्वाध्यासः

अज्ञानं चिति शुद्धायामनाद्यध्यस्तमिष्यते ।
न तत्र चोद्यं तेनैवानादी जीवेश्वरौ युतौ ॥ १ ॥ [२६१]

शुद्ध चैतन्यमें अनादिकालसे ही अज्ञान अध्यस्त है । अनादि होनेसे वहां क्यों कैसा इत्यादि तर्क नहीं हो सकता । उस अज्ञानसे युक्त चैतन्य जीव एवं ईश्वर ये दोनों भी अनादि हैं ॥ १ ॥

शुद्धायां चित्यज्ञानमध्यस्तमनादिकालतः । अत एव तत्र कथं किमर्थमित्यादिचोद्यानामनवकाश एव । अज्ञानमस्ति अज्ञोऽस्मीत्यादिप्रतीतिस्तत एव भवति, तदावरणेन परिभवाज्जीवस्य । आवरणेन परिभवविरहात्तु ईश्वरस्य नाऽज्ञोस्मीति भवति। तेनाज्ञानेन विशिष्टौ जीवेश्वरावुच्येते ॥ १ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ २ ॥ [२६२]

अज्ञान सादि नहीं है । क्योंकि गीतामें प्रकृति तथा पुरुष दोनोंको अनादि बताया है । यह प्रकृति कोई अलग नहीं है । उसीको श्वेताश्वतरमें माया बताया है ॥ २ ॥

ये तूपाधिभूतमज्ञानं सादीति वदन्ति तान् प्रति गीताया वचनमुत्तरम् । "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपी" त्येवं भगवता स्पष्टमुक्तेः । तथा च श्रुतिः—"मायां तु प्रकृतिं विद्यादि" ति । ननु चैतावतापि मायारूपाज्ञानवत्त्वमीश्वरस्य न सिद्धमिति चेन्न । तत्रैव "मायिनं तु महेश्वरमि" त्युक्तेः । न च मायावानीश्वरो भवेन्न तु जीव इति वाच्यम् । सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यामेव मायाऽविद्याभेदात् ॥ २ ॥

तमोरूपा च मायेयमाभासेन करोति च ।
जीवशौ किं च माया चाविद्या च भवति स्वयम् ॥ ३ ॥ [२६३]

यह माया तमोरूपा है । आभाससे वह जीव और ईश्वर को बनाती है । इस प्रकार श्रुतिमें कहा है ॥ ३ ॥

ननु मायाशब्दो लीलापर्यायः स्यात् । किंच मायावयुनमित्यादीनां ज्ञानार्थकत्वमुक्तमिति चेन्न । "माया च तमोरूपा अनुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकमि" त्यादिश्रुतेस्तमोरूपत्वसिद्धेः । अनुभूतेः —सुषुप्त्यादावज्ञोऽहमस्मीत्यनुंभूतेरित्यर्थः । किं च "जिवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती" ति तत्रैव (नृ. ३-९-२) श्रुतम् । मायादिविशिष्टत्वेनानिर्वचनीयभेदादाभासभावापन्नचैतन्यं जीवेशौ भवतीति श्रुत्यर्थः । माया चाऽविद्या च सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां स्वयमितरनिरपेक्षतया भवति ॥ ३ ॥

तदज्ञानं च विविधानन्तसंस्कारसंकुलम् ।
यथासंस्कारमेवाहंकारः प्रादुर्भवेत्ततः ॥ ४ ॥ [२६४]

उस अज्ञानमें अनन्त संस्कार (वासनायें) रहते हैं । उस अज्ञानसे प्रथम अहंकार प्रकट होता है ॥ ४ ॥

तच्चाज्ञानं जगद्विषयकविविधानन्तसंस्कारव्याप्तं वर्तते । संस्कारानुसारेण चोत्तरसृष्टिकल्पना प्रवर्तते । ते संस्काराः प्रवाहानादित्वेऽपि न व्यक्तितोऽनादयः नवीनानुभवानुसारेणापि संस्काराणामुत्पत्तेः । तस्मादज्ञानात् प्रथममहंकारः प्रादुर्भवति ॥ ४ ॥

चेतनस्तदवच्छिन्नो ज्ञाता कर्ता च जायते ।
न ज्ञातृता कर्तृता च शुद्धायां चिति विद्यते ॥ ५ ॥ [२६५]

अहंकारावच्छिन्न चेतन ज्ञाता एवं कर्ता होता है । शुद्ध चैतन्यमें ज्ञातृत्व या कर्तृत्व नहीं है ॥ ५ ॥

यथोक्ताज्ञानावच्छिन्नोऽहंकारावच्छिन्नो वा चेतनो ज्ञाता कर्ता च भवति भोक्तृप्रभृतिरूपश्च । शुद्धचैतन्ये न ज्ञानं नापि ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिकं स्वीक्रियते ॥ ५ ॥

शुद्धेऽध्यस्तं जगत्सर्वमिति केचित्प्रचक्षते ।
हेत्ववच्छिन्नचैतन्ये त्वपरे प्रतिपेदिरे ॥ ६ ॥[२६६]

जगत् शुद्धचैतन्यमें ही अध्यस्त है ऐसा एक मत है । अपने कारणसे अवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यस्त है ऐसा दूसरा मत है ॥ ६ ॥

तत्रास्माकं पक्षे मतद्वयं विद्यते । केचनाचार्याः सर्वमपि जगत् परब्रह्मणि शुद्धे चैतन्येऽध्यस्तं मन्यन्ते । तथा च गगनवाय्वादिकमहंकारज्ञातृत्वकर्तृत्वादिकं च तत्रैव कल्पितम् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" ति श्रुतेः । अपरे तु तत्तत्कारणावच्छिन्ने कार्यजगदध्यस्तमित्याचक्षते । मृदि घटः, तन्तौ पटः इत्यादि प्रतीतेर्मृदाद्यवच्छिन्नचैतन्ये घटादीनां कल्पितत्वात् । अत एव प्रथमं "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेते" तीक्षणोपयुक्तमायावच्छिन्नचैतन्यं कल्पनास्पदत्वेनोक्त्वा । तत्तेजोऽसृजतेति तेजःसृष्टिं चोक्त्वा "तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय" "तदपोऽसृजते"त्यादिना पुनरीक्षणसृष्ट्यादिकथनमुपपद्यते । तेजोऽवच्छिन्नचैतन्यकर्तृकेक्षणजन्या तत्कर्तृकाप्सृष्टिरित्यादिरर्थः ॥ ६ ॥

स्वप्नेऽध्यासेऽप्यहमि न गजोऽहमिति धीर्भवेत् ।
तादृक्संस्कारविरहात्तत्सत्त्वे वा भवेदपि ॥ ७ ॥ [२६७]

यद्यपि स्वप्नमें 'अहं' में ही गजादि अध्यस्त है। फिर भी मै गज हूं ऐसी प्रमीति नहीं होती। क्योंकि वैसा संस्कार नहीं है। यदि ऐसा संस्कार जागृत होता है तो होगा भी। जैसे मैं पक्षी हूँ, आकाशमें उड़ रहा हूँ इत्यादि ॥ ७ ॥

स्वप्ने यद्यप्यहमर्थे गजादिरध्यस्तस्तथापि 'अहं गज' इति प्रतीतिर्न भवति। किन्तु अयं गज इत्येव। तत्कस्य हेतोः ? तादृशसंस्कारविरहात्। तद्वासाप्रयुक्तत्वाद्वा। तथात्वे वा पूर्वजन्मीयसंस्कारजागरणे अहं पक्षी सन्नभस्युड्डीये, अहं गजोऽस्मीत्यादिप्रतीतर्भवत्येव ॥ ७ ॥

ज्ञानं ज्ञातृ, ज्ञानमहमित्यादिप्रत्ययोऽपि च।
तादृक्संस्कारविरहान्न भवेत्तत्र का व्यथा ॥ ८ ॥ [२६८]

पूर्वपक्षः—यदि ज्ञान ही आत्मा है तो ज्ञानं ज्ञातृ, ज्ञानमहं ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती ? उत्तरपक्षः—वैसा संस्कार नहीं है ॥ ८ ॥

एवं स्थिते यदत्र परैरुक्तं यदि ज्ञाने ज्ञातृत्वाहंत्वादिकमध्यस्तं तदा सामानाधिकरण्येन ज्ञानं ज्ञातृ, ज्ञानमहमित्यादिप्रत्ययाः स्युरिति, तदविचार-प्रयुक्तमेव। तादृशसंस्कारविरहेण तथाप्रत्ययाभावात् ॥ ८ ॥

ज्ञातान्तःकरणेनावच्छिन्नं चैतन्यमुच्यते।
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं ज्ञानमित्युदितं पुरा ॥ ९ ॥ [२६९]

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ज्ञाता है। वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ज्ञान है यह कह चुके ॥ ९ ॥

वस्तुतस्तु लोकेऽन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं ज्ञातेति निगद्यते। तथा वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं ज्ञानमिंति। तत्र ज्ञानं ज्ञतृ, ज्ञानमहमित्यादेः का प्रसक्तिः। यतु ज्ञातृत्वं ज्ञानवत्त्वमेव। न तु ज्ञानकर्तृत्वम्। ज्ञानवत्त्वं च ज्ञानस्वरूपमेव। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो हि भावः। ज्ञानवानिति प्रकृतिः। तत्र प्रकारो ज्ञानम्। तदेव ज्ञानवत्पदोत्तरभावप्रत्ययेन लभ्यते ॥ ९ ॥

वेदाहमेतमिति च द्रष्टा श्रोतेति च श्रुतेः।
ज्ञातृत्वं ब्रह्मणि स्याच्चेदस्त्वध्यस्तं न नः क्षतिः ॥ १० ॥ [२७०]

पूर्वपक्षः—"वेदाहं समतीतानि", "द्रष्टा, श्रोता" "तदेतत्पश्यन्नृषिः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिमें ब्रह्मको ज्ञाता कर्ता बताया है । उत्तरपक्षः—भले, अध्यस्त कर्तृत्वादि हम मानते हैं ॥ १० ॥

ननु "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति", "वेदाहं समतीतानि" "तदैक्षत" "तदेतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे" "सर्वं पश्यः पश्यति", "एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ते" त्यादिषु शतशः श्रुतिषु स्मृतिषु च ब्रह्मणोऽहमर्थस्य ज्ञातृत्वं प्रतिपादितमिति चेत् । स्वीकृतमेवाध्यस्तं तत्रास्माभिः ॥ १० ॥

मोक्षकाले त्वमुक्तात्मदृष्ट्या द्रष्टृत्वमुच्यते ।
सर्वं पश्यति पश्यो हेत्यज्ञानाभावलब्धये ॥ ११ ॥ [२७१]

मुक्तात्मा सर्वद्रष्टा है ऐसा अमुक्त पुरुषकी दृष्टिसे द्रष्टृत्वको लेकर श्रुति "सर्वं ह पश्यः पश्यति" कहती है । वास्तविक द्रष्टृत्वको लेकर नहीं । वह भी इसलिये कह रही है कि उस समय अज्ञान बिल्कुल नहीं रहता ॥ ११ ॥

ननु मोक्षकालेऽहमर्थान्तःकरणादिविरहादध्यासविरहाच्च "सर्वं ह पश्यः पश्यति"त्यादेरनुपपत्तिरिति चेन्न । अस्मदादिदृष्ट्या तदुक्तेः । तज्ज्ञानात्यन्ताभावबोधनार्थम् ॥ ११ ॥

मन्मते तु श्रुतौ तद्धि जीवन्मुक्तस्य वर्णनम् ।
वामदेवादयोऽविद्यालेशादैक्षिषताखिलम् ॥ १२ ॥ [२७२]

यह तो परसमाधानार्थ हमने कहा । हमारे मतमें श्रुतिमें जीवन्मुक्तका वर्णन है । लेशाविद्याको लेकर वामदेवादि सर्वज्ञ हुए, सर्वस्वरूप भी हुए हैं ॥ १२ ॥

जीवन्मुक्त्यवस्थावर्णनाच्च । न हि वामदेवो विदेहताकाले "मनुरभवमि"ति प्रतिपेदे । जीवन्मुक्तिश्चात एव सिद्धा । साधयिष्यते च । न चाज्ञानस्य ब्रह्मण्यध्यस्तस्य तत्संस्काराणां च विद्यमानत्वात्सदा (प्रलयादिकालेऽपि) सृष्ट्याद्यापत्तिरिति वाच्यम् । कर्मविशेषाणां संस्कारोद्बोधकानामनुद्बोधात् । कालविशेषे कर्माण्युद्बुध्यन्ति फलार्थमभिमुखीभवन्ति ।

तदा संस्कारोद्भवाद्यथाकालं सृष्ट्यादिर्भवति । तददिं सर्वैरेवोपेयमेव । अन्यत्सर्वमुपपादितं प्राक् ॥ १२ ॥

कर्तृत्वाद्याः सन्त्यहंकारगास्तान्
आत्मन्यध्यस्यन्ति मोहेन लोकाः ।
भ्राम्यन्त्यस्यां संसृतौ तेन बद्धाः ।
शुद्धात्मानं मन्महे जन्महेतिम् ॥ २७ ॥

ज्ञातृत्व कर्तृत्वादि अहंकारमें ही है । उन्हें लोग अज्ञानसे आत्मामें आरोपित करते हैं । उससे बद्ध होकर वे इस संसारमें ही भटकते रहते हैं । हम तो जन्ममरणोन्मूलक शुद्धात्माका ही मनन करते हैं ॥ २७ ॥

इति ज्ञातृत्वाध्यासः

*****

(२८)
अथ साक्षिनिरूपणम्

यत्स्वप्रकाशं स्वाध्यस्तप्रकाशकमनामयम् ।
तत् साक्षि ब्रह्म यत्रैव येनैवेदं प्रकाश्यते ॥ १ ॥ [२७३]

जो स्वयंप्रकाश है, अपनेमें अध्यस्त विश्वका प्रकाशक है, साक्ष्य दोषोंसे अलिप्त है वही साक्षी है , वह ब्रह्म है; जहां ही, जिससे ही विश्व प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

अज्ञानादिसकलदृश्यप्रपंञ्चस्फुरणप्रयोजकत्वात् साक्षात् द्रष्टा साक्षीत्युच्यते । तच्च ब्रह्मस्वरूपमेव । असङ्गत्वादनामयं च तत्रैव वर्तमानं जगत्तेनैव प्रकाश्यते ॥ १ ॥

एको देवः सर्वगूढः सर्वव्यापी च निर्गुणः ।
सर्वभूतान्तरात्मा च साक्षी चेति श्रुतिर्जगौ ॥ २ ॥ [२७४]

श्रुति ने भी साक्षीका वर्णन 'एको देवः सर्वभूतेषु मूढः' इत्यादिसे किया है ॥ २ ॥

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे"ति श्रुतौ एक एव साक्ष्युक्तः ॥ २ ॥

ननु साक्षी भवेत् साक्षात् द्रष्टा व्याकरणस्मृतेः ।
तस्माद् दर्शनकर्तृत्वं मैवं पूर्ववदेव तत् ॥ ३ ॥ [२७५]

पूर्वपक्षः—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायां' ऐसी व्याकरणस्मृति है । दर्शनकर्ता ही द्रष्टा है। वह निर्विशेष नहीं हो सकता । उसमें दर्शनकर्तृत्वादि है । उत्तरः—पूर्ववत् इसका भी समाधान है । अर्थात् अस्मदादिदृष्टिसे दर्शनकर्तृत्व है वस्तुतः नहीं इत्यादि ॥ ३ ॥

ननु साक्षाद् दृष्टरि संज्ञायामिति पाणिनीयस्मणात् दर्शनकर्ता साक्षी न तु दर्शनरूप एवेति चेन्न । औपचारिककर्तृत्वमादाय द्रष्टृत्वोपपत्तेः ॥३ ॥

दर्शनं तन्निदानं वा क्रियाजन्यं नहीश्वरे ।
वस्त्वाध्यक्ष्यनिमित्तत्वात्साक्षीति व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥ [२७६]

द्रष्टाका अर्थ होगा दर्शनानुकूलकृतिमान् । ज्ञान कृतिजन्य नहीं होता । प्रमाणजन्य होता है । दर्शनका साधन नेत्रोन्मीलनादि यदि दर्शन है तो लक्षणा होगी । दूसरी बात परमेश्वरको ज्ञानके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता । नित्यज्ञानवान् ईश्वर है । जन्यदर्शन माना जाये तो भी प्रयत्न जन्य नहीं है ॥ ४ ॥

तथा हि द्रष्टृत्वं यदि दर्शनानुकूलकृतिमत्त्वं तदा दर्शनस्य प्रमाण-जन्यत्वात् कृतिजन्यत्वमसंभवि । न च दर्शनानुकूलनेत्रसंनिकर्षमनः-समाधानादिजनकत्वेनोपपद्यत इति वाच्यम् । ईश्वरस्य नित्यज्ञानत्वेन तज्जनकमनःसमाधानाद्यनुपपत्तेः । यदि धार्ष्ट्येन जन्यज्ञानत्वमुपगम्येत तदापि संकल्पादेव तत्संभवात्कृतिजन्यत्वं नास्त्येव । तस्माद्विषयगत-प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वमात्रेण साक्षीति व्यपदेश ईश्वरे स्यात् ॥ ४ ॥

अस्ति ब्रह्मेति किं सत्ताकर्तृत्वं ब्रह्मणीर्यते ।
स्यात्पूर्वं तर्ह्यसद् ब्रह्म मा भो दर्शय कौशलम् ॥ ५ ॥ [२७७]

इस प्रकार फिर "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद" का आपको अर्थ करना पड़ेगा स्वसत्ताका कर्ता ब्रह्म है । क्योंकि पाणिनीय व्याकरणके अनुसार कर्ता अर्थमें तिप् होता है । तब अर्थ निकलेगा-पहले ब्रह्ममें सत्ता नहीं थी, ब्रह्म असत् था । उसने सत्ताको उत्पन्न किया । भला असत् क्या उत्पन्न करेगा ? अतः कृपया व्याकरणव्याख्याकौशल मत दिखाईये ॥ ५ ॥

यदि प्रत्ययवाच्यार्थाग्रहः सर्वत्र तदा "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेदे"त्यत्र सत्तानुकूलकृतिमत्त्वमस्तिपदार्थः स्यादिति पूर्वं ब्रह्माऽसत् स्यात् । तत्र कृतिः स्यादित्यलमतिकौशलप्रदर्शनेन ॥ ५ ॥

स्वप्रकाशं मतं ब्रह्म नैकस्मिन् कर्मकर्तृता ।
स्वानुभूतिप्रसिद्धं तन्नान्यमानमपेक्षते ॥ ६ ॥ [२७८]

ब्रह्म उभयमतसे स्वप्रकाश है । यहां स्वप्रकाशका अर्थ क्या है? स्वको प्रकाशित करनेवाला—स्वं प्रकाशयति-तो एकमें कर्मत्व और कर्तृत्व आने लगेगा स्वयंपर एक नया प्रकाश डालेगा जो प्रत्ययार्थ कर्तासे जन्य है । वस्तुतः वह स्वानुभूतिसिद्ध है । उसपर किसी अन्य प्रकाशको रखना व्यर्थ है । किन्तु आपके मतमें स्वविषयकप्रकाशनकर्ता ऐसा अर्थ होनेसे विसंगति स्पष्ट होगी ॥ ६ ॥

नन्वौपचारिककर्तृत्वं दर्शनाश्रयत्वमादाय प्रयोगेऽपि सविशेषत्वमापद्यत इति चेन्न । ब्रह्म स्वप्रकाशमित्यादौ सर्वैरन्यथार्थस्वीकारात् । तथा हि स्वप्रकाश इत्यस्य कोऽर्थः? स्वश्चासौ प्रकाशश्चेति चेत् स्व इति विशेषण-वैयर्थ्यम् । सर्वस्यैव स्वात्मकत्वात् । स्वं प्रकाशयतीति कर्मण्यणः स्वीकारे स्वस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं चायातीति कर्मकर्तृविरोधः स्यात् । न चेतर-निरपेक्षतया प्रकाशमानत्वं तदर्थः, स्वपदस्येतरनिरपेक्षतालाक्षणिकत्वादिति वाच्यम् । लक्षणया क्लेशेनार्थकरणेऽपि प्रकाशमानत्वमित्यत्र शानचा कर्तृत्वप्रतिपादनात् प्रकाशाश्रयत्वसिद्धावपि प्रकाशत्वासिद्धेः । न चेतर-निरपेक्षतया प्रकाशत्वमिति वाच्यम् । प्रकाशस्य प्रकाशतायाः स्वाभाविकत्वेनेतरनिरपेक्षत्वविशेषणवैयर्थ्यात् । न हि घटः पटमपेक्षमाणो घटो भवति । न च सूर्यापेक्षया घटः प्रकाशो भवतीति वाच्यम् । यतो घटस्तु घट एव न तु स प्रकाशो भवितुमर्हति । तस्मात् स्वप्रकाशमित्यत्र

स्वं प्रकाशयतीति कर्तरि कृत्यप्रत्ययस्यौपचारिककर्तृत्वमेवार्थः । एवमेव साक्षाद् द्रष्टा साक्षीत्यत्रापि । प्रकाशरूपत्वादेव च साक्षिणि प्रमाणान्तरं नापेक्ष्यते । न हि सूर्यदर्शनं दीपप्रकाशापेक्षम् । ततः स्वानुभूतिसिद्धं तदित्युच्यते ॥ ६ ॥

आदित्यादिष्वपक्रान्तेष्वास्ते पल्ययते पुमान् ।
विपल्येत्यात्मनैवायं ज्योतिषेति श्रुतेरपि ॥ ७ ॥ [२७९]

जनक-याज्ञवल्क्य संवाद श्रुतिमें भी आदित्यादि अन्य समस्त ज्योतियोंके अभावमें कौनसी ज्योति काम करती है? इस प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने आत्मज्योतिको ही बताया । अतः आत्मा स्वयंज्योति है, अन्यज्योतिनिरपेक्ष है, वही साक्षी है ॥ ७ ॥

अहमर्थस्तु न साक्षी भवति । तत्राहंकारांशस्य स्वप्रकाशत्वविरहात् । "साक्षी चेते"ति चैतन्यैकरसविवक्षणात् । सुषुप्त्यादिकाले स एव साक्षी प्रकाशते। प्रकाशान्तरस्य तत्र विरहात् । स्वस्य च तदानीं प्रकाशमानत्वात् । एतदभिप्रायेणैव "किं ज्योतिरेवायं पुरुषः"इत्युपक्रम्य आदित्यादि ज्योतींषि क्रमश उपक्षिप्य" अस्तमित आदत्ये चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इति । आत्मज्योतिरेवायं पुरुषः आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते विपल्येती"त्युपसंजहार श्रुतिः। तत्र सुषुप्त्यादौ आत्मज्योतिषाऽऽस्ते । जाग्रति तेनैव पल्ययते । स्वप्नादौ विपल्येति । "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैती"ति श्रुत्यन्तरात् । आ ऐति ऐति । जाग्रति आसनं पर्यटनं विपर्यागमनं प्रसिद्धमादाय दार्ष्टान्तिको ज्ञेयः । आदित्य इत्यनेनाध्यात्मं चक्षुषोऽपि ग्रहणं, चन्द्रमेति मनसोऽपि ग्रहणम्। एतत्सूचनाय अग्नेर्वाचश्च पृथग्ग्रहणं श्रुतावपि द्रष्टव्यम् । ननु सुषुप्तावनुभविता कः? आत्मा चेत् कथं जागरे स्मरणम्? संस्कारानुपपत्तेः। अज्ञानं चेद् व्याघातः । न हि ज्ञानाभावोऽनुभवितेति चेन्न । अज्ञानस्य ज्ञानाभावरूपतायाः प्राङ्निरस्तत्वान्निरसिष्यमाणत्वाच्च तत्र वृत्त्युपपत्तेः प्रागेवावेदितत्वात् ॥ ७ ॥

प्रकाशमात्रचैतन्याऽस्वीकारेऽन्यप्रकाशतः ।
अनवस्थाऽवस्थितौ च जगदान्ध्यं प्रसज्यते ॥ ८ ॥ [२८०]

साक्षिचैतन्य प्रकाशैकरस नहीं मानेंगे तो उसपर अन्यप्रकाश मानना होगा, वह स्वयंप्रकाश नहीं तो अनवस्था होगी। द्वितीयको स्वयंप्रकाश मानेंगे तो प्रथम ही को क्यों नही मानते? अनवस्था न हो इसके लिये कहीं रुकोगे तो वह अप्रकाशमान होनेसे पूर्व पूर्व भी अप्रकाशमान होगा। तब जगत् ही अन्धकारमय होगा॥ ८॥

प्रकाशैकतानचैतन्याऽस्वीकारे तस्य प्रकाशकमन्यत् स्यात्। तदेव स्वयंप्रकाशं चेत्प्रथममेव तदस्तु। तस्यास्वप्रकाशत्वे प्रकाशान्तरापेक्षेत्यनवस्था। यत्रावतिष्ठेत तस्य प्रकाशाभावात्पूर्वपूर्वतरादिकमपि न प्रकाशेतेति जगदान्ध्यप्रसक्तिः। तस्मात्स्वयंप्रकाशो निर्मलः साक्षी स्वीकर्तव्य इति॥ ८॥

ज्ञातो घटो ज्ञाततया हि येना-
ऽज्ञातो घटोऽज्ञाततया च वेद्यः।
येनैवमेवाखिलमेव ताभ्यां
साक्षी स चेता जगदन्तरात्मा॥ २८॥

ज्ञात घट ज्ञातत्वेन साक्षिवेद्य है। अज्ञात घट अज्ञातत्वेन साक्षिवेद्य है। इस प्रकार समस्त जगत् ज्ञातत्व और अज्ञातत्व रूपसे जिससे वेद्य है वह साक्षी स्वयंप्रकाश है, जगदन्तरात्मा है॥ २८॥

इति साक्षिनिरूपणम्

*****

(२९)

अथ प्रत्यक्षापेक्षया शास्त्रप्राबल्यसमर्थनम्

दृश्यत्वाद् दृशि साक्षिण्यां सिध्यन्ती द्वैतशून्यता।
नाध्यक्षहेड्या श्रुत्यैव सत्यत्वाध्यक्षबाधनात्॥ १॥ [२८१]

दृश्यत्व हेतुसे द्वैतमिथ्यात्व सिद्ध होने से साक्षी दृक् में जो द्वैतशून्यता सिद्ध होती है वह प्रत्यक्षबाध्य नहीं है। क्योंकि श्रुति ने ही द्वैतसत्यत्वका बाध कर लिया है। "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुति द्रष्टव्य है॥ १॥

दृश्यत्वाद् दृग्दृश्यसम्बन्धस्याध्यासिकत्वेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं सिध्यतीत्युक्तम् । न च प्रत्यक्षेण जगतः सत्यत्वसिद्धेरनुमानस्य कालात्ययापदिष्टतेति वाच्यम् । यतो न वयं स्वातन्त्र्येणानुमानमात्रं प्रयुञ्ज्महे । किन्तु श्रुतिबलेन । श्रुत्यर्थमननमेवानुमानम्। क्वचिदनुमानेऽनुकूलतर्कविधया श्रुत्युपयोगः । सर्वथापि श्रुतिः प्रत्यक्षं बाधत एव । श्रुतिश्च "नेह नानास्ति किंचने"ति "एकामेवाद्वितीयमि"ति "त्रय आवसथाः । अयमावसथोऽयभावसथोऽयमावसथः त्रयः स्वप्नाः" इति चैवमाद्या द्वैताभावं प्रतिपादयति । "तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातमि"त्याद्या स्मृतयश्च द्वैताभावं प्रतिपादयन्ति ॥ १ ॥

तत्परत्वात् परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम् ।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥ २ ॥ [२८२]

तात्पर्य होनेसे, पर होनेसे, निर्दोष होनेसे अद्वैतबोधक वैदिकवाक्य प्रत्यक्षादिका बाधक है । जैसे "नायं सर्पः" यह तथार्थक वाक्य रज्जुमें सर्पके प्रत्यक्षका बाधक है ॥ २ ॥

ननु शास्त्रपेक्षया प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यम् । ज्येष्ठप्रमाणत्वात् । प्रमाणान्तराणां तत्सापेक्षत्वात् । न ह्यक्षरपदप्रकृतिप्रत्ययादिभेदप्रत्यक्षबाधे शाब्दबोध एव संभवति । अन्यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादावपि प्रत्यक्षबाधः स्यादिति चेन्न । न हि ज्येष्ठत्वं स्वसापेक्षत्वं वा तदितरेषां नैर्बल्यप्रयोजकम् । रज्जावयं सर्प इति ज्ञानस्य प्राथमिकत्वेन जेष्ठत्वात् । तन्निषेधस्य तत्सापेक्षत्वाच्च नायं सर्प इत्यस्य निर्बलत्वेन बाधोच्छेदप्रसङ्गात् । न "चादित्यो यूप" इत्यस्याप्येवं प्रबल्यापत्तिः । तत्परत्वातत्परत्वाभ्यां प्रबल्यनैर्बल्यनिश्चयात् । यूपप्रशंसापरत्वेन तद्वाक्यस्य यूपे आदित्यत्वविधितात्पर्यविरहात् ॥ २ ॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च तात्पर्यगमकानि षट् ॥ ३ ॥ [२८३]

वेदान्तमें उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति ये तात्पर्यबोधक छः लिङ्ग हैं ॥ ३ ॥

वेदान्तेषु तूपक्रमोपसंहारादिना षड्लिङ्गेनाद्वैततात्पर्यनिर्णयात्तस्य न बाध्यत्वसंभवः । न वा संकोचः । तत एव ॥ ३ ॥

अद्वितीयश्रुतिः स्वार्थतात्पर्योपक्रमादिभिः ।
द्वैताध्यक्षमतो बाध्यमद्वैतं पारमार्थिकम् ॥ ४ ॥ [२८४]

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" यह श्रुति उपक्रमोपसंहारादिसे अपने अर्थमें तात्पर्य रखती है यह सिद्ध होता है । अत एव पूर्वोत्तर द्वैतप्रत्यक्ष बाधित होता है । और पारमार्थिक अद्वैत ही सिद्ध होता है ॥ ४ ।

इत्थं चोपक्रमादिभिरद्वैतश्रुतेः स्वार्थतात्पर्यात्ततः प्रत्यक्षबाधात्पारमार्थिकाद्वैतसिद्धिः ॥ ४ ।

नेयं चोलनृपः सम्राडद्वितीयो भुवीतिवत् ।
सदन्यन्नास्ति चेदिष्टमेकमेवेत्यनन्वितम् ॥ ५ ॥ [२८५]

पूर्वपक्षः—'भूतलमें चोलराज सम्राट् अद्वितीय हैं' । यहां जैसे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" में भी अद्वितीय पद हो सकता है। उत्तरपक्षः—ऐसा अर्थ करेंगे तो एकमेवका अन्वय किस प्रकार होगा? चोलराजा एक ही सम्राट् अद्वितीय है, बाकी सब अद्वितीय नहीं है ऐसा अर्थ तब निकलेगा । यदि दूसरे हों । किंतु सृष्टिसे पूर्व दूसरे पदार्थ हैं कहां? ॥ ५ ॥

ननु "यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले" इतिवदद्वितीयपदमिति चेत् । स्वसमभिव्याहृतविशिष्टनृपत्वादिरूपेण द्वितीयाभावविवक्षया तत्र तथा प्रयोगेऽपि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"मित्यत्र केन रूपेणेति वक्तव्यम् । सत्त्वेन चेत् । द्वितीयसदभावे सिद्धमद्वैतम् । विशिष्टत्वेन चेत् । किं तद्वैशिष्ट्यम्? त्रिकालाबाध्यत्वपारमार्थिकत्वादिरूपेण चेत् । अङ्गीकुर्मः । व्यावहारिकसत्ताया जगति स्वीकारात् ॥ ५ ॥

समभिव्याहृतार्थैकजातीयान्यनिषेधकम् ।
अद्वितीयपदं शक्त्या श्रैष्ठ्यलाक्षणिकं क्वचित् ॥ ६ ॥ [२८६]

साथमें पढ़े गये शब्द का जो अर्थ होगा उसके सजातीय द्वितीयका निषेधक अद्वितीयपद वाच्यार्थरूप से होता है । कहीं लक्षणासे श्रेष्ठार्थ-

बोधक होता है। चोलराजा अद्वितीय सम्राट् अर्थात् वैसा द्वितीय सम्राट् नहीं हैं। वैसे यहां सत् अद्वितीयं कहनेपर सत् का समभिव्याहार होने से द्वितीय सत् नहीं है अर्थ होगा। वह तो हमें इष्ट है। परमार्थ सत् एक ही है। द्वितीय नहीं है। जो है वह केवल व्यवहारसत् माना जा सकता है यदि आवश्यकता हो जो सद्विलक्षण ही है। लक्षणासे श्रेष्ठ अर्थ करते हैं तो 'जघन्यवृत्तिका' आश्रयण मानना होगा॥ ६॥

समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नद्वितीयनिषेधकमद्वितीयपदं लोके दृष्टम्। एकमेवाद्वितीयमित्यत्रैकमेवेतिपदद्वयोपपत्तिरपि यथा चोलनृप इत्यादि दृष्टान्ते न घटते। न हि भवति एक एवाद्वितीयः सम्राट् चोलनृपो भूतल इति। न चास्यां पाठशालायामेक एवाद्वितीयश्छात्रः काश्यां पाठशालायां द्वावद्वितीयौ छात्रौ विद्येते इति प्रयोगदर्शनादेकमेवेति पदद्वयस्यापि सार्थकतेति वाच्यम्। तथा प्रयोगाभावात्। अस्ति चेत् तत्राद्वितीयपदस्योत्तमत्वलाक्षणिकत्वमेव स्यात्। प्रकृते च बहूनां सृष्टेः प्राग् विरहेणोत्तमत्वलक्षणास्पदत्वं न संभवति। किं च शक्यार्थपरित्यागे लाक्षणिकार्थस्वीकारे च हेतुर्वक्तव्यः। विनापि कारणं लक्षणास्वीकारे सर्ववाग्व्यवहारविप्लवः स्यात्। न वा जघन्या वृत्तिः सत्यां गतौ युज्यते। न च प्रत्यक्षविरोधपरिहारायैवमर्थः कर्तव्य इति वाच्यम्। प्रत्यक्षबाधनायैव श्रुतिप्रवृत्तेः 'मृत्तिकेत्येव सत्यामि'ति दृष्टान्तोपन्यासात् 'तत्सत्यं स आत्मे'ति दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनाच्च मृज्जन्यवागारम्भणघटादिवत्सज्जन्यतेजःप्रभृतिवाचारम्भणमिथ्यात्वेनाद्वैततात्पर्यवत्त्वात्॥ ६॥

कत्यद्वितीया इति न प्रश्नो लोके न चोत्तरम्।
किं च श्रुतः शिवोऽद्वैतस्तत्समैषाऽद्वितीयगीः॥ ७॥ [२८७]

लौकिक व्यवहारके अनुरूप ही शास्त्रमें शब्दप्रयोग होता है। अन्यथा शास्त्रका अर्थ कोई समझ ही नहीं सकेगा। इस घरमें कितने अद्वितीय हैं? इस राष्ट्रमें, कितने अद्वितीय हैं? ऐसा न तो कोई प्रश्न करता है और न उत्तर ही उसका कोई देता है कि एक है या दस। किस बात का अद्वितीय पूछते हो यह विपरीत प्रश्न हो सकता है। अतएव प्रकृतमें एक ही अद्वितीय है इस कथनका कोई अर्थ नहीं हो सकता॥ ७॥

लौकिकव्यवहारानुरूपं हि सर्वत्र शब्दप्रयोगो भवति। अन्यथा भवतोऽपि "यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले" इति लौकिकप्रयोगोदाहरणं व्यर्थं स्यात्। एकमेवाद्वितीयमिति हि कत्यद्वितीया इति जिज्ञासोत्तरविधया प्रयुज्येत। न हि लोके अत्र कत्यद्वितीया विद्यन्त इति प्रश्नो वा तदुत्तरं वा प्रयुज्यमानमुपलभ्यते। कस्मिन्विषयेऽद्वितीयत्वं पृच्छसीति प्रतिप्रश्न एव तदा स्यात्। किं च शिवोऽद्वैत इत्येतत्समानाऽद्वितीयश्रुतिः। न हि चोलनृपोऽद्वैत इति प्रयोगोऽस्ति ॥ ७ ॥

त्रय आवसथाः स्वप्ना इति मिथ्यात्वबोधकम्।
न भोगपारतन्त्र्यार्थवर्णनं तच्च युज्यते ॥ ८ ॥ [२८८]

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिको लेकर "त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्ना"—इस श्रुति वचनमें मिथ्यात्ववर्णन है। न कि भोगपारतन्त्र्यवर्णन। खींचातानी करने पर भी ऐसा अर्थ दिमागमें नहीं जँच सकता। क्या भारत परतन्त्र हुआ था इस अर्थमें लक्षणासे भी कोई कहता है कि भारत स्वप्न हुआ था? लक्षणाकी भी सीमा होती है। वह सप्रयोजन होती है ॥ ८ ॥

"त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्नाः" इति आवसथानां जाग्रदादीनां स्पष्टं मिथ्यात्ववर्णनमेव। यत्तु "औपचारिकवाक्येषु योग्यमेवोपचर्यते। तत्तत्प्रकरणादिभ्यस्तद्विशेषोऽपि सिध्यति।" इत्यतः त्रय आवसथाः स्वप्ना इत्यत्र भोगपारतन्त्र्यमेवोपचर्यते। स्वप्नस्येश्वरसृष्टत्वेन तद्भोगे पारतन्त्र्यं तथा जागरितेऽपि पारतन्त्र्यमित्यर्थस्य विवक्षितत्वादिति। तत्तुच्छम्। स्वाप्नार्थस्येश्वरसृष्टताया भवदनुगामिमात्रेण बोद्धुं शक्यत्वात्। स्वप्नदृष्टं सुवर्णसिंहासनं क्व गतं जागरणकाले? नष्टमिति चेत्? तर्हि तदवशिष्टं सुवर्णं तु लभ्येतैव। सुवर्णमपि नष्टं चेत्तदणवो लभ्येरन्। नाशोत्तरं किमवशिष्यत इति तु वक्तव्यमेव। न किंचिदवशिष्यते चेन्न नाशः किन्तु बाध एव। भगवत्संकल्पान्न किंचिदवशिष्यत इत्यादिकं गल्पमात्रमश्रद्धेयम्। वस्तुतस्तु कर्मपारतन्त्र्यं जागरे स्फुटतरं न स्वप्नदृष्टन्तेन स्वप्नत्वौपचारिकतया वा साधनीयमस्ति। कृषिव्यापारादिकं भगवन्तं प्रार्थ्य प्रारभन्ते जनाः। न तत्र स्वप्नदृष्टान्तं कश्चनापि स्मरति। न वा रोगपीडितः स्वप्नवदयं रोग आगत इति ब्रवीति। यदि ब्रवीति तर्हि

मिथ्यात्वरूपेण कोऽपि सत्पुरुषो यतिरेव ब्रवीतीति प्रलापमात्रमिदं द्वैतिनाम् ॥ ८ ॥

गङ्गायां घोष इत्यत्र शैत्यपावनतादिकम् ।
प्रसिद्धं व्यज्यते स्वप्न इत्यत्र च मृषार्थता ॥ ९ ॥ [२८९]

गङ्गायां घोषः कहने का प्रयोजन यही है कि घोष में शीतलता, पावनता आदिकी अभिव्यक्ति हो, क्योंकि वही प्रसिद्ध है । इसी प्रकार स्वप्नकहनेपर मिथ्यार्थताकी ही अभिव्यक्ति होती है । यह शास्त्रार्थमें विजयी होने का सपना देख रहा था, यह राजा बननेका सपना देख रहा था इत्यादि प्रयोगों में यह बात स्पष्ट है ॥ ९ ॥

किं च लक्षणा सप्रयोजनतयैव लोकैः स्वीक्रियते। गङ्गायां घोष इत्युक्ते शैत्यपावनताद्यभिव्यक्तिः प्रयोजनं सिध्यति । एवं स्वप्न इत्युक्ते मिथ्यार्थत्वमेव प्रसिद्धविधयाऽभिव्यज्यते तदेव तत्र लाक्षणिकप्रयोजनमपि ॥ ९ ॥

नन्वविद्या मूलदोषः श्रुतप्रत्यक्षयोः समः ।
मैवं भ्रमप्रमादादेर्दोषत्वेनोपवर्णनात् ॥ १० ॥ [२९०]

पूर्वपक्षः—अविद्या मूल दोष है । वह श्रुति एवं प्रत्यक्ष में उपादानरूपसे समान है । तब श्रुति निर्दोष किस प्रकार ? उत्तरपक्षः—ग्रन्थदोष भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि परिगणित हैं। उन दोषोंको लेकर ही विचार होता है ॥ १० ॥

ननु श्रुतिर्निर्दोषा, प्रत्यक्षं संभावितदोषमिति विभागोऽयुक्तः । उभयोरपि त्वन्मतेऽविद्यामूलकत्वेन समानदोषत्वादिति चेन्न । भ्रमप्रमादविप्रलिप्साऽशक्त्यादीनामेव दोषत्वेन परिगणनात् । अनादिभेदवासनादोषप्रयुक्तोऽयं भेदप्रत्ययः । न च शास्त्रेणाद्वैते सिद्धे भेदवासनाया दोषत्वं सिध्यति, भेदवासनाया दोषत्वे सिद्धे प्रत्यक्षदौर्बल्याच्छास्त्रप्रामाण्यं सिध्यतीत्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । शास्त्रस्य भ्रमविप्रलिप्सादिसकलदोषशून्यत्वेन निश्चितप्रामाण्यकत्वात् । प्रत्यक्षं तु संभावितदोषमूलकमिति शास्त्रसंमुखं प्रामाण्यसन्देह इति । शास्त्रप्रामाण्यसन्देहस्तु बौद्धचार्वकादिसहोदराणामेव जायते । प्रकृतिप्रत्ययपदवाक्यादिभेदाश्च व्यावहारिक-

सत्तामात्रं बोधकजननायाश्रयन्ते इति नास्त्येव प्रत्यक्षश्रुत्योर्विरोधः । श्रुतेः पारमार्थिकसत्तामात्रापहारकत्वात् ॥ १० ॥

द्वैतवासनया द्वैतधीश्चेदद्वैतधीरपि ।
तथेति मैवं तात्पर्यात्तद्बोधो न तु दोषतः ॥ ११ ॥ [२९१]

पूर्वपक्षः—आप कहते हैं द्वैतवासनारूपी दोषसे द्वैत बुद्धि होती है । हम कहेंगे अद्वैतवासनारूपी दोषसे अद्वैतबुद्धि आपकी हो रही है । उत्तरपक्षः—अद्वैतबुद्धि वासनासे नहीं, श्रुतितात्पर्यविचारसे अद्वैतबोध होता है, दोष से नहीं ॥ ११ ॥

ननु द्वैतवासनादोषेण द्वैतप्रत्यक्षं चेद्, तुल्यं भवतोऽपि । अद्वैताभिनिवेशेनाद्वैतधीर्भवतोऽपीति चेन्न । श्रुतितात्पर्यनिर्णयेनाऽद्वैतबोधोत्पत्तेर्दोषप्रयुक्तत्वाभावात् ॥ ११ ॥

अद्वैतवासनादार्ढ्यात्तत्साक्षात्करणं मतम् ।
स चाप्युपायो नो दोषः श्रुत्यादिभिरुदीरितः ॥ १२ ॥ [२९२]

पूर्वपक्षः—आपका मत है—अद्वैतवासना दृढ़ होनेपर अद्वैतसाक्षात्कार होता है। तब वासनादोषजन्यत्व उसमें भी निश्चित है । उत्तरपक्षः—नहीं । श्रुति, स्मृति, इतिहास आदि सर्वत्र निदिध्यासनको साधन के रूपमें बताया है । निदिध्यासनसे वासनादार्ढ्य होता है तो वह शास्त्रीय उपायमात्र है, न कि दोष । दोष स्वाभाविक होता है, न कि प्रयत्नसे संपादित किया जाता है ॥ १२ ॥

नन्वद्वैतवासनादार्ढ्यादद्वैतसाक्षात्कारो भवतीति भवता स्वीक्रियते । तदर्थमेव च निदिध्यासनं क्रियते । तथा चाद्वैतसाक्षात्कारोऽपि वासनाजनिततया दोषोद्भव एवेति चेन्न । निदिध्यासनादिजनितवासनादार्ढ्यस्योपायत्वेन दोषत्वाभावात् । दोषो हि स्वाभाविकोऽयत्नसाध्य एव प्रायः । निदिध्यासनादिकं श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु साधनत्वेन विहितमिति कथं तस्य दोषत्वं, कथं च दोषजन्यत्वमद्वैतसाक्षात्कारस्य ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षं प्रबलं शास्त्रादिति चेन्मन्यते भवान् ।
स्वर्गवैकुण्ठगोलोकप्रभृतीन् बाधसे दृढम् ॥ १३ ॥ [२९३]

शास्त्र की अपेक्षा यदि प्रत्यक्ष की प्रबलता आप मान रहे हैं तो निश्चितरूप से आप वैकुण्ठ गोलोक स्वर्ग आदिका दृढ़ता से बाध कर रहे हैं ॥ १३ ॥

यदि च शास्त्रात्प्रत्यक्षं बलवत् स्यात्तदा स्वर्गवैकुण्ठादिकमपि बाधितं स्यात् ॥ १३ ॥

दृष्टो नैव मृतो गच्छन् गन्तव्यं तस्य किं भवेत् ।
प्रत्यक्षादिविरुद्धं तद् वैकुण्ठादि मते तव ॥ १४ ॥ [२९४]

मरा हुआ आदमी कहीं जाता हुआ नजर नहीं आता । मृत देवदत्त जला दिया जाता है । उसके लिये गन्तव्य फिर क्या है? अतः मृतगन्तव्य वैकुण्ठादि आपके मतमें प्रत्यक्षादिबाधित है ॥ १४ ॥

न च प्रत्यक्षेण स्वर्गाद्यभावो न विषयीक्रियत इति कथं बाध इतिं वाच्यम् । "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" । "प्रयच्छति वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्" इत्यादिवचनानां मरणोत्तरस्वर्गादिगमनविषयकत्वात् । प्रत्येक्षेण त्र मृतो न कुत्रापि गच्छति । अग्निना दग्धो भस्मभूतस्तिष्ठति । देवदत्तो मृतः । देवदत्तो दग्धः इत्यादि हि प्रत्यक्षम् । एवं सति गन्तुर्विरहे गन्तव्यस्यापि बाधो दुर्वार एव । शास्त्रवासनयैव मृतस्य गमनप्रतिपत्तिः । शास्त्रं तु प्रत्यक्षेण बाधितम् । आधुनिकवैज्ञानिकैरप्यतिरिक्तात्मानुपलम्भंस्वीकारात् । अन्यथाऽतीन्द्रियमादित्यत्वं यूपेऽपि स्वीक्रियेत । अर्चाविग्रहे नारायणत्वादिवत् ॥ १४ ॥

देहातिरिक्त आत्मेति तन्न प्रत्यक्षबाधतः ।
कथं विप्रतिपत्तिः स्याच्चार्वाकस्याक्षिगोचरे ॥ १५ ॥ [२९५]

देहसे अतिरिक्त है आत्मा, वह स्वर्गादि जायेगा, ऐसा कहोगे तो उत्तर है वह भी प्रत्यक्षबाधित है । आत्मा यदि प्रत्यक्षसिद्ध है तो चार्वाकको विपत्तिपत्ति नहीं .होती । क्या शास्त्रज्ञानशून्य हालिक देहातिरिक्त आत्माको समझता है? मानता है ? देखता है ? अनुमानसे आत्माकी सिद्धि कहें तो भी संभव नहीं । अनुमान प्रत्यक्षोपजीवी है ।

प्रत्यक्षसे विरुद्ध होने पर अनुमान ही अप्रामाणित होगा । लोग छाती ठोककर बोलते हैं यही मैं खड़ा हूं । मैं इससे भिन्न नहीं हूं ॥ १५ ॥

एवं सति प्रत्यक्षमात्रप्रमाणवादिनश्चार्वाकाद्विशेष्यं न कथंचिदपि साधयितुं शक्यमिति युक्तमद्वैतनिषेधादिकं द्वैतिनां नास्तिकानाम् । तस्मान्निर्दोषत्वात् तात्पर्यवत्यर्थे वेदानामेव प्रामाण्यं, न हि तदन्यथयितुं प्रत्यक्षं प्रभवति ॥ १५ ॥

ज्योतींषि विष्णुरित्यादि प्रत्यक्षेण प्रबाधितम् ।
नेदं ज्योतिर्विष्णुरितिप्रत्यक्षेणैव गृह्यते ॥ १६ ॥ [२९६]

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः इत्यादि भी प्रत्यक्षबाधित है । इदं ज्योतिर्न विष्णुः ऐसा प्रत्यक्ष होता है ॥ १६ ॥

एवं ज्योतींषि विष्णुरित्यादि शास्त्रमपि प्रत्यक्षबाधितम् । इदं ज्योतिर्न विष्णुरिति प्रत्यक्षेण ग्रहणात् ॥ १६ ॥

भेदग्रहेऽधिकरणयोग्यत्वं हि मतं ततः ।
स्तम्भः पिशाचो नैवेति प्रत्यक्षं सर्वसम्मतम् ॥ १७ ॥ [२९७]

यदि कहें कि प्रत्यक्षायोग्य प्रतियोगिक अभावका प्रत्यक्ष नहीं होता तो समाधान यह है कि अत्यन्ताभावके लिये यह नियम हैं । अन्योन्याभावके लिये अधिकरणकी प्रत्यक्षयोग्यता ही पर्याप्त है । अत एव अयं स्तम्भो न पिशाचः ऐसा प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है ॥ १७ ॥

नचायोग्यप्रतियोगिकत्वाज्ज्योतिर्न विष्णुरिति न प्रत्यक्षमिति वाच्यम् । अत्यन्ताभावग्रहणे एव तन्नियमात् । अन्योन्याभावग्रहणेऽधिकरणयोग्यत्वस्यैव स्वीकारात् । अत एव स्तम्भः पिशाचो नेति प्रत्यक्षमुपगम्यते ॥ १७ ॥

परस्योक्त्वानृतान् वेदान् स्वमतेऽध्यक्षदुर्बलान् ।
उक्त्वाध्यक्षानुवादित्वं प्रामाण्यं सुष्ठ्वसाधयः ॥ १८ ॥ [२९८]

वेदान्तियोंके मतके अनुसार वेदोंको झूठा कहा, अपने मतसे उन्हें प्रत्यक्षापेक्षया दुर्बल होनेसे अप्रमाण कहा । अब शेष रह गया प्रत्यक्षका

अनुवादमात्र । खूब आपने वेदप्रमाण्य सिद्ध किया । अनुवाद प्रमाण नहीं होता । फलतः पूर्णरूपसे वेदको अप्रामाणिक ही मान लिया है । आपकी वेदभक्ति ॥ १८ ॥

परस्य मते वेदाननृतान् प्रतिपाद्य स्वस्य मते प्रत्यक्षतो दुर्बलांश्चोक्त्वा प्रत्यक्षार्थानुवादित्वेन प्रामाण्याभावं च संसूच्य फलतो वेदप्रामाण्यमेव भञ्जयता सुष्ठु वेदभक्तिः प्रदर्शिता भवति । यादृशं तव सत्यत्वं वेदानां व्यावहारिकं तादृशमेवास्माकमपीति तत्रानृतत्वारोपस्तु वेदखण्डनार्थ एव प्रतीयते स्वमतस्य वेददौर्बल्यस्य स्थापनार्थम् ॥ १८ ॥

जल्पन्तोऽपि मृषापदप्रचलिताः सत्यां समस्तां श्रुतिम्
लज्जन्ते न कथंचनाभिदधतः प्रत्यक्षाबाध्यां बलात् ।
तात्पर्यात्तदुपस्थितार्थपुरुषार्थैकप्रतिष्ठा वयम्
सत्यार्थव्यवसायनिश्चलधियः शान्ताः सुखं शेमहे ॥ २९ ॥

मिथ्याशब्दसे चिढकर विचलित हुए ये द्वैतवादी संपूर्ण श्रुतिको सत्य सिद्ध करने शास्त्रार्थके लिये उतरे । किन्तु उन्हीं श्रुतियोंको प्रत्यक्षसे बाध्य कहकर बलपूर्वक (मिथ्यार्थप्रतिपादक सिद्ध करते हुए शेषांशको) प्रत्यक्षानुवाद सिद्ध कर रहे हैं । मतलब, प्रत्यक्षविरुद्ध तो मिथ्यार्थ होनेसे तदंशमें मिथ्यार्थवादी अप्रमाण हुआ । और प्रत्यक्ष-सिद्धांशमें अनुवाद होनेसे अप्रमाण हुआ । इस प्रकार पूरे वेदको ही अप्रमाण कह गये । इसमें इनको थोड़ी भी हिचक नहीं हुई? लज्जा नहीं आयी । खैर, हम उनकी इस दुरभिसन्धि से क्यों झूझें ? वेद स्वरूपतः व्यावहारिक सत्यमात्र होनेपर भी उससे उपस्थापित अर्थ परमार्थसत्य होनेसे तथा परमपुरुषार्थरूप होनेसे उसमें निष्ठा रखकर परमार्थमें व्यवसायात्मक निश्चलबुद्धि रखते हुए हम शान्त अनन्त आनन्दमें विश्राम कर रहे हैं ॥ २९ ॥

इति प्रत्यक्षापेक्षया शास्त्रप्राबल्यसमर्थनम्

*****

(३०)

अथ अपारमार्थिकात् पारमार्थिकज्ञानोपपत्तिः

सकलद्वैतमिथ्यात्वे वेदानामपि तद् भवेत् ।
भवेत् किं तेन तादृग्भिरपि सत्यं निबुध्यते ॥ १ ॥ [२९९]

पूर्वपक्षः—यदि समस्त द्वैत मिथ्या है तो वेद भी मिथ्या हो जायेंगे । उत्तरपक्षः—भले हो, उससे क्या? स्वरूपतः मिथ्या होनेपर भी अर्थतः सत्य होनेसे वेदोंसे सत्य अर्थका बोध तो हो ही सकता है ॥ १ ॥

अथ कृत्वा चिन्तां प्रवर्तयामः । ननु ब्रह्मभिन्नसकलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे तदन्तःपातिनां वेदानामपि मिथ्यात्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिः तथा सति तज्जनितज्ञानविषयस्यापि मिथ्यात्वप्रसङ्गादिति चेद् । मैवम् । अनिर्वचनीयैरपि वैदिकशब्दराशिभिः सत्यार्थबोधोत्पत्तौ क्षतिविरहात् ॥ १ ॥

अनृतैः सर्परूप्याद्यैर्दृष्टा लोभभयादयः ।
स्वाप्नार्थैः शुभसंकेतः प्रतिविम्बेन बिम्बधीः ॥ २ ॥ [३००]

लिप्यक्षरैः शब्दमतिर्गोधी रेखागवेन च ।
चित्रपुंभिः पुरावृत्तं नादवृद्ध्याऽर्थभेदधीः ॥ ३ ॥ [३०१]

स्वरूपतः मिथ्या रज्जुसर्पसे भय, शुक्तिरजतसे लोभ, स्वप्नार्थसे शुभाशुभ संकेत, प्रतिबिम्बसे बिम्बबोध, लिपि अक्षरोंसे शब्दज्ञान, रेखागौसे सत्य गौ, चित्र रामायणसे सत्यरामायण वृतान्त, नादवृद्धिसे ह्रस्वदीर्घादि बोध सत्य होता है तो वैसे वेदोंसे यथार्थज्ञान हुआ तो उसमें क्या नयी बात है ? ॥ २-३ ॥

अनृतैरपि रज्जुसर्पशुक्तिरूप्यादिभिः सत्याः लोभभयादय उत्पद्यन्ते । मिथ्याभूतस्वाप्नस्त्रीभिर्यथार्थस्य कर्मसमृद्ध्यादेर्ज्ञानं भवति । मिथ्याभूतप्रतिबिम्बेन यथार्थबिम्बरूपज्ञानं भवति । लिप्यक्षरैर्मिथ्याशब्दैर्यथार्थशब्दज्ञानशाब्दबोधौ भवतः । रेखागवेन सत्यागवमतिर्जायते । चित्रगतमिथ्यारामरावणादिभिः सत्यं पुरावृत्तं ज्ञायते । नागः नगः इत्यादिषु नादवृद्धि-

प्रयुक्ताक्षरगतदीर्घत्वादिनाऽनृतेन यथार्थकुञ्जरपर्वतादिभिन्नार्थज्ञानं भवति । तथैव वेदैरपि यथार्थब्रह्मज्ञानं भवतु का तत्रानुपपत्तिः॥ २-३ ॥

विचित्रशक्तिभिः कार्यभेदश्चेद्दृतबुद्धिभिः ।
तत एवास्तु सर्वत्र कार्यभेदो महामते ॥ ४ ॥ [३०२]

पूर्वपक्षः—सर्परजतादि भले मिथ्या हो किन्तु सर्परजतादि बुद्धि तो सत्य हैं। उससे कार्यभेद होगा। उत्तरपक्षः—केवल बुद्धि कार्यभेदप्रयोजक नहीं है। उसमें विशेषण सर्प रजतादि भी प्रयोजक हैं। पूर्वपक्षः—बुद्धियोंमें अलग-अलग शक्ति हैं। उससे कार्यभेद होता है। सर्पादि विशेषण क्यों जोड़ना? उत्तरपक्षः—इस प्रकार विचित्र शक्तियोंसे सर्वत्र कार्यभेद हो जायेगा। कहीं भी कार्यकारणभावकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जिसे किसी भी दार्शनिकने स्वीकार नहीं किया है॥ ४ ॥

ननु रज्जुसर्पादयो न भयादिहेतवः । किन्तु सर्पादिज्ञानमेव । तच्च सत्यमेव । न च नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टे प्रवर्तत इति न्यायाद् विशेषणस्यापि कारणत्वं सिध्यति, अन्यथा ज्ञानान्तरादपि भयादयः स्युरिति वाच्यम् । परस्परभिन्नविचित्रशक्तिमत्त्वेन कार्यभेदोपपत्तेरिति चेद्? दर्शितं दार्शनिककौशलं सुष्ठु भवता । विचित्रशक्तिमत्त्वेन सर्वत्र कार्यकारण-भावोपपत्तेर्दण्डत्वेन घटत्वेन दण्डघटादीनां कार्यकारणभावभङ्ग एव स्यात् ।

भुजगादिविशिष्टा धीरन्वयव्यतिरेकतः ।
कारणं भयलोभादावतो मिथ्यापि कारणम् ॥ ५ ॥ [३०३]

सर्पादिविषयविशिष्ट बुद्धि अन्वयव्यतिरेकसे भयादिके प्रति कारण हैं। अतः विशेषण मिथ्या सर्पादि भी कारण अवश्य स्वीकार्य है॥ ५ ॥

प्रत्यक्षसिद्धसर्परजतादिविषयवैलक्षण्यप्रयुक्तज्ञानकार्यभेदं धुन्वानस्य सर्व-कार्यकारणभावभङ्ग आपद्येत । न हि शक्तिः प्रत्यक्षसिद्धा येन तद्विशेषा-वच्छिन्नान्वयव्यतिरेकतः कार्यकारणभावौ शक्यग्रहौ । गृह्येते चान्वय-व्यतिरेकौ, 'रामरावणकथाचित्रे' प्रमोदो भवति तदभावे तदभाव इति कथं न कारणत्वं मिथ्यार्थस्य? अन्यथा पुनरदृष्टशक्तिपर्यन्तं किमर्थं गन्तव्यम्? अदृष्टस्यैव भयलोभाद्यसाधारणकारणत्वमुपगम्यतामतिलाघवात् । घटार्थिनो

दण्डानयनप्रवृत्तिर्घटत्वेन दण्डत्वेन कार्यकारणभावे सत्येव भवतीति चेत् प्रमोदार्थिनो रामरावणकथाचित्रदर्शने प्रवृत्तिरपि प्रमोदत्वेन प्रातिभासिकराम-रावणादित्वेन कार्यकारणभावग्रहे सत्येव भवतीति समानम् । तथा स्वाप्नार्थैः शुभादिसंकेतः सत्य एव भवति । न हि तत्रापि ज्ञानमात्रेण शक्तिविशिष्टज्ञानेन वा सत्यसंकेतलाभः । किन्तु तत्तदर्थविशिष्टज्ञानेनैव । तथा च सूत्रकार आह-"सूचकश्च हि तथा ह्याचक्षते च तद्विदः" इति । न हि ज्ञानमात्रं सूचकं भवति । घटादिज्ञानादपि कर्माभिवृद्ध्यादिसूचना-प्रसङ्गाद् । नापि शक्तिविशेषविशिष्टज्ञानम् । शक्तेरप्रत्यक्षत्वेन सूचकत्वा-योगात् । स्वाप्नार्थसत्यत्वमतं तु योगाचारमतसमानयोगक्षेमम् । ते हि स्वाप्नार्थवज्जाग्रदर्थं मन्यन्ते । भवानपि "त्रयः आवसथाः त्रयः स्वप्नाः" इत्यस्य व्याख्यायां स्वाप्नार्थजागरितार्थयोः समानतामाचष्टे । तत्र सत्य-मिथ्याशब्दभेदमात्रं परिभाषिकत्वादुपपद्यते । भवान् सर्वं सत्यमाह । योगाचारः सर्वमनृतमाह । व्यवहारश्चोभयोः समानश्चेच्छब्दभेदमात्र-मवशिष्यते । लिप्यक्षरेष्वप्येवम् । लिप्यक्षरं शब्दं मन्वानस्यैव शाब्दबोधः । अनधिगततच्छब्दबुद्धेर्बोधानुत्पत्तेः । शब्दो लिखित इति च व्यवहारः । लिपिं दृष्ट्वा पठति च शब्दम् । एवमान्यत्राप्यूह्यम् ॥ ५ ॥

स्वकल्पितघटज्ञानं घटत्वज्ञानमेव वा ।
घटोत्पादनहेतुः स्यान्नत्वागामिघटो हि नः ॥ ६ ॥ [३०४]

पूर्वपक्षः—घटोत्पादनके लिये कुलालको घटज्ञान चाहिये । घट अभी उत्पन्न नहीं हुआ । अतः घटज्ञान में वह विशेषण नहीं होगा । तब शक्तिविशेषको ही कारण मानना पड़ेगा । उत्तरपक्षः—यद्यपि आपके मतमें आगामी घटवैशिष्ट्य ज्ञानमें है । किन्तु हम अपने ही ढंगसे उत्तर देंगे । हमारे मतमें कुलालके मनमें घट घूम रहा है । कौनसा घट? कल्पित घट । वही ज्ञान आगामी घटका कारण है । अतएव जैसी कल्पना चल रही है ऐसे ही आकार का घट बनता है ऐसा नियम नहीं है । वस्तुतः घटज्ञान कारण नहीं, घटत्वज्ञान कारण है । घटत्व सार्वदिक होने से पूर्ववर्ती है ॥ ६ ॥

यत्तु घटोत्पतौ कुलालस्य घटज्ञानं कारणम् । तत्रागामिघटमालोच्यैव कुलालः प्रयतते । न त्वागामिघटः पूर्वक्षणवर्ती । तस्माच्छक्तिविशेष-विशिष्टज्ञानमेव कारणं वक्तव्यम् । आगामिनापि घटेन ज्ञानस्य विषय-विषयिभावसम्बन्धसत्त्वात्तत्प्रयुक्ता शक्तिरपि घटत इति । तदसत् । कुलालेन मनसि कल्प्यमानप्रातिभासिकघटज्ञानस्यैव । तत्र हेतुत्वात् । अत एव कल्प्यमानघटसमानाकारनियमो नास्त्येवोत्पत्स्यमानघटस्य । वस्तुतस्तु तत्र घटत्वज्ञानमेव कारणं न तु घटज्ञानम् । घटत्वं च सार्वदिकमिति तस्य पूर्वक्षणवर्तित्वे न काचिदनुपपत्तिः । घटत्वभानार्थं यस्य कस्यचिद् घटस्य भानावश्यकत्वेऽपि न स कारणतावच्छेदककोटिप्रविष्टो मानाभावाद् गौरवाच्च । भवन्मते त्वागाम्यादिघटवैशिष्ट्यं ज्ञानेऽस्तीति शक्तिकथनं वञ्चनामात्रमेव ॥ ६ ॥

सर्पत्वज्ञानमात्रं तु न भवेद् भयकारणम् ।
तत्प्रत्यक्षं हि तद्धेतुरिति मिथ्यार्थहेतुता ॥ ७ ॥ [३०५]

घटत्वज्ञानके समान सर्पत्वज्ञानमात्र भयका कारण नहीं है । किन्तु सर्प प्रत्यक्ष ही भयका कारण है । अतः मिथ्यार्थको कारण मानना ही होगा ॥ ७ ॥

ननु घटोत्पादने घटत्वज्ञानमिव भयादावपि सर्पत्वादिज्ञानमात्रं कारण-मस्त्विति चेन्न । न हि सर्पत्वज्ञानमात्रेण भयं भवति । किन्तु सर्पप्रत्यक्षेण न च मिथ्यासर्पेऽपि भवता सर्पत्वस्वीकारात् सर्पत्वप्रत्यक्षमेव कारणम-स्त्विति वाच्यम् । इन्द्रियसंनिकर्षविरहाल् । सर्पप्रत्यक्षेण सर्पत्वप्रत्यक्ष-संभवात् । सर्पत्वेन साक्षात् संनिकर्षविरहात् सर्पवृत्तित्वविशिष्टसर्पत्व-स्यापि मिथ्यात्वात् ॥ ७ ॥

सज्जायेत कथंकारमसतो हीति तु श्रुतिः ।
तुच्छस्याऽहेतुतामाह न तु काल्पनिकस्य ताम् ॥ ८ ॥ [३०६]

पूर्वपक्षः—श्रुति कहती है-'कथमसतः सज्जायेत' । असतसे सत् कैसे होगा। और आप कहते हैं-असत् सर्पसे सत् भय होगा । उत्तरपक्षः—श्रुतिमें

असत् का अर्थ तुच्छ है। सर्पादि असद्विलक्षण माना है। क्योंकि असत् की प्रतीति नहीं होती ॥ ८ ॥

यदपि ("तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्") "कथमसतः सज्जायेते" ति श्रुतेरसतः शुक्तिरजतादेर्न हेतुत्वमिति । तदसत् । तत्रासत्पदेन शून्यस्य तुच्छस्य वा कथनात् । असदेवेदमग्र आसीदिति पूर्ववचनात् । शशशृङ्गादिकं प्रतीत्यविषयं तुच्छमित्युच्यतेऽसदिति च । शुक्तिरजतादेः प्रातिभासिकसत्तोपगम्यत इति न तुच्छत्वम् ॥ ८ ॥

तत्र मृन्मयदृष्टान्तादुपादानं प्रचर्च्यते ।
न वेदादिरुपादानं सत्यार्थे कस्यचिन्मते ॥ ९ ॥ [३०७]

दूसरी बातः—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं"इस प्रकार उपादानकारणकी चर्चा है। वेद सत्यार्थज्ञानका उपादानकारण कहां है? ॥ ९ ॥

किं च "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातमि" त्यादिदृष्टान्तप्रकमेणोपादानचर्चैव" "सदेव सोम्ययेदमग्र आसीदि"त्यादिना गम्यते । न हि वेदः सत्यस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य वोपादानकारणम् । नापि शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादिज्ञानं भयलोभाद्युपादानकारणमिति सर्वमकाण्डताण्डवितमात्रम् ॥ ९ ॥

किं च वर्णाद्यवच्छिन्नचैतन्यं वेद उच्यते ।
सत्यं तु तत्र चैतन्यं वर्णोऽवच्छेदकोऽस्य तु ॥ १० ॥ [३०८]

और भी बात हैं-अग्निमीले इत्यादि वर्णावच्छिन्न चैतन्य ही वेद है। वहां चैतन्य सत्य है। वर्ण तो अवच्छेदक मात्र है ॥ १० ॥

किं च वेदानां शब्दब्रह्मेति नाम प्रथितम् । तथा "चेषे त्वे"-त्याद्यानुपूर्विकवाक्यावच्छिन्नचैतन्यमेव वेदः । तत्र त्वन्मतेन वर्णादीनामुपलक्षणत्वमस्तु चैतन्यलक्षणेन सत्येन वेदेन ब्रह्माभिव्यक्तिरस्तु का हानिः? वर्णाद्यवच्छिन्नचैतन्यं मिथ्येति तु कथमुच्यतां त्वया । मिथ्यासर्पादिविशिष्टज्ञानस्य त्वयैव सत्यत्वकथनात् । तथा च वर्णराशिर्मिथ्या न वेति चिन्तामात्रमावश्यकम् ॥ १० ॥

काव्यादिषु च तुल्यं चेद् वर्णप्राधान्यतो न तत् ।
शब्दब्रह्मेति गीयन्ते वेदाः काव्यादयस्तु न ॥ ११ ॥ [३०९]

पूर्वपक्षः—इस प्रकार फिर "वागर्थाविव संपृक्तौ" इत्यादि काव्य भी वर्णावच्छिन्न चैतन्य माना जायेगा । उत्तरपक्षः—नहीं । काव्यादिमें वर्णोंकी प्रधानता है । वेदोंको शब्दब्रह्म कहते हैं, काव्यादिको नहीं । अत एव वेदपाठ पुण्य माना गया है ॥ ११ ॥

नन्वेवं काव्यादयोऽपि काव्यवर्णावच्छिन्नचैतन्यं घटादयोऽपि घटाद्य-वच्छिन्नचैतन्यमिति सर्वस्य सत्यत्वमेवापतितमिति चेन्न । काव्यादिकं वर्णप्राधान्येन घटादिकं च घटाद्यर्थप्राधान्येनोच्यत इत्यवच्छेदकस्य तस्य मिथ्यात्वान्मिथ्यात्वेनैव वर्ण्यन्ते ॥ ११ ॥

जीवा न मिथ्याचैतन्य-प्राधान्यादुदिताः क्वचित् ।
विशिष्टत्वेन मिथ्यात्वं वेदेष्वपि न वार्यते ॥ १२ ॥ [३१०]

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है । किन्तु वेदान्तग्रन्थोंमें कहीं भी उसे मिथ्या नहीं बताया है । क्योंकि चैतन्यकी प्रधानता हैं । हां, अन्तः-करणविशिष्टत्वेन रूपेण मिथ्या हो सकता है । वैसे वर्णविशिष्टत्वरूपसे वेदोंमें भी हो सकता है ॥ १२ ॥

ननु चैतन्यप्राधान्यान्न मिथ्यात्वमिति परवञ्चनायापसिद्धान्तो भवतोच्यत इति चेन्न । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवस्य मिथ्यात्वं नाचार्यैः—स्वीकृतमस्ति । जीवो ब्रह्मैवेत्येव प्रतिपादितम् । तत्कस्य हेतोः ? चैतन्यप्राधान्येन सर्वत्र वर्णनात् । अन्तःकरणविशिष्टत्वरूपेण तु मिथ्यात्व-मस्ति तथा पुनर्वैदिकवर्णविशिष्टत्वेन वेदेष्वपि समानमेव ॥ १२ ॥

वेदा मिथ्येति हा हन्त श्रुत्वा कर्णौ पिदध्महे ।
छलेन वक्तुस्तव हि युक्तेयं वाग्विडम्बना ॥ १३ ॥ [३११]

पूर्वपक्षः—वेद मिथ्या? हाय ! सुनकर हम कान बन्द कर देंगे । उत्तरपक्षः—छलसे बोलनेवालोंके लिये ऐसी वाग्विडम्बना उचित ही है ॥ १३ ॥

ननु वेदा मिथ्येति वेदनिन्दां श्रुत्वा वयं कर्णौ पिदध्महे इति चेत् युक्तमेव तत् छलेन वक्तुस्तव वाग्विडम्बनात्मकम् । प्रत्यक्षप्राबल्यादिकमुक्त्वा वस्तुतस्त्वमेव वेदार्थं मिथ्या ह्यात्थ ॥ १३ ॥

अनिर्वाच्यमपोह्यार्थं प्रातिभासिकमाददत् ।
उपचारच्छलेनैव परांस्त्वं जेतुमिच्छसि ॥ १४ ॥ [३१२]

मिथ्या शब्दका 'अनिर्वाच्य' यह परिभाषित अर्थ है । उसीको लेकर हम व्यवहार करते हैं । मिथ्या शब्दका झूठ, प्रातिभासिक इत्यादि अर्थ सामने रखकर तुम आक्षेप करते हो । इसको न्यायशास्त्र में उपचारच्छल बताया है ॥ १४ ॥

मिथ्याशब्दस्यार्थद्वयं पञ्चपादिकाचार्यैरुक्तम् । अनिर्वाच्यत्वमपह्नवश्च । अपह्नव इति प्रातिभासिकमिथ्यार्थः तत्रानिर्वाच्यत्वार्थे प्रयुक्तमिथ्याशब्दस्य प्रतिभासिकार्थमादाय यद्दोषमाचक्षे तदुपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वमस्माभिश्चाभ्युपेयते ।
तदेव तव सत्यत्वं सत्यवाच्यार्थ एव च ॥ १५ ॥ [३१३]

व्यावहारिक सत्यता हम भी व्यावहारिक जगतमें मानते हैं । यही आपके मतमें घटाटोपके साथ कहा जानेवाला सत्यत्व है । क्योंकि यह सत्य शब्दका वाच्यार्थ है । ब्रह्म तो सत्य शब्दका वाच्यार्थ नहीं लक्ष्यार्थ है । क्योंकि उसमें सत्यत्वादि धर्म नहीं हैं । यह पहले ही कहा जा चुका है । और सत्यपदवाच्यार्थ तो सत्यत्वधर्मविशिष्ट है वह हमारे तथा तुम्हारे दोनोंके मतमें है ॥ १४ ॥

अपि च व्यावहारिकसत्यत्वं वेदादीनां जगतश्च वयमभ्युपगच्छामः । तदेव तव मते सत्यत्वम् । सत्यशब्दवाच्यार्थत्वात् । समष्टिचैतन्यस्वरूपेश्वरदृष्टिसृष्टत्वादत एव ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वाच्च । तदूर्ध्वपारमार्थिकसत्यत्वमत्यन्ताबाध्यं पश्यद्भिर्मिथ्येत्युच्यते जगत् । न चैतत् सत्यं समाधिरहितैरजीवन्मुक्तैः शक्यदर्शनः ॥ १५ ॥

तच्चेशदृष्टिसृष्टत्वाद् ब्रह्मज्ञानेन बाधनात् ।
अनिर्वाच्यं मृषा ब्रूमो ब्रह्मैकं पारमार्थिकम् ॥ १६ ॥ [३१४]

यह व्यावहारिक सत्य 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ईश्वर- दृष्टि-सृष्ट है। ब्रह्मज्ञानसे बाधित होता है। अनिर्वचनीय है। अतः हम उसे मिथ्या शब्दसे बोलते हैं। उसी दृष्टि से फिर देखा जाय तो ब्रह्म ही पारमार्थिक सिद्ध होता है। 'अत्रवेदा अवेदा भवन्ति' ऐसी श्रुति है ॥ १६ ॥

ईशदृष्टिसृष्टत्वं च 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजते' त्यादिश्रुतिसिद्धम्। समाधावदर्शनाच्च बाध्यत्वम्। मिथ्येति तु पारमार्थिक-सत्ताविरहान्न तु प्रातिभासिकत्वात्। यत्तु अप्रामाणिकत्वेऽपि प्रामाणिक-वत्प्रतीयमानत्वं व्यावहारिकसत्यत्वमिति स्वयं परिभाषां कृत्वा परोपर्या-रोपणम्। तदसत्। प्रामाणिकत्वमपि व्यावहारिकमेवेति तस्य जगति सत्त्वात् प्रामाणिकवदिति वतेरयुक्तत्वात्। अप्रामाणिकत्वस्याप्यसिद्धत्वात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वात्। तदुक्तम्-"देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः। वैदिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयादिति ॥ १६ ॥

व्यावहारिकवेदोत्थ-व्यावहारिकवृत्तितः।
तादृङ्मायालये ब्रह्म स्वतः सिद्धं न साध्यते ॥ १७ ॥ [३१५]

व्यावहारिक वेदोंसे व्यावहारिक अखण्डाकार वृत्ति होनेमें क्या बाधा ? उससे व्यावहारिक मायाका लय भी सुज्ञेय है। ब्रह्म स्वतः सिद्ध है। उसे साधनेकी जरूरत नहीं। तब मिथ्या वेदसे सत्यार्थ ब्रह्मका प्रकाशन कैसे यह प्रश्न ही कहां उठता है ? मायावरणभङ्गमात्र यहां अपेक्षित है ॥ १७ ॥

व्यर्था चेयं कलहविडम्बना। व्यावहारिको वेदः। 'अत्र वेदा अवेदा' इति पारमार्थिकत्वनिषेधात्। तज्जन्याखण्डाकारवृत्तिरपि व्यावहारिकी। अज्ञानमपि तन्निवर्त्यं व्यावहारिकम्। तत्र व्यावहारिकवृत्त्या व्यावहारिकाऽ-विद्यानिवृत्तौ न कोऽपि बाधः। स्वाप्निकमिथ्यौषधेन स्वाप्निकरोगनिवृत्ति-दर्शनात्। एवमावरणापसरणे स्वतःसिद्धं ब्रह्म प्रकाशते। न तत्र साध्यं किंचिदस्तीत्यलमधिकप्रसङ्गेन ॥ १७ ॥

शब्दतस्तव हि सत्यविग्रहा-
प्यर्थतः श्रुतिरसत्यभाषिणी।
अर्थतस्तु परमार्थरूपिणी
मन्मते श्रुतिरनादिकल्पिता ॥

प्रत्यक्ष प्राबल्यावादी द्वैती आपके मतमें श्रुति शब्दतः तो सत्य हुई और अर्थतः असत्यभाषिणी हो गयी। क्योंकि "नेह नानास्ति" "एकमेवाद्वितीयं" इत्यादि सभी झूठ बोलना हुआ। इसका दूसरा अर्थ करना चाहिये ऐसा कहें तो उसका अर्थ हुआ श्रुतिको मेरे पीछे घुमाना चाहिये। अद्वितीयका श्रेष्ठ अर्थ भी क्यों करना—अः विष्णुः तस्य द्वितीयमेकमेव किं तत् ? लक्ष्मीः। सामान्यमें नपुंसक प्रयोग हुआ। हे चन। जगत्संहर्तः "चन हिंसायाम्"। इह नाना नास्ति किं ? अस्त्येव। नानैव। यस्तु नाना इव पश्यति स मृत्युं प्राप्नोति। ऐसी ऐसी व्याख्या करके बोलिये। इससे विपरीत बोलनेवाले सब नास्तिक हैं वेदनिन्दक हैं ऐसा कहिये। अद्वैत मतमें अर्थतः श्रुति परमार्थरूपिणी है। शब्दस्वरूपतः अनादिकल्पित है। अब स्वयं कोई भी सोच सकता है कि श्रुति शब्दतः सत्य है अर्थतः मिथ्या है यह मानना उचित है या शब्दतः मिथ्या होनेपर भी अर्थतः सत्य है यह मानना ठीक है।

न हरेः सममस्ति चेत् परं
समता सत्यतया कथं श्रुतेः।
असमैरपि सूचकैरिव
प्रतिबोध्यो जयति प्रभुर्हरिः॥ ३०॥

न तत्समः, न त्वत्समोऽस्ति इत्यादि श्रुति स्मृतियोंमें हरिके समान दूसरा नहीं है बताया। परन्तु आपके मतमें सत्यत्वरूपसे अनन्तपदार्थ हरिसमान है। सर्वधर्मसमता कहें तो प्रत्येक वस्तु असम ही होगी। सर्वधर्मवत्त्व स्वयंका स्वयंमें ही होगा। वस्तुतः सत्तासे असम भी स्वाप्नसूचकसे सत्यार्थबोधवत् वेदोंसे परमार्थब्रह्मबोध होनेमें कोई बाधा नहीं है। उंस वेदबोध्य हरिकी जय हो॥ ३०॥

इत्यपारमार्थिकमानात्पारमार्थिकमितिसमर्थनम्

*****

(३१)

अथ जीवन्मुक्तिसमर्थनम्

श्रुतिस्मृतिपुराणादौ जीवन्मुक्तो बहुस्तुतः ।
जीवन्मुक्तिं जगुर्जीवत्यविद्याबन्धभेदनम् ॥ १ ॥ [३१६]

श्रुति, स्मृति एवं पुराणादिमें जीवन्मुक्तका बहुधा सादर वर्णन किया है । जीवन्मुक्तिका अर्थ है—जीवित अवस्थामें ही अविद्यारूपी बन्धनकी निवृत्ति ॥ १ ॥

ननु ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वान्मिथ्यात्वमिति रिक्तं वचः । ईदृशब्रह्मज्ञानस्याप्रसिद्धेः । न च जीवन्मुक्तस्य समाधौ ब्रह्मदर्शनात्तद्बाध्यत्वमानुभविकमिति वाच्यम् । जीवन्मुक्तस्य तदीयतथाविधसमाधेरित्युभयोरप्यप्रामाणिकत्वादिति चेन्न । श्रुतिस्मृतिपुराणादौ सर्वत्र जीवन्मुक्तस्य बहुधा स्तुतत्वेन तद्बाधानुपपत्तेः । जीवन्मुक्तिर्नाम जीवतोऽविद्याबन्धनभेदनमेव । व्युत्थानकाले ब्रह्मसामान्यसाक्षात्करणादविद्यास्थूलस्वरूपहानेन तद्बन्धबाधनम् । समाधौ तु वासनातिरिक्तसकलाविद्यानिरासात्स्पष्टब्रह्मदर्शनम् । उभयत्र संसारस्य बाध्यत्वं तारतम्येन भवति ॥ १ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ २ ॥ [३१७]

श्रुति कहती है यह एकादश द्वारवाला शरीर अजन्मा ज्ञानस्वरूप पुरुषका एक पुरमात्र है । इससे पुरस्वामी पृथक है । इस बातको निदिध्यासनसे साक्षात्कार करनेवाला शोकात्मक संसारसे रहित होता है । अर्थात् जीवन्मुक्त होता है । वही जीवन्मुक्त प्रारब्ध समाप्त होनेपर विदेहमुक्त होता है ॥ २ ॥

पुरमात्रमिदमात्मनः । न त्वात्मैवेदं शरीरम् । तं पुराद् व्यतिरिक्तं शुद्धमात्मानमनुष्ठाय ध्यात्वा श्रवणाद्यनन्तरं निदिध्यास्य संसाररूपशोकात् पुरुषो निवर्तते । 'तरति शोकमात्मविदि'ति श्रुतेर्निदिध्यासनफलभूतात्मदर्शनाच्छोकं तरतीति यावत् । अत एवाविद्यातत्प्रयुक्तकामकर्मबन्धनैरहितोऽयं जीवन्नेव मुक्तो भवति । शोकलक्षणसंसारविमुक्तो भवति । स

विमुक्तो जीवन्मुक्तो देहपातोत्तरं विमुच्यते विदेहमुक्तो भवति, न शरीरान्तरं गृह्णातीति श्रुत्यर्थः ॥ २ ॥

न हेतुहेतुमद्भावः पौर्वापर्यं च युज्यते ।
एकस्य, जीवन्मुक्त्यातोऽदेहमुक्तिरिहेर्यते ॥ ३ ॥ [३१८]

'विमुक्तश्च विमुच्यते' में भूतविमुक्ति तथा वर्तमानविमुक्ति कही जा रही है । एक ही यदि मुक्ति हो तो वही हेतु और वही फल कैसे हो । या वही पूर्वापरभावसे कैसे रहेगी ? अतः जीवन्मुक्तिसे विदेहमुक्ति होती है यही यहां अर्थ है ॥ ३ ॥

"विमुक्तश्च विमुच्यत" इत्यत्र विमुक्त्योर्हेतुहेतुमद्भावः प्रतीयते । उद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यत्वस्य विधेये प्रत्ययात् । विमुक्त इति भूतार्थ-प्रत्ययात् विमुच्यत इति वर्तमानार्थप्रत्ययाच्च पौर्वापर्यं तु दुर्निवारमेव । न ह्येकस्मिन्नेतदुभयं संभवति । तस्मात् जीवन्मुक्तो विदेहमुक्तो भवतीति तदर्थ इति सिद्धा जीवन्मुक्तिः । न च "न शोचती"त्युक्तशोकविमुक्तिरेव प्रथमविमुक्तपदार्थ इति वाच्यम् । तस्या अपि फलतो जीवन्मुक्ति-पर्यवसानात् ॥ ३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ४ ॥ [३१९]

हृदयस्थित काम जब पूरी तरहसे समाप्त हो जाते हैं तो मनुष्य अमृत हो जाता है । यहीं (जीवनकालमें ही) ब्रह्मको प्राप्त होता है । यह भी जीवन्मुक्ति श्रुति है ॥ ४ ॥

तदानीं "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना ,अमना इव सप्राणोऽप्राण इति" श्रुत्यन्तरोक्तावस्था भवति । ननु यदा सर्वे इत्यत्र यत्पदं मरणोत्तरकालपरमिति चेत् । तन्न । "अत्र ब्रह्म समश्नुत" इति । अत्रैव न तु मरणोत्तरम् ॥ ४ ॥

जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च भक्तिमान् ।
अतिवर्णाश्रमीत्याद्यैः शब्दैः स्मृतिषु कीर्तितः ॥ ५ ॥ [३२०]

जीवन्मुक्तको ही गीतामें स्थितप्रज्ञ, गुणातीत तथा भक्तिमान कहा। वहां बताये हुए लक्षण जिस किसी पुरुषमें हो उसीको हम जीवन्मुक्त कहते हैं। उन लक्षणोंसे सम्पन्न कोई पुरुष नहीं, तो गीतामें उक्त तीनों प्रकरण प्रलापमात्र होंगे। उसीको अन्यत्र अतिवर्णाश्रमी आदि शब्दोंसे भी कहा है॥ ५॥

ये तु जीवन्मुक्तिं नाभ्युपगच्छन्ति ते प्रष्टव्याः। गीतासु प्रथमषट्के स्थितप्रज्ञस्य, द्वितीयषट्के भक्तिमतः, तृतीयषट्के गुणातीतस्य च यानि लक्षणान्युक्तानि तानि कस्मिंश्चित्पुरुषे विद्यन्ते न वा। यदि न विद्यन्ते तदा तत्तत्प्रकरणं गगनकुसुमसौरभ्यवर्णनमात्रं स्यात्। यदि विद्यन्ते तर्हि तल्लक्षणसम्पन्न एव जीवन्मुक्त इत्युच्यते। स एव चान्यत्राति-वर्णाश्रमीत्युक्तः॥ ५॥

नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ६॥ [३२१]

योगवासिष्ठमें—जीवन्मुक्त वही कहलाता है जिसके चेहरेपर रौनक सुखके आनेपर बढ़ती नहीं, दुःखके आनेपर घटती नहीं। एकरस जो रहता है—ऐसा कहा है॥ ६॥

सुखप्रयुक्तहर्षजनितनेत्रवक्त्रादिविकारः पृथक्। दुःखप्रयुक्तोद्वेगजनित विकारः पृथक्। नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन इति वचनात्। आनन्दानुभूतिप्रयुक्तप्रसादफलभूता च मुखप्रभा काचिदपरैव॥ ६॥

इत्यादिभिर्वचोजातैर्वसिष्ठश्च महामुनिः।
श्रीरामं बोधयामास जीवन्मुक्तिस्थितिं स्फुटम्॥ ७॥ [३२२]

इस प्रकारके सैकड़ों वचनोंसे महामुनि वसिष्ठने जीवन्मुक्तिकी उत्कृष्ट स्थिति रामजीकों बताया। (विस्तार जीवन्मुक्तिविवेकादिग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है)॥ ७॥

तादृशमुखप्रभायुक्तो यथाप्राप्तस्थितिर्जीवन्मुक्त इत्यदीनि श्रीराम-बोधनार्थवसिष्ठवचनानि वचनान्तराणि च परस्सहस्राणि विद्यन्ते। न तैर्ग्रन्थविस्तृतिं तनुमः। अद्यत्वेऽपि विद्यन्ते बहवो जीवन्मुक्तिलक्षणसम्पन्ना

महात्मानः अवधूताश्च । तेषां दर्शनं कथंकारं पापात्मनां भवेत् । अतिपूर्वकालकृतेन केनचित्पुण्यकर्मणा तेषां दर्शनं स्यात्तदापि वर्तमान-घोरदुरिततिमिरदुर्गतनयनास्तद्दर्शनमेव पापहेतुं मन्येरन् । यथा च वक्ष्यते पूर्वपक्षेण । तेषां जीवन्मुक्तिस्वरूपज्ञानं शाब्दमपि पापप्रयुक्तबाधबुद्ध्या नोत्पत्तुमर्हति । एवं स्थिते यदत्र केचित् का चेयं जीवन्मुक्तिरित्युत्थाप्य बहवो विकल्पान् प्रदर्श्य निरास्थन् तत्सर्वं शास्त्रानभिज्ञतानिबन्धन-प्रलापमात्रमेव । शास्त्रेषु जीवन्मुक्तिलक्षणानां बहुशः प्रदर्शितत्वादत्रापि किंचिन्निरूपणात् । तादृशलक्षणवतां विरहे तत्प्रतिपादकगीतादिशास्त्रा-प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अर्थवादत्वे वा वैकुण्ठतत्रत्यमणिमयप्रासाददिव्यगीत-मारुतादिवर्णनस्य नितरामर्थवादत्वमापद्येत । तस्मादाधुनिकसमये बहुतराणां तादृशानामनुपलम्भेऽपि" मनुष्याणां सहस्रेष्वि"ति न्यायेन विरलतया दृश्य-मानानामपलापो न युक्तः । वस्तुतस्तु स्वीयगुरोरज्ञानप्रच्छादनेन च्छात्रत्वं स्वीयं संपादयितुमेव सर्वापीयं कुटिलिकेति युक्तमुत्पश्यामः । जीवन्मुक्ति-स्वरूपादिनिरूपणं तु विस्तरेण श्रीमद्विद्यारण्यगुरुकृतजीवन्मुक्तिविवेकादौ द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

दाये गृहीते सुतबन्धुताभिः
पुण्ये सुहृद्भिर्दुरिते द्विषद्भिः ।
मुक्ताश्चरन्त्यत्र यदीयबोधा-
दात्मानमीडे तमहं महान्तम् ॥ ३१ ॥

'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' इत्यादि श्रुतिके अनुसार पुत्र, बन्धु आदिने धनगृहादिको ले लिया । द्वेषियोंने पाप ले लिया । सेवक सुहृत् आदिने पुण्य ले लिया । इस प्रकार सबसे मुक्त होकर महापुरुष जिस परमार्थतत्त्वज्ञानसे विमुक्त हो विचरण करते हैं उस महान् आत्माकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३१ ॥

इति जीवन्मुक्तिसमर्थनम्

*****

अथ बाधसामानाधिकरण्यसमर्थनम्

जीवन्मुक्तस्य यमिनः सर्वं ब्रह्मैव भासते ।
बाधैकाधिकरण्यात् स सर्वं ब्रह्मेति भाषते ॥ १ ॥ [३२३]

जीवंन्मुक्त यति पूरे जगत्को ब्रह्म ही देखता है । और वह "सर्वं ब्रह्म" इस प्रकार बोलता भी है । बाधसामानाधिकरण्यसे वह वैसा कहता है ॥ १ ॥

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "इदं सर्वं यदयमात्मा", "पुरुष एवेदं सर्वं", "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु"रित्यादिश्रुतिस्मृतिप्रोक्तार्थसमानाकारा बुद्धि-र्व्यवहृतिश्च जीवन्मुक्तानां भवति । अत्र सर्वत्र मुख्यसामानाधिकरण्यानु-पपत्तेर्बाधसामानाधिकरण्यमभ्युपगम्यते ॥ १ ॥

दृश्यमानः पुरश्चौरः स्थाणुरेष भयं त्यज ।
इत्यादौ दृश्यते बाधसामानाधिकरण्यधीः ॥ २ ॥ [३२४]

जिसे तुम चोर बोल रहे हो वह चोर स्थाणु है (ठूंठ है) चोर स्थाणु नहीं होता । वहां बीचमें नकार आ जाता है । चोर नहीं, स्थाणु है ऐसा अर्थ है । यही बाधसामानाधिकरण्य है ॥ २ ॥

हे सुत, पुरतो दृश्यमानश्चौरः स्थाणुरेषः । त्यज भयमिति । अयं दूरे दृश्यमानो हस्ती प्रस्तरखण्ड एवेति चैवमादिषु प्रयोगेषु बाधसामानाधि-करण्यं दृश्यते । एवमेव "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादावपि । एतेनेदमापास्तं यदाहुः "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" ति शान्त्यर्थं ब्रह्मात्मकसर्वानुसन्धानं स्वीक्रियते ततोऽन्यत्रापि तथा स्वीकार उचित इति । चौरोऽयं स्थाणुरित्यत्र लौकिकवाक्ये उपासनार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न च दृश्यमानादपि पदसान्निध्यात् चौरत्वप्रकारकदर्शनविषयस्य स्थाणुत्वमुक्तवाक्येन प्रतीयत इति वाच्यम् । चौरत्वविरुद्धस्थाणुत्वविधानेऽर्थाच्चौरत्वाऽभावसिद्धयावं-श्यकत्वात् प्रथममेव बाधसामानाधिकरण्यौचित्यात् । नीलमिदं गगनं नीरूपमित्यादौ दृश्यमानादिपदं विनापि प्रतीतिसिद्धानुवादेन नीरूप-विधानदर्शनाच्च । बाधसामानाधिकरण्यं नाम स्वन्यूनसत्ताकवृत्तित्व-

विशिष्टस्वाभेदसंसर्गित्वम् । घटो नीलइत्यत्र नीलाभिन्नो घट इत्यर्थः । चौरः स्थाणुरित्यत्र स्थाणुन्यूनसत्ताकवृत्तिस्थाण्वभेदवान् चौर इत्यर्थः । (केचित्तु लाघवाद् बाधिताभेदः संसर्गः । न स्थाणोर्वास्तविकाऽभेदश्चौरे । किन्तु बाधित एव । स्वन्यूनसत्ताकत्वात्मकबाधितत्वेन रूपेणाभेदसंसर्गभानमिति यावत् । एवं सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यत्रापि ब्रह्मन्यूनसत्ताकाभेदसम्बन्धेन ब्रह्माभिन्नं जगदित्यर्थः ।) परे तु स्वनिष्ठभेदप्रतियोगित्वस्वाभेदोभयसम्बन्धे न स्वान्वयित्वमेव बाधसामानाधिकरण्यम् । बाधः स्वनिष्ठभेदप्रतियोगित्वं सामानाधिकरण्यमभेद इति । शब्दसमन्वयात् । स्वनिष्ठभेदप्रतियोगिनि स्वांभेदप्रतीतिविषयत्वं हि कल्पितत्वम् । भ्रमकाले भेदप्रतियोगित्वं न भासते । बाधसामानाधिकरण्यकाले तत्प्रतीयत इत्याहुः । जातौ शक्तिपक्षे च स्वाश्रयभिन्नवृत्तित्वसम्बन्धेन पदार्थयोरन्वयाद् बाधस्थले स्वाश्रयवृत्तिभेदप्रतियोगिताया स्वाभिन्ने भानान्मिथ्यात्वं चौरादेः स्पष्टतरमिति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

देहदेह्यैक्यमादाय यत्तु केचित् समादधुः ।
तत्र संसर्गबाधस्तु प्रायः सर्वैरुपेयते ॥ ३ ॥ [३२५]

पूर्वपक्षः—'अहं ब्राह्मणः' इत्यादि शरीर और आत्माकी एकताको लेकर प्रयोग है । वैसे 'सर्वं ब्रह्म' यह भी शरीरशरीरिभावको लेकर वचन है । जगत् परमात्माका शरीर है । उत्तरपक्षः—चार्वाकसे अतिरिक्त सभी 'अहं ब्राह्मण' इत्यादिमें शरीरतादात्म्यका आत्मामें बाध मानते हैं । बाधितार्थकी प्रतीति तथा कथन मिथ्या माना जाता है ॥ ३ ॥

यत्तु शरीरशरीरिभावमादाय सामानाधकरण्यप्रयोगोऽहं ब्राह्मणः मनुष्य इत्यादिवदिति । तदसत् । शरीरस्य जडत्वादात्मनश्चेतनत्वाच्चाभेदस्य कथंचिदप्यसंभावितत्वादभेदाध्यारोप एव चार्वाकातिरिक्तैः सर्वैस्तत्र स्वीकृत इति चार्वाकमतस्वीकारो वा भ्रान्तिसिद्धाभेदो वाऽवश्यं स्वीकर्तव्यः स्यात् । तत्र प्रथमपक्षस्यानुपगमाद् द्वितीयपक्षे तत्प्रतिपादकवेदाऽप्रामाण्यं स्यात् । न च ब्राह्मणो यजेतेत्यादौ भ्रान्तिसिद्धाभेदप्रतिपादकस्यापि यथा नाऽप्रामाण्यं वेदस्य तथेहापीति वाच्यम् । तत्र लोकबुद्धिसिद्धशरीरात्माभेदमनूद्य यागादिविधानान्नाप्रामाण्यम् । इह तु नानुवादः । ज्योतींषि विष्णुः सर्वं ब्रह्मेत्येवं

लोकानां बुद्धिविरहात् । किन्तु ज्योतिरादिकमुद्दिश्य विष्ण्वाद्यभेदं विधत्त इत्यप्रामाण्यं दुर्वारमापद्येत । मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादावितिकरणात्तादृशप्रत्ययविधानं, नत्वभेदविधानम् । न चात्रापि सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेतीतिकरणमस्तीति वाच्यम् । खलुशब्देन प्रथमवाक्यस्य प्रत्ययपरत्वविरहनिश्चयात् । इदं सर्वं यदयमात्मा ज्योतींषि विष्णुरित्यादौ च नास्त्येवेतिपदम् ॥ ३ ॥

यदि वास्तविकं तत्र तादात्म्यमुपगम्यते ।
जडं ब्रह्मेति चार्वाकमतमेव त्वमन्वियाः ॥ ४ ॥ [३२६]

यदि सर्वं ब्रह्म, भूतानि विष्णुः इत्यादिमें वास्तविक तादात्म्य मानते हैं तो यही दृश्यमान जगत् ब्रह्म या विष्णु सिद्ध होगा । यही तो चार्वाक भी कहते हैं ॥ ४ ॥

तादात्म्यविधानोक्तौ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्यादिवचनं दृश्यमानप्रपञ्च एव विष्णुर्नातिरिक्तः कोऽपि देवविशेषो वैकुण्ठादिवासी वेत्यर्थपरं वा भ्रान्तजल्पितं वा स्यादिति किमनेन साधितमिति स्वयमेव विचारय ॥ ४ ॥

स आत्मा यस्य तद्भावस्तादात्म्यमिति चेन्न तत् ।
समानाधिकृतिर्नैव सिद्ध्येच्छब्दैक्यसाधनात् ॥ ५ ॥ [३२७]

पूर्वपक्षः—तादात्म्यका अर्थ करेंगे वह आत्मा जिसका हो । विष्णु आत्मा जगत्का है । अतः जगत्में विष्णुतादात्म्य है । उत्तरपक्षः—तादात्म्य शब्दका पारिभाषिक अर्थ करनेमात्रसे सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं होगा । "नामार्थयोरभेदान्वय" इस व्युत्पत्तिमें पारिभाषिक तादात्म्य अभेद शब्दका अर्थ नहीं है । अन्यथा तस्य आत्मा बुद्धिर्यस्य ऐसी व्युत्पत्ति कर घटविषयक बुद्धिमान् इस अर्थमें घटोऽहं यह भी प्रयोग होने लगेगा ॥ ५ ॥

ननु तादात्म्येव सम्बन्धः । स आत्मा यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तादात्म्यमिति व्युत्पत्तेः । सामानाधिकरण्यस्थले च तादात्म्यसम्बन्धः स्वीकृत एव सर्वैः । तच्च तादात्म्यं नियम्यनियामकभावेन वा देहदेहिभावेन

वेत्यादि । तत्तुच्छम् । ईदृशपारिभाषिकतादात्म्यस्याभेदपर्यायत्वविरहेण नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः। नियम्यनियामकभावाद्यर्थे सामानाधिकरण्यप्रयोगस्वीकारे· राजा राष्ट्रं, हस्तोऽहं, पादोऽहं, पृथिव्यादिरहमित्याद्यबाधितप्रत्ययप्रयोगौ स्याताम्। हस्तादिनियामकत्वस्य हस्ताद्यात्मत्वस्य चात्मनि सत्त्वात् । अपि च देवदत्तोऽहमित्युक्ते देवदत्तो नियम्यः अहं नियामकः, जडचेतनौ द्वौ भिन्नौ इति कस्य नाम प्रतीतिर्भवति ? ॥ ५ ॥

देवदत्तोऽहमित्यत्र ह्यभेदो गम्यते स्फुटम् ।
यो नियम्यनियन्त्रात्मभावोऽसौ भेदगर्भितः ॥ ६ ॥ [३२८]

मैं देवदत्त हूँ यहां देवदत्त तथा अहं (मैं) इन दोमें अत्यन्त अभेद प्रतीत होता है । नियम्य-नियामक भाव तो स्पष्ट भेदघटित है । देवदत्तका मैं नियामक हूँ ऐसी प्रतीति 'देवदत्तोऽहं' में किसीको भी नहीं होती ॥ ६ ॥

अपि च देवदेत्तोऽहमित्यत्र न भवत्परिभाषिततादात्म्यं कस्यापि प्रतीतिगोचरम् । किन्तु स्पष्टतयाऽभेद एव प्रतीयते । देवदत्तोऽहमहमेव देवदत्त इति । न हि भवति कदापि मम देवदत्त इति वा देवदत्तस्याहमिति वा । यः पुनर्नियम्यनियामकभावः आत्मीयात्मभावश्च तौ स्पष्टमेव भेदगर्भितौ । जडं शरीरमात्मा चेतनः । न हि पारिभाषिकतादात्म्येनाभेदप्रत्ययो भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ।
स्पष्टाऽत्र भाक्तता, नैवं चैत्रोऽहमिति वाचि हि ॥ ७ ॥ [३२९]

द्वैतवादी उदाहरण देते हैं—रामके राज्यशासनकालमें जगत् रामरूप हो गया था । नियम्य नियामक भावमें यह अभेद है । किन्तु यह शब्दस्वारस्य न पहचाननेका परिणाम है । रामभूतं में भूतशब्द क्यों है ? यहाँ लाक्षणिक प्रयोग सुनते ही मालूम पड़ता है । किन्तु मैं चैत्र हूँ, ब्राह्मण हूं इत्यादिमें सीधा प्रयोग लगता है । लाक्षणिक नहीं । 'स राष्ट्रमभवत्' इसमें भी यही स्थिति है । जहाँ जाओ वहीं रामकी चर्चा, रामका नाम, रामके कार्यकलापोंका वर्णन देखनेको मिलता है इतना ही

वहां अर्थ निकलता है । न कि राम राज्य के अन्तर्यामी है ऐसा अर्थ । अतः औपचारिक प्रयोगका उदाहरण अर्थसाधक नहीं होता ॥ ७ ॥

यत्पुनरत्र "रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति" इति वाल्मीकिप्रयोगं स राष्ट्रमभवदित्यादिप्रयोगं चोदाहृत्य नियम्यनियामकयोरभेदसाधनप्रयतनं तन्मौढ्यमात्रम् । सर्वैस्तत्र स्पष्टतया औपचारिकप्रयोगत्वानुभवात् । रामे राज्यमिति तत्रैव भेदनिर्देशात् । रामश्च राज्यं च पृथगेवानुभूयेते । न ह्येवं देवदत्तोऽहमर्थश्च पृथक् प्रतीयेते । तस्मात्सामानाधिकरण्यस्थलेऽभेद एव प्रतीयते । न तु तादात्म्यं पारिभाषिकम् । यत्राभेदो नास्ति तत्रौपचारिकः प्रयोगः । रामादिकृतसम्यक्शासनविषयत्वादेस्तत्र प्रतीतेः । तथा सति 'ज्योतींषि विष्णुरि'त्यादौ औपचारिकसामानाधिकरण्यं वा बाधसामानाधिकरण्यं वा अवश्यमभ्युपेयम् । औपचारिकतायां लक्षणा वक्तव्या । न तु बाधे इति तत्रैव पर्यवसानं स्यात् ॥ ७ ॥

अस्त्वौपचारिकं तर्हि सर्वं ब्रह्मेति चेन्न तत् ।
कार्यत्वाद् बाधितत्वाद्वा मुख्याभेदोपपत्तितः ॥ ८ ॥ [३३०]

पूर्वपक्षः—रामभूतं जगत्सर्वं यह यदि औपचारिक प्रयोग है तो वैसे सर्वं खल्विदं ब्रह्मको भी औपचारिक मान लो । उत्तरपक्षः—सर्वो घटो मृदेव, चौरः स्थाणुरेव इत्यादिके समान अनौपचारिक प्रयोग संभव है तो औपचारिक क्यों मानना चाहिये ? ॥ ८ ॥

ननु रामभूतं जगत्सर्वमितिवत् सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिकमपि औपचारिकमस्त्विति चेन्न । मृद् घट इतिवत् चौरः स्थाणुरितिवच्च मुख्याभेदान्वयसंभवेन ब्रह्मनियम्यत्वादिलाक्षणिकप्रयोगस्वीकारानौचित्यात् ॥ ८ ॥

अनुप्रविश्य सृष्टं तत् सच्च त्यच्चाभवच्छ्रुतिः ।
हेमोर्मिकाऽभूदितिवन्न तु तद्देहतावशात् ॥ ९ ॥ [३३१]

पूर्वपक्षः—'स इदं सर्वमसृजत । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' ऐसी श्रुति है । उस आत्माने सबको बनाया फिर उसमें प्रवेश कर मूर्त पृथिवी आदि और अमूर्त वायु आदि हुआ । यहां देहदेहिभाव प्रतीत होता है । उत्तरपक्षः—नहीं । सुवर्ण

स्वीय नाना कार्योंमें प्रवेश कर कटककुण्डलादि हुआ इस प्रकारके प्रयोगके समान वह है। इसका अर्थ सत् और त्यत् शरीर है ऐसा नहीं निकलता ॥ ९ ॥

ननु "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदि"ति श्रुतिः शरीरानुप्रवेशपूर्वकशरीरतादात्म्यं ब्रवीतीति सर्वं ब्रह्मेत्यादावपि तथा संभवतीति चेन्न। नित्यस्य व्यापकस्य यथाश्रुतो देवदत्तगृहप्रवेशवदनुप्रवेशो न संभावित इति सुवर्णं कार्याण्युत्पाद्य तत्रानुप्रविश्य कटककुण्डलादिकमभूदितिवदयं प्रयोग इति स्वीकर्तव्यतया पूर्वोक्तार्थे एवास्या अपि श्रुतेः पर्यवसानात्। "तज्जलान्" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इत्यादि श्रुत्यन्तरसंवादेन तादृशार्थस्यैव स्वीकारौचित्यात् ॥ ९ ॥

घटादिषु प्रविष्टं खं घटादिर्नाभिधीयते।
शरीरत्वं विशेषश्चेत् किं चेष्टाद्याश्रयो जगत् ॥ १० ॥ [३३२]

प्रवेशमात्रसे तादात्म्यव्यवहार हो तो घटमें आकाश प्रविष्ट हो गया तो आकाशो घटः आकाशः पटः ऐसा व्यवहार होना चाहिये। यह कहें कि परमात्माका अनुप्रवेश मात्र नहीं, किन्तु जगत् परमात्माका शरीर है तो उत्तर है कि अनुप्रवेश होनेसे ही शरीर कहा गया है। "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरं" यह शरीर लक्षण ईश्वर के प्रति जगत् में नहीं हो सकता। आकाशस्य घटः शरीरं ऐसा इसलिये नहीं बोलते कि आकाश चेतन नहीं है। जड शरीर बोलना विना मतलबका है ॥ १० ॥

न हि घटाद्यानुप्रवेशमात्रेणाकाशो घटः पटश्च भवति। पृथिवीजलतेजोरूपं सत् वाय्वाकाशात्मकं त्यदित्युभयमपि जडमिति चेतनस्य तद्रूपत्वासंभवात्। शरीरशरीरिभावेनाभेदप्रयोगस्थले आध्यासिकाभेद एव प्रतीतिविषय इत्यवोचाम। अन्यथा पादोऽहं हस्तोऽहमित्यादिप्रत्यायानामपि प्रसङ्गात् ॥ १० ॥

कार्यकारणभावेन मुख्याभेदस्य संभावात्।
न बाधे युज्यते मैवं चिज्जडाभेदखण्डनात् ॥ ११ ॥ [३३३]

पूर्वपक्षः—अच्छा फिर मृद् घटः इसप्रकार कार्यकारणभावको लेकर मुख्य अभेद ही क्यों न माना जाये ? क्यों बाधसाामानाधिकरण्य मानना चाहिये ? उत्तरपक्षः—प्रथम बात यह है कि द्वैतमतमें ब्रह्म जगतका उपादान कारण ही नहीं है । सूक्ष्मजगद्विशिष्ट चेतन स्थूलजगद्विशिष्ट चेतनका कारण है यह कथन सब शब्दजालमात्र है । वहां सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् का कारण है इतना मतलब निकलता है । चेतनमें स्थूलसूक्ष्म भेद ही नहीं है । दूसरी बात ब्रह्म चेतन है । जगत् जड़ है । दोनों का अभेद हो ही नहीं सकता । अतः बाधसमानधिकरण्य ही संभव है ॥ ११ ॥

नन्वस्त्वेवं सुवर्णं कुण्डलमितिवन्मुख्याभेद एव । किमर्थं बाधसमानाधिकरण्यं स्वीक्रियत इति । मैवम् । कार्यस्य जगतो जड़त्वात् कारणस्य ब्रह्मणश्चेतनत्वाच्च चिज्जडयोर्मुख्याभेदस्यासंभवात् । इत्थं च चेतने ब्रह्माणि जडस्य कल्पितत्वे एव बाधसामनाधिकरण्यमपि संभवतीति मुख्याभेदो दूरनिरस्त एव ॥ ११ ॥

मृत्तिका सत्यमित्येवं कार्यमिथ्यात्वमीरितम् ।
तथा चात्र प्रमाणं त्वं सम्यगेतदभाषथाः ॥ १२ ॥ [३३४]

और उपादान उपादेय भावको लेकर यदि आप 'सर्वं ब्रह्म' "भुवनानि विष्णुः" आदि कहते हैं तो उपादानकारणमें कार्य मिथ्या होता है यह बात "मृत्तिकेत्येव सत्यं" इस प्रकार श्रुति स्वयं बोल रही है । सो आपने हमारे मतके लिये ही प्रमाण जुटाया । पहले कहा जा चुका है कि कारणमें कार्य भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्नरूपसे निर्वचनीय है नहीं ॥ १२ ॥

ननु जडस्य न कल्पितत्वं, "मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति श्रुतेर्मृत्तिकादेः सत्यत्वाभिधानात् । न हि चेतनादुत्पन्नं चेतनं चेदेव सत्यमित्यादि वक्तुं शक्यते । "यथा पुरुषात्केशलोमानी"ति श्रुतेश्चेतनात् पुरुषाज्जडानां केशलोमादीनामुत्पत्तेः । सत्यत्वे च न बाधसामाधिकरण्यं युज्यत इति चेन्न । न ह्यात्मनः केशा उत्पद्यन्ते । किन्तु शरीरस्य । शरीरं च जडमेव । न वा शरीरं केश इति सामानाधिकरण्यप्रयोगोऽप्यस्ति । "मृत्तिकेत्येव सत्यमि" ति श्रुतिस्तु कार्यस्य वाचारम्भणत्वेन मिथ्यात्वप्रतिपादनार्थं दृष्टान्तविधया प्रवृत्ता—वाचारम्भणं विकारो मृन्मयो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति ।

दार्ष्टान्तिकस्तु सत उत्पन्नं जगत् वाचारम्भणत्वान्मिथ्या । सदेव सत्यमिति तदाहाग्रे—'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे'ति । मृत्तिकेत्येवेति दृष्टान्ते एवकारसत्त्वात् सदेव सत्यमिति व्याख्येयम् । इत्थं च भवता मृत्तिकेत्येव सत्यमिति प्रमाणोपन्यासः सम्यगेव कृतः । किन्तु न स्वपक्षपोषणाय । परमस्मत्पक्षपोषणायैव । एवं जडायां मृदि जातस्य मृन्मयस्य जडस्य घटादेरपि मिथ्यात्वं चेच्चेतने ब्रह्मणि जातस्य जडस्य जगतो मिथ्यात्वे किं नु वक्तव्यम् ॥ १२ ॥

अत एव विरुद्धत्वान्मुख्ये नैवाद्रियामहे ।
सामानाधिकरण्यं हि बाधायामेव मन्महे ॥ १३ ॥ [३३५]

इसी कारण हम मुख्यसामानाधिकरण्य नहीं, बाधसामानाधिकरण्य ही मानते हैं ॥ १३ ॥

एवं सति घटो मृदित्यत्र विरोधविरहेणोपादानोपादेयभावान्मुख्यसामानाधिकरण्यस्वीकारेऽपि सर्वं ब्रह्मेत्यत्र विरुद्धत्वाद् बाधायामेव सामानाधिकरण्यं मन्यामहे । घटो मृदित्यादौ तु विवक्षानुसारेण मुख्ये बाधायां च सामानाधिकरण्यं संभवति । सुवर्णघटसत्त्वेन घटोऽयं मृद्वा सुवर्णं वेति सन्देहवारणाय मुख्यसामानाधिकरण्येन प्रयुज्यते । किन्तु घटो नाम किं तत्त्वं ? पृथगेव किंचित् किं वा मृदेवेति जिज्ञासायां घटो मृदित्युत्तरे बाधायां सामानाधिकरण्यम् । न हि घटो नाम किंचित्तत्त्वं, मृदेव तदिति बोधोत्पत्तेः ॥ १३ ॥

स्थाणुत्ववद् विरुद्धोऽत्र को धर्मो ब्रह्मणीति चेत् ।
ब्रह्मत्वं स्याद्धन्त जडविरुद्धं ब्रह्म वा स्वयम् ॥ १४ ॥ [३३६]

पूर्वपक्षः—पुरुषत्वसे विरुद्ध स्थाणुत्व होनेसे पुरुषः स्थाणुः यहां बाधसामानाधिकरण्य माना जा सकता है । किन्तु जडत्वविरुद्ध कौनसा धर्म ब्रह्ममें है ? उत्तरपक्षः—ब्रह्ममें व्यावहारिक ब्रह्मत्व ही जडत्वविरोधी धर्म है । ब्रह्म जड़ है ऐसा व्यवहार नहीं होता । अतः वहां व्यावहारिक जड़त्व नहीं । प्रातिभासिक जड़त्व है । और वस्तुतः स्वयं ब्रह्म ही जडत्वविरोधी है । नया धर्म ढूँढनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

ननु चौरः स्थाणुरित्यत्र बाधसामानाधिकरण्यं युज्यते । चौरत्व-विरुद्धस्थाणुत्वधर्मावगमात् । न ह्येवं सर्वत्वभुवनत्वादिविरुद्धधर्मः कोऽपि ब्रह्मणि । न च ब्रह्मत्वमेव तथा, चेतनत्वादिकं वेति वाच्यम् । ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात् । यदि च कल्पितं ब्रह्मत्वमुच्यते तदा कल्पितं भुवनत्वादिकमपि तत्रास्तीति कथं विरुद्धधर्मत्वमिति चेत् । अत्रोच्यते । ब्रह्म चेतनमित्यादिव्यवहाराद् ब्रह्मणि ब्रह्मत्वचेतनत्वादयो व्यावहारिकधर्माः स्वीक्रियन्ते । ब्रह्म जडं भुवनात्मकमित्यादिव्यवहारविरहाद् जडत्वभुवन-त्वादिकं तत्र प्रातिभासिकमेव । ब्रह्मणि भुवनं तत्र भुवनत्वं व्यावहारिकं, साक्षाद् ब्रह्मणि तु प्रातिभासिकमेव । न च सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य साक्षाद् ब्रह्मण्येव कल्पितत्वमते ब्रह्मण्येव भुवनत्वादिकमपि कल्पितमिति वाच्यम् । तन्मतेऽपि घटः पटः इत्यादिव्यवहारविरहान्न व्यावहारिकघटत्वादयस्तत्र । अथ सन् घटः सन् पट इत्यादिव्यवहारसत्त्वात् सद् घटत्वं सत् पटत्वमित्यादिव्यवहारसत्त्वाच्च सत्येव व्यावहारिकमेव घटत्वादिकमिति मन्वते तदापि स्वयं ब्रह्मैव जडविरुद्धम् । न हि धर्मद्वारैव विरुद्धत्वमिति नियमोऽस्ति । 'अनृतजडविरोधिरूपमन्तत्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्ध'मिति प्रयोगात् ॥ १४ ॥

तन्मायावृतिशक्त्यैवाऽऽवृतं सन्न प्रकाशते ।
यथावृतिक्षयं चैव भाति मेघक्षयेऽर्कवत् ॥ १५ ॥ [३३७]

पूर्वपक्षः—यदि ब्रह्म स्वयं विरोधी है, तो वह स्वयंप्रकाश होनेसे प्रकाशमान भी होगा । तब शास्त्रश्रवणादि व्यर्थ होगा । उत्तरपक्षः—मायाकी आवरणशक्तियोंसे यह ब्रह्म आवृत है । महावाक्यश्रवणादिसे आवरणनिवृत्ति होती है तो ब्रह्म प्रकाशमान होकर अज्ञाननिवारण करेगा । पूर्वपक्षः—एक बार तत्त्वमसि सुनते ही अज्ञानावरण दूर होनेसे मोक्ष होगा । उत्तरपक्षः—नहीं । इन्द्रो मायाभिः इस बहुवचनसे आवरणशक्तियां अनेक हैं यह सिद्ध होता है । धीरे-धीरे क्रमशः वे आवरणशक्तियां नष्ट होती हैं । तदनुसार ही ब्रह्मप्रकाश भी होता है । जैसे मेघ धीरे-धीरे हटता है, थोड़ा हटता है तो पतला रह जाता है

तब थोड़ा प्रकाशित होता है। पूरा मेघ हटनेपर ही पूरा प्रकाशमान होता है ॥ १५ ॥

ननु यदि स्वयमेव जडभुवनविरुद्धं ब्रह्म तदा सिद्ध एव बाधः प्रथममेव स्वप्रकाशत्वादिति श्रवणादिवैयर्थ्यापत्तिरिति चेन्न। अविद्याकृतावरणेन स्वप्रकाशस्याप्यप्रकाशमानत्वात्। यथा स्वप्रकाशोऽपि सूर्यो मेघावरणेन। तस्या मायायाः शक्तीनां बहुत्व"मिन्द्रोमायाभिरि"त्यत्र बहुवचनेन सिद्धम्। मायावरणात्तिरोधानम्। आवरणभङ्गतारतम्यात् स्फुरणतारतम्यम्। तच्च मेघस्वरूपतारतम्यतत्क्षयतारम्याभ्यां सूर्यप्रकाशे दृष्टम्। तत्र प्राचामयमाशयः दृश्यमानगजोऽयं प्रस्तरखण्डः, चौरोऽयं स्थाणुरित्यादौ प्रत्यक्षस्थितस्थाण्वादिष्वावरणपिनद्धेषु शब्देन तदावरणनिवृत्तेश्चौरादिबाधाच्च शुद्धस्थाण्वादिबोधो यथा भवति तथा सर्वं ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दजन्यवृत्त्याऽवरणनिवृत्तौ ब्रह्मप्रकाशे भुवनबाधे च शुद्धब्रह्मबोधः सुगम इति ॥ १५ ॥

ब्रह्मैव सर्वं खलु तज्जलांस्तत्
बाधे त्विहैकाधिकरण्यमिष्टम्।
यन्नेति नेतीति निषिध्यतेऽन्यत्
शिष्टं तु यद् ब्रह्म परं तदस्मि ॥ ३२ ॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यह सर्वजगत् ब्रह्म ही है। ततः वह (सर्व जगत्) तज्जलान् है। तज्ज, तल्ल और तदन् है। उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है, उसीमें जीवित रहता है। उक्त वाक्यमें बाधसामानाधिकरण्य इष्ट है। क्योंकि जगत्का निषेध स्वयं श्रुतिने नेति नेति करके किया है। निषेधके बाद अवशिष्ट जो शुद्ध ब्रह्म है वही मेरा स्वरूप है ॥ ३२ ॥

इति बाधसामानाधिकरण्यसमर्थनम्।

*****

अथ संविदद्वैतसिद्धान्तः

एकं ब्रह्मात्र भूम्याद्या व्यावर्तन्ते परस्परम् ।
अम्बुधौ वीचिवद् रज्जौ धारामालोरगादिवत् ॥ १ ॥ [३३८]

वस्तुतः एक ही ब्रह्म परमार्थ है । उसीमें पृथिवी, जल, तेज आदि परस्पर व्यावृत्त होकर (भिन्न होकर) उसी प्रकार रहते हैं जैसे समुद्रमें तरङ्गें जैसे रस्सीमें माला, सर्प, जलधारा आदि ॥ १ ॥

एकमेव परं ब्रह्म वस्तुतः । न तु "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्येवमावृत्तिदर्शनेन यजत्यावृत्तिवत् तत्तद्रूपा नाना विष्णवः, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्युक्ते सर्वपदार्थानां नानात्वात्तद्रूपब्रह्मणो वा नानात्वम् । किं तर्हि ? तत्रैवैकस्मिन् ब्रह्मणि भूमिजलतेजोवाय्वाद्याः परस्परं व्यवर्तन्ते । कथमिव ? अम्बुधौ नानावीचिवत् । रज्जौ जलधारामाला-सर्पादिवच्च ॥ १ ॥

यद् ब्रह्म संवित् सैवोक्ता सत्यं ज्ञानमिति श्रुतिः ।
उत्पत्त्यादिप्रतीतिस्तु वृत्त्युपाधिनिबन्धना ॥ २ ॥ [३३९]

जो ब्रह्म है वही संवित् अर्थात् ज्ञान है । श्रुतिमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस प्रकार ब्रह्मज्ञानको बताया है । यदि ऐसा हो तो ज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि प्रतीति कैसे ? क्योंकि ब्रह्म उत्पन्न और नष्ट नहीं होता । उत्तर है ज्ञानव्यवहार वृत्ति उपाधिको लेकर है । वृत्ति उत्पन्न और नष्ट होती है तो उपहितमें उसकी प्रतीति होती है ॥ २ ॥

यच्च ब्रह्म सैव संविदित्यप्युच्यते । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुतौ ब्रह्मणो ज्ञानत्वकथनात् । ननु चैवं ज्ञानमुत्पन्नं, ज्ञानं नष्टं, नानाज्ञानं मम जातमित्याद्या प्रतीतिः कथमिति चेद् ? वृत्त्युपाधेरिति ब्रूमः । घटाद्याकारा नाना वृत्तय उत्पद्यन्ते नश्यन्ति च । तेनोपाधिना ज्ञानेऽप्युत्पत्ति-विनाशनानात्वादिव्यवहारा उपपद्यन्ते इत्यादिकं निवेदितमधस्तात् । तथा च ज्ञानापरपर्याया संविदेका नित्या च ॥ २ ॥

सुखं सुखं चाहमहं शुक् शुगित्यनुवृत्तितः।
तदैक्यं स्याद् न वृत्तित्वादन्यवृत्त्यफलत्वतः॥ ३॥[३४0]

पूर्व भोजन सुख, स्नानसुख, शयनसुख आदिमें सुखकी अनुवृत्ति है। जन्मदुःख, जरादुःख, रोगदुःख आदिमें दुःखकी अनुवृत्ति है। ऐसी ही मैं मैंकी अनुवृत्ति होती है। अतः सभी सुख एक ही होगा एवं दुःख अहंकारादि भी एक ही होगा। उत्पत्ति और नाशकी प्रतीति वृत्तिको लेकर संभव है। उत्तरपक्षः—नहीं। सुखदुःखादि स्वयं वृत्तिरूप है। उसके लिये अन्य वृत्ति नहीं हो सकती। ज्ञानु चैतन्यरूप है। वृत्ति नहीं है॥ ३॥

नन्वेवं सुखं सुखमित्यनुवृत्तेः सुखस्यैक्यं स्याद्। उत्पत्तिविनाश-नानात्वादेर्वृत्त्युपाधिनिबन्धनत्वं स्यात्। एवमहमहमित्यनुवृत्तेरहंकारस्य-दुःखं दुःखमित्याद्यनुवृत्तेर्दुःखादेरपीति चेन्न। सुखादीनां स्वत एवान्तः-करणवृत्तित्वात्तत्र वृत्त्यन्तरगवेषणावैफल्यात्। न चैवं संविदपि वृत्तिरेवेति किं न स्यादिति वाच्यम्। वृत्तीनां जडत्वेन प्रकाशकत्वायोगाज्ज्ञानस्य चैतन्यस्योपधेयात्मकस्य स्वीकारावश्यकत्वात्॥ ३॥

सम्बन्धिभेदनाशादेर्भेदनाशादिसंभवात्।
संयोग एक एव स्याद् न, विभागेन नाशतः॥ ४॥ [३४१]

पूर्वपक्षः—संयोगको एक और नित्य मान सकते हैं। संयोगके सम्बन्धियोंके भेदसे और नाशसे संयोगमें भेदप्रमीति और नाशप्रतीति हो सकती है। उत्तरपक्षः—सम्बन्धीके नाशके विना भी विभागसे भी संयोगनाश होता है। वहां आपके पास क्या जवाब है?॥ ४॥

ननु संयोगादिसम्बन्धानामैक्यं स्यात्। सम्बन्धिनाशाद्युपाधितस्तत्र नाशादिप्रतीतिसंभवादिति चेन्न। विभागेनापि संयोगनाशदर्शनेन सम्बन्धि-नाशोत्पत्त्याद्यनुविधायित्वविरहात्॥ ४॥

सर्वज्ञत्वं भवेच्चेन्न सर्ववृत्तेरभावतः।
वृत्तयः संनिकर्षादिजन्या न युगपन्नृणाम्॥ ५॥ [३४२]

पूर्वपक्षः—यदि संवित् एक है तो सभी सर्वज्ञ बन जायेंगे। उत्तरपक्षः—सर्वविषयवृत्तियां हो तब सर्वज्ञ हो सकते हैं। वृत्तियां तो इन्द्रिय-संनिकर्षादि होने पर ही संभव है ॥ ५ ॥

ननु संविद एकत्वे सर्वविषयिणी सैवैका संविदिति सर्वज्ञत्वं सर्वेषां स्यादिति चेन्न। तत्तद्वृत्तिभिरेव तत्तदाकारावरणनिवारणात् सर्वाकार-वृत्तिविरहेण तत्तदवच्छिन्नसंविदावरणापसरणविरहात् सर्वज्ञत्वापत्तिविरहात्। न च वृत्तयः सर्वविषयाः कथं नेति वाच्यम्। इन्द्रियार्थसंन्निकर्षादिजन्य-त्वाद्वृत्तीनाम् ॥ ५ ॥

सर्वाकाराः सदैव स्युर्मायावृत्तय ईशितुः।
सर्वज्ञताऽत ईशस्याऽऽवरणाभावतोऽपि वा। ६ ॥ [३४३]

पूर्वपक्षः—तब ईश्वर सर्वज्ञ किस प्रकार? उत्तरपक्षः—सर्वविषयक-मायावृत्तियोंके होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ है। अथवा ईश्वरके लिये आवरण न होनेसे वह सर्वज्ञ है ॥ ६ ॥

नन्वेवं कथमीश्वरस्य सर्वज्ञतेति चेद्? तदुपाधिमायायां सदैव सर्वाकार-वृत्तिसत्त्वेन तस्य सर्वज्ञतोपपत्तेः। अन्ये तु ईश्वरस्याऽऽवरणमेव नास्तीति सदाऽनावृतस्वचैतन्यतादात्म्यात् सर्वज्ञत्वमीश्वरस्योपपद्यत इत्याहुः ॥ ६ ॥

विषयाभावतो यत्तु सार्वज्ञ्याभाववर्णनम्।
पराऽप्रोक्ते तदात्मीयकौशलस्य प्रदर्शनम् ॥ ७ ॥ [३४४]

यहाँ द्वैतवादी अपनी ओर से समाधानाभास उठाते हैं कि दुनिया है ही नहीं तो सर्वज्ञताका प्रश्न कहां उठता है। वह अपने शिष्योंमें अपने प्रखर तर्ककौशलका चमत्कार दिखानेका एक तरीका मात्र है। क्योंकि ऐसा किसी भी वेदान्तग्रन्थमें बताया नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है, विषय नहीं है। ब्रह्मकी बात अलग है ॥ ७ ॥

यत्त्वत्र सर्वविषयाणां युगपदभावान्न सर्वज्ञत्वाद्यापत्तिरिति स्वयम-द्वैतिमतत्वेनोपवर्ण्य तन्निरसनमन्यस्य बहुतरस्वमनीषाकल्पितस्य पर-सिद्धान्तत्वेन प्रदर्शनं च तत्सर्वं स्वशिष्यचमत्कारणमात्रनिबद्धमिति तत्समर्थननिरसनादितो विरमामः ॥ ७ ॥

एकैव संविदिह चित्रपटत्विडाभा-
ऽनेकात्मतां व्रजति मोहवशादुपाधेः ।
विद्याबलेन तदपाकरणे स्थिरा स्या-
देकैव तां भुवनयोनिचितिं प्रपद्ये ॥ ३३ ॥

संवित् एक ही है। वह चित्रपट (सिनेमाके पर्दे) पर स्थित प्रकाशके समान है। उपाधि (फिल्म) के कारण चित्रपटपर एक ही प्रकाश विश्वरूपमें दिखाई पड़ता है। वैसे नाना वासनायुक्त मायोपाधिके कारण संवित् भी अनेक विश्वात्मक दीखती है। विद्याके बलसे उपाधिके हटनेपर एक ही संवित् स्थिर रहती है। सकलभुवनके कारणस्वरूप उस चैतन्यके हम प्रपन्न हैं ॥ ३३ ॥

इति संविदद्वैतसिद्धान्तः ।

*****

(३४)

अथ उपदेशाद्युपपत्तिः

पारमार्थिकसद् ब्रह्म नानोपाधिवशादिह ।
ईशात्मभूहरिहर-शिष्याचार्यादिभेदभाक् ॥ १ ॥ [३४५]

पूर्वपक्षः—उपदेशक गुरु ज्ञानी ही होगा। परन्तु ज्ञानसे शिष्य आचार्यादिभेद बाधित हो गया। दूसरा, गुरुके ज्ञानसे शिष्यका भी अज्ञान दूर हो गया। तीसरा, श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होनेसे द्वितीय अर्जुन स्थाणु पुरुष के समान मिथ्या होनेसे ठूंठके समान उपदेश्य नहीं रहा। उत्तरपक्षः—ब्रह्म एक ही है किन्तु अनादि अविद्या नाना होनेसे ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, शिष्य एवं आचार्य आदि भेदवाले बन गये ॥ १ ॥

अत्र केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते। अनिवृत्ताऽविद्यस्योपदेष्टृत्वासंभवात्, निवृत्ताविद्यस्य शिष्याचार्यादिभेदबाधात्, निष्प्रयोजनप्रवृत्त्ययोगात् आत्मैक्येन गुरोरज्ञाननिवृत्त्यैव शिष्याऽज्ञाननिवृत्तत्वप्रसङ्गात् ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य

श्रीकृष्णादेः सर्वथैव निवृत्ताऽविद्यस्य मिथ्याभूतमर्जुनादिं प्रति उपदेशा-योगात्, स्थाणुपुरुषबोधनवदीश्वरस्य निष्प्रयोजनोपदेशप्रवृत्त्ययोगाद् वेदान्त-विद्योपदेशभङ्ग एवाद्वैतिनामापद्यत इति । (अद्वैतग्रन्थेष्वनुक्ता एव बहवः कल्पा अत्र समाधानत्वेनोक्ता नात्र संगृहिताः । अत्रैव सर्वान्तर्भावात् ।) तत्रेदं ब्रूमः । पारमार्थिकं तत्त्वं परं ब्रह्मैव । तदेवोपाधिवशादनिर्वचनीय-भेदभाग् भवति । सोऽयं भेदोऽनादिप्रवृत्त इति न तत्र किंचिच्चोद्य-मस्ति ॥ १ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वमेतेषां मन्महे वयम् ।
सुखदुःखादयश्चैव सत्याः स्युर्व्यावहारिकाः ॥ २ ॥ [३४६]

हम ईश्वर, गुरु, जीवादि भेदको व्यावहारिक सत्य (सत्य पदवा-च्यार्थ) स्वीकार करते हैं । सुख-दुःख आदि भी व्यावहारिक सत्य हैं ॥ २ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वं जीवेश्वरादिभेदस्य सुखदुःखादीनां च वयं मन्या-महे । न हि मिथ्यात्वं नामाऽसत्त्वं वा प्रातिभासिकसत्त्वं वा । व्यावहारिक-सत्यस्य पारिभाषिकं मिथ्यात्वं वयमाचक्ष्महे । न च यदि पारिभाषिकमेव मिथ्यात्वं तदा व्यर्थ एव विवादः । परिभाषया त्वसत्त्वमपि शक्यते वक्तुमिति वाच्यम् । तस्यानुपदमुपपादयिष्यमाणत्वात् । इत्थं च न गुरुशिष्यादिभेदानुपपत्तिरद्वैतासिद्धिर्वा । भेदानां सुखादीनां च व्यावहारिक-त्वात् । व्यावहारिकमेव दुःखादिकं सोढुमसमर्थाः गुरुं परमात्मानं चोपसीदन्ति शरणं यान्ति तोषयन्ति च । तस्यैव परिहरणीयत्वं सर्वाभिमतमुपलभ्यते । न तु पारमार्थिकस्य । पारमार्थिकस्य परिहर्तुम-शक्यत्वात् ॥ २ ॥

तानेव च जिहीर्षन्ति न पुनः पारमार्थिकान् ।
स्वाप्नरोगं जनाः स्वप्ने निविवर्तयिषन्ति हि ॥ ३ ॥ [३४७]

उन्हीं व्यावहारिक दुःखादिको सब लोग मिटाना चाहते हैं । पारमार्थिक वस्तुकी निवृत्ति नहीं हो सकती । स्वप्नमें रोग हुआ तो स्वप्न में मिटाना चाहते हैं । क्योंकि उस समय उस रोगसे वह पीड़ित हो रहा है ॥ ३ ॥

तानेव हि व्यावहारिकान् सुखदुःखमोहादीन् अपारमार्थिकानपि परिजिहीर्षन्ति सर्वे । यथा स्वाप्नरोगं जनाः स्वप्ने निवर्त्तयितु-मिच्छन्ति ॥ ३ ॥

स्वप्नभीताज्जागरयेद् बुधो जागरितः स्वयम् ।
अनाद्यविद्यालेशश्च भेदकृज्ज्ञानिनामपि ॥ ४ ॥ [३४८]

स्वप्नरोगकी दवा स्वप्नमें ही ढूँढने लगते हैं । किन्तु उसकी असली दवा जागरण है । अतः स्वप्नमें चिल्लानेपर या मुखमालिन्यादिदर्शन होनेपर जागृत व्यक्ति उसे जगाता है । वैसे अनादिमायानिद्राप्रयुक्त सुखादिकी दवा लौकिक नहीं किन्तु उत्तिष्ठत जाग्रत इत्यादिमें बताया हुआ जागरण ही है । हां, इतने अंशमें विलक्षणता है कि लौकिक जागरणमें स्वप्न-बिल्कुल नहीं रहता । परमार्थ जागरण में लेशाविद्यारूपी किंचिन्निद्रा भी रहती है, जागरण भी रहता है । जागृत पुरुष अपने स्वाप्नक्लेशोंको देखकर या यादकर दूसरोंको उसे क्लेशसे ऊपर उठानेके लिये प्रयत्न करता है ॥ ४ ॥

स्वाप्नमिथ्याराक्षसादिमपि मन्त्रपाठचण्डीपाठादिना लोका अपाकर्तु-मिच्छन्ति चेद् व्यावहारिकदुःखनिवर्तने किं वक्तव्यम् । न च शितोष्णादि-द्वन्द्वसहिष्णुत्वलक्षणतितिक्षावत एव वेदान्ताधिकार इति दुःखादिकं सोढुमसमर्था गुरुमुपगच्छन्तीत्यसंगतमिति वाच्यम् । उपशमविरोधिदुःखस्य विवक्षितत्वात् । 'दुःखमेव सर्वं विवेकिन' इति पातञ्जलस्मरणात् ॥ ४ ॥

ईश्वरेक्षणसृष्टत्वाद् दृष्टिसृष्टित्वमिष्यते ।
ब्रह्मावबोधबाध्यत्वान्मिथ्यात्वं चाभ्युपेयते ॥ ५ ॥ [३४९]

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरदृष्टिसे यह जगत् सृष्ट है अत एव यह जगत् दृष्टिसृष्टिरूप है । अतः पारमार्थिकता इसमें नहीं है । तथा ब्रह्मज्ञानसे वह बाधित होता है । अत एव ज्ञानबाध्य होनेसे जगत्को मिथ्या भी हम मानते हैं ॥ ५ ॥

नन्वेवमर्थक्रियाकारित्वात् पारमार्थिकसत्यत्वमेव प्रपञ्चस्येति चेन्न । न ह्यर्थक्रियाकारित्वमेव पारमार्थिकत्वम् । रज्जुसर्पादेरपि भयाद्यर्थक्रिया-

कारित्वाद्, ब्रह्मणोऽर्थक्रियाकारित्वविरहाच्च। किन्तु दृष्टिसृष्टत्वं बाध्यत्वं वा मिथ्यात्वं तद्वैपरीत्ये पारमार्थिकत्वम्। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये'-तीश्वरदृष्टिसृष्टत्वं प्रपञ्चस्यास्ति। तत्रेश्वरस्य समष्टिचैतन्यरूपत्वात्तदीयदृष्टिसृष्टस्य व्यष्टिभिर्जीवैर्दर्शनमिति सृष्टिदृष्टिस्तत्र। न च विश्वामित्रादियोगिदृष्टिसृष्टस्य कथं व्यावहारिकत्वम्? व्यष्टिदृष्टिसृष्टस्य प्रातिभासिकत्वावश्यंभावादिति वाच्यम्। तपःशक्त्या समष्टिदृष्ट्या सहैकीकरणात्। अस्तु वा क्वचिद् व्यष्टिदृष्टिसृष्टस्यापि व्यावहारिकत्वम् निम्यादेरिव सर्वहृदयवासित्वात्। यद्वा तपःप्रसन्नः समष्टिरेव स्वदृष्ट्या सृजतीत्यस्तु। ननु दृष्टिसृष्टस्य कुतो मिथ्यात्वमिति चेद्? उच्यते। कल्पितत्वावश्यंभावात्। किं चाखण्डब्रह्मविषयकबोधेन जगदेतत्प्रबाध्यत इत्यतोऽपि मिथ्यात्वं दुर्वारमेव ॥ ५ ॥

यस्य स्याद् ब्रह्मसंबोधस्तस्याविद्या निवर्तते।
समाधिनिष्ठवत्तस्य जगदेतत्प्रबाध्यते ॥ ६ ॥ [३५०]

जिसको ब्रह्मज्ञान होता है उसीकी अविद्या निवृत्त होती है। सबकी नहीं। समाधिस्थको जिस प्रकार जगत् बाधित होता है वैसे ब्रह्मज्ञानीको भी है ॥ ६ ॥

ननु तत्त्वज्ञानिना जगत्प्रबाधे न कस्यापि तत्प्रतिपत्तिः स्यात्। न चैतत्संभवति। ईतरैर्दृश्यमानत्वात्। भेदो वा जगतः स्यादिति। तथा सति प्रत्येकजीवानां जगद्भेदादेकस्य वार्ता नापरो जानातीति सर्वमुन्मादमात्रं स्यादिति चेन्न। शततन्तुकपटे एकतन्त्वपनयने शततन्तुकपटो न भवत्येव, नवनवतितन्तुकपट एव स्यात्। एवं समष्टिचेतनात्मकेश्वरकल्पिते एकाविद्यानिवृत्तौ तद्घटितसृष्टिर्न तिष्ठेत्। किन्तु शेषसमष्टिसृष्टजगत् स्थास्यत्येव। अनन्तत्वाच्च जीवानां न न्यूनाधिकभावो जगतः। तथा च यस्याविद्या नास्ति तस्यैव जगद्बाधो नान्येषाम्। उदाहरणं समाधिनिष्ठस्य। तस्य समाधौ जगत् प्रबाध्यते। तत्त्वज्ञानिनस्तु सदैव जगत्प्रबाध्यते ॥ ६ ॥

धर्ममेघसमाधेर्हि ज्ञानानन्त्यमुदीरितम्।
न समाधौ विनश्येत्तद् जगत् किन्तु न दृश्यते ॥ ७ ॥ [३५१]

धर्ममेघसमाधिको प्रस्तुत कर बताया है–'तदा ज्ञानस्यानन्त्यात्' धर्ममेघ समाधिसे ज्ञान अनन्त हो जाता है। समाधिकालमें वह नष्ट हो गया ऐसा नहीं माना जा सकता। किन्तु समाधिमें जगत् दीखता नहीं है। अतः जगत् बाधित हो गया यह मानना ही होगा ॥ ७ ॥

ननु समाधिस्थानां जगद्दर्शनसामग्रीविरहादेव जगतोऽदर्शनम्। न तु बाधात्। न हि तदानीं चक्षुरादयः सक्रिया इति चेन्न। धर्ममेघसमाधिं ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिं चाभिधाय भगवता पतञ्जलिना–'तदा ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पमि'ति ज्ञानानन्त्यमस्मारि। न हि समाधौ ज्ञाननाशवार्ता। न हीन्द्रियादिविरहेण ज्ञानाभाव आपादयितुं शक्यते। ईश्वरस्यापि ज्ञानाभावप्रसङ्गात्। 'पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्ण' इति ज्ञानानन्त्यस्वरूपमेव। तुल्यम् तथा च तद्दर्शनं बाधादेव ॥ ७ ॥

उपादानं परं ब्रह्म योगिना दृश्यते स्फुटम्।
तस्मिन् सति कथंकारमुपादेयं न दृश्यताम् ॥ ८ ॥ [३५२]

समाधिमें उपादानब्रह्मका दर्शन सर्वसम्मत है। तब उपादेय जगत् नहीं दीखे यह हो नहीं सकता। तन्तु दीख रहे हैं। तन्तुस्थ पट नहीं दीख रहा यह कैसा ? भूतभविष्यदर्शन तो सविकल्पक में इच्छा होनेपर होता है, निर्विकल्पकमें नहीं, यह बात जान लेना होगा ॥ ८ ॥

जगदुपादानकारणं ब्रह्म। तद् दृश्यते समाधौ। तदुपादेयं जगन्न दृश्यत इति चित्रं स्यात्। सूक्ष्मत्वात् कारणं परमाण्वादिकं न दृश्यते स्थूलो घटादिर्दृश्यत इति युक्तम्। न पुनः सूक्ष्मं दृश्यते न तु स्थूलमिति। एवं च समाधौ सूक्ष्मस्य परमात्मनो दर्शने तदुपादानकं जगत् कथं न दृश्येत। ततश्च मिथ्यात्वेन बाध एव घटादेः समाधौ। न च समाधौ भूतं भविष्यच्च पश्यन्ति योगिन इत्यपि शास्त्रप्रसिद्धमेवेति वाच्यम्। सविकल्पकसमाधावेव तद्दर्शनात्। स्वेच्छया तद्दर्शनप्रयत्ने दृश्यते ईश्वरस्यापि जगद्दर्शनसत्त्वात्। निर्विकल्पके तु न भवत्येव दर्शनं जगतः लेशाविद्योद्भवाभिभवाभ्यां दर्शनादर्शनयोर्नियमः ॥ ८ ॥

समष्टिदृष्टिसृष्टार्थे व्यष्टिसृष्टिः प्रवर्तते।
व्यावहारिक आद्यः स्यात् प्रायोऽन्त्यः प्रातिभासिकः ॥ ९ ॥ [३५३]

ईश्वरदृष्टिसृष्टिका अर्थ है समष्टिदृष्टिसृष्टि। समष्टि और व्यष्टिमें अत्यन्त भेद नहीं होता। अतएव समष्टिदृष्टिसृष्टका दर्शन व्यष्टिको होता है। उसमें फिर व्यष्टि अपनी सृष्टि अलग भी करता है। समष्टिदृष्टिसृष्टि व्यावहारिक होती है। व्यष्टिदृष्टिसृष्टि क्वचिद् व्यावहारिक और क्वचित् प्रातिभासिक होती है॥ ९॥

समष्ट्यविद्यारूपमायोपाधिकेश्वरसृष्टार्थे व्यष्टिसृष्टिः पृथक् प्रवर्तते। तेन परस्परप्रत्यभिज्ञानेऽपि पार्थक्यमप्यस्ति। ईश्वरसृष्टं व्यावहारिकम्। जीवसृष्टं तु प्रायः प्रातिभासिकं भवति॥ ९॥

शततन्तुकवासोवन्न भिन्नं व्यावहारिकम्।
एकतन्तुक्षय इव नैकबाधोऽर्थनाशकृत्॥ १०॥ [३५४]

सौ तन्तुओंकी समष्टिसे बना हुआ कपड़ा प्रत्येक तन्तुभेदसे भिन्न नहीं होता। एक ही कपड़ा होता है और वह व्यावहारिक भी होता है। उनमेंसे एक तन्तु नष्ट हो गया तो भी कपड़ा रह ही जायेगा। वैसे एक जीवने बाध किया और वह मुक्त हुआ तो भी जगत् तो रहेगा ही॥ १०॥

शततन्तुनिर्मितवास एकमेव। तद्वत्समष्टिकृतमेकमेवेति न परस्परप्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। एकतन्तुनाशे तद्घटितशततन्तुपटनाशेऽपि शेषतन्तुकपटस्तिष्ठत्येव प्रत्यभिज्ञायमानः। एवमेकाऽविद्यानाशेऽपि तद्घटिततदीयजगद्बाधेऽपि शेषाविद्याकृतं जगत् प्रत्यभिज्ञायमानं तिष्ठत्येव। एवं च वाचस्पतिमतेऽपि नानुपपत्तिगन्धः॥ १०॥

अनन्तत्वाच्च जीवानां न न्यूनाधिकभावभाक्।
तथापि तत्तद्घटितं जगन्मुक्तेन बाध्यते॥ ११॥ [३५५]

जीव एवं जीवोपाधि अविद्या अनन्त होनेसे तत्समष्टिरूप मायासे निर्मित जगत्में घटाव-बढ़ाव नहीं होता। (इसका निरूपण अन्यत्र द्रष्टव्य है) अतएव समाधिकालमें बाध होनेपर घट गया और व्युत्थानकालमें जगत् बढ़ गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर तत्तदविद्याघटितसमष्टिनिर्मित जगत् तदविद्याविरहकालमें नहीं रहेगा। जैसे एक

तन्तु नष्ट होनेपर कपड़ा भले रहे किन्तु शततन्तुक पट नहीं रहेगा। नवनवतितन्तुक पट ही होगा। यही "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" इस सूत्रका रहस्य है। अतएव वाचस्पत्यमतमें प्रत्येक जीवका संसार अलग है इस कथनका भी गूढ़ रहस्यार्थ है॥ ११॥

ननु समाधौ जगद् लिश्येतैकतन्तुनाशे सति पटवत्। व्युत्थाने च वर्धेत तन्तुवर्धने पट इव। मैवम्। अनन्तत्वाज्जीवानां तदुपाधीनाञ्चाविद्यानाम्। न ह्यनन्तं लिश्यते वर्धते वा। तथापि एकतन्तुनाशे तद्घटितपटनाशवदेकस्मिन्मुक्ते तदविद्याघटितमायाजनितजगन्न तिष्ठत्येवेति॥ ११॥

लेशाऽविद्यानुवृत्त्यां तु शिष्यादीन् वीक्षते गुरुः।
तन्मोहशोकहतये ब्रह्म बोधयते च तान्॥ १२॥ [३५६]

विदेहमुक्तिसे पूर्व लेशाविद्यानुवृत्ति होती है। जिसका निरूपण आगे होगा। उससे गुरु शिष्यादिको देखता है। उनके व्यावहारिक शोकमोहादिको भी समझता है। व्यावहारिक ही निवृत्ति स्वयंके मोहादिकी हुई और शिष्यादिकी भी अपेक्षित है। अतः तदर्थ शिष्योंको ब्रह्मोपदेश करना भी उपपन्न है॥ १२॥

जीवानां परस्परभेदस्यानादिसिद्धत्वादेव न गुर्वज्ञाननिवृत्त्या शिष्याज्ञाननिवृत्तिः। गुरोर्लेशाविद्यानुवृत्तेश्च शिष्यादिसकलजगद्दर्शनं भवति। ततश्च शिष्याज्ञाननिवृत्त्यर्थं ब्रह्मोपदेशोऽपि तं प्रति युज्यते। स्वयमपि स्वस्य व्यावहारिकाज्ञानदुःखादिनिवृत्त्यर्थमेव प्रयतितत्वात्॥ १२॥

यश्चासौ स्थाणुपुरुषः प्रातिभासिक एव सः।
न तस्य सुखदुःखादि कुतोऽस्मा उपदिश्यताम्॥ १३॥ [३५७]

स्थाणुपुरुष तो प्रातिभासिक है। सर्वथा मिथ्या है। उसको सुखदुःखादि होता नहीं तो उसको क्यों उपदेश देने लगे॥ १३॥

शिष्यस्य मिथ्यात्वात् स्थाणुपुरुषं प्रतीव विदुषः शिष्यं प्रत्यप्युपदेशो न स्यादिति चेद्। हन्त। अनवलोकितवेदान्तसिद्धान्त एवं ब्रूते। स्थाणुपुरुषादयः प्रातिभासिका भवन्ति। न तेषां सुखदुःखादयः। शिष्यादयस्तु

व्यावहारिकसत्ताकाः । तेषां सन्ति सुखदुःखादय इति तन्नाशार्थं कुतो नोपदेशसार्थक्यम् ॥ १३ ॥

न स्थाणुपुरुषः पार्थः प्रतिबिम्बं हरेर्न च ।
व्यावहारिकनानात्वादुपदेशोऽस्य युज्यते ॥ १४ ॥ [३५८]

पूर्वपक्षः—श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतोपदेश किया । ब्रह्मभिन्न मिथ्या होनेसे स्थाणुपुरुषको जैसे उपदेश नहीं दिया जाता वैसे अर्जुनको उपदेश देना कैसे संगत होगा । दूसरी बात ईश्वरका प्रतिबिम्ब जीव है । अपने प्रतिबिम्बको पागल भी उपदेश नहीं करेगा । उत्तरपक्षः—प्रातिभासिक व्यावहारिकभेद पहले हम बता चुके हैं । अर्जुन स्थाणुपुरुषके समान प्रातिभासिक नहीं है । और प्रतिबिम्बवादमें भी जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है, कृष्णका नहीं । ईश्वरका प्रतिबिम्ब जीव है इस पक्षमें भी निराकार-मायोपाधिक ईश्वर निराकार है । उस ईश्वरका मायाप्रयुक्तशरीर-विशेषविशिष्टरूप या अवताररूप कृष्ण ईश्वरसें किंचित् भेद युक्त है । वस्तुतः भाष्यकारने 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' इस सूत्रके भाष्यमें तथा तैत्तिरीयादि भाष्यमें प्रतिबिम्बपक्षका समर्थन नहीं किया । सूर्यप्रतिबिम्ब दृष्टान्तमात्र बताया । माया अविद्या उपाधिप्रयुक्त अनादि नानात्व ही स्वीकृत है । प्रतिबिम्बसत्यपक्षमें उपाधिस्थत्व, द्वित्वादि काल्पनिक है । उपाधिविशिष्टत्वेन रूपेण ही भेद मान्य है । प्रतिबिम्बमिथ्यात्वपक्षमें स्वनाश पुरुषार्थ न होनेसे बिम्ब, प्रतिबिम्ब, उपाधि इन तीनोंके परस्पर-तादात्म्यापन्नरूप ही जीव है । अत एव मूलसे अनादिसिद्ध भेद है । अतः अन्ततः लघुभूतं पक्ष प्रथमोक्त ही है । समझनेका तरीकामात्र भिन्न-भिन्न है ॥ १४ ॥

नन्वेवमर्जुनमुद्दिश्य श्रीकृष्णस्योपदेशः कथं घटते । नहि स्थाणु-पुरुषमुद्दिश्योपदेशो भवति । न च स्थाणुपुरुषवन्न पार्थो मिथ्येति वाच्यम् । ब्रह्मभिन्नत्वेन सर्वस्य मिथ्यात्वात् । किं चेश्वरप्रतिबिम्बं जीवः । न हि दर्पणे स्वप्रतिबिम्बमुद्दिश्य कश्चिदप्यनुन्मत्तस्तत्त्वज्ञानमुपदिशतीति चेन्न । प्रातिभासिकव्यावहारिकभेदस्योपपादितत्वात्पार्थस्याऽप्रातिभासिकत्वात् । यत्तु प्रतिबिम्बं प्रत्युपदेशो न घटत इति । तन्न । न हि श्रीकृष्णप्रतिबिम्बरूपः

पार्थः । प्रतिबिम्बवादेऽपि ब्रह्मप्रतिबिम्बं वा मायोपाधिनिराकारेश्वर-प्रतिबिम्बं वा जीवो न तु कृष्णप्रतिबिम्बम् । न चेश्वरो नारायण एव कृष्ण इति वाच्यम् । नारायणावतारमात्रत्वात् । नारायणश्रीकृष्णयोर्भेदस्य भागवतादौ दर्शितत्वात् । वस्तुतस्तु दर्पणादिप्रतिबिम्बवन्न जीवो जडः । किन्तु तत्प्रतिबिम्बसादृश्यमात्रमिति प्रतिबिम्बव्यपदेशः क्रियते सुबोधाय । भाष्यकारैः तादृशप्रतिबिम्बपक्षस्यासमर्थनात् मायाऽविद्यादिकृतविलक्षणा-नादिभेदमात्रस्य तत्र स्वीकारादित्यन्यत्र विस्तरः ॥ १४ ॥

ब्रह्मप्रबोधबाध्यत्वान्मिथ्या मन्यामहे जगत् ।
द्वैतिनां दुश्चिकित्स्यैषा प्रातिभासिकभूतभीः ॥ १५ ॥ [३५९]

ब्रह्मप्रबोधसे जगत् बाध्य है अतः हम इस जगत् को मिथ्या मान रहे हैं । द्वैतियोंके सिरपर प्रातिभासिकताका भूत चढ़ा है जिसको लेकर निरर्थक शंका करते हैं ॥ १५ ॥

कथं तर्हि सुखदुःखादिकार्यं जनयतो मिथ्यात्वम् ? न ह्यनिर्वचनी-यत्वमात्रेण मिथ्यात्वं वक्तुं युक्तम् । निर्वचनाऽसामर्थ्यं पुरुषदोषः स्यान्न तु वस्तुदोषः । अल्पमतिभिरविज्ञेयमपि तत्त्वं महामतिभिर्ज्ञायते । न हि पिपीलिकानां सहस्राणामपि शब्दसंत्त्वनिरसनेनशब्दासत्त्वं सिद्ध्यति । कुतः ? सकर्णैः श्रूयमाणत्वात् । पिपीलिकानां कर्णविरहात् । एवं देवादिषु लोकान्तरवासिषु वाऽतिरिक्तविलक्षणेन्द्रियं वा तादृशमनो वा यदि स्यात्तदाऽस्माकमनिर्वचनीयमपि तेषां निर्वचनीयत्वमापद्यत इति चेन्न । "पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः" इति वचनान्महापुरुषै-र्मनुष्यैर्योगिप्रभृतिभिश्चाविज्ञेयतत्त्वस्य देवादिभिरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् । अनिर्वचनीयमेव ततो जगदिदं स्वभावत इति वस्तुदोष एवैषः । न तु पुरुषदोषः । किं च ब्रह्मप्रबोधबाध्यत्वाज्जगन्मिथ्यात्वसिद्धिर्भवति । तदेतदनुपदमुपपादितम् । द्वैतिनस्तु मिथ्याशब्दस्य प्रातिभासिकमात्रार्थतां मन्यमाना वृथैव जल्पन्ति । एवंविधप्रातिभासिकत्वात्मकमिथ्यात्वभूतभयं दुश्चिकित्स्यमेव तेषाम् ॥ १५ ॥

तत्तदज्ञानहरणात् तत्तद्दुःखभयक्षयः ।
न गुरुज्ञानतः शिष्या-ऽज्ञानदुःखभियां क्षयः ॥ १६ ॥ [३६०]

अज्ञानके नाशसे जिसका वह अज्ञान था उसीके दुःख एवं भयादिका क्षय होता है । गुरुके ज्ञानसे शिष्यके अज्ञानादि क्यों नष्ट होने लगे ? ॥ १६ ॥

व्यावहारिकभेदस्याभिहितत्वाद् यस्याज्ञानं विलीयते तस्यैव शोकदुःख-भयादिक्षयो भवति । न तु गुरोर्ज्ञानेन शिष्याज्ञाननिवृत्तिस्तदीयदुःखादि-निवृत्तिर्वा भवति ॥ १६ ॥

[न चैकस्य प्रबोधेन सर्वसंसृतिनिर्हृतिः ।
न ह्येकतन्तुविगमात् कृत्स्नवस्त्रनिराकृतिः ॥]

एकके ज्ञानसे सबके संसारका नाश नहीं होता । एकतन्तु नष्ट होनेसे पूरा वस्त्र समाप्त नहीं होता ।

यदि किलैकस्य रज्जुज्ञानेनापरस्याज्ञानतत्कार्यसर्पनिवृत्तिर्न भवति तदा व्यावहारिक एकस्य ब्रह्मज्ञानात् कथं सर्वसंसारनिवृत्तिः स्यात् । न ह्येकतन्तुविगमेन तत्तन्तुघटितपटविगमेऽपि तन्त्वन्तरघटितपटक्षयो भवति ।

बोधेऽपि तिष्ठेत् प्रारब्धाल्लेशाविद्या हि सात्त्विकी ।
मायाप्यनादिरीशस्य तथैवास्तेऽधिकारतः ॥ १७ ॥ [३६१]

बोध होनेके बाद भी प्रारब्धके कारण लेशाविद्या रहती है । वह सात्त्विक होनेके कारण अन्धकारोपम नहीं है । उसीसे ज्ञानी जगत्को देखता है । ईश्वरकी अविद्यास्थानापन्न माया है । वह भी सात्त्विक है । जबतक सृष्टिस्थिति संहार का अधिकार है तब तक माया रहती है । पूर्वपक्षः—प्रारब्ध होनेपर लेशाविद्या रहेगी लेशाविद्या हों तो मूलोपादान होनेसे प्रारब्ध रहेगा यह अन्योन्याश्रय है । उत्तरपक्षः—नहीं । प्रारब्ध तो है ही, उसे बनाना नहीं है । लेशाविद्या भी नयी उत्पन्न नहीं होती । वह भी पहलेसे है । प्रारब्धप्रतिबद्ध होनेके कारण लेशाविद्या विद्या होनेपर भी, स्थूलाविद्या नष्ट होनेपर भी रह जाती है । जैसें बरफसे प्रतिबद्ध जल मरुभूमिमें पड़नेपर काफी देर पड़ा रहता है । अन्य जल सूख जाता है ॥ १७ ॥

ननु ब्रह्मज्ञाने सति अविद्यानाशाज्झटित्येव ज्ञानिनो विश्व-विलयात्तस्याचार्यत्वादिकं न संभवति । न वा शिष्यादिदर्शनमिति चेन्न । प्रारब्धवशेन लेशाविद्यायाः सात्त्विक्या अवशेषणात् । तथा च श्रुतिः "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति । न च प्रारब्ध-स्याविद्यिकत्वात्तदपि ज्ञानेन नश्येदेव । अन्यथा तन्नाशकाभावेन द्वैता-पत्तिरिति वाच्यम् । यतो ज्ञानं ह्यज्ञानविरोधि । न तु प्रारब्धादिविरोधि । तत्र प्रारब्धांशाऽविद्या न ज्ञानेन निवर्तते । न चैवं प्रारब्धनाशकाभावाद् द्वैतापत्तिरिति वाच्यम् । भोगेन तन्नाशोपगमात् । तदा च प्रारब्धान-वष्टम्भादविद्या विद्यया निवर्तते । तथा चोक्तं—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपत्स्यत" इति । ननु चैवं प्रारब्धं ज्ञानानाश्यत्वान्मिथ्या न स्यात् । तथा सति संप्रति द्वैतसत्यत्वं मन्तव्यमेव स्यादिति नित्याद्वैतत्वं ब्रह्मणो न स्यात् । किं च प्रारब्धं कस्य कार्यमिति वक्तव्यम् । तस्यापि सत्यत्वात्तन्निवृत्त्यभावेन द्वैतं सदा तिष्ठेत् । न चाज्ञानतत्कार्यत्वं प्रारब्धस्य त्वया शक्यं स्वीकर्तुम् । ज्ञानेन मूलनाशे कार्यानुपपत्तेः । प्रारब्धसत्त्वान्मूलाज्ञाननाशः, मूलाज्ञाना-नाशात्प्रारब्धसत्त्वमित्यन्योन्याश्रयापत्तेश्चेति चेन्न । मरुभूमेर्जलशोषकत्वेऽपि करकाद्यवष्टब्धजलं सा न शोषयति । करकभावविगमे च शोषयति । करकस्य जलकार्यत्वेऽपि न तत्रान्योन्याश्रयस्तथात्रापि श्रुत्यदिबलादुपगन्त-व्यत्वादित्युपपादितं प्रागेवास्माभिः । यथा प्रबोधसत्त्वेऽपि प्रारब्धस्थानीयाधि-कारावष्टब्धा मायाऽनादितः प्रवर्तमाना वर्तते इति सृष्ट्यादिव्यवहार-सिद्धिः ॥ १७ ॥

विनोत्कृष्टात्मसाक्षात्त्वं नाविद्योच्छेदसंभवः ।
सत्यप्यल्पे प्रकाशे हि गृहादौ दृश्यते तमः ॥ १८ ॥ [३६२]

वास्तविक बात यह है कि उत्कृष्ट आत्मसाक्षात्कारके विना अविद्याका उच्छेद संभव नहीं है । जैसे अल्पप्रकाश होनेपर भी घरमें दिनमें भी थोड़ा अन्धकार रहता है ॥ १८ ॥

वस्तुतस्तूत्कृष्टसाक्षात्कारं विना नाविद्याया सर्वथोच्छेदः । सत्यपि प्रकाशे वस्तुषु दृश्यमानेष्वपि गृहादौ तमोऽपि दिवसे विलोक्यत एव ॥ १८ ॥

उत्कर्षो जातिभेदोऽयं साक्षात्त्वव्याप्यलक्षणः ।
वर्तते चरमेष्वेव ज्ञानेषु ज्ञानिनां सताम् ॥ १९ ॥ [३६३]

उत्कृष्टत्व यह साक्षात्कारत्वकी व्याप्य जातिविशेष है । और यह चरम ज्ञानोंमें ही रहेगी । यह कहें कि चरमज्ञान एक ही होता है तो उत्कृष्टत्व जाति किसप्रकार ? उत्तर है कि ज्ञानी असंख्य हो सकते हैं । उनके चरम ज्ञान भी असंख्य हैं ॥ १९ ॥

उत्कर्षं उत्कृष्टत्वं जातिविशेषः साक्षात्कारत्वव्याप्यो भवति । स च चरमसाक्षात्कारेष्वेव भवति । न च चरमसाक्षात्कारस्यैकत्वादुत्कृष्टत्वं न जातिविशेषः स्यादिति वाच्यम् । ज्ञानिनां बहुत्वेन चरमज्ञानानामपि बहुत्वात् । चरमत्वं च न मरणपूर्ववर्तित्वम् । सामान्यज्ञानस्यापि तदुद्-भवोत्तरक्षणपुरुषमरणे चरमत्वसंभवात् । किन्तु मोक्षपूर्वक्षणवर्त्तित्वमेव । तदा च विलक्षणं ज्ञानमुत्पद्यते । यत्सर्वाविद्यातत्कार्योच्छेदकं भवति ॥ १९ ॥

दीर्घकालानवरतसत्कारासेवितात् पुनः ।
श्रवणादेर्भवेज्ज्ञानमेतदुत्कृष्टमात्मदम् ॥ २० ॥ [३६४]

प्रथम श्रवणादिसे सामान्यज्ञान होगा । दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा से श्रवणादिकी आवृत्ति करते रहनेसे आखिरमें वह उकृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

श्रवणादीनां दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनादेव तादृशमुत्कृष्टमात्मप्रदं ज्ञानं भवति ॥ २० ॥

उत्कृष्टज्ञाननिष्पत्तौ प्रारब्धं प्रतिबन्धकम् ।
तस्य तावच्चिरं यावन्न विमोक्ष्य इति श्रुतेः ॥ २१ ॥ [३६५]

साधारण उत्तम साक्षात्कार तो श्रवणादि आवृत्तिसे होगा । किन्तु उत्कृष्ट चरम ज्ञानके प्रति प्रारब्ध प्रतिबन्धक होता है । यही "तस्य तावदेव चिरं" इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

तादृशोत्कृष्टज्ञाननिष्पत्तौ प्रारब्धं प्रतिबन्धकमित्येव 'तस्य तावदेवे'-त्यादिश्रुतेरर्थः । चरमज्ञानबाध्यत्वं सर्वस्येति तद्योग्यता-सत्त्वात्प्रारब्धस्यापि मिथ्यात्वं दण्डध्वंस्तघटवत् । २१ ॥

उत्तमं प्रंखरज्ञानं तत्पूर्वमपि जायते ।
ततो गुरुत्वं गुरुषु सार्वज्ञादि महेश्वरे ॥ २२ ॥ [३६६]

चंरमज्ञानसे पहले भी अभ्यासादिसे उत्तम प्रखर ज्ञान हो सकता है। उसीसे गुरुओंमें गुरुत्व है। अनादिसिद्ध उस प्रखरज्ञान से ईश्वरमें सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व नित्यमुक्तत्वादि है। जीवोंमें जीवन्मुक्ति भी उसीसे है ॥ २२ ॥

ननु चरमज्ञानमेव यद्युत्कृष्टं तदा तत्पूर्वमुत्कृष्टज्ञानविरहादाचार्यत्वं न स्यात् ईश्वरस्य चेश्वरत्वं न घटेतेति चेन्न । उत्कर्षजातिविशिष्टज्ञानाभावेऽपि प्रखरोत्तमज्ञानस्य पूर्वमपि संभवेन तावतैवोपदेष्टृत्वनिर्भयत्वादिसंभवात् । तावतैव जीवन्मुक्त्याद्युपपत्तेः ॥ २२ ॥

मायाया विरहे नैव मायावृत्तिर्भवेद्धरेः ।
सर्वज्ञत्वं कथंकारं सर्वस्याभावतो भवेत् ॥ २३ ॥ [३६७]

कुछ लोगोंका कहना है कि परमेश्वर का नित्यबोध है। वह उत्कृष्ट ही होगा तब माया कैसे रहेगी ?। इसका उत्तर है—माया न हो तो मायावृत्ति नहीं होगी। सर्वज्ञता भी नहीं होगी। सर्व ही न हो तो सर्वज्ञता कैसे होगी। अतः 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' मान्य होनेसे अन्तमें ही उत्कृष्ट ज्ञान भी होगा ॥ २३ ॥

यस्त्वीश्वरस्य नित्यबोधसत्त्वान्मायां न मन्यते तन्मते मायाविरहात्कथं मायावृत्तिप्रयुक्तं सर्वज्ञत्वं स्यात् । उपादानविरहेण सर्वस्य जगतोऽपि विरहात्का नाम सर्वज्ञता स्यात् । तस्मादीश्वरस्य माया च तत्कार्यं च वर्तत इति ज्ञानिगुरुवदेव श्रीकृष्णादेरीश्वरस्यापि उपदेष्टृत्वादिकं संभवत्येव ॥ २३ ॥

अनिर्वाच्यत्वरूपेण विश्वं पश्यन् महेश्वरः ।
रचयन् पालयन्नास्ते संहरंश्चैव लीलया ॥ २४ ॥ [३६८]

जगत् को अनिर्वाच्यरूपसे ईश्वर अनादिकालसे ही देखता है। संकल्पसे रचता है, पालन करता है, अन्तमें संहार भी करता है। संकल्पलीलामात्रसे ही सब होता है ॥ २४ ॥

अनिर्वाच्यत्वरूपमिथ्यात्वव्याप्यव्यावहारिकसत्तारूपेण विश्वं प्रथमं स्वमायास्थं पश्यन् ईक्षणेन रचयन्, पालयन्, संहरंश्चानादिसिद्धाधिकारेण लीलया सर्वं कुर्वन् परमेश्वर आस्ते। स च न मायाभिभूतः। किन्तु मायां वशीकृत्य वर्तते। अत एव तस्य लीलैव सृष्ट्यादिकमित्युपपद्यते। माया च परमसात्त्विकीति सर्वज्ञत्वाद्युपपत्तिः। जीवन्मुक्तस्य लेशाविद्यापि प्रायस्तत्समानैव। परमसात्त्विकत्वान्न तदधीनो जीवन्मुक्तः। स च लीलयैव व्यवहारादिकं करोति प्रारब्धपरिसमाप्तिपर्यन्तम्। प्रारब्धविगमे तु निष्प्रारब्धया विद्यया सकलाविद्यानिवृत्तौ स ब्रह्मरूपेणावतिष्ठते। तदुक्तं 'परमार्थतस्तु मुक्तः सर्वज्ञत्वादिधर्मनिर्मुक्तम्।। विगलितसर्वविकल्पं विमलं ब्रह्मैव केवलं भवति' इति। माया तु तस्योपाधिः कदापि न भवतीति जगद्व्यापारवर्जमेव जीवन्मुक्तस्य कार्यम् ॥ २४ ॥

व्यष्टयः सन्ति यावच्च तावदीशोऽधिकारयुक्।
तदानन्त्ये तदानन्त्यं तदन्तश्चेत्तदन्तवान् ॥ २५ ॥ [३६९]

व्यष्टि जीव जबतक है तबतक ईश्वर सृष्टिआदिमें अधिकृत है। यदि व्यष्टि अनन्त है—अपरिसमापनीय है तो ईश्वराधिकार भी अनन्त है। यदि कदाचित् सर्वमुक्ति हो तो ईश्वराधिकार भी समाप्त होगा। वह ब्रह्मरूपसे अवस्थित होगा ॥ २५ ॥

नन्वीश्वरस्याधिकारसमाप्तिर्भवति न वा। यदि भवति तदा सृष्टिर्न स्यात् तदुत्तरम्। यदि न भवति तदा जीवस्तत उत्कृष्टतरः। ब्रह्मरूपेणावस्थानादिति चेद् उच्यते। यावत्पर्यन्तं व्यष्टिरूपजीवात्मानः सन्ति तावत्पर्यन्तं भगवतोऽधिकारोऽप्यस्ति। यदि व्यष्टीनामानन्त्यमेव न तु ते समाप्नुवन्ति तदा भगवतोऽप्यनन्तकालस्थितिरेव। यदि तु व्यष्टयो मुच्यमाना अन्ते समाप्तिं गच्छन्ति तदाऽन्तिमव्यष्टिरीश्वररूप एव स्यादिति तन्मुक्तिकालमीश्वरमुक्तिरेव। अत्र चेश्वर एव सर्वज्ञः स्वयं विचारयिष्यति। न च जीवस्योत्कृष्टतरत्वं शङ्क्यम्। तन्मुक्तौ जीवभावविरहात्। न हि वसिष्ठादय आधिकारिकपुरुषाः स्वविदेहताविरहकाले स्वीयमपकर्षं मन्यन्ते। ईश्वरस्य पुनः परमस्वातन्त्र्यात् लीलामात्रकारिणः को नामापकर्ष इति ॥ २५ ॥

मायया दृष्टिसृष्टिः स्यात्तद्वृत्त्यानुभवोऽस्य च ।
ब्रह्म तत्सच्चिदानन्दं धर्माधर्मविवर्जितम् ॥ २६ ॥ [३७०]

मायांसे ईक्षणात्मक दृष्टिसृष्टि होती है । मायावृत्तिसे ईश्वर उसका अनुभव करता है । ब्रह्म तो सच्चिदानन्दरूप है । उसमें सर्वज्ञत्वादिरूप धर्म या सर्वज्ञत्वाभावादिरूप अधर्म कुछ भी नहीं है । उसके समानसत्ताक अन्य कुछ है ही नहीं ॥ २६ ॥

तदयं निष्कर्षः—अनादिमायया परमेश्वरो दृष्टिसृष्टिं विधत्तेऽनादिसिद्धाधिकारात् । ततो मायावृत्त्यैव शुद्धसत्त्वया सर्वं पश्यति । तन्मायाघटकीभूतत्रिगुणव्यष्टिरूपाऽविद्यया जीवोऽप्यनादिः । व्यष्टित्वादेवेश्वरदृष्टिसृष्टमपि जगदयं पश्यति । अन्यथाऽन्यदृष्टिसृष्टस्यान्येन दर्शनानुपपत्तेः । व्यष्टीयसत्त्वगुणस्य तमोगुणेन मालिन्यात्तदावरणतो न जीवो ब्रह्म दृष्टुं प्रभवति । ब्रह्म तु पुनः सच्चिदानन्दैकरसं परमपुमर्थरूपम् । नास्य सर्वज्ञत्वादिधर्मः । नापि तदभावादिरूपऽधर्मः स्वसमानसत्ताकः ॥ २६ ॥

एतत्तत्त्वमजानन्तः कुतर्कोत्तुङ्गशृङ्गतः ।
हन्त हन्तुमभीप्सन्तः पच्यन्तेऽत्र परत्र च ॥ २७ ॥ [३७१]

परमार्थतत्त्वको जाने विना कुतर्करूपी लंबे सींगसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले ईर्ष्याद्वेषमें यहीं जल रहे हैं, उस पापसे परलोकमें जलते रहते हैं ॥ २७ ॥

एतत्पूर्वोक्तं परमार्थतत्त्वमजानन्तः पापप्रयुक्तपूर्वाग्रहवशात् कुतर्कमात्रपरायणा गुरुज्ञानेन शिष्याणां कृतार्थत्वादिकमारोपयन्त इहैव ईर्ष्याद्वेषादिदावदहने पच्यन्ते । परमार्थपरब्रह्मखण्डनमनस्कताप्रयुक्तमहापापेन परत्र च निरयेषु पच्यन्ते । इत्यहो मोहमहिमा । 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति श्रुतेः श्रद्धैकसमाधिगम्यमिदं तत्त्वं सद्गुरुशरणैरेवाप्तव्यमिति ॥ २७ ॥

व्यावहारिकभिदावशादियं
संविदेव विविधात्मभाविनी ।
तत्तदावरणभञ्जनादिभि
र्देश्यदेशिकविधामुपाश्नुते ॥ (अ) ३४ ॥

व्यावहारिक भेदसे संवित् ही नानारूप धारण करती है । विद्यासे तत्तत् आवरणका निवारण हुआ तो जिसका हुआ वह गुरु और जिसका नहीं हुआ वह शिष्य इस प्रकार संवित् ही गुरुशिष्यभावको भी प्राप्त होती है ॥ (अ) ३४ ॥

लेशाविद्यामेत्य शुद्धं विशिष्टं
भिन्नाभिन्नं वीक्षमाणः श्रुतेर्यः ।
कारुण्याब्धिः शिष्यदुःखापहत्यै
व्याचष्टेऽर्थं सद्गुरुं तं प्रणौमि ॥ (आ) ३४ ॥

लेशाविद्याके कारण शुद्ध ब्रह्म तथा विशिष्टचेतन जीवमें ज्ञानसे अभिन्नता देखते हुए भी अनादिसिद्ध भेदको भी देखकर दुःखसागरनिमग्न शिष्यवर्गके व्यावहारिक दुःखको, जिसको निवृत्त करने स्वयं भी यत्न किया था, मिटाने के लिये करुणासागर जो गुरु श्रुतिरहस्य का वर्णन कर सुनाते हैं ऐसे सद्गुरुको हम प्रणाम करते हैं ॥ (आ) ३४ ॥

इत्युपदेशाद्युपपत्तिः

*****

(३५)
अथ ब्रह्मणः तिरोधानोपपत्तिः

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥ १ ॥ [३७२]

जीव, ईश्वर, शुद्धचैतन्य, जीवेश्वरादिका परस्पर भेद, अविद्या तथा अविद्याका चेतनके साथ संयोग ये छः अनादिपदार्थ माने जाते हैं ॥ १ ॥

ननु यद्येकमेव परं ब्रह्म, अग्रे नान्यत्किंचनासीत्तदा कथं तत्र जगदिदं नानात्मकमुत्पन्नम् ? न च माययेति वाच्यम् । मायासत्त्वे तस्या एव द्वितीयत्वादद्वितीयत्वानुपपत्तिः । सापि पूर्वं नासीच्चेत् सैव कथमुत्पन्ना ? तत्राज्ञानान्तरं चेदनवस्थामात्रमद्वितीयत्वासिद्धिश्चेति चेन्न । पारमार्थिकत्वेन

द्वितीयाभावस्य विवक्षितत्वात् । अनादिकल्पितास्त्वभ्युपगम्यन्ते । तथा च शास्त्रकृद्भिर्जीवादयः: षडनादय उदाहृताः । तत्र जीवो नामाविद्यावच्छिन्नं चैतन्यम् । ईशो नाम मायावच्छिन्नं चैतन्यम् । मायाविद्यातत्कार्यासंस्पृष्टं ब्रह्मचैतन्यं शुद्धा चित् । जीवेश्वरादिभेदः प्रायः प्रात्यक्षिकोऽनादिसिद्धाध्यासनिबन्धनत्वादनादिरेव । अविद्येति मायाविद्ययोरेकीकृत्यकथनम् । अविद्यायाश्चित्सम्बन्ध आध्यासिकः । एते षडनादयः ॥ यद्यपि संसारोऽप्यनादिरेव । तथापि प्रवाहरूपेण । इमे पुनः स्वरूपेण । एवं च सति ब्रह्मणि कथं माया उत्पन्ना कथं तत्सम्बन्धो जातः इत्यादयः प्रश्ना नोत्तिष्ठन्ति ॥ १ ॥

कल्पितत्वात्मनाऽनादिसिद्धानां परमार्थतः ।
भेदादीनामभावात्तु न नोऽद्वैतं हि हीयते ॥ २ ॥ [३७३]

पूर्वपक्षः—यदि ये छः अनादि हैं तो द्वैत स्पष्ट है । उत्तरपक्षः—नहीं । कल्पितत्वेन रूपेण ये द्वितीयादि अनादिसिद्ध हैं । परमार्थरूपसे इनका अभाव है, अतः अद्वैतहानि नहीं है ॥ २ ॥

कल्पितत्वेन रूपेणैवेमेऽनादयः इति नाद्वैतहानिः, पारमार्थिकत्वेन रूपेण भेदादीनामभावात् ॥ २ ॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण मायाऽविद्ये स्थिते पृथक् ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्ह्युभयात्मिका ॥ ३ ॥ [३७४]

माया समष्टिरूप है, अविद्या व्यष्टिरूप है । उभयात्मक प्रकृति है जो सत्व, रज, तम ऐसे तीन गुणवाली है ॥ ३ ॥

मायाविद्योभयात्मिका प्रकृतिर्भवति । तत्र समष्टिरूपेण माया व्यष्टिरूपेण चाविद्या पृथक् स्थिता ॥ ३ ॥

शुद्धसत्त्वप्रधाना तु माया गाढावृतिर्न सा ।
लेशाविद्यासमानैव ततः सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ ४ ॥ [३७५]

माया शुद्धसत्त्वप्रधाना है अत एव उसका आवरण गाढ़ नहीं है । वह तत्त्वज्ञानीकी लेशाविद्याके सदृश है । अतएव व्यापक मायासे ईश्वर सर्वज्ञ है ॥ ४ ॥

तत्रेश्वरोपाधिभूता माया शुद्धसत्त्वप्रधाना भवति । अत एव न गाढावरणरूपा । किन्तु जीवन्मुक्तानां या लेशाविद्या तत्समाना भवति । ततश्चेश्वरः सर्वज्ञः । सर्वविषयकसात्त्विकमायावृत्तिमत्त्वात् । अखण्डाकारवृत्तिश्च तस्य भवतीति ब्रह्मविदपि । तथापि लेशाविद्यायां यथा बाधितप्रपञ्चादिदर्शनं भवति सत्यामप्यखण्डाकारवृत्तौ तथा जगद्दर्शनं तदनुकूलेक्षणादिकं च भवत्येव । न पुनर्बन्धनं तस्य । आधिकारिकपुरुषवदेव सः ॥ ४ ॥

म्लानसत्त्वप्रधाना च स्यादविद्या तमस्विनी ।
भावरूपा तिरोधत्ते सा ब्रह्मार्कमिवाम्बुदः ॥ ५ ॥ [३७६]

अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान होती है । अर्थात् तमोगुण उसमें रहता है । वह भावरूप है । अतएव ब्रह्मको वह आच्छादित करती है जैसे बादल सूर्यको ॥ ५ ॥

मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृतिरविद्या भवति । तमोगुणप्रभावात्सत्त्वस्य मालिन्यम् । सा च भावरूपा । सैषा ब्रह्म तिरोधत्ते । यथा मेघो रविं तिरोधत्ते ॥ ५ ॥

ऐक्यमाध्यासिकभिदावशाद् यन्न प्रकाशते ।
तिरोधानं तदेवोक्तमखण्डस्य परात्मनः ॥ ६ ॥ [३७७]

अखण्ड परमात्मा आध्यासिक भेदोंके कारण अनेक दीखने लगा । ऐक्य उससे प्रकाशित नहीं होता । यही अखण्डात्माका आवरण या तिरोधान है ॥ ६ ॥

जीवब्रह्मणोराध्यासिकभेदवशादैक्यं न प्रकाशते । तदेव ब्रह्मस्वरूपतिरोधानं भेदात्मकमज्ञानप्रयुक्ततदभावात्मकम् । अखण्डं खलु ब्रह्म तेन सखण्डमिव भवति ॥ ६ ॥

नानावरणहेतोर्यत्तत्त्वं नास्य प्रकाशते ।
तिरोधानानि तान्येव ज्ञानानन्दात्मनः सतः ॥ ७ ॥ [३७८]

अविद्याकी आवरणशक्तियां नाना है । कोई अखण्ड सद्रूपताका आवरण करती है । दूसरी परमार्थचिद्रूपताका आवरण करती है । तीसरी

निरतिशय आनन्दका आवरण करती है । यही परमात्माका नाना तिरोधान है ॥ ७ ॥

अविद्याया आवरणशक्तयश्च नाना भवन्ति । तत्र काचिदखण्डसद्रूपतां पिधत्ते । अपरा परमार्थचिद्रूपताम् । इतरा निरतिशयानन्दरूपतां तिरोधत्ते । इत्थं च नानाविधान्येवावरणानि ॥ ७ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थाऽखण्डाकारात्मवृत्तितः ।
तिरोधानापनयतः स्वप्रभं तत् प्रकाशते ॥ ८ ॥ [३७९]

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे अखण्डाकार आत्मवृत्तिसे तिरोधान दूर हो जाता है तो स्वप्रकाश ही परमात्मा प्रकाशित होता है । यही आत्माका तिरोधान एवं उसके अपनयनसे प्रयुक्त प्रकाशन है ॥ ८ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्पन्नाखण्डाकारवृत्तितोऽज्ञानकृततिरोधानापनये स्वप्रकाशं तद् ब्रह्म प्रकाशते ॥ ८ ॥

नन्वैक्यमात्रावरणहरणं परमात्मनः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं स्यान्नैवं सर्वहरं हि तत् ॥ ९ ॥ [३८०]

पूर्वपक्षः—आपने कई आवरण बताये—अख़ण्डतावरण, सदावरण, चिदावरण इत्यादि । किन्तु इन सब आवरणोंको 'तत्त्वमसि' कैसे निवृत्त करेगा ? वह तो केवल आत्मपरमात्माखण्डतारूपी ऐक्यके आवरणका ही निराकरण करेगा । उत्तरपक्षः—इसीलिये पदार्थशोधक वाक्योंको सहकारी माना । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि तत्पदार्थशोधक है । "स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभे येनानुपश्यति" इत्यादि त्वंपदार्थशोधक है । इनसे सत्यज्ञानादिरूपसे उपस्थित कर उनकी एकता कहनेपर सर्वावरण निवृत्ति होगी । एतदर्थ ही इतने सारे तत्त्वंपदार्थशोधक वाक्य है ॥ ९ ॥

ननु तत्त्वमसिप्रभृतिभिर्महावाक्यैर्जीवपरैक्यमात्रं प्रतिपाद्यते । तेन ऐक्यावरणहरणमात्रं स्यान्न तु ज्ञानानन्दाद्यावरणं भञ्जयितुं तत्कल्पते इति चेन्नैवम् । पदार्थशोधकसहकारात् सकलावरणानि महावाक्योत्थं ज्ञानमपनयति । ततः ब्रह्म परं प्रकाशते ॥ ९ ॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥ १० ॥ [३८१]

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।
इति स्पष्टं भगवता पिधानादि निरूपितम् ॥ ११ ॥ [३८२]

पूर्वपक्षः—ज्ञानके सामने अज्ञान ठहरेगा ही नहीं । ब्रह्मरूपी ज्ञानको अज्ञान कैसे आच्छादन करेगा ? उत्तरपक्षः—ब्रह्मचैतन्य अनादि अविद्याका विरोधी नहीं है । वृत्तिसमारूढचैतन्य ही अज्ञाननाशक है । गीतामें यही तो स्पष्ट बताया—अज्ञानसे ज्ञान (ब्रह्मचैतन्य) आवृत हुआ और उसीसे प्राणी मोहापन्न हुए । ज्ञानसे (वृत्त्यवच्छिन्न ज्ञानसे) वह अज्ञान नष्ट होता है तो मेघके हटनेसे सूर्यके समान (ब्रह्मचैतन्यरूपी) ज्ञान प्रकाशित होता है ॥ १०-११ ॥

ननु ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधात्कथमज्ञानेन ज्ञानतिरोधानं स्यात् । ज्ञाने सति तदभावरूपाज्ञानावस्थित्यसंभवात् । न च, यत्र ज्ञानमस्ति तत्र ज्ञानाभावासंभवादज्ञानं नास्ति, यत्र ज्ञानं नास्ति तस्याऽप्रामाणिकत्वात्तत्र ज्ञानाभावकथनं विफलम्, समवायेन ज्ञानाभावविवक्षापि न संभवति, तच्छून्ये प्रस्तरादावयमज्ञः, अयमज्ञानीत्यादिव्यवहारविरहादप्राप्तनिषेधापत्तेरिति वाच्यम् । ज्ञानस्य सविषयकत्वात्तत्तज्ज्ञानाभावात्मकाज्ञानसंभवादिति चेन्न । अज्ञानस्य ज्ञानाभावरूपत्वानुपगमात् । भावरूपमेव तत् । तथा च भगवद्वचनम् 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानमि'ति । न ह्यभावेन कस्यचिदावरणं दृष्टं श्रुतं वा । तथा च भावरूपमेवाऽज्ञानम् । न चैवमपि ज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वात् कथं ज्ञानस्वरूपे आत्मन्यज्ञानस्य संभव इति वाच्यम् । दर्शितभगवद्वचनादेव ज्ञानाज्ञानयोः साक्षात् विरोधविरहसिद्धेः । न हि मृगरिपुं मृग एव बाधते । तदिदमज्ञानं ज्ञानेन निवार्यते वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मकेन । तदप्युक्तं भगवता । 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमि'ति । ज्ञानं पूर्वमेव विद्यते चेत् कथमुपगच्छदवस्थायामेवाज्ञानं न नाशयति । तस्माद् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मकज्ञानेनाऽज्ञानं येषां नाशितमित्यर्थः प्रतीयते । प्रतिपादितं चेदं प्राक् ॥ १०-११ ॥

भावरूपं प्रवक्ष्यामोऽज्ञानं गीतानुकूल्यतः ।
तस्याभावत्वपक्षे हि दोषपूगपराक्रमः ॥ १२ ॥ [३८३]

अज्ञान भावरूप है यह हम आगे सिद्ध करेंगे । "अज्ञानेवृतं ज्ञानं" यह गीतावचन भी तदनुकूल है । अभाव किसीको आवृत नहीं करता । अज्ञानको जो अभावरूप मानते हैं उन्हींके मतमें दोषोंका आक्रमण होता है ॥ १२ ॥

यत्तु किमिदं तिरोधानम्—इन्द्रियसम्बन्धनिवारणं वा तज्जन्यज्ञान-विषयतानिवर्तनं वा ज्ञानसामान्यविषयतानिवर्तनं वा स्वकर्मत्वविरहो वा स्वप्रकाशभङ्गो वा प्रकाशवैसामग्र्यं वेत्यादि विकल्पितं तत्सर्वमनुक्तो-पालम्भमात्रं ज्ञानाभावरूपत्वमज्ञानस्य मन्यमानानां मते एव प्रायो घटते । "तमसा गूढमग्रे"इति श्रुतौ यद्गूहनमभिहितं तदेव तिरोधानम् । तत्स्वरूपं किदृशमिति चेत् ? अनादिसिद्धव्यावहारिकभेदस्य जीवस्य ब्रह्मप्रकाशा-वरोधनमेवेति ब्रूमः । प्रत्युत भवन्मते विद्यते हि जीवेऽप्यन्तर्यामितया तद् ब्रह्म । तत्र किं व्यवधानं येन तन्न प्रकाशते न हि व्यवधानेऽन्तर्यामित्वं संभवति । जीवस्याणुत्वेनान्तर्भागविरहेणाव्यवधानस्थितेरेवान्तःस्थितत्व-पदार्थत्वात् । व्यवहितानां प्रकाशे हि सन्निकर्षादिरपेक्ष्यते । जीवश्च कुतो न प्रकाशते यद्बोधाय शास्त्राण्यधीषे । न च देवमनुष्यादिशरीरविलक्षण-त्वाऽणुत्व-नित्यत्वनिर्विकारत्वादिकं न प्रकाशत इति वाच्यम् । तेषां स्वरूपानतिरेकात् । अतिरेके वा द्रव्यं वा गुणो वा । न ह्युभयमपि संभवति । न हि वृक्षं पश्यतो घटपटादिसापेक्षतद्भेदा झटिति नोपतिष्ठन्त इत्येतावता वृक्षस्य सम्यग् दर्शनमेव न जातमिति शक्यते वक्तुम् ॥ १२ ॥

ज्ञानमावृतमित्याह न त्वणुत्वादिकं हरिः ।
ततो निजमते काऽत्र गतिरित्येव चिन्त्यताम् ॥ १३ ॥ [३८४]

अज्ञानने अणुत्वको या देवमनुष्यादिभिन्नत्वको ढँका ऐसा भगवान् नहीं कहते । किन्तु ज्ञान आवृत हुआ बताया । स्वप्रकाशजीवरूप ज्ञानको अज्ञान द्वैतमतमें कैसे ढँकेगा ? जीवविलक्षण उत्पत्तिनाशवान् ज्ञान तो स्थायी नहीं है, जिसको अज्ञान ढ़ँकेगा इत्यादि विचार कर लो ॥ १३ ॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्याह भगवान् । न त्वणुत्व-देवमनुष्यादिशरीर-विलक्षणत्वादिकमावृतमिति । तत्र स्वप्रकाशो जीव इति वदतो द्वैतिनो मते कथमज्ञानेनावृतं ज्ञानम् । न ह्युत्पत्स्यमानज्ञानावरणसंभवः । सिद्धवन्निर्देशेन नित्यज्ञानस्यैवावरणोक्तेः । उत्पत्स्यमानस्यावरणासंभवाच्च ॥ १३ ॥

स्वप्रकाशे च देहादेर्जडस्याध्यसनं कथम् ।
अनादिसिद्धं यदि तदागतोऽद्वैतवर्त्मनि ॥ १४ ॥ [३८५]

आत्मामें देवमनुष्यादिका अध्यास द्वैतवादी मानते हैं । परन्तु स्वयंप्रकाश चेतनमें जड मनुष्यत्वादिका अध्यास कैसे होगा ? ये दोनों अत्यन्त विविक्त हैं । अनादिकालसिद्ध अध्यास मानोगे तो अद्वैतमार्गको ही अपना रहे हो ॥ १४ ॥

अपि च जीवोऽयं स्वयंप्रकाशश्चेतनः । शरीरादयश्च जडाः । तत्र स्वयंप्रकाशत्वेन जडविलक्षणतया प्रकाशमाने जीवात्मनि कथं जडशरीरादि-तादात्म्याध्यासस्तव मते । न च देहादिर्जडत्वेन न ज्ञायत इति वाच्यम् । एवमपि वस्तुतो जडत्वेन पृथक्त्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्कथं तादात्म्याध्यासः संभवति । न हि घटपटौ पृथग् दृश्यमानौ परस्परमध्यस्येते यद्यप्युभौ जडौ । यदि चानादिसिद्धो देहाध्यास इत्युच्यते तदाऽनिर्वचनीयतापर्यवसन्न इति आगतोऽस्यद्वैतमार्गे ॥ १४ ॥

एतेन कर्म माया तन्निरुद्धप्रसरप्रभः ।
जीवो न वेत्तीति हतं व्यवधानाद्यभावतः ॥ १५ ॥ [३८६]

द्वैतवादिके मतमें प्रकृति, माया, अविद्या आदि कर्मरूप ही है । उससे जीवकी प्रभाका प्रसार अवरुद्ध होनेसे वह जीवात्मा परमात्मा आदिको नहीं जानता । परन्तु जीव स्वयंप्रकाश होनेसे प्रकाशप्रसारकी क्या जरूरत है ? और परमात्मा अन्तर्यामी अव्यवहित होनेसे उसके लिये भी प्रकाशप्रसरणकी क्या जरूरत है ? तब तत्स्वरूपबोधक शास्त्र भी उन्हींके मतमें विफल होगा ॥ १५ ॥

एतेन माया नाम कर्मैव । तेन निरुद्धप्रसरप्रभत्वाद् जीवो न सर्वज्ञो न परमात्मानं स्वयं वेत्तीत्यादिकमपि परास्तम् । जीवस्य स्वरूपप्रकाशने

प्रभाप्रसरणवैयर्थ्यात् । न हि सूर्यः स्वनिःसृतकिरणप्रतिनिवर्तनेन स्वं प्रकाशयति, कर्मकर्तृत्वापत्तेः । व्यर्थत्वाच्च । ये किरणा निःसरन्ति तेषां प्रथमतः एव तत्र सत्त्वात् । एवं जीवतो निःसृत्य प्रसरन्त्या प्रतिनिवृत्तया प्रभया जीवः प्रकाशित इति द्रविडप्राणायामो विफल एव । तथा स्वप्रकाशत्वं जीवस्य निश्चितम् । परमात्मा चान्तस्तिष्ठतीति तत्प्रकाशनाय प्रभाप्रसरो विफल इति जीवात्मपरमात्मनोः ज्ञानं स्वत एव संपद्यत इति वृथैव तव शास्त्राध्ययनादिकं स्यात् ॥ १५ ॥

यस्त्वज्ञानेनावृतो ज्ञानरूपो
ज्ञानेनाज्ञानं च यस्य प्रणाश्यम् ।
प्रीणीमस्तं ज्ञानयज्ञेन देवम्
श्रीकृष्णाख्यं सर्वभूताधिवासम् ॥ ३५ ॥

जो अज्ञानसे आवृत है, ज्ञानस्वरूप है, जिसके ज्ञांनसे अज्ञान नष्ट होता है उस सर्वभूतनिवास श्रीकृष्णनामक देवको हम ज्ञानयज्ञसे प्रसन्न करते हैं ॥ ३५ ॥

इति ज्ञानतिरोधानोपपत्तिः ।

*****

(३६)

अथात्मैक्यनिरूपणम्

एकमेवाद्वितीयं स आत्मा तत्त्वमसिश्रुतेः ।
आत्मैक्यं तत्र भेदस्तु नानोपाधिविभागतः ॥ १ ॥ [३८७]

एक ही अद्वितीय तत्त्व है । श्रुति कह रही है—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' । सद्ब्रह्म ही यह जगत् है । वही सत् सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है । यहां आत्माकी एकता स्पष्ट है । भेद उपाधिके कारण प्रतीत हो रहा है ॥ १ ॥

एक एवात्मा व्यवस्थितः सर्वत्र । तथा च 'एकमेवाद्वितीयमि'त्युपक्रम्य 'स आत्मे'त्युपसंहार उपपद्यते । 'अहमेवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वं',

"नेह नानास्ति किंचन", "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्", "आत्मेत्येवोपासीत", द्वितीयाद्वै भयं भवति", "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। स्मृतयोऽपि तदेवाचक्षते—"तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्। विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः। यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम। तदेषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते। वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः। अभेदव्यापिनो वायोस्तथासौ परमात्मनः। आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। इत्याद्याः। भगवानप्याह-"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः" ॥ इति ॥ १ ॥

शरीरैक्यादिति तु न प्रत्येकं विष्णुतोक्तितः।
न हि हस्तोऽस्मि पादोऽस्मीत्येवं लोकाः प्रयुञ्जते ॥ २ ॥ [३८८]

पूर्वपक्षः—जगत् शरीर है। शरीरी परमात्मा एक है। अतः एकत्वकथन है। उत्तरपक्षः—क्या पूरा जगत् एक शरीर है या पृथिवी आदि अलग-अलग शरीर है? यदि एक है तो "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु" ऐसा अलग निर्देश किस प्रकार? पांव देवदत्त है, हाथ देवदत्त है इत्यादि व्यवहार नहीं होता। यदि अलग-अलग शरीर है तो "एकमेवाद्वितीयं" का अर्थ कैसे लगेगा? "नेह नानास्ति किंचन" का अर्थ कैसे लगेगा? क्योंकि अनेक शरीर होने से शरीरी भी अनेक हो गये ॥ २ ॥

यत्त्वत्र सकलजगतः परमात्मशरीरत्वात्तद्विशिष्टशरीरिण एव एकत्वादेकत्वव्यपदेश इति। तन्न। "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि" त्यादिरीत्या प्रत्येकस्य विष्णुत्वकथनानुपपत्तेः। कृत्स्नस्य जगतः शरीरत्वात्। यदि तु जगदन्तर्गतप्रत्येकवस्तुगतं शरीरत्वं स्यात्तदा शरीरान्तर्गतहस्तपादादीनां देवदत्तत्वाद् हस्तोऽस्मि पादोऽस्मीत्यादिव्यवहार आपद्येत। न च प्रत्येकभुवनादिपर्याप्तं विष्णुशरीरत्वं, न तु तेषामङ्गत्वमिति वाच्यम्। "तस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा। सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः। पृथिव्येव पादावि"त्यादिरीत्या श्रुतिष्वङ्गत्ववर्णनात्। न च वैश्वानर-

स्योपासनीयाग्नेरिदं वर्णनमिति वाच्यम् । 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषादि'त्यधिकरणे वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वनिर्णयात् । "पातालमस्य प्रपदमि"त्यादिना स्मृतिपुराणादिष्वपि तेषामङ्गत्ववर्णनात् । किं च शरीरनानात्वस्वीकारे "नेह नानास्ति"ति श्रुतिबाधः स्यात् । इदंपदेन परमात्मग्रहणे परमात्मनि पृथिव्यादयो नाना विद्यन्त इति।संसारग्रहणेऽपि तथैव । संसारे नानावस्तुसत्त्वात् । न च इहैक एव पुरुषस्तिष्ठति नान्यः कश्चिदित्युक्ते भूषणादिसद्भावेऽपि न वाक्यार्थबाधस्तथात्रापीति वाच्यम् । यतः प्रकरणाद्वा पुरुषपदोच्चारणाद्वा पुरुषोपस्थितौ पुरुषान्तरनिषेध एवोपतिष्ठते । तिष्ठतीति चोपवेशनप्रतियोग्युत्थितिरूपस्थानं न भूषणादौ जडे संभवति चेति पुरुषान्तरविवक्षैव तत्र गम्यते । "नेह नानास्ति किंचने"ति तु नानावस्तुमात्रनिषेधः क्रियते । तत्कथमुपपद्येत । न च तत्रापि प्रकरणात्परमात्मा बोद्धव्य इति वाच्यम् । परमात्मान्तरस्य प्राप्ताप्राप्तयोर्निषेधायोगात् । किंचनेति पदेन वस्तुसामान्यस्यैवोपस्थितेश्च । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती" त्यस्य चालग्नकार्थकता स्यात् । न हि नाना विष्णून् कोऽपि पश्यति । संसारे च घटपटादयो नानेति सर्वेऽपि पश्यन्ति । तादृशदर्शनमात्रस्य मृत्युपरम्पराहेतुत्वं त्वयापि स्वीकर्तुमशक्यम् । मम तु नेह नानेति मिथ्यात्वेन नानात्वनिषेधे सत्यतया नानात्वदर्शिनो मृत्युफलं सुगमम् । इवकारश्च नानाविरहेऽपि नानादर्शनादुपपद्यते । नेह नानेत्येतत्प्रतियोगितयाभिधानान्नानादर्शिन एव विवक्षितत्वात् । स च भवन्मते न घटेत । तस्मादविद्यमानाऽप्रतीयमानार्थस्य पाण्डित्यप्रदर्शनेन बलादानयनप्रयासमात्रं भवदीयम् ॥ २ ॥

देहे चित्ते चेन्द्रिये च जन्मदुःखप्रवृत्तयः ।
नात्मन्यतो न सांकर्ययौगपद्यादि दूषणम् ॥ ३ ॥ [३८९]

आत्मा एक हो तो सबका जन्म, मरण, प्रकृति आदि एक साथ होने लगेगा इत्यादि आरोप निरर्थक है । क्योंकि ये सब आत्माके धर्म नहीं हैं । जन्म, मरण शरीरमें होता है । सुखदुःख चित्तमें होता है । प्रवृत्ति इन्द्रियोंमें होती है और ये सब सर्व शरीरों में अलग-अलग हैं ॥ ३ ॥

यत्तु जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैवेति सांख्यपुच्छावलम्बनम् । तत्र पृच्छामः । किं जन्मादय आत्मनि स्वीक्रियन्ते भवता ? येन तानादायात्मभेदं साधयति ? देहे जन्ममरणजरादयः । देहाश्च परस्परं भिन्ना एव । सुखदुःखमोहादयोऽप्यन्तःकरणे । न तेऽप्यात्मनि । अन्तःकरणान्यपि भिन्नान्येव । देहमनोऽनुविधायीनि चक्षुरादिकरणान्यपि प्रतिशरीरं भिन्नानि । तन्नियतत्वात्प्रवृत्तेरपि यौगपद्यं कथमापद्यते । कथं चात्मैक्येन सांकर्यं प्रतिपद्यते ? ॥ ३ ॥

ससंकोचविकासत्वाच्चित्तं नीत्वान्यमानसम् ।
व्यापकात्मत्विषा योगी तद्दुःखाद्यवगच्छति ॥ ४ ॥ [३९०]

यदि सुखदुःखादि चित्तमें हो तो योगीको परसुखदुःखज्ञान कैसे होता है ? चित्त संकोचविकासवान है । दूसरे चित्ततक अपना चित्त पहुंचाकर व्यापक आत्मप्रकाशमें उसके सुखदुःखोंको योगी देख लेता है ॥ ४ ॥

नन्वेवं योगी कथं परकीयदुःखादि गृह्णीयात् । न हि परकीयचित्तं परेण ज्ञातुं शक्यम् । दूरस्थत्वात् । यद्यप्यात्मभेदमतेऽपि तद् दुर्घटमेव तथाप्यन्तर्यामिद्वारा परदुःखादि योगी ग्रहीष्यतीति चेन्न । चित्तस्य संकोचविकासशालित्वात्परकीयचित्तं नीत्वा तदीयदुःखादि ग्रहीष्यति व्यापकात्मप्रकाशसत्त्वात् । अन्तर्यामिद्वारा ग्रहणं तु दुरुपपादमेव । अन्तर्यामिणः ज्ञानजनकसंनिकर्षत्वविरहात् । तथा सति सर्वेषां परदुःखादिसाक्षात्कारप्रसङ्गात् ॥ ४ ॥

पातञ्जलानुगाः केचिच्चित्तं व्यापकमूचिरे ।
तत्र तत्रावृतिध्वंसात्तेषामेतत्समञ्जसम् ॥ ५ ॥ [३९१]

योगशास्त्रानुयायी कुछ विद्वान् चित्तको व्यापक मानते हैं । योगशक्तिसे परहृदयावच्छेदेन आवरण हटनेसे उनके मतमें परचित्तज्ञान होता है ॥ ५ ॥

पातञ्जलाः केचिच्चित्तं व्यापकं मेनिरे। तत्र शरीरावच्छेदेन निरावरणं तदिति तत्र ज्ञानादि भवति। योगबलेन परशरीरावच्छेदेनावरणभङ्गो यदा क्रियते तदा तदीयसुखादिज्ञानं सम्पद्यते ॥ ५ ॥

स्वदुःखमपि नैवात्मन्यध्यस्यन्ति मनीषिणः।
परदुःखं कुतस्तस्माद् दुरवस्था न योगिनाम् ॥ ६ ॥ [३९२]

यदि योगी परदुःख जानने लग जाये, तो उनकी बड़ी दुर्दशा होगी। सभी दुःखी हैं। नहीं। विवेकी अपने दुःखको भी आत्मामें नहीं मानते तो परदुःखको क्यों अपनेमें डालने लगे? ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलदुःखसाक्षात्करणात् महती दुरवस्था योगीनां स्यात्। तथा च वृश्चिकमुखात्पलायमानस्याशीविषमुखनिपातः स्यात्। मैवम्। विवेकी किल स्वदुःखमपि नात्मन्यध्यस्यतीति परदुःखे का वार्ता। न हि दुःखसाक्षात्करणमात्रेण दुःखित्वम्। किन्तु तादात्म्याध्यासपूर्वकतत्साक्षात्कारेण। तथापि तदवलोक्य दयालवस्तदपसारणाय यतन्ते ॥ ६ ॥

स्वात्मत्वे पीडयेदन्यान् कथं ज्ञानीति चेन्न तत्।
नात्मा पीड्योऽनादिभेदादुद्धारं कुरुते हरिः ॥ ७ ॥ [३९३]

पूर्वपक्षः—यदि आत्मा एक है तो ज्ञानी परपीडन कैसे करते हैं। परपीडन तो आत्मपीडन ही हुआ। उत्तरपक्षः—कौन बोला ज्ञानी परपीडन करता है? पूर्वपक्षः—श्रीकृष्णादिने शिशुपालादिवध किया। उत्तरपक्षः—आपके मतमें जगत्पिता भगवानने अपने बेटोंका वध कैसे किया? पूर्वपक्षः—उनके उद्धारके लिये। उत्तरपक्षः—अनादिसिद्ध भेद होनेसे हमारे मतमें भी उनके उद्धारके लिये वध किया। वस्तुतः आत्मा पीडित होता ही नहीं है ॥ ७ ॥

नन्वात्मैक्ये परपीडनं कथं ज्ञानिनां स्यात्? स्वात्मपीडनं हि न कोऽपि करोति। दृश्यन्ते हि ज्ञानिनोऽपि परान् पीडयन्तः। न च न ते ज्ञानिन इति वाच्यम्। श्रीकृष्णेन ज्ञानिना शत्रुवधप्रवृत्तिदर्शनात्। अतः परत्वेन दृश्यमाना नात्मस्वरूपाः किन्तु भिन्ना एवेति चेन्न। आत्मनां भिन्नत्वमतेऽपि जगत्पिता परमात्मा कृष्णः कथं परान् पीडयेत्? तदुद्धारार्थमिति चेत्

समः समाधिः । परोद्धारार्थमेव परपीडनमिति व्याख्यायताम् । तथा चोक्तं नारायणेन"च्छिन्द्यां स्वबाहुमपि च प्रतिकूलवृत्तिमि'ति । व्यावहारिकभेदस्त्व-नादिसिद्धः स्वीकृत एवेति तदुद्धारप्रवृत्तिर्न विरुद्धा ।

वस्तुतस्तु आत्मा पीड्य एव न भवतीति एवंविधप्रश्नानर्थक्यमेवेति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

संवित् किलात्मा तदभेदतश्च
नैवात्मभेदः परमार्थतोऽस्ति ।
बद्धादिभेदो यदुपाधिभेदात्
शिवं तमद्वैतमनुस्मरामि ॥ ३६ ॥

संवित् ही आत्मा है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है । और संवित् में भेद नहीं है यह भी कहा । तब आत्मामें भी भेद नहीं है । वैसे तो व्यावहारिक भेद है किन्तु पारमार्थिक भेद नहीं है । यह बद्ध है, यह मुक्त है, यह सुखी है, यह दुःखी है इत्यादि भेद तो उपाधि भेदसे है । एक ही ब्रह्मचैतन्य अन्तःकरणादि उपाधि भेदसे बद्ध, मुक्त आदि भेदचर्चाका विषय होता है । वह ब्रह्मचैतन्य नित्य शिव आनन्दस्वरूप है, अद्वैत है । उसी अद्वैततत्त्व परमात्माका हम अनुस्मरण करते हैं ॥ ३६ ॥

इति आत्मैक्यनिरूपणम्

*****

(३७)

अथ जीवेश्वरभेदभङ्गवादः

जीवेश्वरविभागोऽपि मायाऽविद्याद्युपाधितः ।
ज्ञानस्यैकरसत्वेन निर्भेदत्वप्रसाधनात् ॥ १ ॥

जीव और ईश्वर भेद भी औपाधिक है । जीवकी उपाधि अविद्या है, ईश्वरकी उपाधि माया है । उपाधेय चैतन्य एकरस एवं अभिन्न है ॥ १ ॥

जीवानां जन्ममरणसुखदुःखादिव्यवस्थायां यो हेतुरुपाधिविभागः स एव जीवेश्वरभेदेऽपि हेतुः शुद्धसत्त्वप्रधानमायावच्छिन्नचैतन्यं परमेश्वरः ।

मलिनसत्त्वप्रधानाविद्यावच्छिन्नचैतन्यं जीवः । अत एवेश्वरः सर्वज्ञो जीवश्चाल्पज्ञः । नन्वेवं समष्टिव्यष्टिभावो न स्यात् । इष्टापत्तौ तु ईश्वरेक्षणरूपदृष्टिसृष्टस्य जीवेन दर्शनं न स्यान्मायाविद्ययोरत्यन्तभेदात् । न हि देवदत्तकल्पितरज्जुसर्पो यज्ञदत्तेनेक्ष्यते । स्वाप्नार्थो वाऽन्योन्यस्यान्योन्येन दृश्यत इति चेन्न । मायायामपि त्रैगुण्यसत्त्वेन तत्रत्यतमोगुणसंमिश्रसत्त्व जीवोपाधिरिति स्वीकारेण दोषाभावात् । 'साङ्गप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो' इति वचनेनाऽत्यन्तानङ्गत्वविरहात् । न हि बिन्दुषु प्रतिबिम्बं न स्फुटमिति समष्टिसरोजलादावपि प्रतिबिम्बस्यास्फुटत्वम् । न च काचशकलकणेषु स्वाच्छ्यं नास्तीति तत्समुदायभूतदर्पणेऽपि स्वाच्छ्याभावः ॥ १ ॥

बिन्दुसागरवत् काचभित्तदर्पणवत्तथा ।
समष्टिव्यष्टिवैचित्र्यमनिर्वाच्यत्वतोऽपि च ॥ २ ॥ [३९५]

पूर्वपक्षः—जीवसे यदि ईश्वर अभिन्न है, मलिनसत्त्व अविद्यासमष्टिरूप माया भी मलिनसत्त्व होगी । उत्तरपक्षः—व्यष्टि अस्वच्छ होनेपर भी समष्टि स्वच्छ हो सकती है । जैसे एक बिन्दु पानीमें प्रतिबिम्ब बराबर नहीं पड़ता किन्तु जलाशयमें पड़ता है । कांचके टुकड़ोंमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, दर्पणमें पड़ता है । समष्टिशक्ति अलग होती है, व्यष्टिशक्ति अलग। अनिर्वचनीय भेदाभेद समष्टि और व्यष्टिमें है ॥ २ ॥

बिन्दुवत् सागरवच्च व्यष्टिसमष्टी । काचखण्डदर्पणवच्च । अत्राधिकतर्कस्त्वनिर्वाच्यत्वहेतोरनुपयुक्त एव । समष्टिव्यष्ट्योरनिर्वाच्यभेदसत्त्वादभेदस्यापि सत्त्वात् । तथा च स्वीकृतः पूर्वाचार्यैर्जीवेश्वरयोरनादिभेदः । उपाधिपरित्यागे तु चैतन्यमेकरसमेव । न हि तत्र कथंचिदपि भेदः ॥ २ ॥

शक्तिः समष्टौ रज्जौ या सा न प्रत्येकतन्तुषु ।
अविद्यात्वानवच्छिन्न-मायांशास्तित्वतोऽपि च ॥ ३ ॥ [३९५]

तन्तुसमष्टि रूप रज्जुमें जो शक्ति है क्या वह प्रत्येक तन्तुमें है? दूसरी बात-अविद्यासमष्टि ही माया नहीं, अविद्यात्वरहित भाग भी उसमें

समाविष्ट है । काष्ट लोष्ठादि निर्जीव वस्तु भी मायानिर्मित है और देवता आदिकी उपाधिमें मलिनसत्त्वता नहीं है ॥ ३ ॥

तन्तुसमष्टिभूतायां रज्जौ या शक्तिः सा न प्रत्येकतन्तुषु । न च प्रत्येकमपर्याप्तस्य समुदायवृत्तित्वं न स्यादिति वाच्यम् । तादृशनियमे मानाभावात् । प्रत्येकस्मिन् पर्याप्त्या द्वित्वादिप्रतीतिविरहेऽपि द्वयोस्तद्दर्शनात् । अपि चाविद्यामात्रसमष्टिर्न माया । जगदुपादानत्वेन काष्ठलोष्टादिष्वपि तत्सत्त्वात्तत्र चाविद्याविरहात् । तथा चातिविशालाया मायाया शुद्धसत्त्वप्रधानत्वं न दुर्घटम् । यथा विशालदर्पणे क्वचित् क्वचिन्मालिन्यं न प्रतिबिम्बग्रहणविरोधि । किन्तु मालिन्यदेशावच्छेदेन प्रतिबिम्बग्रहणं न भवतीति ॥ ३ ॥

न विरुद्धोपलब्धेश्चेदैक्यं जीवेशयोर्न तत् ।
यत्त्वं वा अहमित्यादिः श्रुतिर्हि प्रबला ततः ॥ ४ ॥ [३९७]

पूर्वपक्षः—मैं ईश्वर नहीं हूँ, जगत्सृष्टिकर्ता नहीं हूं, यह एकत्वविरुद्ध उपलब्धि होनेसे जीव और ईश्वर एक नहीं है । उत्तरपक्षः—"त्वं वा अहमस्मि देवते", "अहं वा त्वमसि" इत्यादि श्रुतिमें अभेद उपलब्ध है । श्रुति प्रबल है ॥ ४ ॥

अथ कृत्वाचिन्तां प्रवर्तयामः । जीवेश्वरयोरैक्यमिति । ननु नाहमीश्वरः, नाहं जगदुत्पत्त्यादावीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षोपलम्भान्न जीवेश्वरैक्यमिति चेन्न । 'त्वं वा अहमस्मि देवते', 'अहं वा त्वमसि", 'अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादीनां श्रुतिनां प्रत्यक्षापेक्षया प्रबलत्वात् । न हि विरुद्धोपलब्धिमात्रं निश्चायकम् । किन्तु प्रामाणिकविरुद्धोपलम्भः । श्रुतिविरोधाच्चोक्तप्रत्यक्षोपलम्भो न प्रामाणिकः ॥ ४ ॥

मारुतेः किमशक्तत्वं जाम्बवद्वचनात् पुरा ।
तत्र शापो निदानं चेदत्राविद्या तथा भवेत् ॥ ५ ॥ [३९८]

हनुमानजीमें जाम्बवानके वचनसे पहले असमर्थता एवं अनीश्वरताकी प्रतीति क्यों हुई? वचनमात्रसे शक्ति कैसे आयी?

यदि उसमें श्राप कारण था तो जीवमें अविद्या ही अनीश्वरतामें कारण है ॥ ५ ॥

वायुसुतो हनुमान् प्रथमं स्वमशक्तमसमर्थमनीश्वरममन्यत । प्रत्यक्षतस्तथानुबभूव । जाम्बवत्कृततदीयचरित्रवर्णनात्तु स्वीयमवतारत्वमीश्वरत्वं च विज्ञाय समुद्रमुल्ललङ्घे । तत्र वचनस्यैव प्राबल्यम् । न च तत्र महर्षिशापः स्वस्वरूपविस्मरणकारणमिति वाच्यम् । अत्रापि अनाद्यविद्यायाः स्वस्वरूपविस्मरणकारणत्वमित्यदोषात् ॥ ५ ॥

मृषाऽध्यक्षे वदन्ती किं परोक्षे सत्यगीः श्रुतिः ।
तत्प्रत्यक्षविरुद्धं चेत्यहो चार्वाकसूनुता ॥ ६ ॥ [३९९]

जब कि प्रत्यक्ष वस्तुमें "आदित्यो यूपः" "तत्त्वमसि" इत्यादि कच्ची झूठ श्रुति बोल सकती है तो परोक्षवस्तु में झूठ बोलनेमें कौनसी बड़ी बात है? परोक्ष तो यूं भी प्रत्यक्षविरुद्ध है । चार्वाकका बेटा इस प्रकार पूरी श्रुतिको अप्रत्यक्ष सिद्ध करनेकी ओर अग्रसर है ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षस्य श्रुत्यपेक्षया प्राबल्यं वदन् नास्तिको वेदनिन्दक इति मनुवचनाच्चार्वाकसहोदर एव । न च यत्र प्रत्यक्षविरोधो नास्ति तत्र प्रामाण्यं श्रुतेः स्यादिति न चार्वाकसहोदरत्वमिति वाच्यम् । प्रत्यक्षवस्तुन्येव पश्यतोहरवत्तात्त्विकतामपहरन्त्याः परोक्षार्थकथने कः प्रश्वासः? तस्मात् केवलप्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाक एवैषः । न च 'विरोधे त्वनपेक्षा स्यादसति हि श्रुति'रिति मीमांसानुकरणं क्रियतामिति वाच्यम् । मीमांसकैस्तात्पर्यवत्याः श्रुतेरेव सर्वत्र प्राबल्यस्वीकारात् । तात्पर्यं चाद्वैते उपक्रमोपसंहारादिभिर्निर्णीतम् । भवांस्तूपक्रमादिकमप्रस्तुत्यैव प्रत्यक्षमात्रस्य प्राबल्यं ब्रवीति प्रत्यक्षसापेक्षत्वाच्छ्रुतेरित्यादि हेतुं ब्रुवाणः ॥ ६ ॥

यत्र सर्वमभूदात्मेत्युक्तेः स्यात्ते जडैकता ।
मैवं सा तु भवेद् बाधसामानाधिकरण्यधीः ॥ ७ ॥ [४००]

पूर्वपक्षः—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति यदि प्रत्यक्षसे प्रबल है तो जड़के साथ आत्माकी एकता होगी ।

उत्तरपक्षः—वहां बाधसामानाधिकरण्य होनेसे दोष नहीं है ॥ ७ ॥

ननु 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतेस्तव मते आत्मनो जडैक्यमप्यापद्यते । न च तत्रान्यार्थता प्रत्यक्षविरोधादिति युक्तम् । श्रुतेः प्रत्यक्षापेक्षया प्रबलत्वात्प्रत्यक्षमनुरुध्यार्थान्तकरणायोगात् । तथा सत्यस्माभिरपि तत्त्वमस्यादेरन्यार्थकरणे किमपराद्धमिति चेन्न । बाधसामानाधिकरण्यस्य व्यवस्थापितत्वेन जडैक्यानुपपत्तेः । यत्र यस्मिन् काले सर्वमाकाशादिकमात्मैवाभूत् आत्मेतरत्वेन प्रतीतं बाधेनात्मैवाभूदित्येवमेवकारेण तादृशार्थलाभात् । न हि बाधमन्तरेणात्मेतरत्वेनापि स्थितमात्मैव समपद्यतेत्येतद् योजयितुं शक्यम् ॥ ७ ॥

अस्तु तत्त्वमसीत्यादावपि बाधस्तथेति चेत् ।
सत्यं केचित्तथैवाहुः सोऽयमित्यादिवद्वयम् ॥ ८ ॥ [४०१]

प्रश्नः—वैसे तत्त्वमसिमें बाधसामानाधिकरण्य मान लीजिये । उत्तरः—बात ऐसी है कि कुछ आचार्य बाधसामानाधिकरण्य स्वीकार करते हैं । अविद्याविशिष्ट चेतन नहीं, शुद्धचेतन है ऐसा अर्थ हो सकता है । पर हम 'सोऽयं' इस लौकिक वाक्य के समान मानते हैं ॥ ८ ॥

नन्वेवं तत्त्वमसीत्यत्रापि बाधसामानाधिकरण्यमभ्युपेयताम् । त्वं नासि तद् ब्रह्मैवासीत्येवं संभवादिति चेत् । सत्यम् । केचिदाचार्याः बाधसामानाधिकरण्यमत्राप्यभ्युपजग्मुरेव । वस्तुतस्तु अत्यन्तविरोधाभावाद् भागत्यागेनैवोपपत्तेः सोऽयमितिलौकिकवाक्यवदेवेदम् ॥ ८ ॥

वस्तुतो भागहानं हि सर्वं ब्रह्मेति वाक्ष्वपि ।
नामरूपपरित्यागादस्तिभातिप्रियैक्यतः ॥ ९ ॥ [४०२]

वस्तुतः विचार किया जाये तो बाधसामानाधिकरण्यकी आवश्यकता नहीं है,'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यहां सर्वसे उपस्थित जगत् पञ्चरूपात्मक है । नाम, रूप, आस्ति, भाति और प्रिय । उनमें नामरूप भागका त्यागकर अस्तिंभातिप्रियंकी ब्रह्मपदलक्ष्यार्थके साथ एकता है ॥ ९ ॥

एवं कृत्वाचिन्तां समाप्य स्वमतेनेदं ब्रूमः । वस्तुतो बाधसामानधिकरण्यं बहुभिराचार्यैः समर्थितमपि नावश्यकं श्रुतिषु । कथं तर्हि 'आत्मैवेदं सर्वं' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिवचनाना-

मुपपत्तिरिति चेद्? उच्यते । सर्वपदस्य बुद्धिविषयतावच्छेदक-यावद्धर्मावच्छिन्नार्थकतया घट, पट, गगन, वाय्वादयः सर्वेऽपि पदार्था उपतिष्ठन्ते । तेषु च पञ्चतत्त्वानि सन्ति । अस्ति भाति प्रियमिति त्रीणि । गगनं वायुरित्यादिरूपेण नामरूपे द्वे च । ब्रह्मपदेन चापरिच्छिन्नत्वयुक्त-सच्चिदानन्दतत्त्वमुपतिष्ठते । तत्र च नामरूपभागत्यागेन अपरिच्छिन्नत्व-धर्मपरित्यागेन च सच्चिदानन्दस्वरूपैक्यबोधः । एतेन क्वचिन्मुख्य-सामानाधिकरण्यं क्वचिद् बाधसामानाधिकरण्यमिति वैरूप्यप्रसक्तिरिति परास्तम् ॥ ९ ॥

जीवब्रह्मैक्यबोधेऽपि जगद् यदि पृथक् स्थितम् ।
नाभयं द्वैततोऽतश्चाऽद्वैतं वाच्यं स्फुटं श्रुतेः ॥ १० ॥ [४०३]

तत्त्वमसिसे जीव और ब्रह्मकी एकता मात्र बतायी फिर भी द्वितीय जगत् रहा तो "द्वितीयाद्वै भयं भवति" के अनुसार अभय नहीं होगा। अतः श्रुतिको स्पष्ट अद्वैत कहना है इसलिये "सर्वं ब्रह्म" कहा ॥ १० ॥

ननु जगद्ब्रह्मैक्यं कुतो वक्तव्यमिति चेदुच्यते । तत्त्वमस्यादिवाक्यै-र्जीवब्रह्मैक्यबोधेऽपि जगदेव द्वितीयं भयकारणं वर्तत इति मोक्षानुपपत्ति-रित्यतो द्वितीयसामान्याभावार्थं जगदैक्यमपि वक्तव्यमिति ॥ १० ॥

ननु त्यक्तस्य भागस्य द्वितीयस्य स्थितत्वतः ।
कथं स्यादभयं मैवं मिथ्यात्वान्नामरूपयोः ॥ ११ ॥ [४०४]

शंका होगी कि इस प्रकार जगद्ब्रह्मैक्य होनेपर भागत्यागसे जो त्यक्त भाग है वह द्वितीय होकर रहेगा तो भय क्यों नहीं होगा? उत्तर है कि नामरूप जो त्याग दिये हैं वे मिथ्या हैं । मिथ्यावस्तुसे द्वैतकी प्रसक्ति नहीं होती ॥ ११ ॥

ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यत्र अस्तिभात्यादिपञ्चके त्यक्तयोर्नामरूपयो-र्द्वितीयत्वेन स्थितत्वात्कथमभयसंभव इति चेन्न । नामरूपयोः मिथ्यात्वात् द्वितीयाऽप्रसक्तेः ॥ ११ ॥

मा भूच्चैतन्यभेदोऽतस्तत्त्वमस्यादिं सार्थकम् ।
मा स्म भूत् सद्भिदा चेति सर्वं ब्रह्मेति सार्थकम् ॥ १२ ॥ [४०५]

चैतन्यभेदवारणार्थ तत्त्वमसि वाक्यकी सार्थकता है । सद्भेद-निवारणार्थ सर्वं ब्रह्मकी सार्थकता है । क्योंकि त्वं बोलनेपर मुख्यरूपसे चैतन्य उपस्थित होता है और जगत् बोलनेपर मुख्यरूपसे सत् उपस्थित होता है ॥ १२ ॥

ननुं जगन्मिथ्यात्वोक्त्यैव गतार्थत्वे सर्वब्रह्मैक्यकथनवैयर्थ्यमिति चेन्न । यथा तत्त्वमसीति चैतन्यैक्यावबोधकतया सार्थकं तथा सर्वं ब्रह्मेति सदैक्यबोधकतया सार्थकं भवति । त्वंपदेन चैतन्यं मुख्यतयोपतिष्ठते जगदर्थकसर्वपदेन सत् प्राधान्येनोपतिष्ठते ॥ १२ ॥

सदैव ब्रह्म सद्भिन्नभागः खलु भवेदसत् ।
मिथ्यात्वमर्थतस्तेन भागस्य जगतो भवेत् ॥ १३ ॥ [४०६]

जगत् नहीं ब्रह्म है ऐसा बाधसामानाधिकरण्य नहीं मानेंगे तो जगत् मिथ्या सिद्ध नहीं होगा इस पूर्वपक्षका उत्तर है ब्रह्मात्मक सदंशसे भिन्न नामरूप बताया तो जगत् अर्थतः असत्-मिथ्या सिद्ध हो जाता है ॥ १३ ॥

ननु भागत्यागस्वीकारे सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्येन सर्वं नास्ति ब्रह्मास्तीत्यर्थकेन यन्मिथ्यात्वं स्वीकृतं तन्न सिध्येदिति चेन्न । ब्रह्मण एव सत्पदार्थत्वात्तत्र भागभूतजगतो ब्रह्मभिन्नत्वात् सद्भिन्नत्वेन सद्विलक्षणत्व-रूपमिथ्यात्वस्यार्थसिद्धत्वात्तेन वाक्येन मिथ्यात्वस्यापि सिद्धेः ॥ १३ ॥

ज्योतींषि विष्णुरित्यादिर्देहदेह्यैक्यवागिति ।
यदाहुस्तदसद् भ्रान्तिसिद्धैक्याद् देहदेहिनोः ॥ १४ ॥ [४०७]

'ज्योतींषि विष्णुः', 'सर्वं ब्रह्म' इत्यादिमें सामानाधिकरण्य शरीर और शरीरीकी एकताको लेकर है; जैसे गौरोऽहं, देवदत्तोऽहं इत्यादि, ऐसा जो द्वैतवादियोंका मत है वह सर्वथा असंगत है, क्योंकि गौरोऽहं देवदत्तोऽहं इत्यादि भ्रान्तिज्ञान है ऐसा सब मानते हैं । वहां आध्यासिक एकता है । तो क्या ज्योतींषि विष्णुः इत्यादि भ्रान्तवचन हैं? 'अहं क्रतुरहं यज्ञः', 'नक्षत्राणामहं शशी' इत्यादि बोलनेवाले भगवान् भ्रान्त हैं ? ॥ १४ ॥

ननु सर्वत्र देहदेहिनोरैक्यमादाय समानरूपेण सामानाधिकरण्यं सिध्यति । अहं देवदत्त इत्यादौ शरीरशरीरिणोरैक्यमादाय सामानाधिकरण्यं सर्वजनसिद्धम् । तथैव "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्याद्या "आत्मैवेदं सर्वं" "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्याद्याश्च । अन्यथा क्वचिद्बाधसामानाधिकरण्यं, क्वचिन्मुख्यसामानाधिकरण्यमिति वैरूप्यं स्यात् । भागत्यागलक्षणापक्षे लक्षणाश्रयणमेव दोषः । न च शरीरत्वमसिद्धम् । "यस्य पृथिवी शरीरं", "यस्यापः शरीरमि"त्यादिश्रुतेरेव तत्सिद्धेः । एतेन समष्टिजगद्वा एकं शरीरं, प्रत्येकं पृथिव्यादि वा शरीरमित्यादिप्रागापादितपक्षा अपि परास्ताः । श्रुत्यैव प्रत्येकस्य शरीरत्वोक्तेरिति चेत् । तत्तुच्छम् । अहं देवदत्तो गौर इत्यादावात्मनि यत् शरीरतादात्म्यं प्रतीयते तस्याध्यासिकत्वात्तद्विषयकज्ञानस्य मिथ्याप्रत्ययत्वध्रौव्यात् । न ह्यात्मनि गौरत्वादिकं कथंचिदपि संभाव्यते । तदत्र भुवनानि विष्णुरित्यादिकमपि तादात्म्यध्यासनिबन्धनं वक्तव्यम् । न हि पृथिवीत्वजलत्वादिकं परमात्मनि विष्णौ विद्यते । तत्र लोकानां पृथिवी विष्णुः ज्योतींषि विष्णुरित्यादितादात्म्याध्यासविरहात् तमुत्पादयन्त्यौ श्रुतिस्मृती हन्त भ्रान्तिं जनयत इति तयोर्भ्रामकत्वमेव भवता स्थापिते स्यात् । न च तत्र भुवनान्यहमित्येवमहंपदविरहान्नाध्यास इति वाच्यम् । तस्याप्यर्थलभ्यत्वात् । किंच नक्षत्राणामहं शशी देवानामस्मि वासव आयुधानामहं वज्रमित्यादावहंपदमपि विद्यते । अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधामहमौषधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतमित्यादिषु च । तत्र च भगवतस्तादात्म्याध्यासोऽभूदिति वक्तव्यं स्यात् । न च यस्य पृथिवी शरीररित्यादेः शरीरत्वं सिद्धमिति वाच्यम् । तदभ्युपगम्यैवैतावत्पर्यन्तमुक्तम् । शरीरत्वस्वीकारेऽप्यहं गौर इत्यादिवदाध्यासिकत्वं दुर्वारमिति । वस्तुतश्चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरमिति शरीरलक्षणस्य पृथिवीजलादौ विरहाद् गौणमेव शरीरत्वं श्रुत्याभिमतम् । तत्सृष्ट्वा तदनुप्रवेशाच्छरीरमिव शरीरमिति । अपि चाहं देवदत्तः अहं गौर इत्यादावेकलोलीकरणेनायो दहतीत्यादिवत् प्रयोगप्रतीती । अत्र तु पृथिवी विष्णुः ज्योतींषि विष्णुरित्यादिरीत्या निष्कृष्य दर्श्यते । पृथिवीत्वेन पृथिवी विष्णुत्वेन विष्णुश्च निष्कृष्टौ भिन्नत्वेन स्पष्टौ । तत्र बाधादिकमन्तरा न सामानाधिकरण्यं घटते ॥ १४ ॥

अहमात्मा गुडाकेशेत्यभेदे हि विभूतिता ।
ज्ञानी तु व्यवहारार्थं विजानन् वक्ति बाधितम् ॥ १५ ॥ [४०८]

"अहमात्मा गुडाकेश" यह विभूतिकथन देहदेहिभावको लेकर नहीं, किन्तु अभेदको लेकर ही है । अहमग्निः इत्यादिमें उपाधिविशिष्टरूपसे अभेदकथन है । देहदेहिभावको लेकर हो तो भ्रान्तिज्ञान होगा। ज्ञानी लोग मैं देवदत्त हूं इत्यादि व्यवहार चलाने के लिये बाधितानुवृत्तिके कहते हैं । ईश्वरको "ज्योतींषि विष्णुः " "अहमग्निः" इत्यादि कहकर कौनसा व्यवहार चलाना है । और यह तत्त्वज्ञानप्रकरण है । व्यवहारप्रकरण नहीं है ॥ १५ ॥

न च विभूतिकथनमेतत्, विभूत्या सहाभेदो भगवत इति वाच्यम् । अग्न्यादेः शुद्धचैतन्यत्वविरहेणाभेदायोगात् । 'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमि'ति सर्वस्य विभूतिकथनाच्च । अपि च विभूतीनामभेदस्वीकारे 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इत्यात्मनां विभूतित्वकथनात् कथं नाभेदः? तस्माद् 'ज्योतींषि विष्णुरि'त्यादिषु शरीरशरीरिभावप्रयुक्ताभेदकथनमतिसाहसमात्रम् । ननु ज्ञानिनोऽपि अहं देवदत्त इत्येवमभेदेन व्यपदिशन्तीति चेत् । सत्यं, व्यवहारार्थं बाधितानुवृत्याऽभेदेन ते व्यपदिशन्ति । ईश्वरस्य को नाम पुत्रपौत्रशिष्यादिभिरज्ञानिभिः सह व्यवहारो येन 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानामि'तिन्यायेनाध्यासिकभेदेन व्यवहारस्तस्यावश्यकः स्यात् । न चेदं व्यवहारप्रकरणं किन्तु तत्त्वज्ञानोपदेशः । तस्माद्वास्तविकाभेदेन मुख्यसामानाधिकरण्यं वा बाधितत्वेन बाधसामानाधिकरण्यं वा 'ज्योतींषि विष्णुरि' त्यादौ । न त्वाध्यासिकाभेदेन भ्रान्तसामानाधिकरण्यमिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

ननूपास्त्यर्थमिति चेन्नारोपादुपपत्तितः ।
मनो ब्रह्मेतिवन्नात्र देहदेह्यैक्यमाश्रुतम् ॥ १६ ॥ [४०९]

प्रश्नः—'अहमात्मा गुडाकेशः', 'ज्योतींषि विष्णुः' इत्यादि उपासनार्थ कहा जा रहा है अतः भ्रान्तकथन या भगवद्भ्रान्तिकी आपत्ति नहीं है । उत्तरः—तब 'मनो ब्रह्म' इत्यादिवत् आरोपमात्रसे काम चलेगा । देहदेहिभावकी क्या आवश्यकता? 'मनो ब्रह्म' इत्यादिमें किसीने भी देहदेहि-

भावसे एकत्वोक्ति नहीं मानी है। जैसे "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादिमें ॥ १६ ॥

नन्वहमात्मा गुडाकेश, ज्योतींषि विष्णुरित्यादिकमुपासनार्थमुच्यते, तेन न शास्त्रस्य भ्रान्तकथनता, नवा भगवतो भ्रान्तत्वापत्तिरिति चेत्। एवं सति गतं देहदेहिभावेन। मनो ब्रह्मेत्यादौ विनैव देहदेहिभावमारोपेणैवोपासनायाः स्वीकारात्। न च देहदेहिभावप्रयुक्तैक्येनैव मनो ब्रह्मेत्यादिरुपासनेति वाच्यम्। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्याद्युपासनास्थले देहदेहिभावप्रयुक्तैक्यस्यासंभवादारोपेणैव सिद्धेः ॥ १६ ॥

या त्वन्यं पश्यतीशं तं पृथगात्मानमित्यपि।
भेदोक्तिः सोऽनुवादो वा सोर्ध्वसत्तोक्तिरेव वा ॥१७॥ [४१०]

"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं पृथगात्मानं प्रेरितारं" इत्यादिमें प्रत्यक्षसिद्धका अनुवाद होनेसे श्रुतिका भेदमें तात्पर्य नहीं है। वस्तुतः अन्य पृथक् आदिका वहाँ विलक्षणता अर्थ हैं। जीवादि व्यावहारिक है। परमात्मा परमार्थिक है। यही विलक्षणता वहां विवक्षित है ॥ १७ ॥

ननु "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वे" ति "द्वा सुपर्णा" "अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" "उत्तमः पुरुषस्त्वन्य" इत्यादयः स्पष्टं भेदं वर्णयन्तीति चेद्। मैवम्। एतस्य प्रत्यक्षोपलम्भात्मतायाः स्वयं स्वीकरात् प्रत्यक्षसिद्धस्य कथनेऽनुवादमात्रत्वेन श्रुतेस्तत्र तात्पर्यायोगाद्, "अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ" इति सिद्धान्तात्। किं चान्यमित्यस्य विलक्षणमित्यर्थः। वैलक्षण्यं चोर्ध्वसत्ताकत्वेन सर्पादन्य एव रज्जुरिति प्रयोगात् ॥ १७ ॥

जीवेश्वरादिभेदोऽयमनादिर्व्यावहारिकः।
द्वा सुपर्णा इति वचस्तत एव समञ्जसम् ॥ १८ ॥ [४१८]

छः अनादि पदार्थोंमें जीवेश्वर भेद भी आता है। वह व्यावहारिक है। अत एव "द्वा सुपर्णा सयुजा" इत्यादि श्रुति सुसमञ्जस है ॥ १८ ॥

अनादिसिद्धव्यावहारिकभेदं तु जीवेशादीनां प्रागेवावोचामेति "द्वा सुपर्णा" इत्यादावपि नानुपपत्तिः ॥ १८ ॥

स्थित्वा श्रुतिर्व्यवहृतौ व्याचष्टे पारमार्थिकम् ।
भेदानुवादस्तत्रैषोऽवश्यंभावी विभाव्यताम् ॥ १९ ॥ [४१२]

श्रुति भी आखिर व्यवहारभूमिमें रहकर ही पारमार्थिक तत्त्वको समझाती है । अतः बीच में अनुवादका आना अपरिहार्य है । अतएव ईशावास्य में कर्तृत्वकर्मनिर्देश, तत्त्वमसिमें सम्बोध्यसम्बोधकभाव आदिको लेकर भेद सिद्ध करनेका प्रयास वृथा है । और व्यावहारिकभेदसे उपपत्ति होनेसे पारमार्थिक अभेदमें कोई बाधा भी नहीं है ॥ १९ ॥

ननु बहूनामनुग्रहो न्याय्य इति न्यायात् श्रुतौ सर्वत्र भेदव्यवहार-दर्शनात्तस्यैव ग्राह्यत्वम् । "ईशावास्यमि"ति कर्तृकर्मणोर्भेदनिर्देशः । "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति सम्बोध्यसम्बोधकयोर्भेदः इत्यादिरीत्या सर्वत्र भेददर्शनादिति चेन्न । सर्वव्यवहारस्य भेदनिबन्धनतया भेदे स्थित्वा परमार्थं व्यवहारातीतं व्याचक्षणासु श्रुतिषु भेदनुवादावश्यंभावात् । परमात्मप्राप्ति-प्रयोजकज्ञानोत्पत्तिसहायकर्मोपास्त्यादीनामीश्वरजीवादिभेदज्ञानपूर्वकत्वात् । अन्यथा कर्मकामश्रुतीनामाधिक्याद् बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यन्वात्कर्मणैव मोक्षः । कर्मासमर्थाः पङ्गुकाणप्रभृतय उपासीरन् ज्ञानमभ्यस्येदिति सिद्धान्त-स्यैवौचित्यं स्थाप्येत । न हि निरन्तरोपास्तीनां कर्मादि संभवति । व्यावहारिकपारमार्थिकसत्ताभेदेनास्मन्मते विरोधविरहाच्च ॥ १९ ॥

धान्यार्थी सपलालं हि धान्यं धत्ते ततस्तु किम् ।
तात्पर्यं तण्डुले तस्य पलालं तु बलागतम् ॥ २० ॥ [४१३]

चावलके लिये धान खरीदते हैं । भूसी साथमें होती है तो क्या हुआ? भूसी छोड़कर चावल संग्रह करते हैं या नहीं? ॥२० ॥

तण्डुलार्थी किल सपलालं धान्यं गृह्णति । ततः किमू तस्य पलालमपि अभिप्रेतमिति मन्यते? पलालं त्वविनाभावेनागतम् । तात्पर्यं तण्डुले एव । एवं व्यपदेशेषु भेदो बलादायाति । न हि तावता भेदतात्पर्यं शक्यं श्रुतेः स्थापयितुम् ॥ २० ॥

गिरौ किलाग्निसम्बन्धं वक्तुमाहाग्निमान् गिरिः ।
यदग्निमदभिन्नाद्रिबोधकं तत्कथं वद ॥ २१ ॥ [४१४]

पर्वतमें वह्निसम्बन्धमात्र बताना है। तदर्थ वह्निमान् पर्वतः कहते हैं। किन्तु "नामार्थयोरभेदान्वयः" इस नियमके अनुसार पर्वतो वह्निमानका अर्थ है-वह्निमदभिन्नः पर्वतः। पर्वत किससे अभिन्न यह प्रश्न है नहीं। प्रश्न है पर्वतोंमें वह्निका सम्बन्ध है या नहीं? तो क्या उत्तर हुआ या नहीं? उत्तर हो गया। श्रोता अपने लिये आवश्यक अंश लेकर बाकीको छोड़ देता है। वैसे ही श्रुति भावानुसार कर्तृकर्म व्यपदेश भले करें। तात्पर्य क्या है यही हमें देखना है॥ २१॥

ननु शास्त्रप्रमाणा वयमिति शास्त्रे भेदव्यपदेशाद् भेदसिद्धिरिति चेन्न। तात्पर्यस्य बलवत्त्वात्। पर्वते वह्निसम्बन्धोऽस्ति न वेति जिज्ञासुं प्रत्याह-पर्वतो वह्निमानिति। तदेतन्न सङ्गच्छेत। नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्ते-रुक्तवाक्येन वह्निमदभिन्नः पर्वत इति बोधस्यैवोत्पत्तेः। तत्र श्रोता पलालधान्यन्यायमेवाश्रयति। न च पर्वते वह्निरस्तीत्येव तत्र शब्दः प्रयोक्तव्य इति वाच्यम्। तत्र वह्नौ पर्वतवृत्तित्वमेव शब्दार्थः न तु पर्वते वह्निसम्बन्धः। संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता सप्तम्यर्थ इति स्वीकारे पर्वत-निष्ठप्रकारतानिरूपितयथोक्ताधेयतानिष्ठप्रकारतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्न-विशेष्यताकबोधस्तत्रोत्पद्यते। न च पर्वते वह्निसम्बन्धोऽस्तीत्युत्तरं दातव्य-मिति वाच्यम्। तादृशवाक्यस्य पर्वतनिष्ठप्रकारतानिरूपिताधेयतानिष्ठ-प्रकारतानिरूपितवह्निप्रतियोगिकाभिन्नसम्बन्धत्वावच्छिन्नविशेष्यताकबोधजन-कत्वेन वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकबोध-जनकत्वविरहात्। पर्वतो वह्निसम्बन्धवानिति यद्युच्येत तदापि वह्नि-प्रतियोगिकाभिन्नसम्बन्धवदभिन्नः पर्वत इत्येव बोधो भवेदिति बालुका-भित्तिवद् यत्र यत्र स्पृश्येत तत्र तत्र क्षरणं स्यात्। तस्मात्तात्पर्येणानु-पयुक्तांशत्यागेन बोधो बलादङ्गीकार्यः॥ २१॥

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैवेत्यैक्यं तात्पर्यगोचरम्।
वेद्यवेदिनृभावादिर्व्यवहारबलागतः॥ २२॥ [४१५]

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" यहां कर्मकर्तृभावको लेकर भेद विवक्षित नहीं किन्तु ब्रह्मैक्य विवक्षित है यह एक बच्चा भी समझ सकता है। राहोः शिरः के समान व्यवहारानुसार कर्मकर्तृभावसे वाक्य बोला जाता है॥ २२॥

"तद् यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यत्र जीवब्रह्मैक्यमेव तात्पर्यविषयः। तत्र वेदनकर्तुर्वेदनकर्मणश्च व्यवहारगतभेदो न तात्पर्य-विषयः तेन विना बोधयितुमशक्यत्वात्तु तदुक्तिः ॥ २२ ॥

साम्यं निरञ्जनो यातीत्युक्तेः साम्यार्थतेति चेत्।
मैवं नद्यः समुद्रेऽस्तं गता इत्यैक्यदेशनात् ॥२३ ॥ [४१६]

पूर्वपक्षः—"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इस श्रुतिसे समानता ही सिद्ध होती है। उत्तरपक्षः—उसी उपनिषत् में आगे जाकर "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय" इस प्रकार ऐक्य दिखाया। नदियां समुद्रमें मिलनेके बाद फिर क्या अलग रहती हैं? येषां साम्ये स्थितं मन"। "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" "समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्" इत्यादि बीसों स्थानोंपर ब्रह्मके लिये समशब्दका प्रयोग किया है। अतः वह भेदसाधक नहीं है ॥ २३ ॥

"यत्तु निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति श्रुतेस्तत्साम्यमात्रप्राप्तिर्भवति न तु तद्भाव इति, तन्न। परमसाम्यस्य तद्भावपर्यवसानात्। इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। "निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। इति भगवता साम्यस्थितानां ब्रह्मस्थितेरुक्तत्वात्। परमसाम्य-स्याद्वैतविश्रामात्। सागरः सागरोपमः" इत्यादिदर्शनात्। सामानाधि-करण्यमित्यादावप्यैक्यार्थः सामानाधिकरण्यपदस्यैकाधिकरण्यपर्यायत्वात्। साम्यं सान्त्वनं शान्तिमिति तत्र व्याख्यान्तरम्। ननु यथाश्रुतार्थपरित्यागो न युज्यत इति चेन्न। तत्रैव "यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपद्विमुक्त" इति श्रुतेः समुद्रलीनायाः नद्याः समुद्रभावप्राप्तेर्दृष्टान्तेनोक्तत्वाद् ब्रह्मभावप्राप्तेरेवेहापि विवक्षितत्वात्। यदि च समुद्रभावप्राप्तिर्न स्यात्तदा नामरूपत्यागोत्तरं नद्याः किंस्वरूपमिति वक्तव्यम्। पार्थक्ये सतिं कथं न नामरूपे स्याताम् ॥ २३ ॥

वामनालम्भनादुक्तं विष्णुत्वं साम्यलक्षणम्।
तन्नासिद्धः सदृष्टान्तो नातिभारो गिरो यतः ॥ २३ ॥ [४१७]

प्रश्नः—"वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमांल्लोकानभिजयति" इस श्रुतिमें वामनपश्वालम्भनसे विष्णु होनेकी बात बतायी है। अनेक जन्मसाधनाभ्याससे प्राप्य यह विष्णुपद वामनालम्भनसे कैसे मिलेगा? अत एव वहां" विष्णुरेव" का विष्णुसदृश अर्थ है। वैसे "ब्रह्मैव भवति" का ब्रह्मसदृश होता है यही अर्थ उचित है। उत्तरः—क्या आप यह आपत्ति किसी प्रमाणान्तरविरोधसे कर रहे हैं या न जँचनेसें? कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो विष्णुभाव का विरोध करता है। न जँचने की बात है, किन्तु मीमांसामें यह प्रसिद्ध है कि "नातिभारो वचसाम्"। वचन है, श्रुति है, उसे मानना ही मानना है। उसमें उपपत्ति आपको ढूंढना है अपने मनस्तोषके लिये। प्रश्नः— परंतु जीव, विष्णु कैसे बन सकता है? उत्तरः— यदि विचार ही प्रस्तुत करना है तो सुनो। विष्णुत्वजाति ही पृथक् है। जैसे "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां" इस मन्त्रमें असंख्य रुद्र माने हैं वैसे असंख्य विष्णु माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। वैष्णववामनालम्भनसे, जैसे यज्ञोंसे देव बनते हैं वैसे एक विष्णु बन जाना कठिन बात नहीं है। "विष्णवे शिपिविष्टाय" में सविशेष विष्णुको पृथक् देवता माना ही है। फिर आपके मतमें विष्णुसमता ही मोक्ष है। वह वामनालम्भनमात्रसे कैसे होगी? ॥ २४ ॥

ननु "वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमांल्लोकानभिजयति, "विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमांल्लोकानभिजयति" इत्यादौ विष्णुभवनं विष्णुसाम्यापत्तिरेव। न हि वामनपश्वालम्भनमात्राद् विष्णुतादात्म्यमुपपद्यत इति चेत्? कुतो नोपपद्यते? किं प्रत्यक्षविरोधादुत तर्कविरोधात्? उतान्यतः ? नाद्यः। प्रत्यक्षविरहात्। न द्वितीयः। तदा स्वर्गादेरपि निरासापत्तेः। न चोपासनादिबहुकष्टप्रतिपादकशास्त्रान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गान्न तद्भावापत्तिरर्थ इति वाच्यम्। नातिभारो वचनस्येति न्यायात्। न चान्यस्यान्यभावापत्तिर्न भवतीति वाच्यम्। तथा सत्युपासनादिबहुकष्टसाधनं किमर्थमिति त्वयैवोपपादयितव्यम्। ननु भवन्मते किमत्रोत्तरम्? जीवो ह्यविद्याविशिष्टः। ईश्वरो मायाविशिष्टः। न हि तयोरैक्यम्। उपाधित्यागे तु ब्रह्मरूप एव भवति न तु विष्णुरूप इति

चेत्? नानाविष्णूपगमाद्विष्णुत्वजातत्यवच्छिन्नताप्राप्तेस्तत्र वाक्यार्थत्वात् । न च नानाविष्णवोऽसिद्धा इति वाच्यम् । मीमांसकैस्तदुपगमात् । अत एव वैष्णवं चरुमित्यादौ विष्णुः पृथक् । विष्णवे शिपिविष्टायेत्यत्र शिपिविष्टत्व-विशिष्टविष्णुर्देवतान्तरमिति तत्सिद्धान्तः । देवत्ववत्तद्व्याप्यजात्यन्तरं विष्णुत्वम् । यथा रुद्रत्वम् । तथा चासंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा इत्यादेरुपपत्तिः किंच भवन्मते विष्णुसमत्वमेव मोक्षः । तत् कथं वामना-लम्भनमात्रात् स्यात्? यत्किंचित्साम्यस्याधुनापि सत्त्वात् ॥ २४ ॥

घटे नष्टे घटाकाशो महाकाशो भवेद्यथा ।
उपाधिविगमे जीवो ब्रह्म संपद्यते तथा ॥ २५ ॥ [४१८]

प्रश्नः—ऐसे फिर ब्रह्मत्वजाति मानकर ब्रह्मैव भवति का भी अर्थ कर लो । उत्तरः—नहीं । "एकामेवाद्वितीयं" यह ब्रह्मके लिये प्रसिद्ध है । घट नष्ट होनेपर घटाकाश महाकाशरूप होता है । वैसे अविद्योपाधिनाशसे जीव ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ २५ ॥

ननु तुल्ययुक्त्या ब्रह्मत्वमपि जातिरस्तु । रुद्रत्वविष्णुत्ववत् मैवम् । कमलासनापरपर्यायब्रह्मणो देवत्वेऽपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुत्युक्त-ब्रह्मणो देवत्वानुपगमात् । तच्च क्लीबब्रह्मशब्देन बोध्यते । देवशब्द-प्रयोगस्तु तत्र प्रकाशरूपत्वादेव । न तु देवत्वजातिः । सर्वधर्मरहितत्वात् । स चैक एव । "एको देवः सर्वभुतेषु गूढ " इति श्रुतेः । न चैवम्प्यन्य-स्यान्यभावो न युज्यत इति वाच्यम् । अन्यत्वस्य कल्पितत्वात् । यथा घटाकाशस्य घटरूपोपाधिविगमे महाकाशरूपतैव तथा जीवस्योपाधिविगमे ब्रह्मरूपतैव । यथा किलैकस्या विशालशालाया विभाजने (पार्टीशन) ह्रस्वे द्वे शाले भवतः, मध्यविभाजकभित्त्यपसारणे एकैव भवति, तत्रैकशालाकाशस्यापरशालाकाशैकीकरणे नाहननादिकमपेक्षितम् । भेदस्य काल्पनिकत्वात् तद्वदिति ॥ २५ ॥

दासत्वं मोक्ष इति चेत् विद्यते तेऽधुनापि तत् ।
पारवश्यं च दुःखाय स्वाम्येच्छुः सकलो यतः ॥ २६ ॥ [४१९]

प्रश्नः—भगवानके दासभावकी प्राप्ति मोक्ष है । अतः भेद रहेगा । उत्तरः—तो अभी आप क्या भगवानके स्वामी हैं? दास तो अभी भी हैं । बल्कि पराधीनता दुःखकारण है । सब स्वामी ही बनना चाहते हैं ॥ २६ ॥

ननु मोक्षे न तद्भावः किन्तु तद्दासभाव एव । "पतिं विश्वस्य, स कारणं कारणाधिपाधिप इत्यादिश्रुतेरिति चेन्न । अधुनापि दासत्वान्मोक्ष-वैयर्थ्यापत्तेः । "दासभूता स्वतः सर्वे स्वात्मानः परमात्मनः " इति वचनात् । किं च पारवश्यं दुःखाय भवतीति व्यर्थो मोक्षः स्यात् । "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमि"ति ह्यानुभविकवचनम् ॥ २६ ॥

पारतन्त्र्यं सुखकरं केचिदत्र त्वतिष्ठिपन् ।
त आङ्ग्लपारतन्त्र्यं च श्रेष्ठं हन्ताभिमेनिरे ॥ २७ ॥ [४२०]

कुछ लोग परतन्त्रताको सुखकारी सिद्ध करते हैं । ऐसे ही लोग अंग्रेजोंके परतन्त्र रहनेका भी समर्थन करते थे ॥ २७ ॥

अत्राह कश्चित्स्वातन्त्र्यमपि दुःखाय स्वाङ्गुलिच्छेदनादिषु । पारतन्त्र्यं सुखायैव पत्नीनां तु स्वभर्तृषु इति । अत्र ब्रूमः । स त्वदीयः समयोऽद्यत्वे गतः । स्त्रियोऽपि स्वातन्त्र्यायान्दोलनमद्य कुर्वते ॥ २७ ॥

पारतन्त्र्ये परं सौख्यं मन्वाना आङ्ग्लजान् जगुः ।
मा दात भो नः स्वातन्त्र्यं महादुःखमतो भवेत् ॥ २८ ॥ [४२१]

परतन्त्रता में सुख माननेवाले अंग्रेजों को यही बोलते थे कि हमें स्वतन्त्रता मत दो, उसमें हमें ही खतरा होगा, कष्ट होगा ॥ २८ ॥

पारतन्त्र्ये च स्वरक्षणं भयाद्यभावश्च बहवस्तदानीं मेनिरे । यदपि कीलोत्पाटी वानर इव स्वतन्त्राः दुर्गतिं यान्ति । स्वाङ्गुलिच्छेदे स्वातन्त्र्यं किं सुखकरं भवितुमर्हति? अत्र ब्रूमः । मन्ये वानरसदृशो भवान् स्वस्वातन्त्र्याद् बिभेति । अद्यत्वे वानरेभ्यः कीलोत्पाटनस्वातन्त्र्यमाच्छिन्नं किम् ? येनाद्यत्वे कीलमुत्पाट्योत्पाट्य वानरा न म्रियन्ते ? किमेवंविधां युक्तिं वदतस्तवाङ्गुलिच्छेदनस्वातन्त्र्यं केनचिदाच्छिन्नम्? नाऽऽच्छिन्नं चेत्प्रतिदिनं सर्वे स्वाङ्गुलीन् कुतो न च्छिन्दन्ति । तस्मात् कीलोत्पाटिनो वानरस्याङ्गुलिच्छेदिनः पुरुषस्य च मौर्ख्यमेव दुःखकारणम् । न तु

स्वातन्त्र्यम् । सर्पदष्टाङ्गुलिच्छेदने स्वातन्त्र्यविरहे स्पष्टमेव मृत्योरामन्त्रणम् । न ह्येकस्य वानरस्य कीलोत्पाटनमरणात् पारतन्त्र्यमहीयस्त्वसिद्धिः । पञ्जरबन्धनबद्धाः सर्वे वानरा वा शकुना वा आहारादिपौष्कल्येऽपि न बन्धनमेवेच्छन्ति । अस्याङ्गुलिच्छेदनस्वातन्त्र्यं मा भूदिति लोहशृङ्खलाबद्धः किमानन्दमनुभवति? तदलं मूर्खजनयुक्तिनिराकरणप्रयासेन ॥ २८ ॥

पितृ भर्तृ सुतादीनां सतामिव तदीशितुः ।
तथेति चेदशक्तस्य नाशक्तिः प्रीतिदा सदा ॥ २९ ॥ [४२२]

प्रश्नः—जैसे पितृपारतन्त्र्य पतिपारतन्त्र्य आदि पिता-पति आदि सत्पुरुष हो तो सुखद है, वैसे सत्स्वरूप परमेश्वरका पारतन्त्र्य सुखद हो सकता है । उत्तरः—अशक्त स्त्री आदिके लिये पिता पति आदिका पारतन्त्र्य सुखद हो सकता है । पर हमेशाके लिये अशक्त बने रहना कौन चाहेगा? ॥ २९ ॥

ईश्वरोऽहमहं भोगीत्यासुरी भावनेति चेत् ।
न, राजा शक्त इत्यादिरर्थः प्रासङ्गिकोऽत्र यत् ॥ ३० ॥ [४२३]

पूर्वपक्षः—"ईश्वरोऽहमहम् भोगी" इत्यादि आसुरी भावना है ऐसा गीतामें कहा है। उत्तरः—गीतामें प्रसङ्गसे ईश्वरपदका समर्थ या राजा आदि अर्थ है । न कि परमेश्वर अर्थ ॥ ३० ॥

यत्तु "ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी"त्येवमीश्वरभावं कुर्वतां भगवताऽऽसुरत्वमाहेति तत्तुच्छम्। तत्रेश्वरशब्दस्य स्वाम्यर्थकत्वात् । "असौ मया हतः शत्रु"रित्यादिनाऽहंकारप्रदर्शनस्यैव प्रासङ्गिकत्वात् । अन्यथा "यक्ष्ये" इत्यस्यानन्वयापत्तेः । न हि स्वस्यैव स्वयं यजनम् । अनीश्वरवादिनो नास्तिकस्य मते ईश्वराप्रसिद्धेरनर्थकमेव वचनं स्यात् ॥ ३० ॥

नेश्वरं मेनिरे ते हिं जगदाहुरनीश्वरम् ।
स्वयं चेदीश्वरः कस्माज्जगत्तेषामनीश्वरम् ॥ ३१ ॥ ४२४]

आसुरी भावनावाले शास्त्रोक्त ईश्वरको कहां मानते हैं? "जगदाहुर-नीश्वरं" इस प्रकार असुरोंकी प्रथमसामान्य बात बतायी । यदि स्वयं ईश्वर हो तो जगत् अनीश्वर किस प्रकार होगा? अतः "ईश्वरोऽहं"इस जगह पूर्वोक्त अर्थ ही है ॥ ३१ ॥

आसुरानुपक्रम्य ते जगदाहुरनीश्वरमित्याह भगवान् । यदि स्वयं ते ईश्वरोऽहमिति मन्येरंस्तदा कथं जगदनीश्वरं भवितुमर्हति । स्वस्यैव जगत् प्रति ईश्वरत्वात् । यत्किंचिदीश्वरत्वं तु सर्वस्मिन् विद्यते इति कथमा-सुरताप्रयोजकम् ॥ ३१ ॥

किं चेश्वरत्ववैशिट्यमहंयोस्तत्र दर्श्यताम् ।
अहंत्वेशत्वयोस्त्यागः श्रुतौ तद्वचसि क्व सः ॥ ३१ ॥ [४२५]

और माना जाये कि अहंकारसे वह मैं ईश्वर हूं बोलता है किन्तु श्रुतिमें भागत्याग अभिप्रेत है । ईश्वरत्व और जीवत्वको छोड़कर चैतन्यकी एकताका प्रतिपादन क्या वे करते हैं? ॥ ३२ ॥

किं चाहमीश्वर इति वदन्न लक्षणयाऽसौ वदति । किन्त्वहंकारवान् स्वस्येश्वरत्वमारोप्य ब्रवीति । अहं ब्रह्मास्मीत्यादौ त्वहंत्वमीश्वरत्वादिकं च त्यक्त्वा चैतन्यैक्यमुच्यत इति कथमत्र समानार्थत्वम् ? ॥ ३२ ॥

उपचारच्छलं चेदमसुराणां हि मायिनाम् ।
भक्त्या प्रयुक्ते प्राधान्यं प्रकल्प्य प्रतिषेधनम् ॥ ३३ ॥ [४२६]

बल्कि यह दोषकथन उपचारछल होनेसे आप स्वयं आसुरी प्रकृतिके सिद्ध हो रहे हैं । अपनेको अति समर्थ बतानेमें तात्पर्य होनेसे लाक्षणिक प्रयोग है । उसे मुख्य प्रयोग मानकर दोष देना उपचार छल है ॥ ३३ ॥

अपि चेदमुपचारच्छलमात्रं तव । अहं ब्रह्मास्मीति लक्षणया प्रयुक्तस्य शक्यार्थमादाय प्रतिषेधात् । तथा च सूत्रं "धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भाव-प्रतिषेध उपचारच्छलमिति" । अत्रभाष्यम्-"यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानाभूतमभिप्रेत्य प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भः" इति । छलं मायेति पर्यायः मायाविनोऽसुराः प्रायः । तथा चासुरा एवं व्याख्यातारो हि द्वैतिन एव ॥ ३३ ॥

सत्यशब्दस्य वाच्यार्थो व्यावहारिकसत्यता ।
तच्छून्यमसुरा ब्रूयुर्जगद्धि प्रातिभासिकम् ॥ ३४ ॥ [४२७]

पूर्वपक्षः—जगत्को असत्य बतानेवालेको भी तो भगवान् ने असुर कहा है । उत्तरपक्षः—सत्यशब्दका वाच्यार्थ व्यावहारिक सत्यता है । उसका अभाव अर्थात् प्रातिभासिकता जगतमें है ऐसा असुर कहते हैं । यह ठीक ही है । वेदान्ती जगतको प्रातिभासिक नहीं कहते । व्यावहारिक सत्य ही कहते हैं ॥ ३४ ॥

नन्वद्वैतिनोऽप्यसत्यं जगद् ब्रुवाणा "असत्यमप्रतिष्ठं ते" इति वचनस्य विषया इति चेन्न । व्यावहारिकसत्यताया सत्यशब्दवाच्यार्थत्वात्तच्छून्यत्वे प्रातिभासिकत्वं जगतः स्यात् । तत्त्वमसुरा एव जगतो ब्रूयुः । वेदान्तिनस्तु जगद् व्यावहारिकसत्यं सत्यशब्दवाच्यार्थं मन्यन्ते । किं च न सत्यं तेषु विद्यत इति पूर्वमुक्तेर्बहुव्रीहिरत्र, न सत्यं विद्यते यस्मिंस्तदिदं जगदनृतप्रायमनृतवचनप्रायमिति भाष्योक्तार्थः ॥ ३४ ॥

परमार्थिकसत्यत्वं न तेषां बुद्धिगोचरम् ।
तन्निषिध्य कथंकारं वक्तुमर्हेयुरासुराः ॥ ३५ ॥ [४२८]

पारमार्थिक सत्यता क्या है यह तो असुरोंकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता । तब उसका निषेधकर वे बतियायेंगे ही किस प्रकार ? "जगदाहुः" यहां आहुः से उनके कथनका अनुवाद किया है ॥ ३५ ॥

पारमार्थिकसत्यत्वमसुराणां बुद्धिगोचरमेव न भवतीति तन्निषिध्य जगदसत्यमिति ते वदितुं नार्हन्त्येव । एतत् प्रसङ्गतोऽवोचाम ॥ ३५ ॥

पारतन्त्र्यनिषेधेन स्वातन्त्र्यं श्रुतिसूत्रयोः ।
स स्वराड् भवतीत्याहानन्याधिपतिरित्यपि ॥ ३६ ॥ [४२९]

प्रश्नः—जब जीवात्मा अपनी उपाधि छोड़कर ब्रह्म बन गया तब उसमें स्वतन्त्रत्व सर्वेश्वरत्वादि धर्म कैसे आ गया? उत्तरः—स्वतन्त्रतारूपी धर्मका विधान नहीं । "स स्वराड् भवति" "अनन्याधिपतिः" आदिमें परतन्त्रताका निषेध मात्र है ॥ ३६ ॥

ननु जीवस्येश्वररूपत्वे पारतन्त्र्यानन्वयात्स्वातन्त्र्यमपि न स्यादिति चेन्न । पारतन्त्र्यनिषेधस्यैव स्वातन्त्र्यरूपत्वात् । श्रुतिरप्याह-"स स्वराड् भवती"ति । सूत्रकारोऽप्याह-"अत एव चानन्याधिपतिरि"ति ॥ ३६ ॥

ईश्वरत्वे कथं नाम जगद्व्यापारवर्जता ।
यं यं कामयते सोऽस्येत्युक्तेस्तेऽपि कथं नु सा ॥ ३७ ॥ [४३०]

पूर्वपक्षः—यदि जीव मोक्षमें वस्तुतः ईश्वर होता हो तो जगत्सृष्टि आदि व्यापार अपने आप उसमें आयेगा । तब "जगद्व्यापारवर्जं" इस सूत्रकी संगति किस प्रकार? उत्तरपक्षः—श्रुतिमें कहा जो-जो कामना मुक्त-पुरुष करता है वही उसकी सिद्ध होती है । तब जगत्सृष्टिकी कामना करनेपर वह भी तो होनी चाहिये । तब आपके मतमें भी सूत्रकी उपपत्ति किस प्रकार? ॥ ३७ ॥

अथाभ्युपगमवादेनेदमुच्यते । ननु मुक्तस्येश्वरत्वं जगद्व्यापार-वर्जत्वोक्तिः सूत्रकारस्य नोपपद्येत । तस्मादीश्वरसाम्यमेवेति चेत्? सत्यम् । तव मतेऽपि-"यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठती"ति श्रुतेः जगद्व्यापारकामनायां कथं सूत्रोपपत्तिः? मुक्तस्य कामनैव नास्तीत्यप्ययुक्तम् । उक्तश्रुतिविरोधादेव । कामनासत्त्वेऽपि जगद्व्यापारो न भवति चेत्तदा-प्युक्तश्रुतिविरोध एव । न च जगद्व्यापारेच्छैव तस्य न भवतीति वाच्यम् । इच्छाया निरङ्कुशत्वात् । तदिच्छाभावस्यैव हेतोर्वक्तव्यत्वे प्रकरणाद-संनिहितत्वादिति हेत्वन्तरोपन्यासानर्थक्यं स्यात् ॥ ३७ ॥

साष्टर्यादिमुक्तेरेवातो जगद्व्यापारवर्जिता ।
ईशस्वरूपमापन्ने चिन्ताया अप्रसक्तितः ॥ ३८ ॥ [४३१]

अतः सारूप्य, सार्ष्टि आदि मुक्तिमें ही जगद्व्यापारका अभाव बताया गया है । जो ईश्वरस्वरूप है वहां जगद्व्यापारके बारेमें संशय ही कैसे उठेगा ? नदी समुद्रमें मिलनेसे विशालरूप धारण करं समुद्र समान हो गयी । वहां जहाज चलता है या नहीं यह विचार हो सकता है । समुद्र बन गयी तो जहाज वहां निश्चित चलेगा । वहां संशय, पूर्वपक्ष आदि उठते ही नहीं तो उसको लेकर अधिकरण कैसे बनेगा? ॥ ३८ ॥

तस्मात्सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यादिमुक्तिभाज एव जगद्व्यापारवर्जत्वं सूत्रकृता निर्णीयते । ईश्वरस्वरूपापन्नस्त्वीश एवेति तत्र जगद्व्यापारसत्त्वासत्त्वचिन्तावैयर्थ्यात् । ननु जगद्व्यापारवर्जत्वोक्तेर्मुक्तावीश्वरभावो न सूत्रकृत्संमतः ईश्वरभावे जगद्व्यापारवर्जनोक्त्यनुपपत्तेरित्यस्मदाशय इति चेन्न । जगद्व्यापारवर्जत्वोक्तिर्न कैवल्यमुक्तिमधिकृत्य । किन्तु सालोक्यादिमुक्तिमधिकृत्यैवेत्येव सूत्रकृत्तात्पर्यमित्यस्मद्व्याख्यायां किं तव प्रतिषेधनम्? न चैवं विनिगमनाविरह एवेति वाच्यम् । "यं यं कामयत" इत्यनुपपत्तेर्विनिगमकत्वात् । अनीश्वरत्वादिति हेतोरेव सुगमत्वाच्च ॥ ३८ ॥

कर्मजं पारतन्त्र्यं हि बाध्यते स स्वराडिति ।
मैवं संकोचकाभावान्न स्मृत्या श्रुतिबाधनम् ॥ ३९ ॥ [४३२]

पूर्वपक्षः—"स स्वराड्" इस श्रुतिमें कर्मपरतन्त्रताका ही निषेध है । उत्तरः—इस प्रकार श्रुतिके अर्थका संकोचन करना संभव नहीं है । "दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः" इत्यादि पौरुषेयवचनसे श्रुतिबाध नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

ननु "आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर । दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः" इति वचनात् स्वाभाविकं पारतन्त्र्यं मोक्षे न निवर्तते । "स स्वराड् भवति" "अत एव चानन्याधिपतिरि"ति च श्रुतिसूत्रे कर्मजपारतन्त्र्यनिवर्तनपरे इति चेन्न । स्मृत्यादिभिः श्रुतिबाधनायोगात् । स स्वराडिति श्रुत्यर्थसंकोचानुपपत्तेः ॥ ३९ ॥

सर्वस्येशान इत्यत्र स्वेतरेशो निगद्यते ।
स्वस्येशने स्वतन्त्रत्वं पारतन्त्र्यमुतेशितुः ॥ ४० ॥ [४३३]

पूर्वपक्षः—"सर्वस्येशान" इस श्रुतिसे मुक्त पुरुषका भी शासक ईश्वर सिद्ध होता है । अतः मुक्त पुरुष भी परतन्त्र है । उत्तरपक्षः—सर्वस्यका अर्थ है अपने आपसे भिन्नका । मुक्तपुरुष ईश्वररूप हो गया तो उसका स्वयं ईश्वर नहीं होगा । यदि होगा तो स्वयंपर स्वयं शासन करता है तो स्वतन्त्र ही हुआ । इतनेसे परतन्त्रता मानेंगे तो सर्वान्तर्गत ईश्वर भी है । ईश्वरका शासक ईश्वर हुआ तो ईश्वर भी परतन्त्र होने लगेगा ॥ ४० ॥

ननु 'सर्वस्येशानः 'पतिं विश्वस्ये'त्यादि श्रुतेर्मुक्तस्यापीशानः परमेश्वर इति सिध्यतीति श्रुत्यैव स्वाभाविकपारतन्त्र्यं समर्थितमिति चेन्न । सर्वस्येशानः इत्यत्र स्वेतरसर्वस्येशान इत्येवार्थो भवति । तथा सति ईश्वरभूतस्य मुक्तस्येशानः कथमीश्वरः । यदि तत्रापि संकोचं न सहामहे, स्वस्यापीश्वर इत्यर्थं स्वीकुर्महे इति ब्रूषे तदा ईश्वरस्यापि पारतन्त्र्यमायातम् । यद्वा स्वस्येश्वर इत्युक्ते स्वातन्त्र्यमेव शब्दान्तरेणोक्तं स्यात् । तथा सति च निवृत्तमेव पारतन्त्र्यम् ॥ ४० ॥

भोगसाम्यं च परमं न द्वितीयभयाद् भवेत् ।
स्यादीशस्यापि भीस्तर्हि, स्यादेव पशुहानतः ॥ ४१ ॥ [४३४]

"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" यह सूत्र आपके मतमें भी संगत नहीं होगा । द्वितीय ईश्वरसे भय बना रहता है, भोगसाम्य किसप्रकार? "द्वितीयद्वै भयं भवति" इसप्रकार फिर ईश्वरको भी अपनेसे द्वितीय जीवसे भय होने लगेगा । अवश्य होने लगेगा द्वैत मतमें । द्वैतियोंका ईश्वर तो देवतामात्र है । उनके दास जीव पशु हुए । तो ये पशु यहांसे चला न जाये ऐसा ईश्वरको भय रहेगा ॥ ४१ ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चेत्यत्रापि सालोक्यादिमुक्तिमतः परमसाम्यं नास्त्येव । 'द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुते'स्तत्र द्वैतदर्शिनो द्वितीयभयावश्यंभावात् । नन्वेवमीश्वरस्य जीवेन द्वितीयेन भयं स्यादिति चेद्? भवेदेव तव द्वैतिनो मतेन । देवविशेषो हि तवेश्वरः । तस्मै तु बहुषु पशुषु विद्यमानेष्वेकस्यापि हानं न रोचत इति पशुहानभयमस्त्येव । पशवो हि दासभूता भवन्ति । एवं सति परमसाम्यमेवायातमुभयोर्भयसत्त्वादिति चेन्न । एकस्य दण्डभयमपरस्य पशुहानभयमिति वैशेष्यसत्त्वात् ॥ ४१ ॥

पितृस्वाम्याद्यधीनत्वं पत्यधीनत्ववत् स्त्रियाः ।
प्रत्युक्तं पुत्रभृत्यादेः सुखं प्रत्यक्षबाधतः ॥ ४२ ॥ [४३५]

पुत्रको पिताकी अधीनता सुखद है, भृत्यको स्वामीकी अधीनता सुखद है इत्यादि पूर्वोक्त युक्तिसे निरस्त है । पत्नीको पतिपरतन्त्रता सुखद है इसका निरास पहले कर चुके हैं । ये सब प्रत्यक्षविरुद्ध है ॥ ४२ ॥

यदपि पुत्रस्य पितृपारन्त्र्यं स्वस्वातन्त्र्यादप्यधिकां प्रीतिं जनयतीत्यादि। तदपि पत्नीपारतन्त्र्यसुखनिरासेन निरस्तम्। पुत्रोऽपि यावत् स्वीयाशक्तिस्तावदेव पारतन्त्र्यं स्वीकरोति। शक्तौ सम्पन्नायां न पितृपारतन्त्र्येणासौ वर्तितुमिच्छति। जनकं प्रत्यप्यभियोक्तारोऽद्यत्वे दृश्यन्ते। न च कलियुगे एव भवतीति वाच्यम्। यतो भवानपि कलियुगस्थ एव। अतएव चाणक्योऽपि-"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेदि"त्याह स्म। अन्यथा शासने परतन्त्रीकरणे च पुत्रोऽपि द्वेषी स्यादिति चाणक्यतात्पर्यम्। दासानामप्येतदेव। प्रथमं दासभावेन वेतनेन कर्म कुर्वन्तः क्रमेण स्वस्य स्वाम्यमेव संपादयितुं प्रयतमाना दृश्यन्ते। भृत्यः श्रेष्ठी भवितुमिच्छति। "परसंपदुत्कर्षो हीनसंपदं दुःखाकरोती"ति न्यायात्। स वैकुण्ठेऽपि प्रवर्तेतैव। न तत्र रागद्वेषाविति चेत्? कुतस्तर्हि विष्णुः स्वसिंहासने स्वपार्षदान्नोपवेशयति? स्वासने रागात्तु तथा। अथवा स्वासने भृत्यानसावुपवेशयितुमसमर्थ इति वक्तव्यम्। तदा च गतमीश्वरस्येश्वरत्वेन। स्वभाव इति चेत्। स त्वत्कल्पितः स्वभावः। स्वाराज्यादिकामनासत्त्वे सर्वेश्वरत्वकामनां को वा प्रतिरुन्ध्यात्। न च श्रुतिबलात् सर्वेश्वरत्वकामना न स्यादिति वाच्यम्। श्रुतेः कामनाप्रतिबन्धकत्वविरहात्। "न कलञ्जं भुञ्जीते"ति साक्षात्प्रतिषेधसत्त्वेऽपि कलञ्जभक्षणकामनातत्प्रवृत्त्यादिदर्शनात्। इह तु सर्वस्येशान इति श्रुत्वा सर्वान्तर्गतोऽहमिति मत्वा सर्वेशानत्वकामना प्रतिरोद्धव्या स्यात्। क्वचित् सर्वेश्वरत्वकामनाऽभावस्तु बुद्धिमान्द्यप्रयुक्तः तत्सामीप्यादर्शनाच्च। अत एव क्रमश इच्छावृद्धिं नीतिकारा दर्शयन्ति "निःस्वं वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्री जन" इत्यादिना। न हि नःस्वो झटित्येव लक्षपतिर्भवितुमिच्छति। एवं क्रमेणेच्छाप्रसरे तस्य चरमावधिर्निरतिशयसर्वेश्वरत्वमेव ॥ ४२ ॥

प्रत्युक्तं भोगसाम्यं च लक्ष्म्या भोगो हरेर्हि वः।
कथमेषोऽप्सरोभिः स्यात् पार्षदानां सलोकिनाम् ॥ ४३ ॥ [४३६]

वैकुण्ठगमनरूपी मोक्षको जो प्राप्त हो गया उनके लिये भोगसाम्य कहना भी हास्यास्पद है। लक्ष्मीको लेकर नारायणको जो सुखप्राप्ति

होती है क्या वह सुख-प्रीति परियोंको (अप्सराओंको) लेकर पार्षदोंको होगी ? ॥ ४३ ॥

प्रत्युक्तं च परमसाम्यं भोगस्य । न हि लक्ष्म्या यो भोगो हरेर्नारायणस्य भवति सोऽप्सरोभिः सलोक्यवतां पार्षदादीनां कथंचिदपि संभाव्यते । यदि वा भवति किं जगद्व्यापारचिन्तया । जगद्व्यापारे वा का हानिः । न च परस्परविरोधादिना कार्यविप्लवापत्तिः । वैकुण्ठे विरोधादिर्नास्तीत्युक्त्या परिहारसंभवात् । "विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे" इति वचनाज्जगद्व्यापारं त्यक्त्वा संकटाद्विमुक्तिमेव श्रेयसीं मुक्ताः कुतो न मन्येरन्? तस्मात् 'जक्षत् क्रिडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वे'त्यादिश्रुतीनां यथाश्रुतार्थं गृहित्वा स्त्र्यादिभोगकामिनां, जीर्यमाणैहिकजीवने तदयोगाद् एकात्म्यरूपमोक्षे भक्षितेऽपि लशुने व्याधिशान्तिर्नास्तीति तादृशभोगासंभवं पश्यतामैहिकस्त्र्यादिभिरपरितुष्टचित्तानां कामलम्पटानामेवैतद् दर्शनम् ॥ ४३ ॥

वस्तुतो नेशभावो हि मोक्षो मायाविकल्पितः ।
ब्रह्मभावः स यः सर्वविकल्पपरिवर्जितः ॥ ४४ ॥ [४३७]

ये सभी बातें अभ्युपगमवादमें बतायी । वस्तुतः तो ईश्वरभावको प्राप्त होना यह मोक्षका स्वरूप ही नहीं है । क्योंकि वह मायाविकल्पयुक्त है । मोक्ष तो ब्रह्मभाव है जो सर्वविकल्परहित है ॥ ४४ ॥

एतत्सर्वमभ्युपगम्योक्तम् । वस्तुतस्तु नेश्वरभावो मोक्षः । ईश्वरो हि मायाविशिष्टचेतन इति तदीयनानाविकल्पयुक्त एव भवति । यथा द्वैतिनां सौन्दर्यसौरस्यादिभोक्तृत्वकर्तृत्वाद्यनन्तगुणक्रियायुक्तः । स जगत्सृष्टिस्थितिसंहारादिकर्ता भवति । तादृशभावश्च नोपशमलक्षणः । किन्तु ब्रह्मभाव एव मोक्षः । स च विगलितसकलविकल्पः सच्चिदानन्दैकरसः ॥ ४४ ॥

कामोऽनतिशयानन्दस्वातन्त्र्यैश्वर्यगोचरः ।
ब्रह्मभावे समाप्नोति नान्यथोपशमस्ततः ॥ ४५ ॥ [४३८]

कामना की समाप्ति निरतिशय आनन्द निरतिशय स्वातन्त्र्य एवं निरतिशय ऐश्वर्यमें जाकर ही होगी । वही ब्रह्मभाव है । उसके विना

शान्ति नहीं हो सकती । यही "आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं" इत्यादि गीता-श्लोकमें भी बताया है ॥ ४५ ॥

कामस्तावद् "निःस्वं वष्टी"त्याद्युक्तरीत्या प्रवर्धमानो निरतिशयानन्दं निरतिशयस्वातन्त्र्यं निरतिशयमैश्वर्यादिकं च विषयीकरोति । तस्य परिसमाप्तिस्तु ब्रह्मभावे एव भवति । "कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठामि"ति श्रुतेः । स च सकलविकल्परहितस्ततश्च परम उपशमो भवति । न हि ब्रह्मभावमन्तरा कस्याप्युपशमो भवितुमर्हति ॥ ४५ ॥

जीवेशैक्यमुशन्ति यद्धि सुधियस्तद्भागहानात्तु तत्
चैतन्यं न हि भिद्यते बिभिदिरे नानाविधोपाधयः ।
खं भेत्तुं यतते स रिष्टिलतया ब्रूते भिदां ग्यश्चितेः ।
ब्रह्मानन्दमनन्तमद्वयपदं कं खं तदाराध्नुमः ॥ ३७ ॥

तत्त्वेत्ता जीव और ईश्वरकी जो एकता है वह भागत्याग करके ही है ।.चैतन्य वस्तुतः एक है । उपाधि ही भिन्न-भिन्न है । चैतन्यको जो भिन्न करना चाहता है वह तलवारसे आसमानको काटना चाहता है । ब्रह्म अखण्ड आनन्द है, अद्वय है । वही आकाशवत् व्यापक आनन्द है । उसीकी हम आराधना करते हैं ॥ ३७ ॥

इति जीवेश्वरभेदभङ्गः

*****

(३८)

अथ अखण्डवाक्यार्थोपपत्तिः

मोक्षहेतुरखण्डार्थधीरेवाज्ञानबाधिका ।
संसर्गत्वविशेष्यत्वप्रकारत्वाऽनिरूपिका ॥ १ ॥ [४३९]

मोक्षके प्रति कारण अखण्डार्थबोध है जो अज्ञानका बाधक है, जिसमें संसर्गता या विशेष्यता या प्रकारता न हो वही ज्ञान अखण्डार्थबोध है ॥ १ ॥

ननु किमर्थमिदं द्वैतमिथ्यात्वादिकं प्रतिपाद्यते? प्रत्यक्षतया द्वैतस्योपलम्भे तस्य मिथ्यात्वप्रकारकबोधमात्रस्याकिंचित्करत्वादिति चेन्न। परमार्थिकसत्यज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वात्तदुपयोगितया तत्प्रतिपादनात् । द्वैतप्रपञ्चाऽविषयकाखण्डाकारवृत्तिरूपज्ञानस्यैवाऽज्ञाननिवर्तकत्वात् । न च किंचिद् द्वैतमपि ज्ञाने प्रविशतु ततः, का हानिः? भूतलं घटाभाववत् पटवच्चेति समुह्यलम्बने घटाभावांशो घटबुद्धिं प्रतिबध्नाति तत्र न कोऽपि विरोधः। एवं ब्रह्माकारवृत्तिर्घटादिवृत्तिश्च भवतु स्वस्वकार्यं भवेदेवेति वाच्यम् । यतो न हि मिथ्यार्थघटितज्ञानं मोक्षसाधनम् तथा सति घटोऽस्तीत्यादावपि सद्रूपात्मनो भासमानत्वात्ततोऽपि मोक्षापत्तेः । द्वैतमिथ्यात्वज्ञाने सति तद्दार्ढ्येन द्वैतबाधे केवलब्रह्मविषयकाखण्डाकारवृत्तिः सम्पद्यते । साक्षात्कारात्मकं चाखण्डार्थज्ञानं मोक्षहेतुः । साक्षात्कारश्च शब्दत एवेति वक्ष्यामः । तथा सति तत्त्वमस्यादिवाक्यैरखण्डार्थसाक्षात्कारे सति मोक्ष इति फलितम् । तत्र ज्ञानस्याखण्डार्थत्वं नाम संसर्गाद्यविषयकत्वम् । संसर्गत्वानिरूपकं विशेष्यत्वानिरूपकं प्रकारत्वानिरूपकं ज्ञानमिति लक्षणत्रयम् । एतेनाखण्डार्थत्वं वा अवच्छेद्यार्थत्वं वेत्यादीनां परकल्पितविकल्पानासप्रसक्तिरेव । "संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् । उक्तखण्डार्थते"त्यादिनाऽऽचार्यैरेव निरूपितत्वेन यथोक्तविकल्पानां शिष्येषु स्ववैदुष्यमात्रप्रदर्शनपरत्वात् ।

ननु सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादौ सत्यत्वादिप्रकारकबुद्धिरेव भवतीत्यखण्डार्थत्वं न स्यात् । न च सत्यत्वं मिथ्यात्वाभाववत्त्वमेवेति। ज्ञानस्य सप्रकारत्वमिति वाच्यम् । भाववदभावस्यापि प्रकारत्वादिति चेन्न । अभावोऽधिकरणरूपो न पदार्थान्तरमित्यादेरनुपदं वक्ष्यमाणात्वात् ॥ १ ॥

चन्द्रः क इति पृच्छन्तं तत्स्वरूपबुभुत्सया ।
आहुः प्रकृष्टभाश्चन्द्रः तदखण्डार्थबोधकम् ॥ २ ॥ [४४०]

चन्द्रस्वरूपकी जिज्ञासासे पूछा कि इस ज्योतिमण्डलमें चन्द्रमा कौन है ?' उत्तर आया प्रकृष्ट प्रकाशवाला चन्द्र है । यह अखण्डार्थबोधक है ॥ २ ॥

अपि च सत्यत्वादिर्भावो वाऽभावो वा सर्वथापि सत्यं ब्रह्मेत्यादि-वाक्यतोऽखण्डार्थबोध एव भवति । प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत् ॥ २ ॥

विशिष्टबोध एवात्राप्याग्नेयाष्टाकपालवत् ।
मैवं तात्पर्यसद्भावासद्भावाभ्यां विशेषतः ॥ ३ ॥ [४४१]

पूर्वपक्षः—"आग्नेयोऽष्टाकपालः" यहां अग्नि देवतावाला अष्टाकपाल होमद्रव्य ऐसा विशिष्ट बोध होता है । वैसे प्रकृष्टप्रकाशचन्द्र यहांपर भी उत्तमप्रकाशवाला चन्द्रमा ऐसा विशिष्टबोध होगा, अखण्डार्थबोध नहीं । उत्तरपक्षः—दृष्टान्तमें विशेषणकी विवक्षा है । दार्ष्टान्तिकमें उत्तम प्रकाश बतानेमें तात्पर्य नहीं । केवल चन्द्रस्वरूप बताना है ॥ ३ ॥

ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्रापि विशिष्टबोध एव न त्वखण्डार्थबोधः । यथाऽऽग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यंत्राग्निदेवताकत्वविशिष्टकपालद्रव्यविधेस्तद्बोध इति चेन्न । आग्नेयस्थले विशिष्टतात्पर्यसत्त्वेऽपि प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र विशिष्टतात्पर्यविरहेणोभयोर्विलक्षणत्वात् ॥ ३ ॥

प्रकर्षे न हि तात्पर्यं तस्याजिज्ञासितत्वतः ।
अन्यव्यावृत्तये पूर्वं भातश्च त्यज्यतेऽन्ततः ॥ ४ ॥ [४४२]

प्रकर्षकी जिज्ञासा की ही नहीं गयी । उसे बतानेकी क्या आवश्यकता? केवल चन्द्रस्वरूप जिज्ञासित है । प्रकर्षका कथन इतरव्यावृत्तिके लिये है । प्रथम उसका भान होनेपर भी मुख्यशाब्दबोधमें तात्पर्याविषय प्रकर्षादिका भान नहीं होता ॥ ४ ॥

नन्वसाधारणधर्मस्य लक्षणत्वात् तत्प्रकारक एव लक्षणवाक्येन बोधः स्यादिति चेन्न । बहुषु प्रकाशेषु दृश्यमानेषु कश्चन्द्र इति जिज्ञासायां प्रकृष्टत्वस्याजिज्ञासितत्वेन तत्कथने प्रश्नोत्तरयोर्भिन्नविषयतापत्तेः । प्रकर्षो ह्यपकर्षसापेक्षः । न हि स्वरूपं सापेक्षं भवितुमर्हति । ननु प्रकर्षस्याऽ-प्रकारत्वे तत्कथनवैफल्यं स्यात् । प्रकाशमात्रोक्तौ च नक्षत्रादिप्रकाशमादाय भ्रम आपद्येत । तस्मात्प्रकर्षप्रकारवैशिष्ट्यमवश्यं स्वीकर्तव्यमिति चेन्न । अनुपददर्शितदोषाऽनिवारणात् । तस्मात् प्रकृष्टपदमितरप्रकाशव्यावृत्त्यर्थ-मुच्यते । व्यावृत्तिश्च यद्यपि तदर्थभानमन्तरा न भवितुमर्हतीति प्रथमं तद्

भासते । तदनन्तरं तत्प्रकारबोधनतात्पर्यविरहात्तदंशं परित्यज्य व्यावृत्तचन्द्र-स्वरूपमात्रं शाब्दबोधेन विषयीक्रियते । न च लक्षणवैशिष्ट्याभाने शाब्दबोधे पुनः प्रकाशत्वेन सकलप्रकाशस्य विषयतापत्तेर्नक्षत्रादिव्यावृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम् । काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इत्यत्र प्रथमं काकविरहकाले देवदत्तगृहं पश्यन्नपि न प्रत्यभिजानीयात् । तथा च प्रथमं वैशिष्ट्य-प्रतीतिरास्ताम् । तथापि पश्चात्तत्परित्यागेन शुद्धप्रतीतिरेव भवति । न च विशिष्टबोधानन्तरं पश्चान्मानसी शुद्धविषयकधीरस्त्विवति वाच्यम् । तात्पर्यस्य शाब्दधीहेतुत्वेन शाब्दबोधस्यैव शुद्धविषयकत्वाभ्युपगमा-वश्यकत्वात् । अन्यथा गङ्गायां घोष इत्यत्रापि "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति ही"ति सिद्धान्तात्प्रवाहाधिकरणकघोषशाब्दबोधो भवति, पश्चात्तात्पर्यात्तीराधिकरणघोषविषयिणी मानसी धीर्भवतीति स्वीकारापत्तेः ॥ ४ ॥

मा स्मोन्मत्तप्रलापो भूदजिज्ञासितभाषणात् ।
निर्गुणश्रुतिबाधश्च मा भूत्तत्त्वमसिस्थले ॥ ५ ॥ [४४३]

अजिज्ञासित प्रकर्षादिका कथन होनेपर उन्मत्त प्रलाप होगा। जैसे बारिषके समय किसीने पूछा आपके पास छाता है? उत्तर दिया छाता है, पुस्तक पेनसिल भी है इत्यादि । तत्त्वमसि यदि विशिष्टबोधक होगा तो निर्गुण श्रुतिका बाध भी दोष होगा ॥ ५ ॥

अत्र प्रयोगः– तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थबोधकम् । स्वरूपमात्र-जिज्ञासोत्तरत्वात् । प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवदिति । न चाऽप्रयोजकोऽयं हेतुरिति वाच्यम् । प्रकृष्टत्वस्यांजिज्ञासितत्वेन तद्विशिष्ट-तात्पर्यतया कथनस्योन्मत्तप्रलापमात्रतापत्तेस्तस्या एव तर्कत्वात् । किं च तत्त्वमस्यादौ निर्गुणश्रुतिबाधापत्तिस्तर्कः । निर्गुणं निष्क्रियं शान्तमित्यादिर्हि श्रुतिः ॥ ५ ॥

निर्गुणत्वमदोषत्वमदिव्यगुणशून्यता ।
इत्यशब्दार्थताहेतोर्नोररीक्रियते बुधैः ॥ ६ ॥ [४४४]

निर्गुणका अर्थ कुछलोग करते हैं—निर्दोष । दूसरे लोग कहते हैं प्राकृतगुणरहित । किन्तु यह सब शब्दार्थ नहीं है । गुणहीनका दोषहीन ऐसा अर्थ आप जैसोंके कोशमें हो सकता है ॥ ६ ॥

यत्तु निर्गुणश्रुतिर्दोषनिषेधपरेति । यदपि प्राकृतगुणशून्यत्वमेव निर्गुणत्वमिति । तदुभयमप्यशब्दार्थत्वादनुपादेयमेव सुधियाम् । न च सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादिदिव्यगुणश्रवणान्न गुणसामान्यनिषेधः शक्यते कर्तुमिति वाच्यम् । सांव्यवहारिकगुणानादाय तदुपपत्तेः । काम्य-संकल्प्यविषयाणामनृतत्वेन तद्विषयककामनादेरन्यादृशदिव्यत्वासंभवात् । यत्तु वैकुण्ठगतदिव्यमणिमयप्रासादमहार्हरत्नसिंहसनादि तत्सर्वं स्वीयकाम कल्पनामात्रम् । भगवत एवंविधवस्त्वधीनानन्दकत्वे सापेक्षानन्दस्य तुच्छ-त्वादिप्रसङ्गात् ॥ ६ ॥

अभानेऽपि प्रकृष्टत्वमस्ति तत्रान्यवारणात् ।
सत्यं विभ्रमसिद्धेनाप्यन्यवारणमिष्यते ॥ ७ ॥ [४४५]

पूर्वपक्षः—माना कि प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः यहां शाब्दबोधमें प्रकृष्टत्वका भान नहीं है । फिर भी वस्तुतः प्रकृष्टत्व तो है ही । उसीसे इतर नक्षत्रादिकी व्यावृत्ति है । उत्तरपक्षः— ठीक है । किन्तु भ्रान्तिसिद्ध से भी इतरवारण संभव होनेसे सर्वत्र इतरवारक धर्म रहता ही है ऐसा नियम नहीं है ॥ ७ ॥

ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र चन्द्रस्वरूपमात्रस्य जिज्ञासिततया भवतु तावन्मात्रं शाब्दविषयः । किन्त्वितरनक्षत्रादिव्यावर्तकं प्रकृष्टत्वं स्वरूप-तस्तत्रास्त्येव । इत्थं तत्त्वमस्यादावपि मा भूद् भानविषयः कश्चिद्विशेषः । किन्तु इतरव्यावर्तकतया तत्र धर्मविशेषः स्यादेव । तथा सति विषयस्य सखण्डत्वं सिद्धमिति अखण्डाकारवृत्तिपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमेव । न हि विद्यमान-धर्मप्रकारकज्ञानं मोक्षं प्रत्यसाधकं वा प्रतिबन्धकं वा भवितु-मर्हति । यथार्थज्ञानमात्रस्य मोक्षहेतुतायाः सर्वैः स्वीकारादित्येवमखण्डे तात्पर्यविरहात् सखण्डाकारवृत्तिरेव भवतीति चेद् । मैवम् । न हि विद्यमानः सत्यधर्म एवेतरव्यावर्तक इति नियमोऽस्ति । असत्यधर्मस्याऽ-विद्यमानधर्मस्य च व्यावर्तकत्वदर्शनात् ॥ ७ ॥

शाखाग्रे चन्द्र इत्यत्र मिथ्या शाखाग्रवर्तिता ।
काकवद् गेहमस्यात्राऽविद्यमानश्च वायसः ॥ ८ ॥ [४४६]

शाखाग्रपर चन्द्रमा है कहनेपर चन्द्रमामें शाखाग्रवर्तित्व मिथ्या होनेपर भी व्यावर्तक होता है । कौआवाला घर जो रास्तेमें हम लोगोंने देखा वह देवदत्तका घर हैं । इस जगह कौआ हमेशा उसपर बैठा नहीं रहता फिर भी वह व्यावर्तक हो जाता है ॥ ८ ।

काकवन्तो देवदेत्तस्य गृहा इत्यत्राविद्यमानोऽपि काको व्यावर्तको भवति । शाखाग्रे चन्द्र इत्यत्र मिथ्यैव शाखाग्रवृत्तित्वं चन्द्रस्य दिगन्तर-वृत्तित्वव्यावर्तकम् । न हि यथाकथंचित्सबन्धस्तत्र विवक्षितः किन्तु प्रातीतिक एवं । अत एव सौहार्देन त्वं न प्रष्टव्यः सम्बन्धम् । नापि तदार्जवदेशसंयोग इत्युत्तरं लब्धव्यमित्यस्ति । वृद्ध आह बालं शाखाग्रे चन्द्र इति । तत्र वृद्धो यथा तथा वा सम्बन्धं मनसि कृत्वा ब्रूताम् । बालस्तु शाखाग्रवृत्तित्वमेव शृणोति पश्यति च । स बालोऽपरं बालमाह शाखाग्रे चन्द्र इति । तत्र वक्ता श्रोता चोभावपि प्रातीतिकं शाखा-ग्रवृत्तित्वमेवादाय व्यावृत्तज्ञानं लभेते । न तु तदार्जवदेशवृत्तित्वसम्बन्धम् । रज्ज्वानयनाय नोदितः कां रज्जुमिति पृष्ट आह–ह्यस्तनसर्परज्जुमिति ह्यः सर्पत्वेन दृष्टेति मिथ्यासर्प इतररज्जुव्यावर्तको भवत्येव । न हि ह्यो दृष्टत्वमात्रं विशेषणम् । रज्ज्वन्तराणामपि दृष्टत्वात् । न च प्रातीतिकसर्पादीनां सम्बन्धी वक्तव्यः, अन्यथा व्यावृतत्त्यनुपपत्तेः, तस्य च सत्त्वेऽखण्डत्वं न स्यादिति वाच्यम् । प्रातीतिकप्रतियोगिसंसर्गस्यापि प्रतीतिकत्वात् । अत्रानवस्था सर्वसंम्बन्धस्थले समानेत्यनिर्वचनीयवाद-सिद्धिरेव ॥ ८ ॥

चन्द्रस्थलेऽधिकोक्त्या स्यादनपेक्षप्रलापिता ।
ततो विरोधभावेऽपि तात्पर्याल्लक्षणा भवेत् ॥ ९ ॥ [४४७]

'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' यहां अधिकोक्ति होनेसे प्रलाप (निरर्थक कथन) दोष होगा । इसलिये विरोध न होनेपर भी लक्षणा होगी ॥ ९ ॥

नन्वधिकोक्तौ का हानिः ? चन्द्रस्वरूपं पृष्टं, तदुक्तं, प्रकृष्टप्रकाशत्वम-धिकमुक्तमित्यत्र को दोष इति चेद्? उन्मत्तप्रलापापत्तेरेव दोषत्वात् ।

किञ्चित्पण्यंगृहं गत्वा पृच्छति किं तण्डुलोऽस्तीति स ब्रवीति तण्डुलोऽस्ति, उलूकोऽप्यस्ति । अपरः पृच्छति–सूपोऽस्तीति । स ब्रवीति सूपोऽस्ति ऊलूकोऽप्यस्तीति । सेयं कथा तवापि । चन्द्रस्वरूपं पृच्छन् कुतो वक्तव्यः चन्द्रोऽस्ति प्रकृष्टप्रकाशत्वमप्यस्तीति । तस्माद् अतात्पर्यविषयत्वात् प्रकृष्ट-प्रकाशत्वादेर्न भवत्येव शाब्दबोधविषयत्वम् । नीलं कमलमित्यादौ तात्पर्य-सत्त्वान्न लक्षणया नीलत्वादिपरित्यागः न वा राज्ञः पुरुष इत्यादौ । यत्तु राज्ञः पुरुष इत्यादावपि 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादि'त्यकार्थत्वं विद्यते । तथा च तत्रापि राजत्वपुरुषत्वादेः परित्यागः स्यादिति । तदसत् । सूत्रार्थानभिज्ञानात् । एकमुख्यविशेष्यताकबोधविषयत्वं वा एकविधेयताकबोधविषयत्वं वैकार्थत्वं तेनैकवाक्यत्वं भवतीत्युच्यते । इह तु एकस्मिन्नर्थे वृत्तिरित्यत्रैकार्थ्यं तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तप्रकारकबोधविशेष्य-योरेकत्वम् । यथा नीलत्वप्रकारकबोधविशेष्यं कमलत्वप्रकारकबोधविशेष्यं चैकमेव । नहि राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजत्वप्रकारकबोधविशेष्यो राजा पुरुषत्वप्रकारबोधो भृत्यश्चैकः ॥ ९ ॥

न लक्षणादिभिः किन्तु विरोधोऽर्थव्यवस्थया ।
परिहार्य इतीहैके तन्न वाक्यविदां मतम् ॥ १० ॥ [४४८]

अध्याहार, लक्षणा आदिसे विरोधपरिहार नहीं करना चाहिये । अर्थ की व्यवस्थासे ही विरोधपरिहार उचित है । यह कथन वाक्यवेत्ताको मान्य नहीं है ॥ १० ॥

यदपि विषयव्यवस्थया विरोधे शमयितव्ये बाधाध्याहारलक्षणादि-परिग्रहो देवानांप्रियेभ्य एव रोचत इति । तन्न । तात्पर्यानुसारेण बाधादेरपि स्वीकरणीयताया वाक्यविद्भिरभ्युपगमात् ॥ १० ॥

यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र श्ववराहाद्यपास्तये ।
यष्टिप्रवेशनं नार्थस्तात्पर्याभावतः सताम् ॥ ११ ॥ [४४९]

संस्कृतमें यष्टीः प्रवेशय प्रयोग होता है । यष्टि माने दण्ड । भोजन प्रसङ्गमें दण्डीसन्तोंको अन्दर लाओ ऐसा अर्थ है । किन्तु दण्ड अंदर

·लाओ ऐसा भी अर्थ हो सकता है । कुत्ता सूअर आदिको भगानेके लिये । पर वहां तात्पर्य देखा जाता है ॥ ११ ॥

अन्यथा यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ श्ववराहादिवारणार्थयष्टिप्रवेशनसंभवेन लक्षणा न स्यात् ॥ ११ ॥

सिंहो माणवको वाक्ये व्याख्यात्येवं नु किं भवान् ।
पूर्वजन्मनि कस्मिंश्चित् सिंहोऽभूदेष बालकः ॥ १२ ॥ [४५०]

'सिहो माणवकः' यहां क्या यह अर्थ है कि किसी जन्ममें यह बालक सिंह था? ॥ १२ ॥

विषयव्यवस्थया विरोधपरिहारश्चेत् 'सिहों माणवक' इत्यत्र वाक्ये कस्मिंश्चिज्जन्मन्ययं बालकः सिंहोऽभूदिति व्याख्या क्रियेत । अग्निर्माणवक इत्यत्र पञ्चभूतनिर्मितशरीरेग्नितत्त्वस्य विद्यमानतया तत्प्राधान्येनोक्तिरिति विषयव्यवस्था स्यात् । प्रजापतिर्वपामुदखिददित्यत्र समर्थः प्रजापतिः स्वीयां वपामुत्खिद्याऽयजदिति सा स्यात् । अग्निरेव रात्रौ ददृशे न धूम इत्यादौ निर्बलचक्षुष्कानधिकृत्यैतद्वचनमिति व्यवस्था स्यात् । विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र विषस्य विषमौषधमिति स्यादिति लक्षणावार्तैव कुत्रापि न स्यात् । आदित्यो यूप इत्यादावपि 'प्रज्ञानं ब्रह्मे'ति वत् तवमते उपासनाविधिसंभवात् । यदि च तात्पर्यविषयत्वं तत्र तत्र नास्तीत्युच्यते तदा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः तत्त्वमसीत्यादावपि समः समाधिः १२ ॥

न च पर्यायतैकार्थ्यादप्रयोजकतावशात् ।
पङ्कजं वारिजमिति न कृत्स्नार्थैक्यमीक्ष्यते ॥ १३ ॥ [४५१]

एकार्थता पर्यायता नहीं होती । पङ्कजं वारिजं ये दोनों पर्याय हैं । किन्तु सर्वथा एकार्थता नहीं है । एकमें कीचड़में उत्पन्न अर्थ है, दूसरेमें पानीमें उत्पन्न ॥ १३ ॥

ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः, तत्त्वमसीत्यादौ पदयोरेकार्थतायां पर्यायत्वं (स्यादत एवोभयप्रयोगवैयर्थ्यं च) स्यादिति चेन्न । किमेकार्थत्वं पर्यायत्वप्रयोजकं मनुषे किं वा एकार्थतया पर्यायत्वम् । नाद्यः । पङ्कजं वारिजमित्यत्र पर्यायत्वं न स्यात् । योगरूढ्या एकत्र पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्ट-

पद्मत्वमर्थः अपरत्र वारिजनिकर्तृत्वविशिष्टपद्मत्वमर्थ इत्यर्थभेदात् । न चोभयत्र शक्यतावच्छेदकैक्यात्पर्यायत्वमिति वाच्यम् ।। तत्त्वमस्यादौ शक्यतावच्छेदकैक्यविरहात् ॥ १३ ॥

इन्दीवरं कोकनदमपर्यायौ मतौ सताम् ।
तीरं गङ्गेति पर्यायौ स्यातामेकार्थतावशात् ॥ १४ ॥ [४५२]

यदि अल्पार्थसाम्य होनेपर पर्याय मानेंगे तो इन्दीवर, कोकनद भी पर्याय होंगे । इन्दीवर माने नीलकमल । कोकनद माने रक्तकमल । गङ्गापदका तीर अर्थ भी होता है । तो क्या दोनों पर्याय हैं? शक्यार्थकी एकता पर्यायप्रयोजिका कहें तो तत्त्वमसि आदिमें शक्यार्थकी एकता कहां है? ॥ १४ ॥

न द्वितीयः पुण्डरीकेन्दीवरकोकनदादीनां पर्यायत्वापत्तेः श्वेतत्व रक्तत्व नीलत्वविशिष्टपद्मत्वानां शक्यतावच्छेकत्वात् । न च पुण्डरीकत्वेन्दीवरत्वकोकनदत्वादयः पद्मत्वव्याप्या जातय एवेति वाच्यम् । पुण्डरीकं सिताम्भोजमिति, रक्तोत्पलं कोकनदमिति अथ नीलाम्बुजन्म च इन्दीवरं च नीलेऽस्मिन्नित्येवं तत्तद्गुणविशिष्टत्वेन पर्यायत्वेक्तेः पृथग्जातित्वकल्पनावैयर्थ्यात् सर्वत्र पद्मत्वजातिबोधस्यानुभविकत्वात् । अन्यथा गौरमनुष्यत्वश्याममनुष्यत्वादीनामपि मनुष्यत्वव्याप्यजातिविशेषत्वस्वीकारापत्तेः । न हि नामान्तराऽसत्त्वमात्रं जातित्वबाधकं भवितुमर्हति । न हि इभ्य इत्यादि पृथक्शब्दमात्रेण इभ्यत्वादिकं जातिः । शब्दान्तरविरहेऽपि जन्यजलत्वादिकं जातिरेव । न च जन्यजलत्वादिवदेव सिताम्भोजत्वादिरपि जातिरस्त्विति वाच्यम् । तत्र कार्यकारणभावाद्यनुरोधेन जातित्वस्वीकारेऽपि प्रकृते तदभावात् । जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातिसिद्धेः । नन्वन्यूनानधिकार्थबोधकत्वं पर्यायत्वमिति न ब्रूमः । किन्तु अन्यूनानधिकबोधकत्वं पर्यायत्वव्याप्यमितीतिचेन्न । पदार्थोपस्थितिकाले खण्डबोधकाले चाधिकबोधकसत्त्वेनं चन्द्रस्थलेऽपि पर्यायत्वप्रसक्तिविरहात् । गङ्गापदं तीरार्थकमिति दृष्ट्वा तीरपर्यायो गङ्गाशब्द इति व्यवहारविरहाच्च शक्यार्थैक्यविवक्षायां तत्त्वमस्यादौ तदभावात् ॥ १४ ॥

पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्यमिति चेन्न तत् ।
अन्यव्यावर्तनार्थत्वादन्यथानुपपत्तितः ॥ १५ ॥ [४५३]

दोनों पदोंका एक ही अर्थ होतो दोनोंमें एक पद व्यर्थ हो जायेगा यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता । क्योंकि उसके बिना इतरव्यावृत्ति सिद्ध नहीं होगी ॥ १५ ॥

नन्वेतमप्येकार्थत्वादेकपदेनैव तदर्थलाभात्पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यमिति चेन्न । प्रकृष्टप्रकाश इत्येतावन्मात्रोक्तौ संसृतौ प्रकृष्टप्रकाशो नाम कश्चन पदार्थोऽस्ति । तमयं ब्रवीतीति बोधप्रसङ्गात् । तदर्थं पृष्टं चन्द्रपदार्थ-मनूद्येतरं व्यावर्त्य प्रकृष्टप्रकाशपदेन चन्द्रस्वरूपबोधनात् । चन्द्र इत्येताव-न्मात्रोक्तौ प्रश्न एवोत्तरमिति बोध एव न स्यात् । प्रकृष्टपदस्य नक्षत्रादि-व्यावर्तनार्थत्वात्तावतैव कृतार्थतायां तस्य शाब्दबोधे भानेन भवितव्यमिति ब्रह्माज्ञाविरहात् । अत एवाङ्गुलिनिर्देशेनायं चन्द्र इत्युक्तावपि चन्द्रबोधो भवत्येव । क्वचिदयंपदेनापि विनाङ्गुलिनिर्देशेन चन्द्र इत्युक्तावपि भवति बोधः । इतरव्यावृत्तिर्यथाकथंचित्कर्तव्येत्यत्र तात्पर्यात् ॥ १५ ॥

लक्षणामुत्तरे केचित् पदे वाक्ये तथाऽपरे ।
वयं खलूभयपदे तत्र का परिदेवना ॥ १६ ॥ ४५४]

नैयायिक लोग पीताम्बरः इत्यादिमें अम्बरपद पीताम्बरधारीमें लाक्षणिक है, पीतपद तात्पर्यवाहक है ऐसा कहते हैं । मीमांसक लोग प्रजापतिर्वपामुदखिदत् इत्यादि पूरा वाक्य ही प्रशस्त अर्थमें लाक्षणिक मानते हैं । बोले कि प्रशस्त इतना अर्थ एक पदसे भी हो सकता है । उत्तर हुआ तात्पर्याभिव्यक्ति पूरे वाक्यसे होगी । हम कहते हैं तत्त्वमसि आदिमें विनिगमनाविरहात् दोनों पदोंमें लक्षणा है । तात्पर्यग्रहण भी दोनों पदोंके होनेपर ही होगा यह स्पष्ट है । अतः इसमें क्या रोना-पीटना है ॥ १६ ॥

पीताम्बरादिषु उत्तरपदे पीताम्बरधारिणि लक्षणां केचिदाहुः । तत्र पूर्वपदं तात्पर्यग्राहकम् । प्रजापतिर्वपामुदखिददित्यादौ प्रशस्ताद्यर्थे लक्षणा । तत्रैकपदेनैव लक्षणासंभवेऽपि तात्पर्यग्राहकतया सर्वपदसार्थक्यम् । वयं तु विनिगमनाविरहात्तत्त्वमस्यादावुभयपदलक्षणां ब्रूमः । तात्पर्यग्राहकताया

चोभयपदसार्थक्यम् । न ह्येकतरपदोच्चारणे विवक्षितार्थबोधः कस्यचित् । तथा च कात्र परिदेवना ॥ १६ ॥

तात्पर्यग्राहकत्वेन पदसार्थक्यमिष्यते ।
यथायथं तत्र नैव चोद्यमुत्पद्यते सताम् ॥ १७ ॥ [४५५]

न्यायमतमें पूर्वपद व्यर्थ नहीं क्योंकि वह तात्पर्यग्राहक है । मीमांसकमतमें पूरा वाक्य तात्पर्यग्राहक भी है। क्योंकि किसी एक पदसे तात्पर्यनिश्चय नहीं होता । वेदान्तमतमें प्रत्येक पदकी लक्षणा है, प्रत्येक पद तात्पर्यग्राहक भी है ॥ १७ ॥

यथायथं तत्र तत्र तात्पर्यग्राहकतया पदसार्थक्यमस्त्येव । नात्र किमपि चोद्यमुत्पद्यते ॥ १७ ॥

प्राशस्त्यबोधेऽप्याकाङ्क्षासत्त्वाद्विध्येकवाक्यता ।
तत्त्वमस्यादिके तस्या विरहाच्च कृतार्थता ॥ १८ ॥ [४५६]

'प्रजापतिर्वपामुदखिदत्' से प्रशस्त अर्थ ज्ञात हुआ । किन्तु क्या प्रशस्त? क्या आगे करना इत्यादि आकाङ्क्षा होनेसे विधिवाक्यसे मिलकर एकवाक्यता अङ्गीकृत हुई । तत्त्वमसि आदिमें आकाङ्क्षा आगे उत्पन्न नहीं होती । पुरुषार्थप्रयोजक ज्ञान उससे उत्पन्न हुआ । अतः उतनेमें कृतार्थता हो जाती है ॥ १८ ॥

ननु प्रजापतिर्वपामुदखिददित्यादौ प्राशस्त्यार्थे लब्धेऽपि तस्य विध्यर्थेनान्वयादेव कृतार्थता भवति । तत्त्वमस्यादौ कुत्रान्वय इति चेत्? शृणु । प्राशस्त्यबोधेऽपि किं प्रशस्तं ततः किं कर्तव्यमित्याकांक्षासत्त्वाद्विध्यर्थैनैक--वाक्यताऽऽवश्यकी । अत्र तु परमपुरुषार्थौपयिकबोधोत्पत्तेराकाङ्क्षा-प्रशमनान्नान्यत्रान्वय इति कृतार्थतैव ॥ १८ ॥

सत्यं ब्रह्मेत्यतो बोधाद् ज्ञानादिकथनं कुतः ।
मृषा जडत्व दुःखित्व व्यावृत्त्यर्थमितीष्यताम् ॥ १९ ॥ [४५७]

पूर्वपक्षः—'सत्यं ब्रह्म' इतनेसे ही अखण्डार्थ बोध हो सकता है, ज्ञान आनन्द आदि व्यर्थ होता । उत्तरपक्षः—नहीं । मिथ्यात्व जडत्व दुःखित्व आदिकी व्यावृत्तिके लिये इतरपदसार्थक्य है ॥ १९ ॥

ननु यद्यखण्डार्थ एव बोधयितव्यस्तदा सत्यं ब्रह्मेत्यनेनैवाखण्डार्थ-बोधसंभवेन शेषपदवैयर्थ्यम् । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति हि श्रुतिः पठति । तस्मात् सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वानन्दत्वादिधर्मपुरस्कारेण बोधोत्पत्त्यर्थ-तयैवैतरपदसार्थक्यमिति चेन्न । व्यावर्त्यभेदेन बहुतरप्रयोगसार्थक्यात् । सत्यं ब्रह्मेत्युक्तावपि भवत्येव बोधः । जडत्वदुःखित्वादिव्यावृत्तये ज्ञानानन्दादि-पदसार्थक्यमिति ॥ १९ ॥

व्यावृत्त्या सविशेषत्वमभावत्वान्न मन्महे ।
असत्पर्यायरूपेण गीतायामभिधानतः ॥ २० ॥ [४५८]

पूर्वपक्षः—मिथ्यात्वादिकी व्यावृत्तिका अर्थ है मिथ्यात्वाभाव, जडत्वा-भाव आदि । उन विशेषणोंसे ब्रह्म सविशेष हो जायेगा । उत्तर है — नहीं । अभावको गीतामें असत्के पर्यायके रूपमें उल्लेख किया है। "नाभावो विद्यते सतः" असत् को लेकर सविशेष नहीं हो सकता । असत् कोई पदार्थ नहीं है ॥ २० ॥

ननु किमर्थं शाब्दाद् बहिर्जडत्वदुःखित्वादिव्यावृत्तिरपेक्षणीया? निर्विशेषे ज्ञाते ज्ञातमेव ज्ञातव्यमिति व्यावृत्तिवैयर्थ्यात् । अपि च ब्रह्मणो जडत्वादि-व्यावृत्तिरभ्युपगम्यते तदा सविशेषत्वं व्यावृत्त्यैव स्यात् । तथा च तद्विशिष्ट-ब्रह्मज्ञानं यथार्थमेवेति किमखण्डाकारवृत्त्या ? न च व्यावृत्तिरधिकरण-रूपैवेति वाच्यम् । अधिकरणस्य व्यावृत्तिबोधात् पूर्वं तेन विनापि च ज्ञातुं शक्यत्वेन व्यावर्तनवैयर्थ्यापत्तेरिति चेन्न । अभावस्याभावत्वादेव विशेषकत्वानुपपत्तेः । अभावोऽसद्रूप एव । स च नव्यवैशेषिकैः कल्पितपदार्थविशेषः । षण्णां पदार्थानामेव सूत्रभाष्ययोर्निरूपणात् । सच्चासदि"त्यादिसूत्रेष्वसत्पदप्रयोगात् । अत एव गीतायां भगवानपि अभावपदमसत्पर्यायतया जगदा "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" इति । तत्र भावसत्पदयोरेकार्थत्वमभावासत्पदयोश्च समानतया तद्वैपरीत्यं स्पष्टम् ॥ २० ॥

पदार्थाः सन्ति मे गेहे कोटिशस्तान् सखे शृणु ।
घटाभावः पटाभावो धनाभावोऽन्नशून्यता ॥ २१ ॥ [४५९]

न्याय पढकर एक दरिद्र ब्राह्मण अपने मित्रसे कहने लगा-मित्र ! मेरे घरमें करोड़ों पदार्थ हैं । क्या क्या? घटाभाव, पटाभाव, धनाभाव तथा अन्नाभाव आदि ॥ २१ ॥

हे सखे ! मम गेहे कोटिशः पदार्था विद्यन्ते । के ते इति शृणु । घटाभावः, वस्त्राभावः, धनाभावो, भोजनाभाव इत्यादयः । तत्राभावः पदार्थ इति शृण्वन्तो बाला अपि हसेयुः । एतेन भाववदभावोऽपि विशेषक इति वदन्तो हास्याः । घटो नास्तीत्यादौ नास्ति पदेन केवलं घटः प्रतिषिध्यते। न त्वभावो नाम कश्चन पदार्थस्तत्रागत्य तिष्ठति । एवं च ब्रह्मण्यज्ञानवशात् प्राप्तं जडत्वदुःखित्वादिकं विज्ञानमानन्दमित्यादिना प्रतिषिध्यते पुरुषार्थताबोधनाय ॥ २१ ॥

अर्थश्चेज्जडभेदोऽयं तद्भेदोप्यात्मनि ध्रुवः ।
अनवस्था तदेत्यस्माज्जडत्वं प्रतिषिध्यते ॥ २२ ॥ [४६०]

यदि जडभिन्नत्व दुःखभिन्नत्व आदि पदार्थ हो तो उनका भी भेद आत्मामें कहना होगा । इस प्रकार अनवस्था होगी । अतः जडत्वादिका प्रतिषेधमात्र आत्मामें किया जाता है ॥ २२ ॥

यदि च जडभेदो ब्रह्मणि कश्चन पदार्थविशेषस्तदा ततोऽपि भेदो वक्तव्यः । भेदस्याभावरूपत्वाद् ब्रह्मणश्च भावरूपत्वात् । जडभेदभेदोऽपि पदार्थ इति तद्भेदोऽपि वक्तव्य इत्यनवस्था । क्वचिद्विश्रामे तद्रूपं ब्रह्मेति ब्रह्मणोऽभावात्मकता स्यात् । प्रथमपर्यन्तभेदभङ्गापत्तेर्जडत्वं च प्रसज्येत ब्रह्मणः ॥ २२ ॥

नाना चाऽऽवृतयोऽसत्त्वाऽभानाद्यापादिका मताः ।
तासां निरसनायैव सन्तु नानापदान्यपि ॥ २३ ॥ [४६१]

असत्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण एवं अनानन्दापादक आवरण इत्यादिरीत्या आवरण अनेक हैं । वे ब्रह्ममें असत्वादिका आपादन करते रहते हैं । उनके निरासार्थ नानापदोंका प्रयोग सार्थक है । जिनसे विलक्षण बोध होनेपर वे आवरणशक्तियां नष्ट होती हैं तो नास्ति, न भाति इत्यादि आपादन समाप्त होता है ॥ २३ ॥

वस्तुतो ब्रह्मणो निर्विशेषैकरसस्वरूपत्वेऽपि तदावरणान्यनेकानि भवन्ति । असत्त्वापादकमभानापादकमित्येवंविधानि । न चावरणीयभेदविरहे आवरणनानात्वं न घटत इति वाच्यम् । अनित्यत्व, जडत्व, दुःखित्वप्रभृतीनामात्मकल्पितत्वेन तत्तत्प्रतियोगिस्वरूपतया कल्पितभेदसत्त्वात् । तथा चोक्तं पञ्चपादिकाकृता-"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासन्ते" इति। पृथगिवेतीवपदेन कल्पितपार्थक्यमङ्गीक्रियते । ततश्चावरणभेदः । तेषामावरणानां निवृत्तये चानेकपदानीति ॥ २३ ॥

शब्दातीतं कथं शब्दगोचरं लक्षणाध्वना ।
शब्देनावृतिभङ्गात् स्यात् स्वप्रकाशप्रकाशनात् ॥ २४ । [४६२]

पूर्वपक्षः– एक ओर कहते हैं कि ब्रह्म वाचामगोचर है । दूसरी ओर कहते हैं लक्षणासे वह शब्दविषय है । उत्तरपक्षः–शब्दसे प्रकाश्य नहीं । शब्दसे (तत्त्वमसि आदिसे) आवरणभङ्ग होता है । तब वह स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होता है । आवरणभंगको लेकर शब्द-विषयत्वका व्यवहार है ॥ २४ ॥

ननु लक्षणया ब्रह्मणः शब्दविषयत्वे शक्त्या तद्विषयतायां कः प्रद्वेषः? लक्षणया ब्रह्मणो बोधनेऽपि "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुतिबाधस्य समानत्वात् । तस्याः शब्दाऽगोचरत्वपरत्वादिति चेन्न । शक्त्या विशिष्टविषयैव वृत्तिर्भवति । लक्षणया तु तात्पर्यवशादखण्डाकारा भवति । तया चाऽऽवरणभङ्गे सति स्वप्रकाशतयैव ब्रह्म प्रकाशते । न तु शब्देन प्रकाश्यते ॥ २४ ॥

संसर्गत्वप्रकारत्वाद्यनिरूपकतावशात् ।
अखण्डार्थोच्यते वृत्तिर्न त्वखण्डार्थभासनात् ॥ २५ ॥ [४६३]

संसर्गत्व आदिके अनिरूपक होनेसे वृत्तिको अखण्डाकार कहते हैं न कि अखण्ड ब्रह्मको प्रकाशित करनेसे ॥ २५ ॥

ननु वृत्तेरखण्डार्थत्वमखण्डार्थप्रकाशनादेव विज्ञायेत । घटप्रकाशनेन घटार्थत्वादिबोधदर्शनादिति चेन्न । संसर्गत्वाद्यनिरूपकत्वेनाखण्डार्थत्वोपगमात् ॥ २५ ॥

ननु दृष्टा क्वचिदपि न सर्वपदलक्षणा ।
न, म्रियस्व विषं भुङ्क्ष्व सोरोदीदिति चेक्ष्यताम्॥ २६ ॥ [४६४]

पूर्वपक्षः—तत्त्वमसि आदिमें सर्वपदलक्षणा माननी पड़ेगी । किन्तु ऐसा देखा नहीं गया । उत्तरपक्षः—देखिये आप विषं भुङ्क्ष्व, म्रियस्व इत्यादिमें । पड़ोसी शत्रुके वहां खानेको जाते हुए बेटेको पिता क्रोधसे बोलता है -जहर खा मर जा । अर्थ है शत्रुका भोजन मत खाओ । जिन्दा रहो । सोऽरोदीत् इत्यादि अर्थवादवाक्य में भी सर्वपदलक्षणा है ॥ २६ ॥

यत्तु सर्वपदलक्षणा न कुत्रापि दृष्टा । लाक्षणिकपदस्याननुभावकत्वादिति, तन्न । विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ सर्वपदलक्षणायास्ततो बोधस्य च दर्शनात् । यत्तु निषेधविशेषप्रतियोगिविशेषसमर्पकं भुङ्क्ष्वेतिपदमेव तत्र मुख्यार्थबोधकमिति । तदसत् । निषेधवाचकपदविरहात् । न च विषशब्द एव निषेधार्थक इति वाच्यम् । इह घटो नास्तीत्यर्थे इह घटो विषमिति प्रयोगापत्तेः । प्रसिद्ध्यनुसारेण प्रयोजनवशाल्लाक्षणिकः प्रयोगो लोके क्रियते । विषं भुङ्क्ष्वेति च प्रसिद्धः प्रयोगः । न हि तत्रात्यन्ताऽऽप्रसिद्धलक्षणा न्याय्या भवति । यत्तु विषशब्दस्यानर्थकरभक्ष्यरूढत्वं तेन चानर्थतया निषिद्धताऽभिप्रेतेति भोजननिषेधप्राप्तिरिति । तत्तुच्छम् । विषत्वजातेः प्रसिद्धतयानर्थकरभक्ष्यनिरूढार्थत्वविरहात् न हि निरूढिर्नामाऽप्रसिद्धः कश्चन पक्षिविशेषः । सर्पो दशति मनुष्यम् । तस्य विषं शरीरे प्रसरति । तत्र को नाम भक्ष्यविशेषः उपस्थितः? तेन चार्थान्निषेध उपस्थित इत्यप्यकिंचित् । आर्थिकार्थस्य शाब्दबोधविषयात्वानभ्युपगमात् । तथा च भुङ्क्ष्वेति निषेधप्रतियोगिभोजनार्थकं वक्तव्यमित्युभयपदलक्षणैवापतिता । यदपि भुङ्क्ष्वेत्यत्र प्रकृतिर्निषिद्धभोजनलाक्षणिकी । विषशब्दस्तन्निषेधपरः । प्रत्ययार्थस्तु मुख्य इति । तदेतद् 'अधः शायितोऽपि केशान्न मुञ्चती'ति स्वप्रदर्शिताऽऽभाणकविषय एव । तत्र वक्तव्यम् । कः प्रत्ययार्थ इति । लकारसामान्यस्य कृत्यर्थकत्वाल्लोटाऽन्वयेन 'कुरु' इत्यर्थ इति चेन्न ।

तर्हि निषेधप्रतियोगिनिषिद्धभोजनं कुर्वित्यर्थः स्यात् । न तु तेन भोजननिवृत्त्युपपत्तिः । न च यथा न भुङ्क्ष्वेत्यत्र भोजनानुकूलकृत्यभावः प्रतीयते तथाऽत्रापि नकारस्थानीयविषपदार्थाऽन्वयेन तथार्थप्रत्ययः स्यादिति वाच्यम् । कारकाणां धात्वर्थेनैवान्वयात् । अभावं भुङ्क्ष्वेत्युक्ते भोजनकृतिनिषेधाऽप्रतीतेः । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वात्तदवधूय पदार्थान्तराऽन्वयस्य व्युत्पत्तिविरुद्धत्वात् । अर्थवादवाक्यानां च मिलितसर्वपदलाक्षणिकत्वमेव ॥ २६ ॥

न पदत्वं प्रत्ययानां नानारूप्याददर्शनात् ।
नान्तं जगाम शब्दानामिन्द्रः शृण्वन् बृहस्पतेः ॥ २७ ॥ [४६५]

पूर्वपक्षः—विषं भुङ्क्ष्व आदिमें प्रत्यय लाक्षणिक नहीं है । उत्तरपक्षः—प्रत्यय अलग पद ही नहीं है । क्योंकि रामेण हरिणा रमया इत्यादिमें कैसे अनुगम करेंगे? रामं रमां वारि इत्यादिमें कहीं नानारूप कहीं लोप आदि है । अतएव प्रत्ययान्तपदोंका उपदेश करना पड़ा तो वृहस्पति इन्द्रको पूरा नहीं बता सके ॥ २७ ॥

केचित्तु प्रत्ययानां पदत्वमेव नास्ति येन तेषां शक्तपदत्वमुच्येत । वैयाकरणपरिकल्पितो हि प्रकृतिप्रत्ययविभागो लघूपायेन शब्दपरिज्ञानार्थम् । अन्यथा दुर्गमः शब्दराशिः स्यात् । उक्तं च महाभाष्ये 'एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । नान्तं जगाम' इति । 'सुप्तिङन्तं पदमि'ति चाह भगवान् पाणिनिः । न हि प्रत्ययानां पदत्वविधायकं सूत्रमस्ति । न वाऽनुगमोऽस्ति । भुङ्क्ष्व अशान अद्धीत्यादावैकरूप्याभावात् । सखा दधीत्यादौ प्रत्ययलोपाच्च । विद्यमानस्य विलोपनं प्रक्रियामात्रम् । अदर्शनं हि लोपः इत्याहुः । तन्मते का गतिः ॥ २७ ॥

गौर्वाहीक इति स्पष्टं सर्वलाक्षणिकं वचः ।
शब्दसाधुत्वमात्रार्था प्रथमा नार्थवत्यसौ ॥ २८ ॥ [४६६]

गौर्वाहीकः यहां सर्वपदलक्षणा है । वाहीक एक देशका नाम है । यहां लक्षणासे वाहीकदेशवासी अर्थ है । गौका लक्षणासे मूर्ख अर्थ है ।

प्रथमाका कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि वाहीक देशवासी एक ही व्यक्ति मूर्ख नहीं, किन्तु सभी हैं। तब बहुवचन चाहिये था॥ २८॥

किं च गौर्वाहीक इति सर्वपदलाक्षणिकं वाक्यम्। वाहीको निकृष्ट-देशविशेषः। लक्षणया तु तद्देशीयोऽत्रार्थः। गौरिति च मूर्खलाक्षणिकम्। न च तत्र प्रथमाविभक्तिरेव शक्तं पदमिति वाच्यम्। शब्दसाधुत्वार्थाय प्रत्ययप्रयोगात्। नहि तत्र पुरुषा एव मूर्खाः। स्त्रीणामपि तथात्वात्। नाप्येको मूर्खः। बहुनां तथात्वात्। न च प्रातिदिकार्थ एव सोरप्यर्थः। उक्तार्थानामप्रयोगात्॥ तस्माच्छब्दसाधुत्वार्था सुविभक्तिः। न च तत्रास्तीत्यादिपदमध्याहार्यम्। मानाभावाद् व्यर्थत्वाच्च॥ २८॥

विशेष्यशक्तिमादाय परिभाषाकृदादयः।
विनैव लक्षणां प्राहुरखण्डार्थधियं पदैः॥ २९॥ [४६७]

वेदान्तपरिभाषादिकारोंका कहना है कि लक्षणाकी ही आवश्यकता नहीं है। सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चेतनमें त्वंपदकी शक्ति है। उनमें केवल विशेष्यादि शक्तिको लेकर अखण्डार्थबोध हो जायेगा। जैसे "नील कमल" में कललत्वमें नीलत्वका अन्वय नहीं, नीलगुणत्वमें कमलका अन्वय नहीं। केवल विशेष्योंका अन्वय है॥ २९॥

पारिभाषाकृतस्तु विनैव लक्षणां विशेष्यैकत्वेनाखण्डार्थबोधोपपत्तिमाहुः। न च विशेषणस्यापि शाब्दबोधे भानेऽखण्डार्थत्वानुपपत्तिरेवेति वाच्यम्। तात्पर्यविरहेणोपस्थितस्यापि तस्य शाब्दबोधेऽप्रवेशेन दोषाभावात्। यथा सैन्धवमानयेत्यादौ उपस्थितयोरपि लवणवाजिनोरेकतरत्यागः। तत् कुतः? तात्पर्याभावात्। न च सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति न्यायान्न द्वयोरुपस्थितिरिति वाच्यम्। तस्य शाब्दबोधविषयत्वात्। सैन्धवपदमश्व-लवणोभयशक्तमित्याकारकशक्तिग्रहेणोभयोरुपस्थित्योर्वारयितुमशक्यत्वात्। किं च पङ्कजादिपदानां पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्टपद्मत्वावच्छिन्ने योग-रूढया शक्तिस्वीकारेऽपि स्थलपद्मे पङ्कजनिकर्तृत्वं परित्यज्य केवल-पद्मत्वावच्छिन्नबोधो भवति। यद्यपि तत्र समुदायशक्तिरवयवशक्तिश्च पृथगेव। शक्त्योपस्थितयोरवयवशक्तिविषयत्यागो लक्षणां विनैव स्वीक्रियत एव। न च तत्र पङ्कजनिकर्तृत्वबाधादेव तद्विशिष्टबोधो न भवतीति

वाच्यम् । तात्पर्याभावेनैव तदुपपत्तेः । अन्यथा गृहस्थितेन वह्निना सिञ्चे-दित्यादौ वह्नेर्बाधाद् गृहस्थितेन येनकेनापि सेचनान्वयबोधः स्यात् । प्रकृतेऽपि सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोर्वैशिष्ट्यबाधादुभयस्य शाब्दबोधे भानाभावः सुवच एव । न चैवं शब्दशक्तिविषयत्वाद् "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुतिविरोधः स्यादिति वाच्यम् । लक्षणया बोधनेऽपि समानदोषप्रसङ्गात् । आवरणभङ्गमात्रेण स्वयंप्रकाशस्य प्रकाशनाच्छब्दभास्यत्वं नास्तीति तु शक्तिपक्षेऽपि सुगममेव ॥ २९ ॥

विशिष्टविषया शक्तिरसदर्थाऽविशेषणे ।
न, भुक्तान्ने दण्डिचैत्रे शुद्धः किमशनायितः ॥ ३० ॥ [४६८]

पूर्वपक्षः—विशिष्टमें शक्ति विशेषणके न होनेपर न होगी । उत्तरपक्षः—क्या दण्डविशिष्ट चैत्रने भोजन किया तो दण्ड छोड़नेपर शुद्ध चैत्र भूखा हो जाएगा? ॥ ३० ॥

ननु सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यविषया शक्तिस्तयोपस्थिते तादृशविशिष्ट-चैतन्ये एव । तत्र विशेषणाभावे विशिष्टाभावान्निर्विषयत्वं शक्तेः स्यादिति चेन्न । दण्डविशिष्टदेवदत्ते भुक्तवति तेन दण्डत्यागे शुद्धोऽयं क्षुधापीडित एव किं नु तिष्ठति? स्वसिद्धान्तविरुद्धं चेदमभिधत्से । विशिष्टस्य विशेष्यान्यतायाः स्वयमस्वीकारात् । सर्वज्ञत्वादीनां व्याहारिकसत्ताऽस्माभिरभ्युपगतैव । शक्तिरपि व्यावहारिक्येव । तया विशिष्टोपस्थिति-र्भवत्येव । तथा च निर्विषयत्वं शक्तेरिति रिक्तमेव वचः । शाब्दबोधे तूपस्थितमपि विशेषणं विरोधात् परित्यज्य विशेष्यैक्यमात्रविषयभाने न काप्यनुपपत्तिरस्ति । अत्यन्तभेदस्तु नास्माकमपि विशिष्टशुद्धयोः । तथा च विशिष्टोपस्थितौ विशेष्यमुपस्थितमेव । दण्डविशिष्टचैत्रे भुक्तवति शुद्धचैत्रस्यापि भुक्तवत्त्वदर्शनादिति ॥ तात्पर्याभावाद् वृत्त्या विशेषणो-पस्थितिरेव नेति ब्रह्मानन्दसरस्वतीचरणाः ॥ ३० ॥

अतात्पर्यं च संसर्गं शाब्दबोधेऽनुमापयन् ।
सर्वत्र विषयत्वेन कुम्भादिं चानुमापयेत् ॥ ३१ ॥ [४६९]

तात्पर्य न रहनेपर भी संसर्गका भान शाब्दबोधमें अनुमान के बलसे सिद्ध करनेवाला समस्त शाब्दबोधोंमें घटादिका भी भान सिद्ध करेगा ॥ ३१ ॥

ननु वाक्यार्थत्वेनाभिमतस्य निःशेषभेदरहितत्वे तत्प्रतिपादकवाक्यस्य वाक्यत्वमेव व्याहतं स्यात् । अन्विताभिधानवादेऽभिहितान्वयवादे च संसर्गविषयकत्वावश्यंभावात् । अन्वयो हि संसर्गः । विप्रतिपन्नं वाक्यं विशिष्टपरं बोधकत्वात् संप्रतिपन्नवदित्यनुमानादिति चेद्? न । विप्रतिपन्नानि वाक्यानि घटविषयकाणि वाक्यत्वाद् घटोऽस्ति घटमानयेत्यादिवाक्यवदित्यप्यनुमानमेवं सति स्यात् । न च पटोऽस्तीत्यत्र व्यभिचारः । तस्य पक्षकोटिप्रविष्टत्वात् । पक्षसमत्वाद्वा । घटपदघटितत्वमपि नोपाधिः । कुम्भपदघटिते व्यभिचारात् । घटपर्यायघटितत्वमपि नोपाधिः । सर्वेषां पदानां लक्षणया घटार्थकत्वसंभवात्तत्तद्वाक्ये व्यभिचारात् । न च घटार्थकपदघटितत्वमुपाधिः । घटार्थकपदाघटितवाक्यानां पक्षत्वेनोक्तोपाधेः पक्षेतरत्वतुल्यत्वात् । प्रत्यक्षबाधस्तु न । यथाकथंचिद्घटविषयकत्वे बाधासंभवात् । पर्वतो वह्निमानित्यादावपि प्रत्यक्षबाधापत्तिप्रसङ्गाच्च । अतात्पर्यविषयस्य घटादेरशाब्दत्वमुच्यते चेदन्वयेऽपि तुल्यम् । तस्य तात्पर्याविषयत्वात् ॥ ३१ ॥

किंचाऽभेदान्वयस्तत्त्वंपदाद्यभिहितार्थयोः ।
अभेदे खलु भेदः को न भेदंघटितो हि सः ॥ ३२ ॥ [४७०]

वस्तुतः आचार्योंने अभिहितान्वयका ही समर्थन किया है । तत्पद तथा त्वंपदसे लक्षणासे प्रथम पृथक् पृथक् शुद्धचैतन्यका बोध होता है । उससे परोक्षत्व एवं अपरिच्छिन्नत्वकी व्यावृत्ति हो जाती है । तब अभिहितोंका अभेदान्वय होता है । अभेद तो अभेद ही है । अभेदमें भेद घुस नहीं सकता । अतः विशेषणविशेष्यभावादिके बिना अखण्डाकार विलक्षणवृत्ति होती है । अभेद सम्बन्ध नहीं है । सम्बन्ध द्विष्ठ होता है । अभेद एकमात्रवृत्ति है । वह निर्विकल्पक ज्ञान है ॥ ३२ ॥

किं चाभिहितान्वय एव प्राय आचार्यैरङ्गीकृतः। स च पृथगुक्तयोरनन्तरान्वयबोध एव । तत्त्वमसीत्यादौ पृथगुक्तयोस्तत्त्वंपदार्थयोर-

भेदान्वयो भवत्येव । अभेदस्त्वभेद एव । तत्र कुतो भेदप्रवेशसंभावना । भेदविरहे च कथं प्रकारत्वविशेष्यत्वसंसर्गत्वानि । तेषां भेदनिबन्धनत्वात् । न च घटोपरि घटस्थापने घटो घटवानिति भवति प्रतीतिः । तत्र घटत्वावच्छिन्न एव प्रकारो विशेष्यश्चेति वाच्यम्। संसर्गस्य ततो भिन्नत्वात् । उच्चैर्नीचैः स्थितयोर्घटयोरपि भिन्नत्वात् । ये पुनरभेदेऽप्यनिर्वाच्यभिन्नं भेदं प्रतिपद्यन्ते तत्तत्त्वं त एव जानन्तु ॥ ३२ ॥

विशिष्टमिति कस्तेऽर्थो विशेष्यादित्रयं यदि ।
विशेष्यादेर्विशिष्टत्वे त्वनवस्था दुरुद्धरा ॥ ३३ ॥[४७१]

विशिष्टका ही बोध होता है । निर्विकल्पक ज्ञान नहीं होता कहनेवालोंसे प्रश्न है कि विशिष्टका अर्थ क्या है? विशेष्य, विशेषण और संसर्ग ये तीन विशिष्ट हैं तो पूछेंगे कि ये विशेष्यादि निर्विशेषण है या विशिष्ट है ? यदि विशिष्ट है तो वह फिर तीन हो गये इसमें अनवस्था दोष होगा ॥ ३३ ॥

अपि च विशिष्टमित्यस्य कोऽर्थः? विशेषण-विशेष्य-तदुभयसंसर्गत्रय-मर्थस्तदा विशेषणादिकं पृथक् ज्ञातं भवतेत्यखण्डार्थज्ञानं जातमेव । यदि विशेषणादिकमपि विशिष्टमेव यथोक्तत्रितयात्मकं तदानवस्था स्यात्॥ ३३ ॥

अविशिष्टं विशेष्यादि बुध्यतो निर्विकल्पकम् ।
दुर्वारमपृथग्बोधे त्रित्वं नैवावकल्पते ॥ ३४ ॥ [४७२]

यदि विशेष्यादि किंचिद्धर्मविशिष्ट नहीं है तो उनका बोध निर्विकल्पक होगा । यदि विशेष्यादिका पृथक्त्वेन ग्रहण नहीं है तो वे तीन हैं ऐसा त्रित्वज्ञान नहीं हो सकेगा ॥ ३४ ॥

विशेष्यादि यद्यविशिष्टं तदा तज्ज्ञानं निर्विकल्पकं स्यात् । अविदित्वा च पृथक् पृथक् त्रयमित्युक्तिरेव न घटेत । दण्डी पुरुष इत्यत्र संयोग-मविषयीकृत्य दण्डपुरुषौ न ज्ञायेते इति प्रतिज्ञामात्रसमधिगम्यम् । एवं घट इति ज्ञाने घटत्वं, घटः, समवायश्च त्रयं भासते । त्रयाणां पृथग् ज्ञानं नैव भवतीत्यपि प्रतिज्ञामात्रसमधिगम्यम् । त्रित्वस्य भेदघटितत्वात् । अनुभूयते

पृथक् नानुभूयते चेति विप्रतिषिद्धम् । पृथक् तदननुभवे विशिष्टानुभवोऽपि न भवतीति शाब्दबोधोपपादनमपि दुःशकमेव । तस्मात् प्रकारत्वाद्यनिरूपकमपि भवत्येव ज्ञानम् ॥ ३४ ॥

विश्लिष्य बोधे स्यात्किंचिद्धर्मश्लेषः सहेति चेत् ।
विश्लेषोत्तरभावित्वान्मानाभावाद्वृथात्वतः ॥ ३५ ॥ [४७३]

पूर्वपक्षः—घटको जानता हूं । वह घट क्या है?घटत्व, घट और समवाय । इस प्रकार विश्लेषण कर जानते समय साथ ही साथ तीनोंमें एक एक धर्म श्लिष्ट हो कर ही घटत्वादिबुद्धिविषय होगा । उत्तरपक्षः—तीनोंका विश्लेषण करनेके बाद धर्म जोड़ना होगा । अन्यथा तीनोंमें एकही धर्म जुड़ जायेंगे । तब विवेकक्षणमें निर्विकल्पक ही होगा । विवेकोत्तर ही सविकल्पक होना संभव है। दूसरी बात तुरत धर्म जुड़ जायेगा इसमें प्रमाण भी नहीं है, व्यर्थ भी है । हां, दूसरोंको बोलते समय धर्म जोड़कर विशेष्य विशेषण इत्यादि शब्दोंसे बोला जा सकता है ॥ ३५ ॥

ननु घटमहं जानामीत्यत्र स घटः क इति जिज्ञासायां घटत्वघटसमवाया इति विश्लिष्य यदोपतिष्ठन्ते तदैव किंचद्धर्मं संश्लिष्यैवोपतिष्ठन्ते । न च विश्लेषणोत्तरत्वात् प्रथमं निर्विकल्पकमेव स्यादिति वाच्यम् । विश्लेषणसमकालमेव संश्लेषणसंभवादिति चेन्न । के ते धर्माः संश्लिष्यमाणा इति वक्तव्यम् । न च विशेषणत्व-विशेष्यत्व-संसर्गत्वानि । तेषां निरूप्यत्वान्निरूपकज्ञानपूर्वकत्वात् । अत एवाधेयत्वाधारत्वादयोऽपि। प्रमेयत्वादिकं त्वभिन्नत्वेनैवोपस्थाप्येत । विश्लेषोत्तरमेव विरुद्धत्वेन विरुद्धधर्मत्रयस्य यथायथं विश्लेषसंभवाच्च । धर्मान्तरवैशिष्ट्येनैव त्रितयभानमित्यत्र मानाभावाच्च । व्यर्थत्वाच्च । निर्विकल्पकस्वीकारेणोपपत्तौ अनवस्थास्वीकारायोगाच्च ॥ ३५ ॥

मामेव येऽनन्यचेतास्तमेवेत्यवधारणात् ।
ईश्वरो नेश्वरत्वेनाप्यखण्डार्थो विवक्षितः ॥ ३६ ॥ [४७४]

"मामेव ये प्रपद्यन्ते", "अनन्यचेताः सततं" "तमेव विदित्वा" इत्यादि सर्वत्र इतरवारण किया है। उससे ईश्वरत्वरूपसे ईश्वरज्ञान भी व्यावृत्त होगा। क्योंकि ईश्वरत्व ईश्वर नहीं है। तद्विषयक ज्ञान अनन्यविषयक नहीं होगा। यदि कहें कि ईश्वरत्वके विना ईश्वरज्ञान नहीं हो सकता तो आपको नहीं हो सकता होगा। आपके लिये श्रुतिस्मृति कथित साधन असंभव होगा। पर हम अखण्डार्थवादी हैं। हमें मोक्षसाधन ब्रह्ममात्रज्ञान होता है॥ ३६॥

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इत्यवधारणान्मदितर-प्रपत्तिवारणम्। "अनन्यचेताः सततं यो मामि"त्यत्र मत्पदार्थभगवदन्य-स्मरणवारणम्। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेती"त्यत्रैवकारात् तत्पदार्थ-परमात्मेतरवेदनव्यावृत्तिः। न हीश्वरत्वमीश्वरः सर्वज्ञत्वादिकं वा। तज्ज्ञाने चेश्वरेतरविषयत्वमेवं। न च मामित्यादावीश्वरत्वविशिष्टमीश्वरमित्यर्थ इति वाच्यम्। अनीश्वररूपेश्वरत्वचिन्तनस्य व्यर्थत्वादत एवेश्वरत्व-वैशिष्ट्यविवक्षाऽयोगात्। न चेश्वरत्वेन विनेश्वरो न चिन्तयितुं शक्य इति वाच्यम्। तवाऽशक्तेरप्रयोजकत्वात्। अस्माकमखण्डार्थबोधस्वीकारेणानु-पपत्त्यभावात्॥ ३६॥

अखण्डबोधोऽभयदः समाधा-
वखण्डधीस्तत्त्वमसीति वाक्यात्।
भियो भिदायामभियोऽभिदायां
वृणीमहेऽखण्डमतोऽभयं सत्॥ ३८॥

समाधिमें अखण्डबोध होता है। वह अभयपद अनुभवसिद्ध है। तत्वमसि महावाक्यसे अखण्डबोध होता है। वह भी अभयपद है। भेदमें नानाभय रहता है। अभेदमें सर्वभयनिवृत्ति होती है। सत् परमात्मा अभय है। उसीका हम वरण करते हैं॥ ३८॥

इत्यखण्डवाक्यर्थोपपत्तिः

*****

अथ भावरूपाज्ञानसाधनम्

भावरूपं तदज्ञानं स्यादभावविलक्षणम् ।
अज्ञोऽहं न त्वदुक्तार्थं जानामीत्यादिधीपदम् ॥ १ ॥ [४७५]

अखण्डाकारबोध ही अज्ञानका बाधक है । यह पूर्वप्रकरणोपक्रममें बताया । वह अज्ञान भावरूप अर्थात् अभावविलक्षण है । मै अज्ञानी हूं, आप जो कह रहे हैं उसे मैं नहीं जानता हूं इत्यादि अनुभवमें भादरूप अज्ञान ही विषयरूपसे उपस्थित होता है । मुझमें ज्ञान नहीं है इतना यदि प्रथम वाक्यका अर्थ है तो ज्ञान नहीं है इतना ज्ञान है तब ज्ञानसामान्याभाव किस प्रकार? त्वदुक्तं अर्थका ज्ञान नहीं है कि परोक्तार्थका? त्वदुक्तर्थका । तब व्यावर्तक त्वदुक्तार्थ जान लिया तो उसका अभाव किस प्रकार? अतः आवरणकारी अज्ञान अलग ही भावपदार्थ मानना चाहिये ॥ १ ॥

अखण्डार्थज्ञानमेवाऽज्ञानबाधकम् । तच्चाऽज्ञानमभावविलक्षणमेव । न तु ज्ञानाभावरूपम् अज्ञोऽहं, त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यद्यनुभवसिद्धम् । नाहं किंचिदवेदिषमिति परामर्शोऽज्ञानानुभवपूर्वको न वा । यद्यनुभवपूर्वकस्तदा ज्ञानाभावानुभवो विषयकाले एव संभवतीति ज्ञानाभावस्तदनुभवश्च समानकालीनौ वक्तव्यौ । तदनुभवात्मकज्ञानसत्त्वे च ज्ञानसामान्याभाव-स्तदानीं न संभवति । अनन्तेषु घटेषु अन्येषां सर्वेषामभावेऽप्येकघटस्यापि सद्भावे घटो नास्तीति प्रत्ययानुत्पत्तेः । अज्ञानमज्ञात्वैव परामृशतीति तु स्वानुभवविरुद्धमुन्मत्तप्रलापो वा स्यात् । त्वदुक्तमर्थं न जानामीति च त्वदुक्तार्थज्ञानसद्भावाऽसद्भावाभ्यां व्याहतम् । त्वदुक्तार्थं विशेषतो न जानामीति तदर्थ इत्यप्यनुपपन्नम् । विशेषज्ञानसद्भावासद्भावाभ्या-मनुपपत्तेः । विशेषत्वेन सामान्येन जानामि न तु विशेषेणेति त्वनवस्थापर्यवसायि ॥ १ ॥

साक्षिणा भास्यतेऽज्ञानं साक्षी नाज्ञानबाधकः ।
वृत्त्याऽज्ञाननिवृत्तिः स्याच्छास्त्रसार्थक्यमप्यतः ॥ २ ॥ [४७६]

पूर्वपक्षः—अज्ञानको जाननेवाला ज्ञान आपके मतमें है। किन्तु उससे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई। तब शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। शास्त्रसे होनेवाला ज्ञान भी अज्ञानको क्यों नष्ट करेगा? उत्तरपक्षः—अज्ञान साक्षिरूप ज्ञानसे भासित होता है। साक्षी अज्ञानका बाधक नहीं, साधक है। अज्ञानका बाधक वृत्तिरूप ज्ञान है। तदर्थ शास्त्रकी सार्थकता भी है॥ २॥

ननु भवन्मतेऽपीदमज्ञानं ज्ञानबाध्यं न वा? यदि न, तदा ब्रह्मज्ञानेनापि न निवर्तेतेति शास्त्रवैयर्थ्यम्। यदि ज्ञानबाध्यं तदा कथं ज्ञानकाले खल्वज्ञानमिदमिति चेन्न। साक्षिरूपज्ञानस्याऽज्ञानबाधकत्वविरहात्। सकलवस्तुसाधकमेव तत्। न तु बाधकम्। तत्तदाकारवृत्तिज्ञाने जाते तत्तदज्ञाननिवृत्तिदर्शनाद् वृत्त्यात्मकज्ञानमज्ञानबाधकमित्यवगम्यते। तथा च शास्त्रजनितवृत्त्यात्मकब्रह्मविषयकज्ञाने सति अज्ञाननिवृत्तेर्न शास्त्रवैयर्थ्यमिति॥ २॥

गृहीतं साक्षिणाऽज्ञानं वृत्तौ सत्यां न वीक्ष्यते।
अतो विरोधस्त्वनयोस्तेजस्तिमिरयोरिव॥ ३॥[४७७]

पूर्वपक्षः—वृत्तिज्ञान अज्ञानविरोधी है यह कैसे जाना जाये? जब वृत्ति हो तब अज्ञान नहीं रहेगा। उत्तरपक्षः—साक्षीने अज्ञानको प्रकाशित किया। वृत्तिके आनेपर उसका प्रकाशन बंद हुआ यह भी साक्षीसे मालूम हुआ अतः विरोध अवगत हुआ। हां, ज्ञानाभाव ही अज्ञान है इस मतमें दोनोंका विरोध देखनेवाला कोई नहीं होगा। वृत्तिरूप ज्ञान और अज्ञानका विरोध प्रकाश और अंधकारके समान है॥ ३॥

ननु वृत्तिज्ञाने सति अज्ञानं निवर्तत इति कथं ज्ञायते? कथं चाज्ञानबाधकत्वं वृत्तेर्ज्ञायते? न हि वृत्तिकालेऽज्ञानं, न चाज्ञानकाले वृत्तिः। तथा सति तयोर्विरोधज्ञानं दुर्घटमेवेति चेन्न। साक्षिणाऽज्ञाने ज्ञाते वृत्तिकाले वृत्त्या साक्षिणा चाज्ञानाऽग्रहणे तयोरैकाधिकरण्यविरहेण विरोधसिद्धेः। यथा घटतदभावयोरैकाधिकरण्यविरहेण विरोधो गृह्यते। अन्यथा तवैव ज्ञानतदभावयोर्विरोधग्रहणानुपपत्तेः। ज्ञानाभावकाले ज्ञानविरहेण तदभावग्रहणानुपपत्तेः। न च तद्धर्मावच्छिन्नाभावतद्धर्मावच्छिन्नयो-

र्विरोधस्य घटतदभावयोर्दृष्टत्वात्तत एव ज्ञानतदभावयोरपि सिद्धिरिति वाच्यम् । यत्त्वतत्त्वादेरननुगतत्वेन घटत्वादिधर्मविशेषपुरस्कारेण विरोधस्य निर्वचनीयत्वात् । एवं सति ज्ञानत्वावच्छिन्नाभावज्ञानत्वावच्छिन्नयोर्ग्रहणे सत्येव विरोधज्ञानमिति ज्ञानत्वावच्छिन्नाभावग्राहकविरहाद्विरोधग्रहणं नैवोपपद्यते । ॥ ३ ॥

ज्ञानावच्छेदकत्वात्सा ज्ञानमित्यभिधीयते ।
चैतन्यारोहणात् सा हि चैतन्यमिव भासते ॥ ४ ॥ [४७८]

ज्ञानावच्छेदक होनेसे वृत्ति ज्ञान कहलाती है । वृत्तिमें प्रतिबिम्बरूपसे चैतन्यारोहण होनेसे वह चैतन्यवत् भासित होती है ॥ ४ ॥

ननु वृत्तेरचेतनत्वात् कथं ज्ञानत्वव्यवहार इति चेन्न । ज्ञानावच्छेदकत्वेन ज्ञानत्वव्यवहारात् । स्वच्छायां वृत्तौ चैतन्यप्रतिबिम्बत्सा चैतन्यमिवावभासते ॥ ४ ॥

प्रत्यूढा अनृतेनेति तम आसीत्तदेति च ।
इन्द्रो मायाभिरिति च श्रुतयोऽज्ञानमूचिरे ॥ ५ ॥ [४७९]

अनृतसे ब्रह्म आवृत है । सृष्टिसे पूर्व तम था । इन्द्र मायासे नानारूपधारी हुआ इत्यादि श्रुतियोंमें अज्ञानका वर्णन है ॥ ५ ॥

आगमाश्च प्रमाणमज्ञाने । " अनृतेन हि प्रत्यूढाः" "सतामनृतापिधानम्" "तम आसीत्" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्याद्याः ॥ ५ ॥

अज्ञानेना वृतं ज्ञानं ज्ञानेन च विनाशितम् ।
इत्याऽऽवरणताद्युक्तं नाभावस्योपपद्यते ॥ ६ ॥ [४८०]

गीतामें भी "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितं" इत्यादि बताया है । अज्ञान यदि ज्ञानभाव हो तो अभाव आवरण कैसे बनेगा ? अभावका नाश क्या होगा? ॥ ६ ॥

ननु "अनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यादौ सर्वत्र प्रकृतिरेवार्थ इति चेन्न । सांख्योक्तायाः स्वतन्त्रायाः प्रकृतेरनभ्युपगमात् । मायाऽविद्यादिपर्यायप्रकृतिश्चेदिष्टमस्माकम् । सा च नाऽभावात्मिका । "अज्ञानेनावृतं ज्ञानमि"त्येवं गीतायामुक्तस्य ज्ञानावरणत्वस्याभावेऽसंभवात् । एवं तत्रैव "ज्ञानेन

तु तदज्ञानं येषां नाशितमि'ति नाशः कथितः । सोऽप्यभावस्य नोपपद्यते । तत्र चाज्ञानशब्दस्य सांख्योक्तप्रकृतिपरत्वं न केनापि स्वीक्रियते ॥ ६ ॥

स्वरूमावृतं ज्ञानं वृत्त्या चाज्ञाननाशनम् ।
न त्वत्र प्रकृतिः सा चेदविद्येति सुखी भव ॥ ७ ॥ [४८१]

"आवृतं ज्ञानमेतेन" इस गीतावचनसे अज्ञानावरणकालमें भी ज्ञान रहता है ऐसा अर्थ निकलता है । वह अनादि साक्षिज्ञान ही हो सकता है । ज्ञानसे अज्ञान नाश हुआ कहनेसे पूर्व वह ज्ञान नहीं था सूचित होता है । उत्पद्यमान ज्ञान तो वृत्तिज्ञान ही होगा । यहां अज्ञानका प्रकृति अर्थ नहीं है । क्योंकि सांख्योक्त प्रकृति न परमात्माको ढकती है और न ज्ञानसे नष्ट होती है । यहां कहा हुआ अज्ञान ही यदि प्रकृति है तो वह अविद्याका ही पर्याय होगा । तब तो आप सुखपूर्वक आराम कीजिये ॥ ७ ॥

यथोक्तगीतावचनं यथाश्रुतं चेद् 'अज्ञानेनावृत्तं चेज्ज्ञानेन कथं तन्नाशः? ज्ञानेन तन्नाशश्चेत्सत एवाऽऽव्रियमाणत्वात् कथं तदानीमेव न तन्नाशः? अतः अज्ञानेनावृतं साक्षिरूपं स्वरूपज्ञानम् । वृत्तिरूपज्ञानेन चाज्ञानं नाश्यत इत्येव व्यवस्था । कथम् ? अज्ञानेनावृतमिति अज्ञानकालेऽपि तस्य विद्यमानत्वोक्त्याऽनादिनित्यत्वावगमात् । ज्ञानेन तु इति कथनेन पूर्वं ज्ञानं नासीत् । यदोत्पद्यते तदा तेन नाशितमित्यर्थलाभेनोत्पत्तिविनाशशालि-ज्ञानाभिधानेन तस्य वृत्त्यात्मकत्वसिद्धेः । न ह्यत्राज्ञानं प्रकृतिर्भवितुमर्हति । न हि ज्ञानेन प्रकृतिर्नश्यति । न वा प्रकृतिरावृतिकारिणी । यदि तथा स्वीक्रियतेऽविद्यैव सेति सुखी भव ॥ ७ ॥

न जीवतत्प्रभाभ्यां तु तदेतदुपपद्यते ।
प्रभाप्रसारे प्रकृतिक्षयः स प्रकृतिक्षये ॥ ८ ॥ [४८२]

द्वैतवादी कहते हैं–प्रकृतिसे जीवप्रभाप्रसार अवरुद्ध है । प्रभाप्रसारसे प्रकृतिक्षय होगा । किन्तु इसमें अन्योन्याश्रयता स्पष्ट है । प्रकृतिनाश हो तब जीवप्रभाप्रसार होगा । और प्रभाप्रसाररूपी ज्ञान होनेपर 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं' के अनुसार प्रकृतिनाश होगा ॥ ८ ॥

नन्वज्ञानेनावृतं जीवस्वरूपं ज्ञानम् । अस्माभिर्जीवस्याणोः स्वयं-प्रकाशज्ञानस्वरूपत्वाभ्युपगमात् । तदीया प्रभा प्रकृत्यवरुद्धा । सा यदा प्रसरति तदाऽज्ञाननाशः । स प्रसार एव 'ज्ञानेन त्वि'त्यत्र ज्ञानपदार्थ इति चेन्न । प्रकृतिर्यद्यवरुणद्धि प्रभां तदा सा कथं प्रसरेत् ? तथा च प्रभाप्रसरे सति प्रकृतिनाशः, प्रकृतिनाशे प्रभाप्रसर इत्यन्योन्याश्रयः स्यात् ॥ ८ ॥

प्राक्कर्म प्रकृतिः कर्मोपास्त्या प्रसरति प्रभा ।
तदसन्नश्यतूपास्त्या, कुतः प्रसरति प्रभा ॥ ९ ॥ [४८३]

पूर्वपक्षः—गीतामें अज्ञानका प्रकृति ही अर्थ है । प्रकृति प्राचीन-कर्मवासनाको कहते हैं । शास्त्रीय कर्म एवं उपासनासे ज्ञान प्रसार होगा तो प्राचीन ज्ञानप्रसार होने से वह प्रकृति नष्ट होगी । उत्तरपक्षः—बीचमें ज्ञानप्रभाप्रसारको क्यों रख रहे हैं ? कर्म और उपासना प्रकृतिको नष्ट करते हैं ऐसा सीधा ही कहो । अन्वयव्यतिरेक उसीमें है । तब "ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितं" इस वचनकी संगति नहीं बैठेगी । अतएव इष्टापत्ति नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

ननु कर्मैव प्रकृतिपदार्थ आवरणम् । तद्ज्ञानकर्मोपासनाभिर्नश्यतीति चेत् ? तर्हि ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितमिति न वक्तव्यम् । किन्तु ज्ञानकर्मोपासनाभिरिति वक्तव्यम् । किं च तद्घटकज्ञानं किमिति निर्वक्त-व्यम् । प्रभैव वा अन्यद्वा । प्रभा चेत्पूर्वमेव विद्यते । कुतो न सा प्रसरन्ती प्रकृतिं नापाकरोत् । अवरुद्धत्वादिति चेदधुनापि तथैव । कर्मोपास्तिभ्यां प्रसार्यत इति चेत् ? कर्मोपास्तिभ्यामेव प्रकृतिर्नश्यतु किमन्तर्गडुना प्रभाप्रसरणेन । सर्वज्ञतार्थमिति चेत् ? अस्तु तस्यैव प्रयोजनान्तर-कथनम् । किन्तु 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितमि'त्यस्योपपत्तिर्नैव जाता । तस्माच्छास्त्रादिजनितवृत्तिरूपज्ञानेनाज्ञानं नाशितमिति व्यर्था प्रभाप्रसरादि-कल्पना ॥ ९ ॥

प्रसाररोधस्तद्ध्रोसंयोगादेव संभवेत् ।
तत्रैव क्षरणं कस्मान्न क्रमेणेति भण्यताम् ॥ १० ॥ [४८४]

और यह भी विवेचनीय है कि ज्ञानसे ही अज्ञानात्मक प्रकृतिनाश होता है तो अवरोध करानेवाला पूर्वकर्मादि पड़देके समान प्रकाशके साथ संयुक्त होकर रोकेगा। उस संयुक्त प्रदेशको ज्ञानप्रभा विशीर्ण क्यों नहीं करती है और आगे क्यों नहीं बढ़ती है ऐसे बढ़ते बढ़ते पूरे अज्ञानको क्यों नहीं नष्ट करती है ?॥ १० ॥

अपि च कूलंकषा नदी यद्देशावच्छेदेन कूलेनावरोधकेन संयुक्ता तद्देशं कषन्ती क्रमेण कृत्स्नं कूलं कषति तथैव ज्ञानप्रभा आवरणीं प्रकृतिं यद्देशावच्छेदेन संयुङ्क्ते तद्देशेन तां कषन्ती कृत्स्नां प्रकृतिं कथं न नाशयति ? न च कर्मोपास्तिविरहात् न नाशयतीति वाच्यम्। कर्मोपास्त्योर्ज्ञानप्रसारणार्थत्वात्। प्रसरणं चावरोधकेन संयोगार्थं संयोगस्तन्नाशार्थमिति। संयोगस्य प्रथमत एव सत्त्वात् कर्मोपास्तिवैयर्थ्यं ध्रुवम् ॥ १० ॥

कर्मसंयोगविरहे कस्तत्र प्रतिबन्धकः।
यः स्यात् स एव तद्रोधी न कर्मेति च पूर्ववत् ॥ ११ ॥ [४८५]

यदि कहें कि कर्मरूपी प्रकृति और ज्ञानका संयोग नहीं हो पाता। होता तो अवश्य नाश होता तो पूछेंगे कि वहां संयोग होनेसे कौन दूसरा प्रतिबन्धक है ? वही फिर ज्ञानप्रभाप्रसारावरोधक है, न कि प्राचीन-कर्मादि। परन्तु वही प्रतिरोधक ज्ञान संयोगसे क्यों नहीं नष्ट होता ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न पुनः उठेगा ॥ ११ ॥

यदि च कर्मात्मप्रकृतिसंयोगो नास्ति तदा कथं सा ज्ञानप्रसारं प्रतिरुन्ध्यात्। सेतुर्जलेन संयुज्यैव जलप्रसारमवरुणद्धि। यदि किंचिदपरं तत्त्वं ज्ञानाविनाश्यं मध्ये विद्यते तर्हि तदेव रोधकं,न तु कर्मात्मकप्रकृतिः। तस्य च नाशो न प्रभाप्रसरेण भवतीति प्रभाप्रसारः कदापि न स्यात् ॥ ११ ॥

प्रकृत्या च वियुक्तात्मदर्शनं कस्य कीदृशम्।
तेन प्रकृतिनाशश्चेदन्योन्याश्रयतापि च ॥ १२ ॥ [४८६]

प्रकृतिवियुक्तात्मदर्शन किसको होता है ? वह कैसा है ? उससे यदि प्रकृतिवियोग हो तो अन्योन्याश्रयता आत्माश्रयता आदि क्यों नहीं।

अस्तु । (मतान्तरदूषण लक्ष्य न होनेसे यहां विकल्पान्तरनिरासादि नहीं दिखाते ।) ॥ १२ ॥

अपि च प्रकृतिवियुक्तात्मदर्शनं कस्य भवति ? न चात्मन एव । तस्य स्वयं प्रकाशतया नित्यं स्वस्वरूपदर्शनात् । न च प्रकृतिसंयुक्तत्वेनैवात्मदर्शनमिति वाच्यम् । तर्हि प्रकृतिवियोगदर्शनमात्रं वक्तव्यम् । प्रकृतिवियुक्तात्मदर्शने प्रकृतिनाशः । प्रकृतिनाशे प्रकृतिवियुक्तात्मदर्शनमित्यन्योन्याश्रयस्योक्तात्वाच्च । यच्चात्र मतान्तरं तदप्रासङ्गिकत्वान्न निरसनीयमिति त्यज्यते ॥ १२ ॥

मायासृष्टिस्तु सत्यैव मायामृगवधेक्षणात् ।
मैवं हतो हि मारीचो नो चेत्तिष्ठेत्स जीवितः ॥ १३ ॥ [४८७]

पूर्वपक्षः—मायासृष्टि भी सत्य है । अतएव ज्ञानसे मायावरणादिनाश नहीं होगा । मायामृग को रामने बाणसे मारा, न कि ज्ञानसे । उत्तरपक्षः— वहां बाणसे मायामृगाधिष्ठान मारीचको मारा तो रज्जुनाशसे सर्पनिवृत्तिवत् मायामृगनिवृत्ति हुई । यदि मायामृगमात्रको मारते तो मारीच जिंदा रह जाता । ॥ १३ ॥

ननु नानृतमावरणं येन ज्ञानमात्रात्तन्नाशः । तथा चेन्द्रो मायाभिरिति श्रुतिसिद्धावरणानि न केवलज्ञानेन नाश्यानि, किन्तु कर्मोपासनासहितेनैव । भवतु वोपासनैव ज्ञानम् । न च मायाजन्यस्य सत्यत्वे मानाभावः । मारीचे मायासृष्टस्य मृगस्य रामेण वधप्रसिद्धेरिति चेन्न । रामेण मारीच एव हतो न मायामृगः । मायामृगमात्रवधे मारीचस्य जीवितत्वापत्तेः । न हि पुत्रमरणेन पिता म्रियते । न वा घटनाशेन मृत्तिकापि नश्यति । मारीचनाशेन तदीयमायातत्कार्यमृगयोरपि अदर्शनात्मकनाशोऽभवदिति ॥ १३ ॥

अज्ञोऽस्मीति हि वेत्त्यवेदितुरिदं स्याद्वेदनं कीदृशं
तस्माद् भावपदार्थ एव जगदेऽज्ञानं न शून्यात्मकम् ।
शून्यं नावरणं, तमोऽपरपदं कामादि चाज्ञानजं
देवो हन्त्वनुकम्पयैव मम तज्ज्ञानप्रदीपेन सः ॥ ३९ ॥

लोग अज्ञोऽस्मि ऐसा अनुभव करते हैं । अज्ञका यदि ज्ञानसामान्याभाववान् अर्थ है तो वह अवेदिता होगा । अवेदिताको अज्ञोऽस्मि यह अनुभव कैसा ? अतः अज्ञान अभावात्मक नहीं, भावपदार्थ है । अभावरूपी अज्ञान आवरण नहीं हो सकता । इस अज्ञानको श्रुतिने तम बताया है । उसीका कार्य कामक्रोधादि है । अभावका भावकार्य क्या हो । उस अज्ञानको भगवान् स्वकृपासे ज्ञानदीपक जलाकर नाश करें ॥ ३९ ॥

इति भावरूपाज्ञाननिरूपणम् ।

*****

(४०)

अथ जीवाज्ञानवादः

आश्रयं विषयं चाहुर्ब्रह्माऽज्ञानस्य केचन ।
अपरे त्वाश्रयं जीवं विषयं ब्रह्म मेनिरे ॥ १ ॥ [४८८]

अनेक आचार्योंने ब्रह्मको ही अविद्याका आश्रय और विषय माना । और दूसरे आचार्योंने जीवको अज्ञानका आश्रय और ब्रह्मको विषय माना ॥ १ ॥

केचनाऽद्वैताचार्या ब्रह्मैवाविद्याया आश्रयं विषयं च मेनिरे । न तावता ब्रह्मणि कस्यचिद् दोषस्य प्रसक्तिः । मिथ्याभूताया अविद्याया ब्रह्मणि संस्पर्शविरहात् । पारमार्थिकमद्वैतमेव । तथापि भामतीकारादयोऽविद्याश्रयं जीवमाहुः । अविद्याविषयस्तु ब्रह्मैव सर्वमतेन ॥ १ ॥

आत्माश्रयादिदोषस्तु नैवानादिषु विद्यते ।
कल्पितत्वेन सिद्धत्वाद् भेदादेर्बाध्यता भवेत् ॥ २ ॥ [४८९]

अविद्यासे जीव हुआ तो पहले अविद्या कहां रही ? अविद्यावान् ही जीव है तो वही अविद्याश्रय हो तो आत्माश्रय होगा इत्यादि शंका अनादिपदार्थोंमें नहीं होती । मिथ्यात्वरूपसे अनादिसिद्ध होनेसे अनादि भी ज्ञाननिवर्त्य होता है ॥ २ ॥

यत्तु जीवे सिद्धे तत्राविद्या, अविद्यायां सिद्धायां ततो जीव इत्यात्माश्रयोऽन्योन्याश्रयो वेति । तन्न । जीवादीनां षण्णामनादित्वस्य प्रागुपपादितत्वेन तद्दोषविरहात् । न चैवमनादिषट्कान्तर्गतजीवेशभेदादीनामविद्याजन्यत्वविरहेण मिथ्यात्वं न स्यादिति द्वैतापत्तिर्बाध्यत्वाभावेन मोक्षासिद्धिश्च स्यादिति वाच्यम् । कल्पितत्वेन रूपेणानादिसिद्धत्वोपगमात् । बाध्यत्वं व्यावहारिकसत्तावत्त्वम् । मायाप्रयुक्तत्वं च । प्रयोज्यप्रयोजकभावौच समानकालीनयोरपि भवतः । यथा जलीयपरमाणौ स्नेहो जलत्वप्रयुक्तः । जलत्वाभाववति वाय्वादौ स्नेहाभावात् ॥ २ ॥

अविद्यावति जीवे चेदविद्याऽऽत्माश्रयो भवेत् ।
नो चेद् ब्रह्मणि सा सिध्येत्, न, घटत्वं घटे यथा ॥ ३ ॥ [४९०]

पूर्वपक्षः—अविद्यावानमें अविद्या रहती है तो आत्माश्रय दोष होगा । अनादित्वरूपसे परिहार जन्यजनकभावको लेकर ही होगा । उत्तरपक्षः—घटमें घटत्वके समान रहेगा । घटत्ववान्‌में घटत्व है या घटत्वाभाववान्‌में ? क्या उत्तर ? वही यहां हैं ॥ ३ ॥

ननु जीवो नामाविद्याविशिष्टचैतन्यम् । तत्र चेदविद्या तदाऽऽत्माश्रयो दोषः । न हि स्वयमेव स्वाधिकरणतावच्छेदकं भवति । यद्यविद्याशून्ये अविद्या तदाऽविद्याशून्यं ब्रह्मैवेति ब्रह्मण्येवाविद्या सिद्ध्येदिति चेद् ? अत्र पृच्छामः । घटत्वविशिष्टे वा घटत्वं ? घटत्वशून्ये वा ? नाद्यः । आत्माश्रयात् । नापि द्वितीयः, व्याघातात् । पटे घटत्वापत्तेः । त्वन्मते च प्रकृतिविशिष्टे वा प्रकृतिः प्रकृतिशून्ये वा ? जीवत्वविशिष्टे वा जीवत्वं जीवत्वशून्ये वा ? सर्वत्रानिर्वचनीयतैव । ननु घटत्वतदभावाभ्यामुदासीने घटत्वं, जीवत्वदभावाभ्यामुदासीने जीवत्वमिति चेत् ? कोऽयमुदासीनपदार्थः ? उदासीनत्वविशिष्टे वोदासीनत्वशून्ये वा कुत्र तदुदासीनत्वम् ? तत्राप्यात्माश्रयः। तत्राप्युदासीनत्वतदभावाभ्यामुदासीनमित्येव वदामि वाचामगोचरत्वादुदासीनशंब्दमेव प्रयुञ्जे इति चेत् ? किं तज्ज्ञात्वा ब्रवीषि ? अज्ञात्वा वा ? अज्ञात्वा चेन्मौर्ख्यं स्यात् । ज्ञात्वा चेन्निर्विकल्पकज्ञानमेव तस्येति ब्रह्मनिर्विकल्पकज्ञानं कुतो निरसितुं यतसे ? घटत्वाद्यधिकरणतायाः किंचिद्धर्मानवच्छिन्नत्वे पटादावपि प्रसङ्ग इति सर्वं जगद् घटः स्यात् ।

न हि स्वयं स्वाधिकरणतावच्छेदकम् । अवच्छेदकस्य नियामकत्वात् स्वयं स्वनियामकत्वानुपपत्तेः । न हि स्वयं स्वं नियम्येतरतो व्यावर्तयति । घटत्वस्य पटादौ प्रसङ्गं स्वयं तत्र प्रसक्तेन कथं नियम्येत ? तस्माद-निर्वचनीयत्वमपि गलेपादुकान्यायेनापतितम् । अन्यत् सर्वं प्रागेवोक्तम् ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वं यदि जीवस्य स्वनाशो मुक्तिरापतेत् ।
सत्यत्वे द्वैतमायातं मैवं भेदोऽनृतो यतः ॥ ४ ॥ [४९१]

पूर्वपक्षः—जीव यदि मिथ्या है तो उसका नाश ही मोक्ष होगा । स्वनाश कौन चाहेगा ? यदि सत्य है तो द्वैतापत्ति होगी । उत्तरपक्षः—जीव मिथ्या नहीं, जीव और ब्रह्मका भेद मिथ्या है । जीवमें अविद्या-सम्बन्धरूपी जीवत्व मिथ्या है ॥ ४ ॥

नन्वीशजीवाद्या भिन्नत्वेनानादिसिद्धा मिथ्या वा सत्या वा । आद्ये ज्ञानेन स्वनिवृत्तिः स्यादिति स्वनाशस्याऽपुरुषार्थत्वमापद्येत । द्वितीये द्वैतापत्तिर्ध्रुवेति चेन्न । ब्रह्मजीवयोर्भेदस्यैव मिथ्यात्वात् । एतदुक्तं भवति । ज्ञानेन जीवोपाधिभूताऽविद्यानिवृत्तावुपाधेयचैतन्यं शिष्यते । न हि दण्ड-विशिष्टदेवदत्तस्य शुद्धदेवदत्तादनिर्वचनीयभेदसत्त्वेऽपि दण्डनाशे देवदत्तो म्रियते । ये तु निर्वचनगर्वं दधते तेषामेव सर्वेऽपि दोषाः प्रसज्यन्त इति न पुनर्वचनीयमस्ति ॥ ४ ॥

प्रकृत्या ज्ञानमीलिन्या वियुक्तात्मस्वरूपता ।
मुक्तिर्न युक्ता प्रकृतेः संयोगानुपपत्तितः ॥ ५ ॥ [४९२]

प्रकृति ज्ञानसंकोचकारिणी है । उसका वियोग ही मोक्ष है ऐसा मत अनुपादेय है । क्योंकि आत्मामें प्रकृतिसंयोग अनुपपन्न है ॥ ५ ॥

प्रकृतिर्ज्ञानसंकोचकारिणी । तद्वियोगो मोक्ष इति मतमसंगतम् । आत्मनि प्रकृतिसंयोगानुपपत्तेः । तस्यास्त्रिगुणात्मकत्वात् । अन्यथा आकाशादि-सकलजनन्यास्तस्या व्यापकत्वेन ज्ञानप्रसर एव न स्यात् । वैकुण्ठे सा नेति चेत्तथापि जगज्ज्ञानं दुर्घटमीश्वरस्यापि भवेत् । कर्मप्रयुक्तो विलक्षणः संयोग इति चेदनिर्वचनीयत्वापत्तिः ॥ ५ ॥

सामीप्यमात्रं संयोग इति चेदभ्युपेयते ।
मुक्तस्य ज्ञानसंकोचस्तया न क्रियते कुतः ॥ ६ ॥ [४९३]

यदि सांनिध्यमात्र संयोग है तो वह समीपमें रहेगी ही । ज्ञान ही नहीं होगा । मोक्ष भी नहीं होगा । वहां भी वह ज्ञानसंकोच करेगी ॥ ६ ॥

एतेन प्रकृतेः सामीप्यमात्रं तत्संयोग इति निरस्तम् । मुक्तस्यापि ज्ञानसंकोचापत्तेः । कृतार्थं प्रति नष्टाप्यनष्टैव सेति न मुक्तस्य ज्ञानसंकोचापत्तिरिति चेन्न । देवदत्तो मृतोऽपि जीवित इतिवद्विप्रतिषिद्धार्थतापत्तेः । भगवान् पतञ्जलिस्त्वनिर्वचनीयपक्षमाश्रित्यैव तथा जगाद । न पुनर्भवाननिर्वचनीयपक्षमङ्गीकरोति । तस्माद् भित्त्यादिवज्ज्ञानप्रसारबाधकत्वे घटादिज्ञानमपि जीवस्य न स्यात् । ईश्वरस्यापि प्राय एषैव गतिस्ते स्यात् ॥ ६ ॥

न च वासनया स स्यादनृतत्वप्रसङ्गतः ।
नानृतं घूकतिमिरं सूर्यरश्मीन् रुणद्धि हि ॥ ७ ॥ [४९४]

वासनासे प्रकृतिसंयोग होता है तो वह मिथ्या होगा । जैसे सर्पवासनासे रज्जुमें सर्पतादात्म्य । मिथ्याप्रकृतिसंयोग जीवप्रभानिरोधक नहीं होगा । क्या उल्लूका कल्पित अधंकारसंयोग सूर्यकिरणप्रसारको रोकेगा ? ॥ ७ ॥

ननु वासनाप्रयुक्तः प्रकृतिसंयोगो वासनानाशे नश्यति । न सा परमेश्वरस्येति तस्य नित्यसर्वज्ञत्वं चोपपद्यत इति चेन्न । वासनाजन्यसंयोगस्य सर्पवासनाजन्यरज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वेन प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः । न हि घूकवासनाजन्यतिमिरं सूर्यकिरणप्रसारप्रतिबन्धकं भवति । न हि दीपप्रभाप्रसारावरोधनभित्त्यादिसंयोगो वासनाप्रयुक्तः ॥ ७ ॥

कर्मैव प्रकृतिर्मैवं ज्ञानाऽसंकोचकत्वतः ।
भित्त्यादिवन्न तद् द्रव्यं यत्प्रसारावरोधनम् ॥ ८ ॥ [४९५]

प्रकृतिका प्रकृतिकार्य अदृष्टात्मक कर्म अर्थ है ऐसा मानना भी संभव नहीं है । क्योंकि वह ज्ञानप्रभासंकोचक नहीं हो सकता । दीवार आदिके समान कर्म कोई द्रव्य नहीं है जो प्रसारका अवरोध करें ॥ ८ ॥

नन्वनादिकर्मपरम्परैव प्रकृतिः । तया ज्ञानप्रभाप्रसरोऽवरुध्यते । कर्म च प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठत इति सर्वसम्मतम् । अन्यथा पुनः सृष्ट्यनुपपत्तेः । तस्याः प्रवाहानादित्वान्न संसारोत्पत्त्यनुपपत्तिर्न वा व्यक्ति-नाशस्वीकारेण विनाशानुपपत्तिरिति चेन्न । कर्मणा कर्मान्तरोत्पत्तेः कथंचित्स्वीकारसंभवेऽपि तस्य चेतनेन कथं संयोगः ? न ह्यनादिसिद्धः संयोगः । प्रतियोगिन उत्पत्तिमत्त्वात् । न हि प्रकाशतमसोः संयोगसंभवः । अनादित्वे हि चोद्यविरहान्मायाचित्संयोग उपपद्यते । न तु सादेस्तम-सश्चित्संयोगसंभवः । अपि च कर्म नाम कथं प्रसरन्तीं प्रभामवरुणद्धि । न हि काचन भित्तिरिदं कर्म । न चेदं द्रव्यं यत् प्रसारावरोधनकरं भवेत् ॥ ८ ॥

कथं घटादिविज्ञानं रुद्धत्वाज्ज्ञानरोचिषः ।
वृत्त्यापास्येत चेत् कर्म, सार्वज्ञ्यं न तदा कथम् ॥ ९ ॥ [४९६]

और ज्ञानप्रभा प्रकृतिसे अवरुद्ध हुई तो घटादिज्ञान कैसे होता है ? यदि घटाकार वृत्तिसे कर्मरूपी प्रकृति हट जाती है तो सर्वज्ञता उसी समय क्यों नहीं हो जाती है ? ॥ ९ ॥

किं च कर्मात्मकप्रकृत्यवरुद्धप्रसरत्वाद् बाह्यघटादिज्ञानं कथं तव भवेत् । यदि च घटाकारमानसवृत्त्या तदानीं कर्मापह्रियत इत्युच्यत तदाऽव-रोधकापसरणात् सर्वज्ञत्वं झटित्यापद्येत ॥९ ॥

न चैकदेशापसृतिरद्रव्यत्वादनंशिनः ।
ततोऽप्यनन्तदिग्व्याप्तिः प्रभाया दुरपह्नवा ॥ १० ॥ [४९७]

यदि कहें कि एकदेश अपसरण हुआ तो भी बात नहीं बनेगी । क्योंकि कर्म द्रव्य नहीं है । निरंश भी है । और एकदेश कट गया तो उसी द्वारमें रोशनी निकलकर अनन्तदूरीतक क्यों नहीं पहुँचती ? जैसे पड़देमें एक छेद हुआ तो उसीसे दूरतक रोशनी जाती है ॥ १० ॥

ननु चक्षुराद्युन्मीलने प्रकृत्येकदेशापसरणात्तदार्जवस्थवस्त्वेव व्याप्नोति प्रभेति चेन्न । तदार्जवदेशस्याप्यनन्तत्वेनानन्तपदार्थप्रत्यक्षापत्तेः । कर्मलक्षण-प्रकृतेरद्रव्यत्वेनैकदेशस्य तदपसरणस्य च दुरुपपादत्वात् । न चानन्त-

जगद्व्यापिकेयं प्रकृतिः, यत्र चक्षुरादिसंयोगस्तावद्देशमात्रेऽपसरतीत्यपि युक्तम् । अद्रव्यत्वादेव । अद्रव्यस्याधारं विना जगद्व्यापकत्वानुपपत्तेः । न हि जीवो व्यापकस्त्वन्मते येन स एवाधारः स्यात् । अद्रव्यत्वादेव चक्षुःसंयुक्ततोऽपसरणानुपपत्तेः । न च दीपप्रभाचन्दनशैत्यादिकं विनाऽप्याधारं दूरपर्यन्तं गच्छतीतिवाच्यम् । दीपप्रभादेरपि तैजसादिसूक्ष्माण्वाश्रयत्वोपगमात् । किं च कर्म नाम यज्ञदानहिंसाप्रभृतिविहिताऽविहितक्रियापरिणामरूपमात्मन्युत्पद्यते । तत्कथं जगद्व्यापि भवति ? ॥ १० ॥

व्यापि चेत् कर्मणा योगिज्ञानं ते किं न रुध्यते
अन्येषां कर्मरोधेन त्वज्ज्ञानं च कथं भवेत् ॥ ११ ॥ [४९८]

पूर्वपक्षः—कर्म या प्रकृति हल्का पड़दा नहीं है किन्तु व्यापक आवरण है । जहां वृत्ति होगी वहीं अपसृत होगा । उत्तरपक्षः—तब आपके कर्मसे अवरुद्ध होकर योगियोंको भी सर्वज्ञता नहीं होगी । आपका कर्म प्रकृति अपसृत हो, किन्तु दूसरोंकी कर्मप्रकृतिसे अवरुद्ध होकर योगियोंको भी सर्वज्ञता नहीं होगी । आपका कर्म प्रकृति अपसृत हो, किन्तु दूसरोंकी कर्मप्रकृतिसे अवरुद्ध होनेसे आपको भी घटादिज्ञान नहीं होगा ॥ ११ ॥

अथ यदि कर्म व्यापकं मनुषे चक्षुः संयोगादिना तावद् दूरं कर्मापनीयते भवतु च द्रव्यसमकक्षमेवेदमित्युच्यते तदा त्वदीयेन व्याप्तेन कर्मणा योगिनामपि ज्ञानप्रसरः कुतो नावरुध्यते ? न हि वृक्षोत्पन्नपत्राणिं वृक्षस्यैव सूर्यप्रभावरोधनानि किन्तु सर्वेषाम् । न हि समुद्रोत्पन्नमेघः समुद्रे एव सूर्यप्रभां प्रतिरुणद्धीत्यस्ति नियमः । किं चैवं मैत्रकर्मणाऽऽवरुद्धप्रसरश्चैत्रज्ञानप्रभा चैत्रीयचक्षुःसंयोगकालेऽपि तत्प्रभामवरुन्ध्यात् । मोक्षकाले परकीयकर्मणा मुक्तस्य ज्ञानप्रभापि प्रतिरुध्येत । तदा च गतं मुक्तानां सार्वज्ञ्येन ॥ ११ ॥

नन्वदृष्टस्य वैचित्र्यात् सर्वं संभवतीति चेत् ।
मायैव तर्ह्यनिर्वाच्या कर्माख्यप्रकृतिस्तव ॥ १२ ॥ [४९९]

पूर्वपक्षः—अदृष्ट विचित्र होनेसे सभी संभव है । ठीक है । उसी अदृष्टको सब कुछ करने दीजिये । बीचमें अप्रत्यक्ष असिद्ध विलक्षण

प्रकृति एवं कर्मादिको लानेकी क्या जरूरत ? फिर तो वह अनिर्वचनीय मायामें ही पर्यवसन्न होगा ॥ १२ ॥

नन्वदृष्टरूपं कर्मेदं विचित्रं भवति । कार्येणैव तत्स्वरूपं ज्ञायेत । तत्पुरुषीयचक्षुरादिसंयोगे घटादितोऽपसरति केवलतत्पुरुषीयमेव ।। न वा परस्य कर्म तत्पुरुषीयप्रभाप्रसरं प्रतिरुणद्धि । घटज्ञाने विश्वज्ञानानुत्पत्तेः किंचिद्दूरानन्तरं तदेव कर्म प्रभामवरुणद्धीत्यादि कल्पनीयं यथा यथानुपपत्तिस्तथा तथा तच्छक्तिः कल्पनीयेति चेत् । सत्यम् । तर्ह्यस्मत्प्रतिपादिता मायैवेयमनिर्वचनीयरूपा त्वया शब्दान्तरेणोपस्थाप्यते ॥ १२ ॥

यथाकार्यं च तच्छक्तिः सर्वत्रैवानुमीयताम् ।
कार्यकारणभावादेस्त्यज्यतां वर्णनक्लमः ॥ १३ ॥ [५००]

कार्यकि अनुसार शक्तिकी कल्पना सर्वत्र कर लीजिये और कार्यकारणभावादिके वर्णननिरूपणके बखेड़ेंको ही हटा लीजिये ॥ १३ ॥

सर्वत्र कार्यस्थले यथाकार्यं सा कर्मशक्तिरनुमीयताम् । एवमदृष्टमस्यासीदत एवं कार्यं संवृत्तमिति। कार्यकारणभावादिवर्णनक्लेशःपरित्यज्यताम् ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षेऽयुक्तमेतच्चेत् परोक्षे प्रोच्यतां सुखम् ।
प्रकृतिर्वासना कर्म परोक्षमखिलं खलु ॥ १४ ॥ [५०१]

मृतिका एवं घटादिका कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष होनेसे केवल अदृष्टको कारण मानना आपको न जचता हो तो परोक्षस्थलमें ही अदृष्टको कारण मान लो । न तो प्रकृतिको किसी ने देखा, न वासनाको और न कर्मको ही ॥ १४ ॥

ननु दण्डघटादीनां कार्यकारणभावः प्रत्यक्षादिसिद्ध इति तत्रादृष्टमात्रस्य कारणत्वं न युक्तमिति चेन्न । कार्यत्वकारणत्वादेरतीन्द्रियबहुतरार्थघटितत्वेनाऽप्रत्यक्षत्वात्। अस्तु वा परोक्षस्थले एवादृष्टमात्रस्य कारणत्वम् । न खलु प्रकृतिं कश्चिन प्रत्यक्षतोऽवालोकत, नापि वासनां, न वा कर्माणि ।

प्रभायाः प्रसरश्चाणोः क्षणेनाण्वन्तरे क्रमात् ।
अनन्तकालतोऽप्येव सार्वज्ञं नोपपद्यते ॥ १५ ॥ [५०२]

प्रकृतिका अपसरण होनेपर जीवप्रभाका प्रसरण एक अणुसे दूसरे अणु, तीसरे अणु आदि क्रमसे होगा। एक अणुसे अन्य अणुतक जानेमें न्यूनतम एक क्षण भी रखिये तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तक फैलना अनन्तकालसे भी संभव नहीं है। अतः सर्वज्ञत्वादिका सपना व्यर्थ ही होगा ॥ १५ ॥

प्रभायाः प्रसरणेन ज्ञानं भवति। मोक्षे प्रतिबन्धकप्रकृतिसंयोग-विरहाज्जगति ज्ञानप्रभाप्रसरात्सार्वज्ञमिति चाशामोदकमात्रम्। दीपादि-प्रकाशो हि शीघ्रं प्रसरन्नप्यणोरण्वन्तरक्रमेणैवाग्रे सरति। न तु युगपज्झ-टित्येव ॥ १५ ॥

झटिति प्रसरेत्सौरप्रभावदिति चेन्न तत्।
सौरभाप्रसरं चाहुः क्रमाद् वैज्ञानिका यतः ॥ १६ ॥ [५०३]

पूर्वपक्षः—जैसे सूर्योदय होते ही क्षणमें सारे विश्वमें प्रकाश फैल जाता है वैसे ज्ञानप्रभा फैलेगी। उत्तरपक्षः—रहने दीजिये इस पुराने ढर्रेको। आज वैज्ञानिकोंको प्रकाशकी गतिका भी पता लग गया है। सूर्यप्रकाशको पृथिवीतक पहुँचनेमें आठ नौ मिनिट लगते हैं ॥ १६ ॥

सूर्यात् तत्प्रकाशस्य पृथिव्यागमने नवनिमेषा आवश्यका इति वैज्ञानिकैर्निरूपितम्। केषांचिद् ऊर्ध्वगानां नक्षत्राणां प्रकाशस्य पृथिवी-पर्यन्तागमने वार्षिकसमयोऽपेक्षितः। आकाशगङ्गीयकतिपयनक्षत्रप्रकाशा-गमने शतादारभ्य सहस्रचतुष्टयवर्षपर्यन्तसमयोऽपेक्षितः। ततोऽप्यूर्ध्वगानां नक्षत्राणां प्रकाशागमने तु स्वयमुन्नेतुं शक्यम्। प्रभागतिश्च सर्वक्षिप्रतरा स्वीक्रियते। ततोऽप्यधिकतरा क्षेपिष्ठगतिः स्वीक्रियतां कामं ज्ञानप्रभायाः। तथाप्यणोरण्वन्तरं ततस्तृतीय इतिक्रमेणैव प्रभया प्रसर्तव्यमित्यनन्तकोटि-ब्रह्माण्डपर्यन्तप्रभाप्रसरणमनन्तकालेनापि न शक्यते संभावयितुम्। तथा सति मुक्तस्य सार्वज्ञ्यकल्पना जरठापुराण (बुढ़िया पुराण) कल्पनैव केवला ॥ १६ ॥

दीपप्रकाशप्रसरस्तैलेन्धननिबन्धनः।
जीवप्रकाशप्रसरे किमिन्धनमितीर्यताम् ॥ १७ ॥ [५०४]

दीपकका प्रकाश जो बढ़ता है उसमें कारण इन्धनरूपसे तेल खप रहा है। जीवप्रकाशके फैलनेमें इंधन क्या है यह भी बताइये ॥ १७ ॥

किं च दीपप्रभाप्रसरणे तैलमिन्धनं वर्तते। तैलसमाप्तौ दीपज्वाला प्रथमं समाप्नोति। अग्निस्तु दग्धवर्तिकायां किंचित्कालं तिष्ठति, न तु तत्प्रभा प्रसरति। एवं भवदीयजीवप्रभाप्रसरणे किमिन्धनमिति वक्तव्यम्। अन्यथा दग्धवर्तिकावदप्रसरत्प्रभ एव जीवो मूढस्तिष्ठेत् ॥ १७ ॥

स्थिरप्रकाशमणिवत् प्रभाऽस्योत्सरतीति चेत्।
अर्कादिरश्म्याचयनं मणौ वैज्ञानिका जगुः ॥ १८ ॥ [५०५]

पूर्वपक्षः—मणिमें कोई इंधन नहीं है फिर भी उसका प्रकाश फैलता रहता है। वैसे जीवका भी प्रकाश है। उत्तरपक्षः—मणिमें भी रेडियम आदिके समान सूर्यादिके प्रकाशका संचय होता है यह आजके वैज्ञानिकोंने सिद्ध किया है ॥ १८ ॥

ननु तैलादिं विनैव स्थिरप्रकाशवन्तो मण्यादयो भवन्ति। निःसरन्ति च निरन्तरं ततः प्रभाः। तथा जीवस्यापि स्यादिति चेन्न। मण्यादावपि सूर्यादिप्रभासंचयनमेव तत्र तच्छक्तिसत्त्वात्। संचिता एव रश्मयः क्रमेण बहिर्निःसरन्ति। न तु स्वयंप्रकाशरूपा मण्याद्याः। एतच्चाधुनिकैर्वैज्ञानिकैः शोधितम्। जीवस्तु कुतो ज्ञानप्रभामाचिनोति। कथं च परमाणुरूपे तदाचयनसंभवः? अन्तर्देशाभावात्। तत्स्वीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वं जीवस्य भज्येत ॥ १८ ॥

यदीन्धनं भोजनं ते निर्वाणं तदभावतः।
तर्हि किं न्वपराद्धं ते बौद्धाद्यैः शून्यवादिभिः ॥ १९ ॥ [५०६]

यदि यह कहें कि जो हम भोजन करते हैं यही इन्धन है (पंद्रह दिन श्वेतकेतुने नहीं खाया तो इन्धनाभाव होमे लगा था) तो सर्वथा भोजन त्याग करनेपर तेल खतम होनेसे जीव बुझ जायेगा। यही निर्वाण होगा। तब बौद्धोंने तुम्हारा क्या गुनाह किया ? बल्कि यह तो चार्वाकमत होगा जिसमें जीव यहीं समाप्त होते हैं ॥ १९ ॥

यदि तु भोजनादितो ज्ञानप्रकाशो भवति, भोजनमिन्धनं भविष्यतीति विभाव्यते तदा भोजनाभावे तैलाभावे दीप इव जीवो निर्वाणं प्राप्नुयात् । तथा सति किमपराद्धं शून्यवादिभिर्बौद्धैश्चार्वाकैर्वा ? तस्मादसंगतेयं प्रभाप्रसरणप्रक्रिया । मन्मते तु व्यापकः स्वयंप्रकाशरूपो जीवो नित्यः । यत्रावरणमपसरति तद्वस्तु तेन प्रकाश्यते । मोक्षे सर्वावरणक्षय इति प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥ ३९ ॥

जीवस्थं ब्रह्मविषयं तमः संसारकारणम् ।
निहन्तु स दयासिन्धुर्ज्ञानदीपेन मे हरिः ॥ ४० ॥

जीवात्मामें ब्रह्मविषयक अज्ञान अंधकार रहता है जो संसारका कारण है उसे वह दयासागर हरि ज्ञानदीपसे मिटावे ॥ ४० ॥

इति जीवाज्ञानवादः

*****

(४१)

अथाऽविद्यास्वरूपनिरूपणम्

बीजं रज्जूरगेऽविद्या दोषाश्च तम आदयः ।
जगद्भ्रमे त्वविद्यैव दोषोऽनादित्वतो मतः ॥ १ ॥ [५०७]

रज्जुसर्पमें कारण एक तो अविद्या है, दूसरे मन्दान्धकार, सर्प-संस्कारादि हैं । जगतकी भ्रान्तिमें उपादानकारण अविद्या है । दोषरूपसे भी वही अविद्या कारण है । क्योंकि अविद्या अनादि है ॥ १ ॥

रज्जुसर्पादिभ्रमे बीजमविद्या । तत्र सहकारिकारणं मन्दान्धकारादयः प्रमेयादिगता दोषा भवन्ति । ते चानियता एव । क्वचिन्मन्दान्धकारो रज्जुसर्पादौ । क्वचिच्चाकचिक्यं शुक्तिरजतादौ प्रमेयदोषः । भूतादिदर्शने प्रमातृदोषः । द्विचन्द्रादिदर्शने प्रमाणदोषः इति । दोषत्वं च न सर्वानुगतो जातिविशेषः । येन तदवच्छिन्नत्वेन कार्यकारणभावः । अत एव जगद्भ्रमे केवलमविद्यैव कारणम् । यदि दोषोऽपि कारणमावश्यकस्तदाऽविद्यैव

दोषोऽप्यस्तु । न च दोषस्य निमित्तत्वादुपादाननिमित्तयोरैक्यायोग इति वाच्यम् । ऊर्णनाभ्यादौ दृष्टत्वात् । न च पृथग्दोषः करणतया दृष्ट इति वाच्यम् । अनादौ तदनावश्यकत्वात् ॥ १ ॥

यद्वाऽज्ञानमुपादानं दोषौ स्तां कर्मवासने ।
अनित्यत्वाच्च जगतो नायुक्ताऽनित्यहेतुता ॥ २ ॥ [५०८]

अथवा जगतका उपादानकारण अविद्या है । दोषके रूपमें कर्म और वासना कारण है । जगत् अनित्य होनेसे अनित्य वासनादि कारण हो सकते हैं ॥ २ ॥

अथवा प्रपञ्चस्योपादानकारणमविद्या, दोषस्तु कामकर्मणी । जगदिद-मुत्पत्तिविनाशशालीति तादृशोऽनित्यो हेतुस्तस्य नानुपपन्नः ॥ २ ॥

वासनामन्नुयन् धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
यत् सप्त मेधयाऽन्नानि तपसाऽजनयत् पिता ॥ ३ ॥ [५०९]

धाताने यथापूर्व जगत् कल्पना की तो वासना कारण स्पष्ट है । सप्तान्न सर्गमें कर्म और वासनासे सृष्टि बतायी ही है ॥ ३ ॥

वासनाया हेतुत्वं तु "धाता यथापूर्वकमल्पयदि"ति श्रुतेः सिद्धम् । यथापूर्वकल्पना हि वासनावशैव । अपि च "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽ-जनयत् पिते"ति श्रुतिः स्पष्टमेव कर्मवासनयोः सप्तान्नात्मकप्रपञ्च-कारणत्वं ब्रवीति ॥ ३ ॥

ननु मुक्तौ परस्येव स्वस्यापि जगदीक्षणम् ।
स्यान्नैवं बाधितत्वेन प्रारब्धाभावतोऽपि च ॥ ४ ॥ [५१०]

पूर्वपक्षः—मोक्षमें जैसे दूसरोंको जगत् दीखता है वैसे मुक्तको भी जगत् दीखना चाहिये । उत्तरपक्षः—नहीं, क्योंकि जगतका बाध हुआ और प्रारब्ध भी नहीं रहा । (यह प्रश्न और उत्तर एकाविद्यावादमें है ।) ॥ ४ ॥

ननु मुक्तिकाले सर्वथाऽविद्यानाशो न शक्यते वक्तुम् । तथा सति एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गात् । एवं सति ब्रह्माश्रिताविद्यावशाद् यथाऽमुक्तस्य प्रपञ्चदर्शनं तथा मुक्तस्यापि प्रपञ्चदर्शनं दुर्वारम् । न च बाधितत्वान्ना-विद्यातत्कार्यप्रपञ्चदर्शनमिति वाच्यम् । तव जीवन्मुक्तिकालेऽविद्यादि-

बाधस्वीकारेऽपि प्रपञ्चस्वीकारादिति चेन्न । जीवन्मुक्तिकाले अविद्यादिबाधेऽपि प्रारब्धेन लेशाविद्यास्वीकाराद् जगद्दर्शनमुपपद्यते । मोक्षकाले तु अविद्यायाः सर्वथा बाधात् प्रारब्धविरहाच्च जगद्दर्शनानुपपत्तेः । न च सर्वथाऽविद्याबाधे कस्यापि जगद्दर्शनं न स्यादिति वाच्यम् । पुरुषान्तरीयाविद्यायास्तदीयविद्ययैव बाधोपपत्तेः । तदुक्तं 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादि'ति । एतद्रहस्यं प्रागेवोपपादितमिति न पुनर्वक्तव्यमिति ॥ ४ ॥

दोषाणां सहकारित्वाद् युगपन्न जगज्जनिः ।
अभावो निःस्वभावत्वान्न च कारणतामियात् ॥ ५ ॥ [५११]

जैसे रजसर्प एकाएका हो जाता है । न कि पहले सांप और सांपिनी, फिर उसका बच्चा, फिर सांप बड़ा हुआ इत्यादि क्रम । वैसे जगत् भी एक साथ बन जाना चाहिये । नहीं । अदृष्ट एवं वासना सहकारिकारण होनेसे क्रम है । प्रश्नः—ज्ञानाभावको ही कारण मान लो । उत्तरः—नहीं, अभाव स्वभावशून्य होनेसे कारण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

नन्वविद्याया बीजत्वे युगपदेव सर्वजगदुत्पत्तिः स्यादिति चेन्न । सहकारिकारणविरहेण तदप्रसक्तेः । सहकारिकारणं च दोषाः । अदृष्टवासनादयस्तथा पूर्वमेवोक्ताः । नन्वेवं ज्ञानाभावो ज्ञानप्रागभावो वा जगद्बीजमस्त्विवति चेन्न । अभावस्य निःस्वभावत्वेन ततः कार्योत्पत्त्यसंभवात् । अन्यथा शून्यस्यैव स्वभाव आस्तां किं सत्कारणमात्रेण ॥ ५ ॥

प्राप्ताप्राप्तविवेकेन दोषैरस्तु जगज्जनिः ।
स्यात्तदाऽदृष्टमात्रस्य त्वन्मतेऽपि च हेतुता ॥ ६ ॥ [५१२]

प्रश्नः—अन्वयव्यतिरेकसे, प्राप्ताप्राप्त विवेकसे दोष ही जगत्कारण होगा । अविद्या नहीं । उत्तरः—आपके मतमें इस प्रकार अदृष्ट ही कारण होगा ॥ ६ ॥

ननु दोषाणामन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादवश्यपूर्ववर्तित्वात्त एव कारणं भवन्तु किमर्थमविद्यायाः कारणत्वोपगम इति चेन्न । सहकारिकारणमादाय मुख्यकारणापलापानुपपत्तेः । अन्यथाऽदृष्टस्य कार्यनियामकातायाः

सर्वैः स्वीकर्तव्यत्वात्तस्यैव केवलं कारणत्वमापद्येतेति सर्वकार्यकारण-भावभङ्गापत्तिः । तथा च घटं प्रति कपालः कारणं दण्डादयः कारण-मित्यादयो व्यवहारा भज्येरन् । न चोपादानं विना न कार्योत्पत्तिरिति वाच्यम् । असतः सद्भाव उत्पत्तिरिति मते उपादानवैयर्थ्यात् । मतान्तरेण तूपादानमविद्येति कथं तन्निरासः ॥ ६ ॥

मृदादेर्घटहेतुत्वं प्रत्यक्षमिति चेन्न तत् ।
अतीन्द्रियत्वाद्धेतुत्वप्रत्यक्षाऽसंभवो यतः ॥ ७ ॥ [५१३]

प्रश्नः—अदृष्टमात्र क्यों कारण होगा? घटके प्रति मृत्तिकामें कारणत्व प्रत्यक्षसिद्ध है । उत्तरः—नहीं । अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वरूपी हेतुत्वमें अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ घटक हैं । अतएव हेतुत्व प्रत्यक्ष नहीं है ॥ ७ ॥

ननु मृदादेर्घटकारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति तदुपगम्यते । अविद्यायास्तत्त्वं न तथैति न तस्याः कारणत्वसिद्धिरिति चेन्न । हेतुत्वस्यातीन्द्रियबहुतर-पदार्थघटितत्वेनाऽप्रत्यक्षत्वात् । अनन्यथासिद्धत्वे सति स्वप्रागभावक्षणप्राग-भावानधिकरणत्वविशिष्टस्प्रागभावाधिकरणतावद्देशकालवृत्त्यभावप्रतियोगि तानवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपाव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि कारणत्वं तच्च न प्रत्यक्ष-योग्यम् । अतीन्द्रियबहुतरार्थघटितत्वात् । न चानुमानादिना तत्सिद्धिः । अवश्यनियतपूर्ववर्त्यदृष्टेनैवोपपत्तौ तदन्यस्यान्यथासिद्धत्वात् ॥ ७ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामविद्या भ्रमकारणम् ।
दृष्टा रज्जुभुजङ्गादावित्यप्यत्रोत्तरं समम् ॥ ८ ॥ ग [५१४]

यदि अन्वयव्यतिरेकसे घटकारण मृत्तिका सिद्ध है तो अन्वय-व्यतिरेकसे रज्जुसर्पमें अविद्या कारण है। अतएव जगद्भ्रममें भी अविद्या कारण है । भ्रमत्वावच्छिन्नके प्रति अविद्यात्वरूपसे कारण है ॥ ८ ॥

यदि चानुमानतो मृदादेर्घटहेतुत्वसिद्धिस्तदा रज्जुसर्पभ्रमहेतुत्वम-विद्यायामन्वयव्यतिरेकसिद्धेर्जगद्भ्रमेऽपि मेऽपि अविद्याहेतुकत्वं सिध्यति ।

असिद्धं तद्भ्रमत्वं चेन्मिथ्यात्वात्साधितं पुरा ।
मिथ्यात्वं सदसद्वेति प्रागेवात्र विचारितम् ॥ ९ ॥ [५१५]

पूर्वपक्षः—जगतका भ्रम है यही असिद्ध है । उत्तरपक्षः—मिथ्या होनेसे जगत्का ज्ञान भ्रम है यह पहले ही आ गया है । मिथ्यात्व मिथ्या है या नहीं इसपर भी पहले विचार हो चुका, अतः पिष्टपेषण व्यर्थ है ॥ ९ ॥

मिथ्यात्वं मिथ्या न वेत्यादिकं प्रागेव समाहितम् । अविद्या पुनरनृतत्वेनानादिसिद्धा । तत्तादात्म्यं ब्रह्मणि तथैव । अन्यत्सर्वं पिष्टपेषणमात्रम् ।

इमामविद्यां भवदुःखजन्मदा-
मनादितः कल्पितरूपमास्थिताम् ।
श्रुतीरिताद्वैतमतिप्रकाशितः
स्वयंप्रभो मे क्षपयत्वधोक्षजः ॥ ४१ ॥

संसारदुःखजन्मदायिनी अनादिकालसे ही कल्पितरूपसे स्थित इस अविद्याको श्रुतिकथित अद्वैतविषयक ज्ञानसे प्रकाशित स्वयंप्रकाश इन्द्रियातीत परमेश्वर नष्ट कर दें ॥ ४१ ॥

इत्यविद्यास्वरूपनिरूपणम्

*****

(४२)

अथ मायाऽविद्याविभागनिरूपणम्

निर्मायं निर्विशेषं च परं ब्रह्म सनातनम् ।
ईशजीवादयोऽनाद्या मायाऽविद्याद्युपाधिजाः ॥ १ ॥ [५१६]

ब्रह्म माया रहित है । ज्ञातृत्वादि विशेष धर्मोंसे रहित है । ईश्वर जीव आदि अनादि हैं, माया अविद्या उपाधिसे युक्त हैं ॥ १ ॥

मायादिसकलदोषोपाधिरहितं ज्ञातृत्वाद्यखिलविशेषरहितमनाद्यनन्तत्वात् सनातनं परं ब्रह्म स्वयंप्रकाशसच्चिदानन्दैकरसं परमार्थतत्त्वम् । न च सर्वज्ञत्वादिधर्मयुक्तस्य निर्विशेषत्वं नोपपद्यते, ज्ञातृत्वाभावे च प्रस्तरादिवदज्ञत्वं स्यादिति वाच्यम् । प्रस्तरादीनां स्वयंप्रकाशत्वविरहेण दृष्टान्त-

वैषम्यात् । स्वप्रकाशं च परमानन्दैकरसमिति परमपुरुषार्थरूपत्वात् कथं प्रस्तराद्यौपम्यम् ॥ १ ॥

स्वप्रकाशं परं ब्रह्म परमानन्दतुन्दिलम् ।
न ज्ञातृत्वाद्यभावेन प्रस्तराद्युपमाऽस्य तु ॥ २ ॥ [५१७]

परंब्रह्म स्वयंप्रकाश एवं परमानन्दरूप है । अत एव ज्ञातृत्वादि विशेषोंके न होनेपर भी प्रस्तर (पत्थर) आदिके बराबर नहीं है । पत्थर आदि न स्वयंप्रकाश है और न आनन्दरूप है । २ ॥

न च स्वज्ञातृत्वेनैव सविशेषत्वं स्यादिति वाच्यम् । कर्मकर्तृविरोधेन स्वज्ञातृत्वाऽस्वीकारात् । भवतापि जीवात्मादेः स्वज्ञातृत्वं विनैव स्वयंप्रकाशत्वोपगमात् ॥ २ ॥

अपश्यतां गुणे सर्पं नाऽज्ञत्वं कोऽपि मन्यते ।
जगज्ज्ञातृत्वविरहान्नाज्ञता ब्रह्मणस्तथा ॥ १३ ॥ [५१८]

रज्जुमें सर्पको न देखनेवाला क्या अज्ञानी होता है ? वैसे मिथ्या जगतको न देखनेवाला ब्रह्म क्यों अज्ञानी होने लगा? ॥ ३ ॥

नन्वेवमपि जगज्ज्ञातृत्वमुपगन्तव्यम् । अन्यथा स्वप्रकाशत्वं जीवस्यापि समानमिति जीववदेवाज्ञत्वं न वारयितुं शक्यमिति चेन्न । मिथ्यावस्तुविषयकज्ञातृत्वाभावेनाज्ञत्वानुपपत्तेः । न हि रज्जौ सर्पमपश्यतोऽज्ञत्वं भवति । प्रत्युत सर्पं पश्यत एव भ्रान्तत्वादज्ञत्वम् । तथैव जगत् पश्यत एव भ्रान्तत्वाज्ञत्वे प्रसज्येते. । बाधितत्वेन दर्शनात्तु नाज्ञत्वव्यवहार ईश्वरे यथा बाधितत्वेन सर्पं पश्यतोऽपि नाज्ञत्वम् । सर्पमपश्यतः पुनः का वार्ता ? ॥ ३ ॥

प्रत्युताहिं गुणे पश्यन्नज्ञो भ्रान्त इतीर्यते ।
बाधितत्वेन तु द्रष्टा न चाज्ञो भवतीश्वरः ॥ ४ ॥ [५१९]

बल्कि रस्सीमें सर्प देखनेवाला ही अज्ञानी और भ्रान्त कहलाता है । तो क्या जगतको देखनेवाला ईश्वर अज्ञानी है? नहीं । क्योंकि ईश्वर जगतको बाधितत्वरूपसे देखता है । मरुभूमिमें जलको देखते हुए भी उसे मिथ्या समझनेवाला भ्रान्त या अज्ञानी नहीं कहा जाता ॥ ४ ॥

न हि सूर्यचन्द्रादीन् चक्रवत् स्थालिकावद्वा पश्यतोऽपि लक्षादि-योजनविस्तीर्णत्वं जानतो भवत्यज्ञत्वव्यवहारः । न हि पर्वतं हस्त्याकारं दूरतः पश्यतोऽपि विशालप्रस्तरादिरूपेण जानतोऽज्ञ इति व्यवहारविषयत्वम् कुतः ? ॥ ४ ॥

दोषेण दृश्यते वस्तु जानतोऽप्यन्यथा क्वचित् ।
मायया दृश्यतां तद्वज्जगच्चेशेन का क्षतिः ॥ ५ ॥ [५२०]

जानकार व्यक्तिको भी दोषके कारण वस्तु अन्यथा दीखती है वैसे मायाके कारणं ईश्वरको जगत् दीखे इसमें क्या हानि है? ॥ ५ ॥

यथा दौर्यादिदोषेण ज्ञानवतामपि वस्त्वन्यथा विलोक्यते तथा मायया जगदिदमीश्वरस्यापि दृश्यतां का हानिः? ॥ ५ ॥

सत्त्वस्य शुद्ध्या प्रकृतिर्मायाऽविद्या त्वशुद्धितः ।
तत्त्वज्ञाने त्वाविद्यापि शुद्धसत्त्वोपजायते ॥ ६ ॥ [५२१]

शुद्धसत्त्वा प्रकृति माया कहलाती है । अशुद्धासत्त्वा प्रकृति अविद्या कहलाती है । हां, तत्त्वज्ञान होनेपर अविद्या भी शुद्धसत्त्वा होती है । (तब भेद समष्टिव्यष्टि भावसे ही समझना चाहिये ।) ॥ ६ ॥

सत्त्वस्य शुद्ध्या प्रकृतिर्मायेत्युच्यते । तदविशुद्ध्या चाविद्योच्यते । "साङ्गाप्यनाङ्गाप्युभयात्मिका नो" इत्याचार्यवचनादांशिकशुद्ध्यशुद्धी प्रकृतौ नानुपपन्ने । अतएव तत्त्वज्ञाने जाते तत्सामग्र्यां वा सम्पन्नायामविद्यापि शुद्धसत्त्वा भवति । भेदस्तु तदा व्यष्टित्वसमष्टित्वाभ्यामेवाविद्यामाययोः ।

कल्पितत्वेन रूपेणानादिसिद्धे उभे अपि ।
व्यावहारिकसत्तादिस्तदवच्छेदको मतः ॥ ७ ॥ [५२२]

माया एवं अविद्या कल्पितत्वरूपसे अनादिसिद्ध है । अत एव कल्पनाजन्य होनेसे सादि नहीं है । कल्पनाविषयतावच्छेदक व्यावहारिक-सत्ता या पारमार्थिकेतरसत्ता या सदसद्भिन्नत्वादि समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

ननु कल्पनाप्रसूतत्वात् कल्पितत्वं मायाविद्ययोर्वक्तव्यम् । साऽविद्या-रूपैव कल्पनेत्यविद्यान्तरमित्यनवस्था । अन्यथा तु कल्पितत्वाभावेन द्वैतापत्तिरिति चेन्न । कल्पितत्वेन रूपेण मायाविद्ययोरनादिसिद्धत्वात् ।

कल्पनाविषयतावच्छेदिका तु व्यावहारिकसत्तैव । यद्यपि प्रातिभासिकेऽपि कल्पितत्वमस्ति । तथापि तत्र प्रातिभासिकसत्ताया अवच्छेदकत्वान्तर-स्वीकारेऽपि न क्षतिः । पारमार्थिकेतरसत्तात्वेन वोभयमनुगमयितव्यम् । सदसद्भिन्नत्वादि वाऽवच्छेदकम् ॥ ७ ॥

नोद्दिधीर्षेत् परं स्थाणुपुंवद् धातेति चेन्न तत् ।
न प्रातिभासिके दुःखं तत्तु स्याद् व्यावहारिके ॥ ८ ॥ [५२३]

पूर्वपक्षः—ईश्वर यदि जगतको बाधितरूपसे देखता है तो स्थाणुपुरुषको जैसे कोई उपदेश नहीं देता वैसे जीवात्मा अर्जुनादिको ईश्वर उपदेश क्यों देगा? उत्तरपक्षः—स्थाणु पुरुष प्रतिभासिक है , उसमें दुःखादि नहीं होता । दुःखादि तो व्यावहारिकमें होता है ॥ ८ ॥

नन्वीश्वरो बाधितत्वेन जगद् यदि पश्यति तदा परोद्दिधीर्षा परोपदेशश्च न स्यात् । न हि स्थाणुपुरुषं बाधितं जानतस्तस्मै कश्चिन्मा-र्गादिकमुपदिशति । उपादिक्षच्च भगवानर्जुनादिकमिति न बाधितत्वं युक्तं जगत इति चेन्न । बाधितस्य स्थाणुपुरुषादेः प्रातिभासिकत्वेन तत्र दुःखस्य ज्ञानादेश्च विरहात्तद्वारणाय ज्ञानाद्युपदेशविरहेऽपि व्यावहारिकेऽर्जुनादौ दुःखित्वचेतनत्वादेः सत्त्वादुपदेशोपपत्तेः । तच्चावेदितं प्रागपि ॥ ८ ॥

व्यावहारिकदुःखं स्वं हन्तुमुद्युयुजे गुरुः ।
तदेव हन्तुं शिष्यस्योपदिशत्वत्र का क्षतिः ॥ ९ ॥ [५२४]

पूर्वपक्षः—तत्त्वज्ञानी गुरु शिष्यादिको मिथ्या देखता है तो उपदेश क्यों करेगा? उत्तरपक्षः—स्वयंका व्यावहारिक दुःख दूर करनेके लिये स्वयं गुरुने प्रथम प्रयत्न किया । तत्त्वज्ञान होनेपर शिष्यका वैसा ही दुःख दूर करनेके लिये उपदेश किया तो इसमें क्या क्षति है? ॥ ९ ॥

ईश्वरस्य यथा तथा वा भवतु । गुरुः शिष्यादिकं तदीयदुःखादिकं च मिथ्यात्वेन पश्यन् कथं तद्धानाय शिष्यमुपदिशेदिति चेत्? मैवम् स्वयमेव गुरुः स्वीयं व्यावहारिकं दुःखमसहमानः सिद्धये प्रायतिष्ट । तत्त्वज्ञानेन बाधेऽपि बाधितस्य तस्य शिष्येषु कष्टप्रदस्य वीक्षणात्तन्नाशयितुं तेभ्य उपदिशतीत्यत्र का नामानुपपत्तिः? ॥ ९ ॥

मायोपाधिः समष्टिर्भवति भगवतः शुद्धसत्त्वप्रधाना
जीवानां व्यष्टिभावा भवति च बहुधाऽशुद्धसत्त्वा ह्यविद्या
तत्रेशोऽनादिकालात्सकलापि जगद् बाधितत्वेन पश्यन्
सर्वज्ञो हृत्तमो नः क्षपयतु करुणाबन्धुरो बन्धरूपम् ॥ ४२ ॥

परमेश्वरकी उपाधि माया है। शुद्धसत्त्वप्रधान है। जीवोंकी उपाधि अविद्या है वह व्यष्टि है, मलिनसत्त्वप्रधाना है। ईश्वर अनादिकालसे जगतको बाधितरूपसे देखता है और बाधितानुवृत्तिसे ही सृष्टि आदि करनेवाला सर्वज्ञ है। करुणासे मनोहर वही परमात्मा बन्धरूप मेरे हृदयतमसको नष्ट करें॥ ४२ ॥

इति मायाऽविद्याविभागनिरूपणम्।

*****

(४३)

अथ मायादिनिवर्तकोपपत्तिः

तत्त्वंपदार्थशोधोर्ध्वं तत्त्वमस्यादिवाक्यतः।
उदेत्यखण्डवृत्तिर्या सैवाज्ञाननिवर्तिका ॥ १ ॥ [५२५]

पूर्वपक्षः—ज्ञान यदि अज्ञाननिवर्तक है तो ब्रह्मरूपी ज्ञान अनादिकालसे होनेसे अनादिकालसे अज्ञाननिवृत्ति भी हो गयी होती। उत्तरपक्षः—ब्रह्मरूपी ज्ञान किसीका बाधक नहीं है। तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वक तत्त्वमसि आदि वाक्यसे होनेवाली अखण्डाकारवृत्तिरूप ज्ञान ही अज्ञाननिवर्तक है॥ १ ॥

ननु तस्याज्ञानस्य किं निवर्तकभूतं ज्ञानम्? ब्रह्मस्वरूपं चेत् सदा-निवृत्त्यापत्तिः, तद्भिन्नं च जडं कथमज्ञानं निवर्तयेदिति चेन्न। तत्त्वपदार्थ-शोधनपूर्वकजायमानतत्त्वमस्यादिवाक्यजनिताऽखण्डाकारवृत्तेरज्ञाननिवर्तक-त्वात्। तस्या अनादित्वविरहेण सर्वदाऽज्ञाननिवृत्त्यादिप्रसक्तिर्न भवति। ननु वृत्तेर्जडत्वात्कथमज्ञाननिवर्तकत्वम्? न च वृत्तिप्रति-बिम्बितचैतन्यमज्ञाननिवर्तकमिति वाच्यम्। बिम्बज्ञानस्याज्ञाननिवर्तक-

त्वाभावे का प्रतिबिम्बस्य तत्र प्रत्याशेति चेन्न । पारमार्थिकस्य व्यावहारिक-निवर्तकत्वाभावात् । तस्य तत्साधकत्वात् । न चाचेतनो निवर्तनाऽक्षमः । दण्डेन घटनिवृत्तिदर्शनात् । न चैवमज्ञाननाशार्थं वृत्तिज्ञानगवेषणवैयर्थ्यं, कर्मादिनापि तन्नाशसंभवादिति वाच्यम् । निवर्त्यनिवर्तकभावस्य नियतत्वात् । न हि च्छुरिकया शाकादिः कर्त्य इति हीरकोपि कर्त्येत । न च ज्ञान-सामान्यसत्त्वेऽपि घटादिविषयकाज्ञाननिवृत्तिः । किन्तु घटादिवृत्तिज्ञान-सत्त्वेनैव । एवं ब्रह्माकारवृत्तिज्ञानेनैव ब्रह्मविषयकाऽज्ञाननाशः ॥ १ ॥

तत्तद्वृत्तियुतज्ञानं तत्तदज्ञानवारकम् ।
गवि दृष्टेऽपि नो जातिपरिमाणादिरीक्ष्यते ॥ २ ॥ [५२६]

केवलवृत्त्यवच्छिन्न भी नहीं, तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्न ज्ञान ही तत्तत् अज्ञानका निवर्तक होता है । गायको दूरसे देखा, गौ-आकार वृत्ति हुई, फिर भी किस जातिकी है, कितनी बड़ी छोटी, कैसा रूपरंग इत्यादि ज्ञान नहीं हुआ । उन सबका अज्ञान रह ही गया ॥ २ ॥

तत्तद्वृत्तिविशिष्टचैतन्यमेव तत्तदज्ञानवारकम् । अत एव दृष्टेऽपि गवि क्वचित्तदीयजातिविशेषपरिमाणविशेषादिकं नोपलभ्यते । ज्ञानप्रकाश-प्रसरमतेऽपि घटादिदर्शनकाले घटादिपर्यन्तं ज्ञानप्रकाशप्रसरेऽपि तदीय-परिमाणघटत्वद्रव्यत्वतदीयपरमाणुद्व्यणुकादयो दृश्यन्ते । कुतः ? वृत्ति-विरहादित्येव समाधेयम् ॥ २ ॥

अज्ञानावरणान्यत्र विद्यन्ते बहुधात्मनि ।
वृत्तयश्च ततो नाना सत्यज्ञानादिगोचराः ॥ ३ ॥ [५२७]

अज्ञानके आवरण नाना हैं । अतएव सत्यज्ञानादिविषयक वृत्ति भी नाना है ॥ ३ ॥

अज्ञानस्यैकत्वेऽपि तदीयान्यावरणानि वृत्तयो वा बहुविधा भवन्ति । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति श्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनप्रयोगात् । तेषामावरणानां नाशिका वृत्तयश्च नानैवापेक्षिताः ॥ ३ ॥

क्रमापसरणात्तेषां सामान्यज्ञानमादितः ।
उत्तरोत्तरतश्चैव विशेषज्ञानमिष्यते ॥ ४ ॥ [५२८]

उन आवरणोंका क्रमशः अपसरण होता है अतः प्राथमिक ज्ञान-सामान्य होता है। उत्तरोत्तर विशेषज्ञान होता है ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमतः किंचदावरणभङ्गात् सामान्यज्ञानं भवति । उत्तरोत्तरमावरणभङ्गक्रमेण ज्ञानस्य पौष्कल्यं भवति । एतेनेदमपास्तं यदत्र केचिदाहुः न ह्यधारज्ञानेन विना आरोप्यसर्पादिभ्रमो भवति । तथा च जगदारोपणं तदैव भवितुमर्हति यदा ब्रह्मणः सामान्यतो ज्ञानं स्यात् । अधिष्ठान-विशेषज्ञानात्त्वारोप्यनिवृत्तिर्भवति । यथायं किंचिदिति सामान्यदर्शने सर्पभ्रमो भवति । इयं रज्जुरितिविशेषज्ञाने अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिर्भवति । न ह्येवं ब्रह्माणि सामान्यविशेषभावः । एवं सति विशेषज्ञानाभावाज्जगन्न निवर्त्तेत । यत् सामान्यं तस्यैव विशेषज्ञानत्वे सर्वदैव निवर्तेतेति श्रवणादि-वैयर्थ्यापत्तिरिति । अज्ञानावरणानां नानात्वेनाल्पाऽज्ञानाऽऽवरणनाशे सामान्यज्ञानमधिकाज्ञानावरणनाशे विशेषज्ञानमिति व्यवस्थोपपत्तेः । यथा मन्दान्धकारेऽल्पप्रकाशे रज्जुसामान्यज्ञानं सर्पभ्रान्तिश्च, विशेषप्रकाशेऽन्धकारनिवृत्तेः सर्पभ्रान्तिनिवृत्तिः । न च द्रव्यत्वरज्जुत्वे सामान्यविशेषौ तयोर्ज्ञानाज्ञानप्रयुक्ता भ्रान्तिरुभयज्ञानप्रयुक्ता च सर्पभ्रमनिवृत्तिरिति वाच्यम् । भवन्मते द्रव्यगुणपदार्थद्वयमात्रङ्गीकाराद् द्रव्यत्वरज्जुत्वादेरन-तिरेकात् ॥ ४ ॥

मन्ददृष्टेर्हि सामान्यज्ञानं जायेत वस्तुतः ।
विशेषतो भवेज्ज्ञानं काचादिसहयोगतः ॥ ४ ॥ [५२९]

दृष्टि मन्दवालोंको सामान्यज्ञान होता है । चश्मा लगानेपर विशेषज्ञान होता है ॥ ५ ॥

मन्ददृष्टेः पुरुषस्य अयं गौः अयं सूर्य इत्यादि सामान्यज्ञानं भवति । उपनेत्रधारणे सति अयं गौः गौरितीदमेव ज्ञानं विशेषात्मकं भवति । तत्र को नाम विशेषः किं च सामान्यमिति विवेक्तव्यम् ॥ ५ ॥

पीतोपनेत्रतो नार्कश्वेतिमावरणक्षयः ।
वक्रोपनेत्रतो नैव गोलकावृतिदारणम् ॥ ६ ॥ [५३०]

पीले चश्मेसे श्वेतिमावरणका क्षय नहीं होता। टेढ़े चश्मेसे सूर्यके गोलकावरणका नाश नहीं होता ॥ ६ ॥

पीतोपनेत्रधारणे सूर्यचन्द्रादेः स्पष्टदर्शनेऽपि श्वेतिमावरणक्षयो न भवति । वक्रोपनेत्रधारणे तदीयगोलकाकृत्यावरणसंक्षयो न भवति । शुभ्रोत्तमोपनेत्रधारणे स्पष्टं विशेषदर्शनं भवति ॥ ६ ॥

दीपेऽल्पतमसो नाशादल्पशो वस्तु भासते ।
शम्पायामधिकं सौरप्रकाशे चाधिकाधिकम् ॥ ७ ॥ [५३१]

दीपकके प्रकाशमें थोड़ा अन्धकार दूर होता है। बिजलीके प्रकाशमें ज्यादा अन्धकार दूर होता है और सूर्यप्रकाशमें बहुत ज्यादा अंधकार नष्ट होता है ॥ ७ ॥

किं च दीपप्रकाशेऽल्पस्य तमसो नाशादल्पशो रज्जुघटादिर्भासत इति सामान्यज्ञानम् । कुतः ? अज्ञानावरणस्याल्पशो नाशात् । विद्युत्प्रकाशे किंचिद्विशेषरूपेण रज्जुघटादिभानं भवति । कुतः ? अधिकावरणनाशात् । सौरप्रकाशे च विशेषरूपेण तद्भानं भवति । कुतः ? अधिकतरावरणनाशात् । एवं ब्रह्मण्यप्यावरणाल्पाधिकनाशात्सामान्यविशेषज्ञानमुपपद्यते ॥ ७ ॥

न चाल्पावयवा ज्ञाता घटादाविति सांप्रतम् ।
के ज्ञाताः के च न ज्ञाताः कस्माच्चेत्यनिरुक्तितः ॥ ८ ॥ [५३२]

पूर्वपक्षः—मन्ददृष्टि आदिमें घटादि के अल्प अवयव ज्ञात हुए अतः सामान्यज्ञान है। अधिकदृष्टि अधिकप्रकाशमें अधिकावयव दीखते हैं। ब्रह्मके अवयव न होनेसे सामान्य ज्ञान विशेषज्ञान ऐसा विभाग संभव नहीं। उत्तरपक्षः—घटादिमें कौनसे अवयव ज्ञात हुए कौनसे नहीं और क्यों ऐसा हुआ इसका निर्वचन कीजिये। क्यों दृष्टि या प्रकाश कुछ अवयवोंपर पड़े कुछ पर नहीं जब कि समान प्रवाह है? ॥ ८ ॥

नन्वल्पावरणाधिकावरणविनाशप्रयुक्तं न सामान्यविशेषज्ञानम् । रज्वादेर्घटादेश्च मन्दान्धकारेऽल्पा अवयवा ज्ञाता इति सामान्यज्ञानम् । अधिकावयवज्ञानं सौरप्रकाशादाविति विशेषज्ञानमिति, ब्रह्मणस्तु निरवयत्वान्नेदृग्-

व्यवस्थोपपत्तिरिति चेन्न । घटे केऽवयवा ज्ञाताः के च न ज्ञाताः यदा प्रकाशसंयोगचक्षुःसंयोगादयः समानाः । यदि केचन न संनिकृष्टा उच्यन्ते तदा वक्तव्यं कुतो न संनिकृष्टा इति । एतत्सर्वमनिर्वाच्यमेव तस्मादनुभव-सिद्धमल्पप्रकाशेनाल्पान्धकारो नष्टोऽधिकप्रकाशेनाधिकान्धकारो नष्ट इत्येवोपगन्तव्यम् । एवं रज्जुत्वद्रव्यत्वादौ प्रकाशसंयोगे चक्षुःसंयोगादौ च समाने कुतो द्रव्यत्वमात्रावगतिर्न तु रज्जुत्वावगतिरित्यपि त्वया निर्वचनीयम् । इत्थं च शोधकवाक्यैः सत्यं ज्ञानमित्यादिभिर्विशेषवृत्त्या तत्तदावरणनाशाद्विशेषप्रकाश उपपद्यते तत्त्वमस्यादिजनिते पूर्णज्ञाने च पूर्णतयाऽविद्यानिवृत्तिर्भवति तदेव विशेषज्ञानमित्युच्यते । एतावतैवोपपत्तौ श्रुतिविरुद्धसामान्यविशेषभावकल्पना न वैदिकानां ब्रह्मणि न्याय्या ॥ ८ ॥

एतेन ज्ञानतमसोराकाररहितत्वतः ।
अर्थेनैव विशेषः स्यादित्यपास्तं निदर्शनात् ॥ ९ ॥ । [५३३]

इस विवेचनका मतलब यह है कि बहुतोंका कहना है कि ज्ञान तथा अज्ञान दोनों निराकार होनेसे अर्थको लेकर ही विशेषता बतानी होगी । ब्रह्मरूपी अर्थमें कोई विशेष नहीं, तो सामान्यज्ञान, विशेषज्ञान ऐसा विभाग नहीं हो सकता । पूर्वोक्त दृष्टान्तोंमें अर्थमें विशेषता न होनेपर भी ज्ञान में विशेषता देखनेमें आ रही है । अतः तम या अज्ञानमें स्वभावतः सामान्यविशेषभाव मानना पड़ेगा ॥९॥

एतेनेदमपास्तं यदाहुः ज्ञानतमसोर्निराकारत्वादर्थेनैव विशेषो वक्तव्यः, न च ब्रह्मणि नानार्थतेति । आकरणभेदेन ज्ञानभेदसार्थक्यं तदर्थतया च सत्यज्ञानदिपदसार्थक्यमिति । यथोक्तनिदर्शनेषु स्वत एव तमसि विशेष-दर्शनात्तन्निवर्तकतया ज्ञानेऽपि विशेषस्वीकारावश्यकत्वात् ॥ ९ ॥

आरोपिताऽसत्त्वजाड्य-दुःखित्वानां प्रयोजकाः ।
अज्ञानभागा नश्यन्ति सत्यत्वाद्यवबोधतः ॥ १० ॥ [५३४]

ब्रह्ममें अनादिकालसे आरोपित असत्त्व, जड़त्व, दुःखित्व इत्यादिके प्रयोजक अज्ञान भाग मानने ही होंगे । उनका नाश सत्यत्वादिज्ञानसे ही होगा ॥ १० ॥

असत्त्व-जडत्व-दु:खित्वादीन्यनादिकालत एव ब्रह्मण्यारोपितानि । तेषां प्रयोजका: अज्ञानभागा अवश्यमभ्युपेया: । तद्विनाशश्च सत्यत्वाद्यवबोधेन भवति । ततश्च सत्यं ज्ञानमित्यादिपदानां सार्थक्यम् ॥ १० ॥

अखण्डसच्चिदानन्दावृतयस्ता हृदि स्थिता: ।
तदक्षयाज्जगद्भ्रान्तिस्तत्क्षयान्मोक्ष एव च ॥ ११ ॥ [५३५]

अखण्ड सत् चित् आनन्दको ये असत्त्वाद्यापादक आवरण आवृत करते हैं । उनके कारण जगत् की भ्रान्ति है । उनके नाशसे मोक्ष होता है ॥ ११ ॥

अखण्डसत्त्वाभावापादकमावरणमखण्डचित्त्वाभावापादकमावरणमखण्डानन्दाभावापादकमावरणं च पृथगेव । तत्तद्घटाद्यस्तित्वज्ञाने तदेकदेशापसरणेऽपि तदविनाशाज्जगद्भ्रान्तिर्भवति । तत्क्षयादेव च मोक्ष: ॥ ११ ॥

राहुग्रस्तोऽपि चन्द्रादि:, राहुं स्वं च प्रकाशयेत् ।
माया स्वं च तथा ब्रह्म तत्र सामान्यवेदनम् ॥ १२ ॥ [५३६]

चन्द्रमा राहुग्रस्त होनेपर राहुको और अपनेको भी प्रकाशित करता है इसी प्रकार मायावृत बह्म मायाको और अपनेको भी प्रकाशित करता है यहां सामान्य ज्ञानमात्र है ॥ १२ ॥

नन्वेवमपि सामान्यज्ञानं कीदृशं, कीदृशं च विशेषज्ञानमिति विवेक्तव्यम् । येन जगद्भ्रमोपपत्तिर्मोक्षोपपत्तिश्चेति चेच्छृणु । राहुग्रस्तोऽपि चन्द्रादि: राहुं स्वं च प्रकाशयति । एवं मायाग्रस्तं ब्रह्म मायां स्वं च प्रकाशयति । तदिदं सामान्यज्ञानमुच्यते । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजनिततत्त्वपदार्थशोधनपूर्वकाखण्डाकारवृत्तिश्च विशेषज्ञानं तच्च सर्वावरणनिवारकमिति ततो मोक्षोपपत्तिरिति ॥ १२ ॥

अर्कांशु: साधकोऽप्येव मण्यारूढो दहेत्तृणम् ।
ईशोऽप्यखण्डवृत्तिस्थो विशेषज्ञानमेव तत् ॥ १३ ॥ [५३७]

सूर्यकिरण तृणादिका पोषक है । तथापि सूर्यकान्तमणिपर आरूढ होनेपर दाहक होता है । वैसे ब्रह्मरूपी ज्ञान स्वरूपत: माया आदिका

साधक है , वृत्यारूढ होनेपर मायादिका निर्वतक है, यही विशेष ज्ञान है ॥ १३ ॥

सूर्यकिरणस्तृणादिसाधक एव पोषकत्वात्पूष्णः । स एव मण्यारूढस्तृणं दहति । तो जगत्साधकः तद्वदेव ईशः सामान्यज्ञानात्मक एवानादिप्रवृत्तमाया-च्छादि । स एवाखण्डाकारवृत्तिस्थो विशेषज्ञानरूपो जगद्दाहकः । एतेनेदमपास्तं यद्दाहुः– कथं प्रकाशरूपे ब्रह्मणि तमसस्तत्कार्याणां च स्थितिः ? यदि च साधकं ब्रह्मेत्युच्यते तदा साधके परमात्मनि सति को वा जगद् बाधेत ? न स्वयम् । साधकत्वविरोधात् । न परः । न हि राजनि रक्षितरि सति ह्यालिको हन्तु प्रभवतीति ॥ १३ ॥

दाह्यं दग्ध्वा यथैवाग्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
बाध्यं प्रबाध्य विज्ञानं स्वयमेव प्रशांम्यति ॥ १४ ॥ [५३८]

पूर्वपक्षः—उस तत्त्वज्ञानको *कौन नष्ट करेगा? यदि नष्ट नहीं होता तो* द्वैतापत्ति *होगी । अन्य ज्ञान नष्ट करे तो अनवस्था होगी । उत्तरपक्षः– जैसे अंग्नि ईन्धनको जलाकर स्वयं शान्त होती है वैसे विज्ञान जगतको शान्त कर स्वयं शान्त हो जाता है ॥ १४ ॥*

ननु चरमज्ञानस्य बाधकं किम्? यदि ज्ञानान्तरं तदा तदुपादान-भूताऽविद्यासद्भावादविद्याया अनिवृत्तिः । किं च तस्य बाधकं ज्ञानान्तरं वक्तव्यमित्यनवस्था अज्ञानानन्त्यं चेति चेन्न । यथाऽग्निर्दाह्यं दग्ध्वा स्वयमेवोपशाम्यति तथा ज्ञानमपि जगत्प्रबाध्य स्वत एव प्रशाम्यति ॥ १४ ॥

स्वयं च विषयीकुर्याद् दृश्यत्वेनोपसंग्रहात् ।
यथैव शब्दशब्दाद्या ज्ञानं सामान्यवेषतः ॥ १५ ॥ । [५३९]

विज्ञान स्वयंको भी सामान्यरूपसे विषय करेगा । जैसे शब्द कहनेपर घट पदादि शब्द आते हैं, शब्दशब्द भी आता है ॥ १५ ॥

नन्वग्निरिन्धनाभावात्स्वयमेव शाम्यति । ज्ञानस्येन्धनमप्रसिद्धम् । किं च स्वयं प्रशमने ज्ञानबाध्यत्वविरहेण चरमज्ञानस्य मिथ्यात्वासिद्धिरिति चेन्न । दृश्यत्वेन स्वस्यापि संग्रहात्सामान्यरूपेण स्वस्यापि मिथ्यात्वबोध-विषयीकरणात् । यथा शब्द इत्ययं शब्दः सर्वान् शब्दान् विषयीकुर्वन्

स्वमपि विषयीकरोति । अन्यथा शब्द आकाशगुण इत्युक्तेऽन्येषां शब्दानामेवाकाशगुणत्वं ज्ञायेत न तु शब्दशब्दस्य । यथा चानुमानं प्रमाणं प्रमितिकरणातावच्छेदकधर्मवत्त्वादित्यनुमानमन्येषामनुमानानां प्रामाण्यं साधयत् स्वस्यापि प्रामाण्यं साधयति ॥ १५ ॥

वृत्त्यानावृतचैतन्यं सहवृत्त्याखिलं हरेत् ।
तूलापाकृतभस्माग्निः सतूलं सकलं दहेत् ॥ १६ ॥ [५४०]

अथवा इसप्रकार कह सकते हैं—वृत्तिसे निवृत्तावरण चैतन्य वृत्तिंसहित समस्त जगतको बाधित करेगा । जैसे अग्नि भस्मछन्न थी रूईसे भस्मको हटाया तो रूईको तथा ऊपर आये ईन्धनको भी जला डालती है ॥ १६ ॥

पराकारा वृत्तिः प्रतिफलितचैतन्यचटुला ।
स्फुरन्ती चाभ्यासात्तरतमतया यत्करुणया ।
अविद्यां भृज्जन्ती शिथिलयति बन्धं श्रुतिजुषां
स नः कंसारातिः सकृदवतु संसारजलधेः ॥ ४३ ॥

ब्रह्माकारवृत्ति चैतन्यप्रतिबिम्बसे चमकती हुई अभ्याससे उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्फुरित होकर अविद्याको भूनती हुई श्रुतिशरणोंके बन्धनको जिस भगवानकी कृपा से शिथिल करती है वह कंसारि हरि संसार सागरसे हमें उबारें ॥ ४३ ॥

इति मायादिनिवर्तकोपपत्तिः

*****

(४४)

अथ अविद्याया निवृत्युपपत्तिः

अविद्याया निवृत्तिस्तु नाधिष्ठानात् पृथग् भवेत् ।
सोपादाना द्वितीया सा सतीत्यसदतो वचः ॥ १ ॥ [५४१]

पूर्वपक्षः—अविद्याकी निवृत्ति ही ब्रह्मसे द्वितीय रह जायेगी । वह अविद्यासे उत्पन्न होनेसे अविद्या भी रह जायेगी । उत्तरपक्षः—अविद्या-निवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप है, पृथक् नहीं ॥ १ ॥

नन्वविद्यानिवृत्तिरेवान्ततो द्वितीया । सा चाविद्योपादानैव भवितुमर्हतीत्यविद्याप्यवशिष्येत। निवृत्तेर्निवृत्तावपि स एव दोष इति चेन्न । अविद्यादिनिवृत्तेरधिष्ठानानतिरेकात् ॥ १ ॥

अधिष्ठानमनादीति मोक्षोऽनादिर्भवेत्तव ।
मैवं तं प्रतिबध्नीयादविद्या भ्रमकारिणी ॥ २ ॥ [५४२]

पूर्वपक्षः—यदि अविद्यानिवृत्ति ब्रह्मरूप है तो ब्रह्म अनादि होनेसे मोक्ष भी अनादि होगा तब शास्त्रवैयर्थ्य होगा । उत्तरपक्षः—मोक्षको अविद्या प्रतबिद्ध करती है (अविद्या मोक्ष प्रतिबन्धिका है) ॥ २ ॥

नन्वधिष्ठानस्य ब्रह्मणोऽनादित्वात्तत्स्वरूपाऽविद्यानिवृत्तिरप्यनादिरिति मोक्षस्याप्यनादित्वं स्यात् । तथा च शास्त्रवैयर्थ्यमिति चेन्न । अविद्याया अनादिकालतः स्थितेस्तयैव भ्रान्त्या मोक्षप्रतिबन्धनात् । ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमविद्याविरहान्न सा बन्धनकारिणी भ्रमकारिणी वा भवति ॥ २ ॥

रज्जुसर्पस्य न ध्वंसस्त्रिकालप्रतिषेधनात् ।
न तेन सविशेषत्वं प्रागज्ञानं हि केवलम् ॥ ३ ॥ [५४३]

रज्जुसर्पका ध्वंस नहीं, बाध होता है । क्योंकि तीनों कालों में उसका प्रतिषेध है । सर्पप्रतिषेधसे रज्जुका क्या बिगड़ता सुधरता है ? क्या उसमें विशेषता आ जाती है ? हाँ, पूर्व वह अज्ञात रही । वैसे ही ब्रह्ममें विश्वबाधसे कोई विशेषता नहीं आती ॥ ३ ॥

रज्जुसर्पादेः कल्पितस्य न ध्वंसः । नासीदस्ति भविष्यतीति त्रिकालप्रतिषेधात् । अत एव रज्जुसर्पध्वंसेन न रज्जोः सविशेषत्वं भवति । किन्तु रज्जोरदर्शनसर्पदर्शनभयादयो रज्जुसर्पेण भवन्त्येव । एतच्च न्यायादिमतनिरासायोक्तम् । आक्षेप्तुस्तव पदार्थद्वयमात्रं वदतोऽकाण्डताण्डवितमेवेदम् ॥

मायाया एव महिमा स्वाश्रयं पिदधाति सा ।
स्वनिवृत्तौ विशेषं तु न कमप्यादधाति च ॥ ४ ॥ [५४४]

यही तो मायाकी महिमा है कि वह अपने आश्रयको ढँकती है । निवृत्त होती है तो आश्रयमें कोई भी विशेष उत्पन्न नहीं करती ॥ ४ ॥

कथमेतदिति चेदुच्यते । मायाया एव चमत्कारो यत् सा स्वाश्रयं पिधाय नानाकार्याणि कुरुते । निवृत्तौ च कमपि विशेषमधिष्ठानेऽन्यत्र वा नादधाति । यथा रज्जोः सर्पः । त्रिंकालैकरूपत्वाद्रज्जोः । एवं ब्रह्मणः ॥ ४॥

ज्ञानेन मायातत्कार्यप्रतिषेधो हि केवलम् ।
नार्थान्तरं तन्निवृत्तिस्तादृश्या निष्फलत्वतः ॥ ५ ॥ [५४५]

ज्ञानसे माया एवं तत्कार्य विश्वका प्रतिषेध हो जाता है । माया आदिकी निवृत्ति कोई पदार्थान्तर नहीं है । पदार्थान्तररूप निवृत्तिको मानना व्यर्थ है ॥ ५ ॥

नन्वेवं पूर्वमपि मुक्तत्वापत्तिरिति चेदिष्टापत्तिरेव सा । नित्यमुक्तत्वादात्मनः । न चैवं श्रवणादिवैयर्थ्यम् । अविद्याप्रतिषेधार्थत्वात् ॥ ५ ॥

बोधक्षणस्याऽविद्यातत्कार्यपूर्वत्वशून्यता ।
इत्येष नियमोऽतो न निवृत्त्या सद्वितीयता ॥ ६ ॥ [५४६]

बोधक्षणमें अविद्या एवं तत्कार्यकी पूर्वक्षणता नहीं रहती इस नियमसे गतार्थ है । अत एव निवृत्ति पदार्थान्तर नहीं, उसको लेकर सद्वितीयता भी नहीं होती ॥ ६ ॥

वस्तुतस्तु चरमतत्त्वज्ञानस्याविद्यातत्कार्याधिकरणक्षणपूर्वत्वाभावनियमसिद्धाऽविद्यानिवृत्तिर्न कमप्यतिशयमाधत्ते ॥ ६ ॥

अर्थान्तरं निवृत्तिश्चेत् किं कुर्यात् प्रतियोगिनः ।
नाभावात्मा स जायेत नान्यस्यान्यात्मता मता ॥ ७ ॥ [५४७]

आपके मतमें बन्धनकी निवृत्ति या घटकी निवृत्ति यदि अभावरूप पदार्थान्तर है तो वह बन्धनका या घटका क्या करेगी ? घटके पास पट आकर बैठ गया तो घटका क्या बिगड़ता है ? वैसे ध्वंसनामक पदार्थान्तर आकर बैठ गया उससे घटका क्या हो गया, बताओ । क्या घट अभावरूप हो जायेगा ? नहीं हो सकता । घट द्रव्य प्रथम पदार्थ है । ध्वंस सप्तम पदार्थ है । द्रव्य यदि गुण नहीं बन सकता, जाति नहीं बन सकता तो अभाव क्यों बनने लगा ? यह कहें कि ध्वंससे घट मिट्टी बन

गया तो यह काम दण्डप्रहारादि कर देगा । ध्वंसकी क्या जरूरत ? फिर न्यायमतमें घट मिट्टीरूप नहीं होता । ऐसा हो तो फिरसे वह घट बनेगा वैसे आपका बन्धन फिरसे बन जायेगा । और मिट्टी पहलेसे थी तो ध्वंसने क्या किया ? घटको गायब किया तो किधर गया गायब होकर ? क्या हुआ घटका सो बताईये । अतः पूर्वोक्त नियम ही काम करेगा । विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥ ७ ॥

अन्यथा भवन्मतेऽपि कर्मलक्षणप्रकृतिनिवृत्या किं भवतीति वक्तव्यम् । निवृत्तिर्नामाऽभावः । किं कर्म यद् भावात्मकं तदभावरूपतां प्रतिपन्नमित्युच्यते ? नैतत्संभवति । विरोधात् । न हि भावोऽभावतां याति । न हि न्यायादिमतेऽपि धर्माधर्मलक्षणकर्मणां गुणरूपस्य द्वितीयपदार्थस्य सप्तमपदार्थरूपता स्वीकृता । न च कर्मणो ध्वसंरूपताऽभूदिति शक्यं वक्तुम् । गुणरूपकर्मणः सप्तमपदार्थध्वंससरूपत्वायोगात् । तथा च सति किं ध्वंसेन स्यात् ? न हि पदार्थान्तरमागत्य कर्मसमीपेऽतिष्ठदित्येतावता कर्मणः किंचिद्धीयते । न हि पटे आगते घटो लुप्यते । तस्मादुक्तनियमलभ्या निवृत्तिर्न कमपि विशेषमाधत्ते । एतच्च न्यायादिमतेनोक्तम् । भवन्मते तु द्रव्यगुणातिरिक्तपदार्थान्तरविरहान्निवृत्त्या कथं द्वैतापत्तिरिति स्वयं चिन्त्यम् । विस्तरोऽन्यत्र ॥ ७ ॥

न ब्रह्मणः पृथगिवास्ति जगन्निवृत्तिः
रज्जोः पृथक् किमु भुजङ्गनिवृतिरस्ति ।
रज्जुः प्रसीदति भरं प्रतिषिद्धसर्पा
सच्चित् प्रसीदतु तथा प्रतिषिद्धसर्वा ॥ ४४ ॥

ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई विश्वनिवृत्ति नहीं है । रज्जुसे अलग सर्पनिवृत्ति नहीं हो सकती । सर्पका प्रतिषेध होनेपर रज्जु निर्मल हो जाती है । वैसे ही विश्वका प्रतिषेध होने पर सच्चिद्ब्रह्म भी निर्मल होता है ॥ ४४ ॥

इति अविद्या निवृत्त्युपपत्तिः ।

*****

अथब्रह्मणः शब्दावेद्यत्वोपपादनम्

निर्विशेषत्वतो ब्रह्म शब्दावाच्यं पुरेरितम् ।
श्रुतिश्चाह यतो वाचो निवर्तन्त इति स्फुटम् ॥ १ ॥ [५४८]

निर्विशेष होनेसे ब्रह्म शब्दका वाच्य नहीं हैं ऐसा पहले बताया । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यह श्रुति उसी अर्थका समर्थन करती है ॥ १ ॥

ब्रह्म शब्दावाच्यं भवति निर्विशेषत्वात् । शब्दो हि प्रवर्तमानो जातिगुणक्रियासम्बन्धसव्यपेक्ष एव प्रवर्तते । तथैव शक्तिग्रहात् । ब्रह्म तु तात्पर्यवशात् सर्वविशेषत्यागेनाखण्डाकारवृत्तिविषयतया भासते । अतएव निर्विशेषमिति ब्रह्मेति चैवमादिभिः शब्दैरुच्यमानत्वात्कथमवाच्यत्वमिति परास्तम् । अत्रापि तात्पर्यवशेन लक्षणयैव बोधोत्पत्तेः । वस्तुतस्तु 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुत्यैव निर्विशेषत्वमर्थाद् ब्रह्मणः सिद्ध्यति । अन्यथा यस्य कस्यचिच्छब्दस्य विषयत्वावश्यंभावात् ॥ १ ॥

शब्दप्रवृत्तिरर्थेषु शक्त्या स्वेनावबोध्यता ।
तदभावो निवृत्तिश्चेत्येकेऽन्येऽकर्मतां जगुः ॥ २ ॥ [५४९]

शक्तिसे शब्द अर्थबोधन करायें तो यह शब्दकी प्रवृत्ति है । शक्तिसे अर्थबोधन करा न सकना यह शब्दकी निवृत्ति है । (यही निवृत्ति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' से बताया) ॥ २ ॥

ननु लक्षणया बोधनेऽपि शब्दप्रवृत्तिरेव शक्या स्वीकर्तुमिति चेदत्र केचित् । लाक्षणिकशब्दानां प्रमाणत्वविरहात् । अतएव लाक्षणिकं पदं नानुभावकमिति नैयायिकादयोऽप्याहुः । ततश्च शक्तिसम्बन्धेन सम्बद्धस्यैव शब्दप्रवृत्तिविषयत्वम् । अतएव "न विधौ परः शब्दार्थ" इति मीमांसकाः । न चानधिगताऽबाधितार्थबोधजनकत्वं प्रमाणत्वं, तच्च लक्षणास्थलेऽपि तुल्यमेवेति वाच्यम् । इङ्गितादिनापि तादृशबोधो भवतीति तत्र प्रमाणन्तरतापत्तेः । न च तत्र शब्दं कल्पयित्वा बोध इति वाच्यम् । जन्ममूकबधिरस्य शब्दश्रवणकल्पनादिविरहेऽपीङ्गितेनार्थबोधंदर्शनात् । एवं लिप्यादेरतिरिक्तप्रमाणत्वं स्यात् । तेनापि शब्दवदेव बोधोत्पत्तिदर्शनात् ।

जन्मबधिरस्य लिप्यादिना विस्पष्टबोधो भवतीति सर्वलोकप्रसिद्धम्। अकर्मत्वमग्रे स्पष्टीकरिष्यामः ॥ २ ॥

पश्यतः श्वेतिमानं च ह्रेषाशब्दं च शृण्वतः ।
खुरव्यापारशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥ ३ ॥ [५५०]

तत्र चानुमिताद्यर्थोपनयाद् बोध इष्यते ।
लक्ष्यार्थोपनयादेवं स जहल्लक्षणादिके ॥ ४ ॥ [५५१]

दूरसे सफेद वस्तु देखी ह्रेषा शब्द और खुर का शब्द सुना तो सफेद घोड़ा दौड़ रहा है ऐसा बोध हुआ तो यहां शाब्दबोध नहीं है । प्रत्यक्षदृष्ट वस्तु में अनुमानोपस्थित अश्वत्व धावनादिका उपनीत प्रत्यक्ष है । वैसे जहत् लक्षणा और अजहत् लक्षणामें भी शब्दावबोधित अर्थमें लक्षणोपस्थापित अर्थका उपनीत भान है ॥ ३-४ ॥

नन्वेमपि इङ्गितेन लिप्यादिना चानधिगताबाधितार्थबोधदर्शनेन तत्र प्रमाणरन्तरत्वं दुर्वामेव लाक्षणिकपदस्यापि प्रमाणत्वं स्यादिति चेन्न । दूरतः किंचन वस्तु दृश्यते श्वेतिमवर्णम् । ह्रेषाशब्दश्च श्रूयते । ततो ज्ञायते श्वेतोऽश्व इति । तत्र खुरव्यापारशब्दश्रवणाच्च श्वेतोऽश्वो धावतीति मतिर्भवति । तत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम् । अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वात् । तत्रेदमेवागत्या वक्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिष्वन्यतमं प्रमाणं शेषं प्रमाणान्तरोपस्थितोपनयनमात्रमिति । एवं लक्ष्यार्थोपनयात्तद्विशिष्टवाक्यार्थबोधः शब्दाद् भवति । तत्रार्थाध्याहारपक्षे न काचिदनुपपत्तिः । शब्दोपस्थितस्यैव शाब्दे भानमिति मते शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेन शब्दोपस्थितत्वं वक्तव्यमित्यदोषः । इङ्गितादिस्थले चानुमानमेव प्रमाणम् । अभ्यस्तत्वात्तु झटित्यर्थोपस्थितिरित्यन्यत् ॥ ३-४ ॥

लिप्यादावनुमा क्वापि स्याच्छब्दोपस्थितिः क्वचित् ।
न तु स्वतन्त्रं मानं तत्तथा स्याल्लक्षणास्थले ॥ ५ ॥ [५५२]

पुस्तकीय लिपि आदिसे कहीं सीधा अनुमान होता है । कहीं उससे शब्दकी स्मरणात्मक उपस्थिति होती है । वह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं । वैसे लक्षणास्थलमें भी है ॥ ५ ॥

जन्मबधिरस्य लिप्यादावनुमानमेव । अन्येषां शब्दस्मरणपूर्वकः शाब्दबोध एव भवति । न तु लिप्यादि स्वतन्त्रं प्रमाणम् । लाक्षणिकपदेऽपि तथैव । क्वचिदनुमानादिनार्थोपस्थितिः । क्वचिच्छक्तशब्दस्मरणपूर्वकमिति । शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासाच्छब्दोपस्थितिसत्त्वात् ॥ ५ ॥

शब्दे विलक्षणा शक्तिः काचिदस्ति प्रमापिका ।
सा जात्यादियुतार्थेषु प्रमाणत्वमतोऽस्य तु ॥ ६ ॥ [५५३]

शब्दोंमें प्रमापक कोई विलक्षण शक्ति है । जात्यादि विशिष्ट अर्थ के प्रति ही वह प्रमापक शक्ति है । अतः शब्दको जात्यादिविशिष्टवस्तुके प्रति ही प्रमाणत्व है ॥ ६ ॥

शब्दे लिप्यादितः किं वैलक्षण्यमिति चेत् ? तत्र प्रमापिका काचन शक्तिर्विलक्षणाऽभ्युपगम्यते । तत्रार्थे शक्तिरिति केचित् । ज्ञाने शक्तिरित्यपरे । शक्तिः पदार्थान्तरमित्येके । ईश्वरेच्छा शक्तिरिति नैयायिकाः । सर्वथापि सा दहनादिशक्तितो विलक्षणा भवति । सा च जातिगुणक्रियासम्बन्धवद्वस्तुषु वर्तते । न तु निर्विशेषे । एवं विलक्षणशक्तिमत्त्वाच्छब्दस्य प्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

लिप्यादौ नास्ति सा शक्तिर्न वा लाक्षणिके पदे ।
न काल्पनिकसम्बन्धः साध्वसाधुविभाजकः ॥ ७ ॥ [५५२]

लिपि आदिमें वह शक्ति नहीं है । लाक्षणिकपदमें भी वह नहीं है । अतएव वह प्रमापक नहीं है । यद्यपि वैशेषिक अनुमानसे ही शब्दार्थबोध मानते हैं किन्तु उनके मतमें असाधु शब्दका विभाजन कठिन पड़ेगा ॥ ७ ॥

शब्दे यथा विलक्षणा शक्तिरास्तिकैरूपेता तथा लिप्यादौ नास्ति । ततो न लिप्यादिः प्रमाणम् । न वा लाक्षणिके सा लाक्षणिकार्थविषयिणी भवति । ततः लाक्षणिकं पदमपि न प्रमाणम् । ननु लिप्यादावर्थेन काल्पनिकसम्बन्धोऽस्ति । एवं लाक्षणिकपदेऽपीति चेन्न । तथा सति शब्देऽपि काल्पनिकसम्बन्धस्वीकारापत्तेः शब्दस्य प्रामाण्यमेव भज्येत । ननु न वैशेषिकैः पृथक् शब्दप्रामाण्यमभ्युपगम्यते । अनुमानेनैवार्थबोधोपगमादिति चेन्न । तथा सति साध्वसाधुशब्दविभागानुपपत्तेः । गोशब्दगाव्यादिशब्द-

योरनुमापकत्वतौल्यात्। तथा सति "ते हेलयो हेलय इति वदन्तः पराबभूवुः। नापभ्रंशितवै न म्लेच्छितवै" इत्यादीनां श्रुतीनामानर्थक्यापत्तिः ॥ ७ ॥

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ज्ञापकं शब्दशासनम्।
न कारकं त्रियुक् साधु न काल्पनिकयोगयुक् ॥ ८ ॥ [५५५]

पूर्वपक्षः—व्याकरणनिष्पन्न साधु शब्द है। तदन्य असाधु शब्द है ऐसा विभाग कर लो। उत्तरपक्षः—नहीं। व्याकरण शब्दादिका निष्पादक नहीं है। वह अनादिसिद्ध है। अतएव वार्तिककार महर्षि कात्यायनने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" कहा। शब्द अर्थ तथा दोनों का सम्बन्ध अनादिसिद्ध है यह वार्तिकार्थ है। व्याकरण सिद्धका ज्ञापक मात्र है। कारक नहीं। शब्द, अर्थ, सम्बन्ध ये तीन साथमें हो वह शब्द साधु है। काल्पनिक सम्बन्धको लेकर त्रियुक् होनेसे साधु नहीं होता ॥ ८ ॥

नन्वनादिव्याकरणनिष्पन्नत्वमेव साधुत्वमतथात्वेऽसाधुत्वमिति चेन्न। व्याकरणस्य शब्दनिष्पादकत्वविरहात्। "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्ध" इति वार्तिककारवचनाद् व्याकरणस्य ज्ञापकत्वमात्रम्। तथा सति ज्ञाप्यमानं साधुत्वं किंप्रयुक्तमिति वक्तव्यं भवति। तच्चार्थशक्तत्वमेव। तेन शक्तिसम्बन्धेन बोधनं च शब्दस्य प्रवृत्तिरित्युच्यते। तद्विरहे निवृत्तिरेव। सैव निवृत्तिर्यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुत्या निगद्यते। न च शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनार्थसम्बद्धत्वमेव साधुत्वमिति वाच्यम्। व्याकरणादेर्लक्षणासम्बन्धबोधकत्वविरहात्। न चैवं लाक्षणिकप्रयोगोऽपि यज्ञादौ निषिद्धः स्यादिति वाच्यम्। "नापभ्रंशितवै न म्लेच्छितवै" इति विशेषोक्ते सामान्योपसंहारादपभ्रंशितम्लेच्छितयोरेव निषेधविषयत्वात्क्वचिल्लाक्षणिकप्रयोगे दोषाभावात्। न च गुडमाधुर्यादेरपि शब्दावाच्यत्वात् ततोऽविशेषतापत्तिर्ब्रह्मण इति वाच्यम्। गुडमाधुर्यादेः प्रमेय-वाच्यमाधुर्यादिपदवाच्यतासत्त्वात्। तदवच्छेदकप्रमेयत्वमाधुर्यत्वादेस्तत्र सत्त्वात्। ब्रह्मणि न कोऽपि तादृशो धर्मो येन कथंचिदपि वाच्यता भवेत् ॥ ८ ॥

विरुद्धांशपरित्यागमात्रं स्यात् सोऽयमादिषु।
नान्यार्थोपस्थितिरतः प्रामाण्यं सर्वसम्मतम् ॥ ९ ॥ [५५६]

'सोऽयं' इत्यादि में शक्ति से उपस्थित अर्थसे विरुद्धांशत्यागमात्र है। नया अर्थ उपस्थित नहीं होता। अतः वह प्रमाण है॥ ९॥

पूर्वोक्तं सर्वं जहल्लक्षणास्थलेऽजहल्लक्षणास्थले च। सोऽयमित्यादौ यत्र भागत्यागस्तत्र विरुद्धभागत्यागमात्रम्। अर्थस्तु शक्त्यैवोपस्थित इति प्रामाण्यं निर्विवादम्। नैयायिकादिभिरपि भागत्यागानभ्युपगमेऽपि योग्य-मात्रान्वयेनोपपत्तिः स्वीक्रियते। विशिष्टशुद्धयोरत्यन्तभेदविरहाच्च नास्माकं काचिदनुपपत्तिः। तत्त्वमस्यादिस्थलेऽपि तथैव। अकर्मत्वात्तु वाचां निवृत्तिं वक्ष्यामः॥ ९॥

अपरिच्छेद्यमाहात्म्याद्वाङ्निवृत्तिरिति त्वसत्।
अपरिच्छेद्यमाहात्म्या अणवः सर्वशक्तयः॥ १०॥ [५५७]

पूर्वपक्षः—परमात्मामें अनन्त गुण माहात्म्य होनेसे "यतो वाचो निवर्तन्त" यह श्रुति है। उत्तरपक्षः—नहीं। "अणवः सर्वशक्ताः स्युः" के अनुसार एक-एक अणुमें भी अनन्त शक्ति है तो वे भी "यतो वाचो निवर्तन्ते" का उदाहरण होंगे तो परमात्मामें कौनसा बड़प्पन उससे आयेगा? ॥ १०॥

यत्त्वनन्तशक्तस्य परमात्मनो माहात्म्यं वाचाऽपरिच्छेद्यमिति "यतो वोच निवर्तन्ते" इति श्रुतिरिति तदसत्। "अणवः सर्वशक्ताः स्युरि"ति अभियुक्तवचनादणूनामप्यपरिच्छेद्यमाहात्म्यत्वादुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः। अपरिच्छे-द्यमाहात्म्यशब्देन परिच्छेद्यमानत्वाच्च। प्रत्येकगुणपरिगणनाऽयोगतात्पर्ये तदणुष्वपि समानम्॥ १०॥

अन्यथानन्तमहिमाप्यवाच्योऽतोऽवधूयताम्।
त्वद्धीपरिच्छेद्यतामात्रसत्त्वे वा दृष्टिसृष्टिता॥ ११॥[५५८]

अथाच्य ब्रह्म तुम्हारे मतमें असत् है तो अवाच्य अनन्तमहिमा भी असत् क्यों नहीं? तुम्हारी बुद्धिसे परिच्छेद्यका ही अस्तित्व मानो तो दृष्टिसृष्टि में ही पर्यवसान हो जायेगा। अनन्त शब्द तो बुद्धिअगम्य होनेसे कहा॥ ११॥

अनन्तगुणाः प्रातिस्विकरूपेण न वक्तुं मन्तुं वा शक्यन्त इति कुतस्त्वया तेऽपि नावधूयन्ते ? अनन्तोक्तिः स्वीयाऽसामर्थ्यद्योतिकामात्रं नास्त्यन्तो ज्ञातुं शक्य इति । गुणत्वेन सकला गुणा ज्ञायन्ते चेदुच्यन्तां के ते इति । स्वबुद्धिगोचरस्यैवास्तित्वे च दृष्टिसृष्टावेव तव पर्यवसानम् ॥ ११ ॥

नन्वप्रमाणं वेदः स्यादेवं च ब्रह्मणीति चेत् ।
सिद्धं निवर्तकत्वात्तु तात्पर्येणान्यवारणात् ॥ १२ ॥ [५५९]

पूर्वपक्षः—इस प्रकार फिर वेद ब्रह्ममें अप्रमाण हो जायेगा । क्योंकि तत्त्वमसि आदिमें लक्षणा है । उत्तरपक्षः—द्रविडाचार्यने बताया है—"सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" । अर्थात् अज्ञाननिवर्तक होनेसे वेदोंकी ब्रह्ममें प्रमाणता है। अभानापादक आवरणकी निवर्तकता तत्त्वमसि आदि शब्दमें है । वस्तुतः तात्पर्य से भाग त्यागकर शक्ति से ही अखँडार्थवृत्ति होती है ॥ १२ ॥

नन्वेनं वेदानां ब्रह्मणि प्रमाणत्वं न स्यादिति चेन्न । मोहनिवर्तकत्वेनैव तत्प्रामाण्यात् । तथा चाहुर्द्रविडाचार्याः—"सिद्धं तु निवर्तकत्वादि"ति । भगवत्पादा अपि "श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तय" इति । इत्थं चाऽकर्मत्वादेव वाचां निवृत्तिः। लक्षणयापि तत्र वाचामप्रवृत्तेः । तज्जन्यवृत्तिप्रयुक्तस्फुरणवत्त्वलक्षणकर्मत्वस्य ब्रह्मणि विरहात् । तस्य स्वयंप्रकाशत्वात्। न चैवं लक्षणावैयर्थ्यम् । तात्पर्यवशांद्भागं त्यक्त्वा शक्त्यैवाखण्डार्थवृत्तिजननात् । अखण्डाकारवृत्त्यैवाखण्डब्रह्मावरणाविद्यानिवृत्त्युपपत्तेः । केवल शक्त्या तु जात्यादिविशिष्टस्यैव बोधान्न तथात्वमिति विशेषः ॥ १२ ॥

शब्दवाच्यं तु नौ ब्रह्म सगुणं संमतं द्वयोः ।
निर्गुणद्वेषमात्रं ते ह्यसन्नेव यतो भवेः ॥ १३ ॥ [५६०]

शब्दवाच्य सगुण ब्रह्म नारायण शंकरादि तो दोनोंको ही मान्य है । आपका निर्गुण द्वेषमात्र अधिक है । जिससे "असन्नेव स भवति" इस श्रुतिसे असत् बनोगे ॥ १३ ॥

ननु "सर्वाधारं धाम विष्णुसंज्ञम्" "ओमिति ब्रह्म" इत्यादिवचनशतैः शब्दवाच्यत्वं ब्रह्मण उक्तमिति चेत् । सत्यम् । तत् सगुणब्रह्मविषयमिति

भवताऽप्यभ्युपगम्यते मयापि तथा । तत्र नास्माकं विरोधः । तव तु निर्गुणब्रह्मणि प्रद्वेष इत्येतावन्मात्रं विशेषः । तत्र "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेदि" ति वचनविषयत्वमात्रं भवत आपद्यते ॥ १३ ॥

मायोपाधेरगणितगुणं गौणनामान्यवोचन् ।
मन्तुं वक्तुं प्रभवति हरिर्योगसिद्धोऽपि कृत्स्नम् ॥
मा भूदन्यः प्रभुरणुमुतानन्तशक्तिं ततः किं
यत्तद्वाचामविषयपदं ब्रह्म नः संनिधत्ताम् ॥ ४५ ॥

माया उपाधिसे अनन्तगुण भगवान् गौण नामोंका वाच्यार्थ है । उसे पूरी तरह बोलने और जाननेमें स्वयं हरि समर्थ है और योगी भी समर्थ है । अतएव "यतो वाचो निवर्तन्ते" का वह विषय नहीं है । सामान्य जनकी बात है । वह तो एक अणुको भी बोलने और समझनेमें असमर्थ है । क्योंकि अणु भी अनन्तशक्तियुक्त है । किन्तु उससे क्या ? किसी न किसीकी वाणीका वह विषय है ही । जो समस्त वाणीका अविषय है वही ब्रह्म है । वही हमारे हृदयमें विराजमान हो ॥ ४५ ॥

इति ब्रह्मणः शब्दावेद्यत्वोपपादनम् ।

*****

(४६)

अथ निष्प्रपञ्चीकरणंनियोगविचारः

ज्ञानेऽपि न नियोगश्चेन्निष्प्रपञ्चीकृतौ कुतः ।
तदाक्षेपस्त्विहानुक्तोपालम्भं मन्महे वयम् ॥ १ ॥ [५६१]

यहां कुछ लोगोंने निष्प्रपञ्चकरणके नियोगका निराकरण किया है । किन्तु वेदान्तमतमें ज्ञानमें ही जब नियोग नहीं है तो निष्प्रपञ्चीकरणमें नियोग बताना और निराकरण करना तो अनुक्तोपालम्भमात्र है ॥ १ ॥

अत्र निष्प्रपञ्चीकरणे नियोगं पूर्वपक्षयित्वा तत्खण्डनमनुक्तोपालम्भमात्रम् । यदि चैकदेशिभिरेवं क्वचिद्वर्णितं तर्हि द्रष्टव्य इत्यादौ विधिच्छायावन्नियोगच्छायापरत्वेन नेतव्यम् । यत्तु तत्र नानाविकल्पाः प्रदर्श्य

दूषितास्ते सर्वे व्यवहारदशायां व्यावहारिकभेदसत्त्वेन जीवेशादीनां भिन्नत्वेन सुव्यवस्था इति नात्र वृथा प्रयत्यते ॥ १ ॥

यागादौ हि नियोगः स्यान्न स्वर्गकरणे क्वचित् ।
फलं च निष्प्रपञ्चत्वं न नियोगस्य गोचरम् ॥ २ ॥ [५६२]

यागादिमें नियोग होता है, न कि स्वर्गकरणमें । निष्प्रपञ्चता फल है। उसमें नियोग होता ही नहीं । बाधादि करनेसे निष्प्रपञ्चता अपने आप होती है ॥ २ ॥

निष्प्रपञ्चत्वं हि फलमेव । ब्रह्मणः स्वतः सिद्धत्वेन साधनीयत्वविरहात् । निष्प्रपञ्चत्वं प्रपञ्चप्रतिषेधो वा बाधो वा तत्रैव यत्नः क्रियते । न च निष्प्रपञ्चीकरणं नियोगस्य विषयः । न हि स्वर्गः स्वर्गकरणं वा नियोग विषयः ॥ २ ॥

स्वसिद्धये नियोगो हि प्राभाकरमतेनरम् ।
स्वर्गादिकामं यागादौ नियोजयति वैदिकः ॥ ३ ॥ [५६३]

प्राभाकरमतानुसार यदि विचार किया जाये तो वैदिक लिङादिपदार्थ नियोग स्वयं प्रथम असिद्ध ही स्वसिद्धिके लिये स्वर्गादिकाम पुरुषको यागादि कर्ममें नियुक्त करता है ॥ ३ ॥

वैदिको हि नियोगः प्राभाकारमते स्वसिद्धये पुरुषं यागादौ नियोजयति । स एव लिङाद्यर्थः । फलाभिलाषी हि यागादि कुर्वाणो नियोगं सम्पादयति । स च सम्पन्नः स्वर्गमुत्पादयति। तदिच्छया च पुरुषो नियोगं साधयति ॥ ३ ॥

नित्येषु सन्ध्योपास्त्यादौ स्वसिद्ध्यर्थमसौ पुनः ।
शुचिकालस्थितं स्वस्थं नियोजयति पूरुषम् ॥ ४ ॥ [५६४]

नित्य सन्ध्यावन्दनादिमें यह नियोग स्वसिद्ध्यर्थ शुचिकालस्थित निरापद पुरुषको नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

यत्र च नित्यनैमित्तिकेषु सन्ध्योपासनादिषु स्वर्गादिफलं नास्ति तत्रापि नियोगः स्वसिद्ध्यर्थं शुचिकालस्थितमधिकारिणं नियोजयत्येव ॥ ४ ॥

निष्प्रपञ्चीकृतौ तस्मात् प्राभाकरमतेन च ।
कार्यतापरपर्यायो नियोगो नैव संभवेत् ॥ ५ ॥ [५६५]

इसलिये प्राभाकरमतसे भी निष्प्रपञ्चीकरणमें कार्यता नामक नियोग संभव नहीं है ॥ ५ ॥

एष एव नियोगो लिङर्थः कार्यतापरपर्यायः प्राभाकरमतेन । तन्मत-स्यान्यत्र निरस्तत्वेऽपि तत्स्वीकारेऽपि न फले निष्प्रपञ्चीकरणादौ स केनाप्युपगम्यते ॥ ५ ॥

साधने सति हि वस्तुधीः स्वतो
बोधतो भवति निष्प्रपञ्चता ।
नात्र कोऽपि विधिना नियुज्यते
ब्रह्म यत्तदनियोज्यमाश्रये ॥ ४६ ॥

प्रमाणरूप साधन होनेपर स्वत एव वस्तुज्ञान् होगा, नियोगकी जरूरत नहीं होगी । बोध होनेपर निष्प्रपञ्चता स्वयं होगी । तदर्थ भी नियोग आवश्यक नहीं । अतएव विधिसे किसीका यहां नियोग नहीं है । ब्रह्म स्वयं अनियोज्य है । उसी अनियोज्य ब्रह्मका हम आश्रयण करते हैं ॥ ४६ ॥

इति निष्प्रपञ्चीकरणनियोगविचारः

*****

(४७)

अथ विकल्पाऽप्रामाण्यनिरूपणम् ।

विकल्पविषयत्वेन प्रपञ्चे निश्चितेऽनृते ।
निष्प्रपञ्चं स्थितं ब्रह्म निर्विकल्पेन बोध्यते ॥ १ ॥ [५६६]

वस्तुतः ब्रह्मको निष्प्रपञ्च बनाना नहीं है । विकल्पविषय होनेसे प्रपञ्च अनृतं निश्चित हो गया तो निष्प्रपञ्चरूपसे स्थित उस ब्रह्मका निर्विकल्पक ज्ञानसे स्फुरणात्मक अनुभवमात्र करना है ॥ १ ॥

न ब्रह्म निष्प्रपञ्चं क्रियते । किं तर्हि ? विकल्पविषयत्वेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे निश्चिते सति निष्प्रपञ्चतया पूर्वमेव सिद्धं ब्रह्म निर्विकल्पक-

बोधेन बोध्यते । तथा हि प्रपञ्चो मिथ्या विकल्पविषयत्वात् शुक्तिरजत-वदित्यनुमानेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं सिद्ध्यति । न च विकल्पविषयस्य मिथ्यात्वे विकल्पस्य मिथ्याविषयकत्वनियमो वक्तव्यः, तथा सतीदमनु-मानमपि विकल्पत्वान्मिथ्याविषयः स्यादित्यप्रामाण्यं प्रतिपद्येतेति वाच्यम् । एतदनुमानं मिथ्याविषयकं विकल्पत्वाद् रज्जुसर्पज्ञानवदिति यावदनुमीयते ततः पूर्वमेव प्रथमेनानुमानेन जगदपहरणात् लुण्ठिते वेश्मनि किं यामिकजागरणेन ? त्वदीयानुमानस्यापि मिथ्याविषयकत्वेन बोधकत्वा-योगाच्च । विकल्पत्वेन हेतुना स्वोत्पत्तिकालमेव तस्य मिथ्याविषयकत्व-सिद्धेरिति न तदुपर्यनुमानान्तरं प्रवर्तनीयम् । येन तस्यापि मिथ्या-विषयकत्वमनुमानान्तरेण त्वया साधयितव्यं, ततः पूर्वमेव प्रथमानुमान-प्रामाण्यसिद्धेः । न च पूर्वोक्तस्यैवानुमानस्य पक्षत्वमिति वाच्यम् । पूर्वोक्तत्व-विशेषणवैयर्थ्यात् । विकल्पत्वावच्छेदेन मिथ्यात्वसिद्धेश्च । एतेनात्मघाती-दृशमनुमानं न लौकिकैर्नापि परीक्षकैः प्रयुज्यत इति प्रत्युक्तम् । त्वदनुमान-स्यैव तथात्वात् । त्वदीयानुमानप्रकारस्य त्वां प्रति प्रयुज्यमानतया परघातित्वेनात्मघातित्वविरहाच्च । न ह्यस्माकं स्वकृते ईदृशानुमानस्य प्रयोजनमस्ति श्रुत्युक्ताद्वैतानुभूत्यैव कृतार्थत्वात् । ब्रह्मानुभूतिशून्यान् प्रत्येव जगन्मिथ्यात्वस्य तदीयभाषयाऽनुमानेनोपस्थापनात् । बालान् प्रति बाल-भाषया वृद्धा वदन्तीति न ते स्वविद्याघातिनः । अनुमानदोषास्तु सव्यभिचारादयो भवन्ति । एतेन संवादित्वविसंवादित्वविकल्पोत्थापनमपि विफलमेवेति दृष्टव्यम् ॥ १ ॥

अनृतत्वानुमा सेयं विकल्पोऽनृतगोचरा ।
मैवं मदीयानुमयाऽपहृतार्था तवानुमा ॥ २ ॥ [५६७]

पूर्वपक्षः—आपका अनुमान है—प्रपञ्चो मिथ्या विकल्पविषयत्वात् शुक्तिरजतवत् । इसपर हम कहेंगे तवानुमा मिथ्याविषया विकल्प-विषय-विषयकत्वात् । तब तुम्हारा अनुमान अप्रामाणिक हो जायेगा । मिथ्यात्व प्रपञ्चमें सिद्ध नहीं होगा । उत्तरपक्षः—प्रपञ्चो मिथ्या यह अनुमान सकल प्रपञ्चविषयक होनेसे आपका अनुमान भी उसकी चपेट में

आ गया । अतः बाधितार्थानुमान होनेसे आपका अनुमान ही निरर्थक होगा ॥ २ ॥

मामकीं दूषयेत्तावदुत्पन्नां हि तदानुमा ।
तावच्युत्पद्यमानैव दूषिता किं करिष्यति ॥ ३ ॥ [५६८]

मेरे अनुमानके उत्पन्न होनेके बाद तुम्हारा अनुमान उसपर दोष डालेगा । परन्तु तुम्हारा अनुमान उत्पन्न होते होते ही मिथ्यार्थक होकर आयेगा क्योंकि मेरा अनुमान सकल प्रपञ्चविषयक होकर प्रथम प्रवृत्त हुआ है ॥ ३ ॥

उत्पन्ना हि जगद्धन्यात् स्वं च हन्त्विष्टमेव तत् ।
न हतो जीवति पुनर्हन्तुर्हननमात्रतः ॥ ४ ॥ [५६९]

जगन्मिथ्या विकल्पविषयत्वात् यह अनुमान उत्पन्न होते ही जगत्को बाधित करेगा, किन्तु स्वको बाधित करने मात्रसे जगत् उज्जीवित नहीं होगा । हन्ताके हननसे हत उज्जीवित नहीं होता ॥ ४ ॥

पारमार्थिकतामेषाऽपहरत्यनुमा मम ।
विश्वस्येत्यखिलं सुस्थमनुमा व्यावहारिकी ॥ ५ ॥ [५७०]

दूसरी बात हमारा अनुमान प्रपञ्चकी पारमार्थिकता का अपहरण करता है । आप हमारे अनुमानकी पारमार्थिकताका अपहरण कर लीजिये । अनुमान तो व्यावहारिक ही होता है, पारमार्थिक नहीं ॥ ५ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वं जगतो मन्महे: वयम् ।
परमार्थं तदेवेति द्वैतिनो मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥ [५७१]

व्यावहारिक सत्यत्व तो हम भी जगतका मानते हैं । द्वैतवादी उसी व्यावहारिक सत्यताको पारमार्थिक सत्य मानने की भूल बार-बार करते हैं ॥ ६ ॥

वस्तुतस्तु व्यावहारिकसत्यत्वं तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यं चोपगच्छाम एव वयम् । द्वैतिनस्तु व्यावहारिकसत्यत्वमेव पारमार्थिकमिति वभ्रमुः । पुनः-पुनः कथनेऽपि मुहुर्मुहुर्भ्रमे निपतन्ति । ततश्च सर्वमपीह दूषणजातं

निरर्थकमेव । निर्विकल्पकबोधविषयः परं ब्रह्म । यच्च विकल्पविषयो विशिष्टचैतन्यं तस्य विशिष्टत्वरूपेण व्यावहारिकत्वमेव न तु पारमार्थिकत्वमित्येव परमार्थः ॥ ६ ॥

न चानुमयाऽस्माकं महदस्ति प्रयोजनम् ।
श्रुत्युक्ताद्वैतभावानां परार्थायानुमिन्वताम् ॥ ७ ॥ [५७२]

साथ ही हमें अनुमानका कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं है । क्योंकि श्रुति कथित अद्वैतभावमें हम स्थित हैं । हम अनुमान तो परार्थ ही करते हैं ॥ ७ ॥

विकल्पबुद्धिदव्यवहारकारणं
परं प्रमाणं त्वविकल्पशेमुषी ।
मृषाविकल्पाविषयं परात्परं
नमामि तद् ब्रह्म समाधिगोचरम् ॥ ४७ ॥

विकल्पबुद्धि केवल व्यवहारमें काम करती है । परम प्रमाण तो निर्विकल्पकबुद्धि ही है । मिथ्याविकल्प बुद्धिका ब्रह्म कभी विषय नहीं होता । समाधिमात्रसे गम्य परात्पर उस ब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं ।

इति विकल्पाऽप्रामाण्यनिरूपरणम्

*****

(४८)

अथोपबृंहणोपपत्तिः

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
आख्यायिकादिभिस्तत्त्वं सामान्यैरपि सुग्रहम् ॥ १ ॥ [५७३]

इतिहास एवं पुराणोंसे वेदार्थका उपबृंहण करनेके लिये बताया है । इतिहासादिमें नाना आख्यायिका आदि हैं । उनसे सामान्य जनता भी आरामसे तत्त्वका ग्रहण कर पाती है ॥ १ ॥

ननु निर्विशेषं चेत् परं ब्रह्म तदुपबृंहणमितिहासपुराणाभ्यामशक्यम् । उपबृंहणं हि नानुवादमात्रम् । अप्रयोजनत्वात् । न वा व्यक्तीकरणम् । श्रुत्यैव व्यक्तीकरणात् । नाप्यनुक्तवस्त्वन्तरवर्णनम् । अन्यार्थेनान्यार्थस्य व्यक्तीकरणासंभवात् । सविशेषवादे तु नानाशाखासु विप्रकीर्णार्थाना-मल्पज्ञैर्ज्ञातुमशक्यतया संग्रहवचनेन तेषां सुज्ञेयतासंपादनलक्षणमुपबृंहणं भवितुमर्हति । स्मृतिकाराश्च योगिन आसन्निति तान् संजग्रहुरिति स्मृति-प्रामाण्याधिकरणे स्थितमिति । अत्र ब्रूमः । "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुप-बृंहयेदि"ति हि वचनम् । न तत्र स्मृतिग्रहणमस्ति । न चेतिहासपुराणयोरपि स्मृतित्वमस्तीति वाच्यम् । तथा सति स्मृतिसामान्यमनुक्त्वा विशेषेणेतिहास-पुराणयोर्ग्रहणमितरस्मृतिव्यावृत्त्यर्थमापद्येत । न चेतिहासपुराणग्रहणमितर-स्मृत्युपलक्षणार्थमिति व्याख्यायतामिति । तथा हि-इतिहासो नाम पूर्व-वृत्ताख्यायिकासमवायः । पुराणं नाम सृष्टितः प्रलयपर्यन्तघटनावर्णनम् । "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणमि" त्यभियुक्तोक्तेः । न ह्यनयोरुभयोरपीतस्ततो विप्रकीर्णानां वेदार्थानां संग्रहणमस्ति । किन्तु प्रसिद्धमेव वेदार्थमादायाख्यायिकादिभिः सुखावबोधनमेवास्ति । कल्पसूत्रादिषु मन्वादिस्मृतिषु चैवंविधसंग्रहणं विपुलतयोपलभ्यते न तु पुराणादिषु । आख्यायिका तु सुबोधार्थेति तत्र-तत्र भाष्यादौ स्पष्टम् । आख्यायिकादिभिर्वाक्यान्तरैश्च निर्विशेषब्रह्मवर्णनमपि इतिहासपुराणयोर्बहुधोपलभ्यते विस्तरेणेति तदुपबृंहणं सुघटमेव तयोः ॥ १ ॥

वेदानुक्तगुणग्रामवर्णनं नोपबृंहणम् ।
वेदानभिहितार्थानां प्रामाण्यानुपपत्तितः ॥ २ ॥ [५७४]

पूर्वपक्षः—वेदोंमें अनुक्त गुणोंका वर्णन उपबृंहण है । आपके मतमें निर्विशेष ब्रह्ममें गुण ही नहीं, अतः उपबृंहण नहीं होगा । उत्तरपक्षः—वेदोंमें अकथित परमात्माका गुण अप्रामाणिक है । अतीन्द्रिय अर्थमें वेद ही प्रमाण है ॥ २ ॥

ननु वेदानुक्तभगवद्गुणगणवर्णनमुपबृंहणम् । भवन्मते निर्गुणत्वान्न तत्संभव इति चेन्न । वेदानुक्तातीन्द्रियार्थानामप्रामाणिकत्वात् । अतएव क्वचिद्वेदानुपलब्धार्थवर्णने तत्र वेदः कल्प्यते । पूर्वर्षिभिर्दृष्टत्वात्संप्रति

नष्टत्वात् । न हि तावता वेदानुक्तार्थत्वसंभवः । न च वेदानुपलभ्यमानार्थवर्णनं तथा । यदोपलभ्यते स्म तदा वेदार्थमुपबृंहयेदितिवचननैरर्थक्यापत्तेः । वेदैः सह पुराणादीनामपि ब्रह्मणो मुखतो निष्पत्त्युक्तेस्तदानीं तदनुपयोगापत्तेः ॥ २ ॥

विप्रकीर्णार्थसंक्षेपकथनं नोपबृंहणम् ।
अशब्दार्थत्वतस्तद्धि स्मृतिप्रामाण्यकारणम् ॥ ३ ॥ [५७५]

नाना शाखाओंमें फैले हुए अर्थोंका संग्रहकथन उपबृंहण नहीं है। क्योंकि उपबृंहणका वह शब्दार्थ नहीं है। स्मृतिप्रामाण्यमें वह हेतुमात्र है।

यत्तु नानाशाखासु विप्रकीर्णानां साधारणजनैः कात्स्न्र्येन वेदितुमशक्यानामर्थानां संक्षेपेणैकत्र कथनमिति स नोपबृंहणपदार्थः । बृह बृहि वृद्धाविति धात्वार्थाननुगमात् । तादृशकथनं ह्यल्पधियां नृणां कृते प्रामाण्यकारणमात्रं भवति ॥ ३ ॥

सन्दिग्धार्थेष्वसन्देहापादनं तूपबृंहणम् ।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्यादौ तादृशदर्शनात् ॥ ४ ॥ [५७६]

सन्दिग्ध अर्थोंमें सन्देह दूर करना तो उपबृंहण होता है। जैसे अहं ब्रह्मास्मि कहनेपर ब्रह्म शब्द, महद् ब्रह्म, व्यापकादि नानार्थक होनेसे सन्देह हुआ तो गीतामें 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' कहकर सन्देह निवारण किया ॥ ४ ॥

क्वचित् सन्दिग्धार्थेषु सामान्यार्थेषु चासन्दिग्धविशेषार्थबोधकरीमार्षवाणीमुपबृंहणतया मनीषिणः स्वीकुर्वन्ति । यथा तत्त्वमसीत्युक्ते रामं प्रति तत्त्वमसीतिवदवतारविशेषभूतस्त्वं श्वेतकेतुर्जगद्धेतुसद्रूपोसीति वा जीव एवं ब्रह्मरूप इति वाऽर्थ इति संशये-'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी'ति वचनेन क्षेत्रज्ञपदार्थजीवमात्रस्य परमात्मस्वरूपवर्णनं गीतादौ ॥ ४ ॥

श्रुत्यर्थः स्पष्ट एवेति न सन्देह इति त्वसत् ।
नैवाधिकरणानि स्युस्तदा मीमांसयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥ [५७७]

श्रुत्यर्थ स्पष्ट होनेसे वहां सन्देह नहीं होता ऐसा कहना सरासर गलत है। क्योंकि वैसा हो तो मीमांसाधिकरण निरर्थक होंगे। वहां "विषयो विशयश्चैव" के अनुसार सन्दिग्धवाक्योंपर ही मीमांसा की गयी है॥ ५॥

यत्तु श्रुत्यर्थः स्पष्ट एवेति सन्देहविरहात्सन्देहवारकतयोपबृंहणं न युज्यत इति। तदसत्। एवं सति द्वयोरपि मीमांसयोरधिकरणानि न स्युः। विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरमित्याद्यधिकरणलक्षणे विशयस्याप्यङ्गत्वात्। विशयः संशयः॥ ५॥

सन्दिग्धेषु क्वचिद् वाक्यशेषात् स्यादर्थनिर्णयः।
स्मृतेश्चेति क्वचित्सोऽयं स्मृतितोऽभ्युपगम्यते॥ ६॥ [५७८]

यदि सर्वत्र अर्थ स्पष्ट होता तो "सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्" यह अधिकरण न उठता। "स्मृतेश्च" इत्यादि अर्थनिर्णायकत्व स्मृतियोंको न कहते॥ ६॥

यदि श्रुत्यर्थः सर्वत्र स्पष्ट एव न तु क्वचित्सन्देह इत्युच्यते तदा "सन्दिग्धेषु वाक्यशेषादि"त्यधिकरणनिष्पत्तिर्न स्यात्। तथा तत्र तत्र "स्मृतेश्चे"ति सूत्रोपलम्भात् स्मृतीनामर्थनिर्णायकत्वं सिध्यति। एवमुपलक्षणतया स्मृतीनामप्युपबृंहकत्वं मन्यामह एव वयम्॥ ६॥

स्पष्टार्थाश्च श्रुतीर्ये तु नयन्ति बहुधान्यथा।
वदन्ति हन्त ते केन मुखेनेममसंशयम्॥ ७॥ [५७९]

बल्कि स्पष्टार्थ श्रुतिको भी जगह-जगह अन्यथा-अन्यथा अर्थ करनेवाले ये लोग किस मुखसे असन्देहकी बात करते हैं यह अति आश्चर्य है॥ ७॥

"तत्त्वमसि", "नेह नानास्ति किंचन" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदि"त्येवमादीनां शतशः श्रुतीनां स्पष्टार्थानामन्यथा व्याख्यां कृत्वाऽन्ते वेदेषु कुत्रापि नाद्वैतप्रतिपादनमित्युपसंहरतां कुत्राप्यर्थसन्देहो नास्तीति वचनं केन मुखेनोच्यत इति नात्र किंचिद् वक्तव्यमस्ति॥ ७॥

व्यक्तीकरणमप्येवमीशावास्यमितिश्रुतेः।
आत्मावस्यमिति स्पष्टीकृतिरात्मेश्वरैक्यतः॥ ८॥ [५८०]

अर्थका स्पष्टीकरण भी उपबृंहण है । जैसे "ईशावास्यम्", "मनसो जवीय", "आत्मैवाभूद्विजानतः" इत्यादिमें उपक्रमानुसार आत्माका ईश्वर अर्थ करना है । या "मनसो जवीय" इत्यादि लिङ्गसहित उपसंहारसे ईशाका अर्थ आत्मा करना है इस सन्देहका वारण करनेके लिये पुराणमें "आत्मावास्यमिदं सर्वं" ऐसा स्पष्टीकरण किया ॥ ८ ॥

एवं व्यक्तीकरणमप्युपबृंहणमेव । तथाहि "ईशावास्यमि"त्युपक्रम्य यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवे"त्यादिना तस्यैवात्मशब्देन कथनादसंजातविरोधिन्यायेनात्मशब्दस्येशपरत्वं वा "तत्र को मोहः कः शोक" इत्यात्मनः फलकथनेन मुख्यत्वादुपसंहारानुरोधेनोपक्रमनयनं वेति न स्पष्टम् । तत्रा"त्मावास्यमिदं सर्वमि"ति भागवतवचनं स्पष्टीकरणरूपमुपबृंहणम् । निरुपाधिकात्मनो निरुपाधिकेश्वरस्य च शुद्धचैतन्यरूपत्वादैक्यात्तदादायोपक्रमोपसंहारोपपत्तेः ॥ ८ ॥

स्थूलारुन्धतिकान्यायात् क्वचित्स्यादुपबृंहणम् ।
कृष्णस्यैश्वर्यमादर्श्य सर्वात्मत्ववचो यथा ॥ ९ ॥ [५८१]

स्थूलारुन्धतीन्यायसे समझना भी उपबृंहण है । जैसे वत्सापहरण-प्रसङ्गमें वत्सपवत्सात्मकतया श्रीकृष्णका ऐश्वर्य दिखाकर "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" बताया ॥ ९ ॥

क्वचित्स्थूलारुन्धतिन्यायेन समीपमानीय तत्त्ववर्णनमुपबृंहणं भवति । यथा भागवते श्रीकृष्णस्य पूतनावधविश्वरूपादिलक्षणमैश्वर्यं निरूप्य अघासुरप्रसङ्गे ।

"यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ।"

इत्येकदेशबहुभवनदृष्टान्तेन सर्वजगत्स्वरूपतां च संभाव्य

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।

इत्यनेनात्मपरमात्मैक्यं शरीरादिमिथ्यात्वं च वर्णयामास ॥ ९ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविशदीकरणं तथा ।
रामगीताप्रभृतिषु विस्पष्टमुपलभ्यते॥ १० ॥ [५८२]

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थका स्पष्टीकरण भी उपबृंहण है । जैसे रामगीता में ॥ १० ॥

एवं तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वकतत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविशदीकरणमपि रामगीतादौ विस्पष्टमुपलभ्यते। तथाविधं स्पष्टविवरणं श्रुतिषु दुर्लभमेव ॥ १० ॥

धर्माधर्मौ च वेदार्थौ स्मृत्यादावुपबृंहितौ ।
रामो यथाऽचरदिति दृष्टान्तैरपि तौ तथा ॥ ११ ॥ [५८३]

धर्म और अधर्मका उपबृंहण भी स्मृति आदिमें मान्य है । रामने कैसे आचरण किया इत्यादि दृष्टान्तसे उपबृंहण हुआ है । अर्थात् केवल अद्वैततत्त्वका ही उपबृंहण इतिहास पुराणोंमें है ऐसी बात नहीं । धर्म एवं अधर्मका उपबृंहण भी हुआ है ॥ ११ ॥

उपबृंहणसामान्यं विघटयता धर्माधर्मयोरुपबृंहणं विस्मृतमिति मन्महे । कल्पसूत्रादिषु यज्ञादयः कथमनुष्ठेया इत्यनुष्ठानप्रकारादेर्वेदेष्वदृश्यमानस्य वर्णनमुपबृंहणमेव । पूजाविध्यादिकं शिवपुराणादौ बहुधा वर्णितमस्ति । रामादिकथासु यथा ते धर्ममनुतस्थुर्यथा चाधर्मं परितत्यजुस्तद्वर्णनमप्युपबृंहणमेवोभयसंमतम् । व्यावहारिकसत्त्वोपगमात्साधनत्वाच्च तदपलापो न वेदान्तेषु क्वापि विहितः ॥ ११ ॥

सगुणोपास्तिवाक्यार्थगुणानां चोपबृंहणम् ।
इङ्गितानां पुराणादौ स्पष्टीकरणलक्षणम् ॥ १२ ॥ [५८४]

और ऐसा भी नहीं है कि हम गुणोपबृंहण नहीं मानते ! सगुणोपासनापर वाक्योंके अर्थ गुणोंका भी पुराणादिमें उपबृंहण है । इङ्गित गुणोंका स्पष्टीकरण ही वहां उपबृंहण है ॥ १२ ॥

तामसत्वममानत्वं पुराणे क्वचनोच्यते ।
धूर्तप्रक्षिप्तवाक्यैर्यद् धूर्तानां तद्धि शोभते ॥ १३ ॥ [५८५]

अद्वैतप्रतिपादक वाक्य देखकर उन पुराणोंको धूर्तोंके द्वारा प्रक्षिप्त श्लोकोंसे तामसत्व एवं अप्रमाणत्व सिद्ध करना धूर्तोंके लिये ही शोभास्पद है ॥ १३ ॥

यत्तु वैष्णवादिपुराणानां सात्त्विकत्वमितरेषां केषांचिद्राजसत्त्वं केषांचित् तामसत्वमिति विभाजनं कृत्वाऽप्रामाण्यं तामसानां बलाबलविचारे च निर्बलमिति तत्सर्वं धूर्तजनकृतप्रक्षेपपरिणामो धूर्तजनमात्रस्वीकरणीय एव । सर्वत्रैव समानरूपेण तत्त्ववर्णनोपलम्भात् । किं च पाराशरादिवचःस्वप्यद्वैतवर्णनं स्फुटतरमुपलभ्यते । तदप्यन्यथा नयन्तो नैव ते लज्जन्ते ।

अप्रामाण्ये कथं व्यासो लिलेख भगवानृषिः ।
मा भूद्वञ्चकता या हि सर्वाऽप्रामाण्यमापयेत् ॥ १४ ॥ [५८६]

यदि शैवादि पुराण अप्रमाण है तो भगवान् वेदव्यासने कैसे लिखा । इस प्रकार कहीं वञ्चकत्व न सिद्ध हो जाये जिससे सभी पुराण अप्रमाण हो जाये ॥ १४ ॥

यदि चाप्रामाण्यं शैवादिपुराणानां तदा भगवानृषिर्व्यासः कथं तानि लिलेख । तेन वञ्चकत्वं व्यासस्यापादयन्त इमे प्रक्षेपका एव वञ्चकाः ।

यद्वास्त्वन्ये गवाश्वेभ्योऽपशवो हीतिवद्वचः ।
पराशरवचोजातेऽप्यद्वैतं स्पष्टमीक्ष्यते ॥ १५ ॥ [५८७]

यदि उन निन्दक वाक्योंको भी व्यासवचनान्तर्गत माननेका दुराग्रह है तो "अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः" इत्यादिवत् स्तुत्यप्रशंसार्थ समझना होगा । "न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं किन्तु विधेयं स्तोतुम्" ऐसा न्याय प्रसिद्ध है । जिन पुराणोंको आप सात्विक मानते हैं उनमें अद्वैत प्रतिपादक वाक्य भरे पड़े हैं । आप उनका तोड़मरोड़ करो यह अलग बात है ॥ १५ ॥

वस्तुतस्तु इतरनिन्दाकारिवचनानां पुराणान्तर्गतत्वस्वीकारपक्षेऽपि "न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयं स्तोतुमि"ति न्यायान्नेतराऽप्रामाण्यं ततोऽपि सिध्यति । "अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गो अश्वा" इति वचनेन पशुना यजेतेति च्छागादिपशुयागबोधकवाक्याऽ-

प्रामाण्याऽस्वीकारात् । यथा तथापि वा स्वप्रतिकूलवचनमवलोक्य तस्याऽ-प्रामाण्यमन्यार्थत्वं च बलाद् वदन्तो धूर्ता इत्यत्र न कश्चित्संशयः । अस्मन्मते तु व्यावहारिकं प्रामाण्यं वचसां स्वीकृतमस्ति । तदेव च त्वया परमं प्रामाण्यमिति निगद्यते । तदादाय सर्वोपपत्तिर्भवति । अतिरिक्त-परमार्थसत्त्वमात्रेऽस्माकमाग्रह इति न केनापि सहास्माकं विरोधः । तदुक्तम् ।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ इति

श्रुतिनुतं तदसंशयहेतवे
स्मृतिपुराणशतैरुपबृंहितम् ॥
परमशेषविशेषविवर्जितं
मनुमहे नु महेशपदं सदा ॥ ४८ ॥

श्रुतियोंमें प्रतिपादित, उसमें होनेवाले संशयको दूर करनेके लिये स्मृति, इतिहास एवं पुराणोंमें विस्तारसे निरूपित गुणधर्मादि समस्त विशेषोंसे रहित परात्पर महेश्वर पद (अद्वैतस्वरूप)का हम निरन्तर चिन्तन करते हैं ॥ ४८ ॥

इत्युपबृंहणोपपत्तिः

*****

(४९)

अथ जीवपरैक्यतात्पर्यं वाक्यानाम्

तत्त्वमस्यादिभिर्जीवपरैक्यमवबोध्यते ।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्यादिकं चोपबृंहणम् ॥ १ ॥ [५८८]

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे जीवात्मा और परमात्मा की एकताका वर्णन किया है । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादि स्मृति उपबृंहक है ॥ १ ॥

जीवपरैक्यं निर्विशेषचैतन्यलक्षणं तत्त्वमस्यादिभिर्महावाक्यैर्बोध्यते । 'सुपां सु लुगि'ति विभक्तिलोपात् तस्मात्त्वं, तस्य त्वमित्याद्यर्थकरणं

केषांचिदत्यन्तमशुभम् । विभक्तेरश्रवणेन तदर्थलक्षणाया आवश्यकत्वात् । राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तिस्मरणानुपगमात् । अत एव निषादस्थ-पतिशब्दे पूर्वपदलक्षणापत्तिवारणाय षष्ठीतत्पुरुषं परित्यज्य कर्मधारया-श्रयणम् । एतेन तदन्तर्यामिकस्त्वमित्यर्थोऽपि परास्तः। लक्षणां विना तदर्थलाभायोगात् । नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेः । अपि च "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी" ति श्रुत्यर्थोपबृंहकमिति नार्थान्तरसंभवः ॥ १ ॥

सामानाधिकरण्यं न तदर्थाऽभेदमन्तरा ।
देहदेहितया त्वेतदभेदाध्यासहेतुकम् ॥ २ ॥ [५८९]

सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्यभावसे एकविभक्त्यन्तता)। दो पदोर्थोंके अभेदके विना संभव नहीं है। 'अहं देवदत्तः' इत्यादि शरीर और आत्माका सामानाधिकरण्य अभेदाध्यासके कारण है॥ २॥

"तत्त्वमसि" "क्षेत्रज्ञं चापि मामि"त्यादौ नाभेदं विना सामानाधि-करण्यप्रयोग उपपद्यते । यथा घटो नील इत्यादौ । न हि बाधसामानाधि-करण्येप्यभेदः परित्यज्यते । आरोपितेऽधिष्ठानभेदाभावस्य स्वीकारात् । यत्तु देहदेहिभावेन सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । अहं देवदत्त इत्येवं प्रत्ययप्रयोग-योर्दर्शनादिति, तत्तुच्छम् । अभेदाध्यासप्रयुक्तत्वात्तादृशप्रयोगस्य । अहं मनुष्यः अहं देवदत्त इत्यादौ शरीरतादात्म्याध्यासस्यात्मनि सर्वैः स्वीकारात् । अभेदाध्यासस्वीकारे तन्निबन्धनतया सामानाधिकरण्यप्रयोगोपपत्तौ देहदेहि-भावप्रयुक्तः सामानाधिकरण्यप्रयोगो न पृथगभ्युपगन्तव्योऽस्ति ॥ २ ॥

व्यवहारोऽन्यथा चेदं पिण्डमात्मेति ते भवेत् ।
निष्कर्षे नेति चेत्तत्त्वमसीति कथमिष्यताम् ॥ ३ ॥ [५९०]

यदि शरीर और शरीरीके अभेदाध्यासके विना भी देहदेहिभावसे ही सामानाधिकरण्य व्यवहार मानेंगे तो 'इदं पाञ्चभौतिकं पिण्डमात्मा" (यह पांचभौतिक पुतला आत्मा है) ऐसा सामानाधिकरण्य व्यवहार भी आपको स्वीकार करना होगा। क्योंकि इस पुतलेके साथ आत्माका देहदेहिभाव है। यदि कहें कि 'यह पिण्ड' इस प्रकार निष्कर्ष कर (पृथक् खींचकर) कहनेके कारण सामानाधिकरण्यव्यवहार नहीं होता तो तत्त्व-

मसिमें 'त्वं' से निष्कर्ष कर बोल दिया तो देहदेहिभावसे सामानाधिकरण्य कैसे होगा? ॥ ३ ॥

यदि च देहदेहिभावेनापि सामानाधिकरण्यं वास्तविकं स्यात्तदा पाञ्चभौतिकपिण्डमिदमात्मेत्यादिर्वास्तविकः प्रयोगः स्यात् । देहदेहिभाव-सत्त्वात् । ननु पिण्डत्वेन निष्कर्षान्न तथा प्रयोग इति चेत् । तत्त्व-मसीत्यत्र त्वमर्थत्वेन निष्कर्षात् कथं तत्रापि सामानाधिकरण्य-प्रयोगोपपत्तिः ? ॥ ३ ॥

ज्योतींषि विष्णुरित्यादौ निष्कृष्यैवाभिधानतः ।
न देहदेहिभावेन तत्तत्राप्युपपद्यते ॥ ४ ॥ [५९१]

"ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः" इत्यादिमें भी आप देहदेहिभावको लेकर सामानाधिकरण्य मानते हैं । पर वहां भी ज्योतीष्ट्व भुवनत्व इत्यादि रूपसे निष्कृष्ट निर्देश है ॥ ४ ॥

"ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्यादावपि देहदेहिभावेन सामानाधि-करण्यं वदन्ति । तदपि ज्योतीष्ट्वादिना निष्कृष्याभिधानान्नोपपद्यत इति बाधसामानाधिकरण्यमेव तत्रोपगन्तव्यम् ॥ ४ ॥

शरीरत्वं च पृथ्व्यादेः केवलं पारिभाषिकम् ।
चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयता नैव तस्येश्वरं प्रति ॥ ५ ॥ [५९२]

"यस्य पृथिवी शरीरं" इत्यादि श्रुतिमें पृथिवी आदिको जो शरीर बताया है वहां शरीरत्व केवल पारिभाषिक है । "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरं" ऐसा न्यायसूत्रोक्त लक्षण वहां कहां है ? ईश्वरकी चेष्टा इन्द्रिय एवं सुखदुःखादिरूप अर्थका आश्रय पृथिवी आदि है क्या? ॥ ५ ॥

यच्च पृथिव्यादेः शरीरत्वं "यस्य पृथिवी शरीरमि"त्यादावुक्तं तच्च तत्र वर्तमानत्वेन पारिभाषिकं लाक्षणिकं वा। न पुनर्व्यवहारोपयोगि वास्त-विकम् । "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरमि"ति हि शरीरलक्षणम् । न हि हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापाररूपचेष्टाश्रयः पृथिव्यादिर्भगवतः । न वा तदीयेन्द्रियाश्रयः । नापि तत्फलसुखदुःखाश्रयः ॥ ५ ॥

चैत्रो देहं तदन्तःस्थः स्वेच्छया चालयेद्यथा ।
तथेशोऽकरणोऽन्तस्थः स्वेच्छया चालयेज्जगत् ॥ ६ ॥ [५९३]

चैत्र अपने देहके अंदर स्वेच्छासे हस्तादि एवं चक्षुरादिको व्यापारित करता है । क्योंकि करणके लिये करणान्तर नहीं हो सकता । शरीर भी चलता है । ईश्वर भी जगतके अंदर रहकर स्वेच्छामात्रसे करणनिरपेक्ष होकर जगतको चलाता है । अतः जगतको ईश्वरका शरीर कह दिया ॥ ६ ॥

कीदृशं पारिभाषिकशरीरमिति चेत्? यथा चैत्रः शरीरान्तःस्थितः शरीरेन्द्रियादिकं करणान्तरनिरपेक्ष एव स्वेच्छामात्रेण प्रवर्तयति । कुतः? शरीरत्वात् पिण्डस्य । तथेश्वरोऽपि करणनिरपेक्ष एव स्वेच्छेयैव सकलमिदं जगत् प्रवर्तयतीति जगतः शरीरत्वमुच्यते । शरीरातिरिक्तस्य बाह्यार्थस्य प्रवर्तने पृथक् करणानामावश्यकत्वात् शरीरस्याप्यपेक्षितत्वात् । "किमीहः किंकायः" इत्याद्याक्षेपदर्शनात् ॥ ६ ॥

हेम हारात्मकं हारदेहं स्यात्तद्विवर्तनात् ।
विश्वात्मा विश्वदेहः स्यादात्मासौ तद्विवर्तनात् ॥ ७ ॥ [५९४]

सोना घरमें है । पिण्डात्मक नहीं, हारात्मक है । यहां (हारात्मक में) आत्मका शरीर अर्थ है । हार सुवर्णका कार्य विवर्त होनेसे हार शरीर बताया । वैसे विश्वरूपसे विवर्तित होनेसे परमात्मा, विश्वात्मा, विश्वशरीर आदि कहलाता है ॥ ७ ॥

प्रकारान्तरेणापि शरीरव्यवहारः संभवति । कथम् ? मम गृहे पिण्डात्मकं सुवर्णं नास्ति, हारात्मकं सुवर्णमस्तीत्युच्यते । तत्र हारात्मेत्यात्मशब्दस्य नान्तरात्माऽर्थः । वैपरीत्यात् । हारस्य ह्यात्मा सुवर्णम् । किन्तु शरीरमर्थः । तथा च हारशरीरं सुवर्णमित्यर्थः । कथं हारस्य शरीरत्वं सुवर्णस्य ? हारस्य सुवर्णकार्यत्वात् सुवर्णस्य तदन्तर्वर्तित्वात् । एवमीश्वरकार्यं जगदिदं तदन्तर्वर्तीश्वर इति विश्वात्मा, विश्वशरीर, ईश्वर इत्युच्यते ॥ ७ ॥

अभेदं लोकधीसिद्धमाकैवल्यानुवर्तिनम् ।
ब्राह्मणादिर्यजतेति गीरनूद्य प्रवर्तते ॥ ८ ॥ [५९५]

देहदेहीका तादात्म्याध्यास लोकबुद्धिसिद्ध मरण या कैवल्यपर्यन्त अनुवर्तमान है । उसका अनुवादकर "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि वेदवाणी प्रवृत्त होती है ॥ ८ ॥

ननु देहदेहिभावमादाय सामानाधिकरण्यप्रयोगस्यास्वीकारे "ब्राह्मणो यजेते" ति नोपपद्येत । ब्राह्मणत्वं हि शरीरे । कर्तृत्वं त्वात्मनि । "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि"ति न्यायात् । तथा च तत्र देहदेहिभावेन सामानाधिकरण्यप्रयोग इति चेन्न । अहं ब्राह्मण इत्यादि लोकधीसिद्धमाध्यासिकमभेदमादाय तादृशवाक्यप्रवृत्तेः । स चाध्यास आकैवल्यमनुवर्तत इति व्यावहारिकसमानः । न हि लौकिका ब्राह्मणोऽहमिति ब्रुवाणा ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नोऽहमिति मनसि कृत्वा ब्रुवते । किन्तु शरीरात्मतादात्म्याध्यासेनैव । तेनैव च श्रुत्युक्तमप्यर्थं गृह्णन्ति । अन्यथाऽनधीतयौष्माकीणवेदान्तप्रक्रियस्य ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नो यजेतेत्यर्थज्ञानरहितस्य यागे प्रवृत्तिरेव न स्यात् । न च स्वसंस्कारानुसारेण ब्राह्मणशरीराभिन्नं स्वं जानन् तथैव शाब्दबोधं कृत्वा यागे प्रवर्तत इति वाच्यम् । तथा सति स एव श्रुतेरर्थः । लोकव्यवहारसिद्धत्वाच्च शक्तिग्रहस्य । लोके ब्राह्मणादिपदं ब्राह्मणशरीरतादात्म्यापन्नात्मार्थकतया प्रयुज्यत इति स एव शक्यार्थः । अपि च देहदेहिभावविज्ञाने सति तादात्म्यं निवर्तेत । देहस्य जडत्वाद् देहिनश्चेतनत्वात्तादात्म्यानुपपत्तेः । तथा सति आत्मनः कर्तृत्वमपि निवर्तेत । "नायं हन्ति न हन्यतं" इति श्रुतिस्मृतिभ्यामात्मनः कर्तृत्वनिराकरणादिति कर्मानधिकार एव तस्येत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ८ ॥

वाजपेयेऽधिकारी स्यात् क्षत्रियो विप्रताभ्रमात् ।
नैवमध्यस्यते देहे विप्रता प्रातिभासिकी ॥ ९ ॥ [५९६]

पूर्वपक्षः—यदि ब्राह्मणत्वादिका आत्मामें अध्यास होने मात्र से ब्राह्मणो यजेत इत्यादि वचन प्रवृत्त होता है तो ब्राह्मणमध्यपालित किसी क्षत्रियको मैं ब्राह्मण हूँ ऐसी भ्रान्ति रही तो वह वाजपेयाधिकारी होगा—वाजपेयफलभागी बनेगा । नहीं । वहां क्षत्रिय शरीरमें ब्राह्मणत्वका भ्रम है । आत्मामें तो क्षत्रियशरीरका तादात्म्याध्यास है । ब्राह्मणत्वादिका आत्मामें अध्यास धर्मिपुरस्कारसे होता है । तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक

ब्राह्मणत्वादिविशिष्ट शरीरका तादात्म्याध्यास कर्मप्रयोजक है । न कि प्रातिभासिक ब्राह्मणत्वादिविशिष्टशरीरतादात्म्याध्यास । क्षत्रियकुंमारमें ब्राह्मणत्व व्यावहारिक नहीं, प्रातिभासिक है ॥ ९ ॥

ननु यद्यध्यासनिबन्धनब्राह्मणत्वादिकमादाय ब्राह्मणो यजेतेत्यादिवचनं प्रवर्तते तदा ब्राह्मणकुमारमध्यवर्धितपालितः क्षत्रियोऽपि वाजपेयेऽधिक्रियेत। तज्जन्यस्वर्गादिफलभोक्तृत्वं लभेतेति चेन्न । यतो न हि ब्राह्मणत्वमात्मनि साक्षादध्यस्यते । किन्तु धर्मिद्वारा । तत्र धर्मिणि शरीरे नास्ति ब्राह्मणत्वं क्षत्रियस्य । यत्तु प्रातिभासिकं ब्राह्मणत्वं तन्न कर्माधिकारप्रयोजकम् ॥ ९ ॥

व्यावहारिकविप्रादिदेहैक्याध्यासमाददत् ।
ब्राह्मणादिर्यजेतेति विधिरेष प्रवर्तते ॥ १० ॥ [५९७]

ब्राह्मणो यजेत इत्यादि विधिः व्यावहारिक विप्रत्वादिविशिष्टशरीरतादात्म्याध्यासको लेकर प्रवृत्त हुई है। उसीको लोकबुद्धिसिद्ध कहते हैं॥ १० ॥

किन्तु व्यावहारिकब्राह्मणत्वादिविशिष्टशरीरतादात्म्याध्यास एवेति न काप्यनुपपत्तिः । न च ब्राह्मणोऽहमित्यत्रात्मनि ब्राह्मणत्वधर्माध्यासोऽप्यस्ति तच्च न व्यावहारिकमिति वाच्यम् । शरीरगतब्राह्मणत्वस्य तत्र संसर्गाध्यासमात्रं स्वीक्रियते संनिकृष्टत्वात् । क्षत्रियस्य त्वसंनिकृष्टत्वाद् ब्राह्मणत्वधर्माध्यास एव । न चैवमन्यथाख्यातिवादापत्तिः । संसर्गाध्यासस्वीकारात् । परिभाषाकारप्रभृतयस्तु संनिकृष्टस्थलेऽन्यथाख्यातिं स्वीचक्रुरित्यन्यत् ॥ १० ॥

ननु तत्त्वमसीत्यादौ लक्षणा ते पदद्वये ।
सत्यं निरूढा दोषाय सोऽयमित्यादिवन्न नः ॥ ११ ॥ [५९८]

पूर्वपक्षः—शरीरशरीरिभावसे अभेदवर्णन नहीं मानेंगे तो तत्त्वमसि आदिमें दोनों पदोंमें जघन्या वृत्ति लक्षणा माननी होगी । उत्तरपक्षः—ऐसे स्थानोंमें निरूढलक्षणा ही होती है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' में । क्या वहां तद्देशस्थ देवदत्त एतद्देशस्थ देवदत्तका शरीर है ऐसा अर्थ कर सकेंगे ? निरूढ लक्षणाको दोष नहीं माना है । वह एक अगत्य है । राज्ञः पुरुषः

बोलनेपर लक्षणा नहीं है। राजपुरुषः कहनेपर लक्षणा है तो क्या वह दोषयुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

ननु भवन्मते तत्त्वमसीत्यादौ पदद्वयेऽपि लक्षणा कर्तव्येति महान् दोषः। मम त्वेकपदे लक्षणेति लाघवमिति चेन्न। सोऽयमित्यादौ भागत्याग-लक्षणाया पदद्वये दुर्वारत्वात्तादृशलक्षणाया निरूढत्वादप्रसिद्धलक्षणापेक्षया निरूढलक्षणाया एव श्रेयस्त्वादस्मन्मते दोषाभावात् ॥ ११ ॥

शाब्दबोधविलम्बश्च लक्षणादोष इष्यते।
न सोऽत्र भागत्यागैककालबोधसमुद्भवात् ॥ १२ ॥ [५९९]

लक्षणा क्यों जघन्यवृत्ति है? इसलिये कि शक्तिसे अर्थोपस्थिति के बाद तात्पर्यादिकी अनुपपत्ति होनेसे दुबारा लक्षणावृत्तिसे अर्थोपस्थिति करनेके बाद शाब्दबोध होता है, इसलिये शाब्दबोधमें विलम्ब ही दोष बीज है। भागत्यागमें दुबारा अर्थोपस्थितिकी जरूरत नहीं है क्योंकि तात्पर्यार्थ भाग उपस्थित ही है। अतः अनिष्टांशत्याग और शाब्दबोध एक ही साथ हो जायेगा ॥ १२ ॥

अपि च शाब्दबोधविलम्बो लक्षणाया दोषः। गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रथमं प्रवाहोपस्थितिस्तत्रान्वयतात्पर्ययोरभावेन शक्यसम्बन्धवृत्त्या द्वितीया तीरोपस्थितिः ततः शाब्दबोध इति शाब्दबोधविलम्बः स्पष्टः। इह तु विशिष्टोपस्थितौ विशेष्यस्याप्युपस्थितत्वान्न द्वितीयोपस्थितेरावश्यकता। तत्र यद्विशेषणं तत्त्यागमात्रं कर्तव्यम्। तत्त्यागकाले एव शाब्दबोधो जायते इति न शाब्दबोधविलम्बः ॥ १२ ॥

विशेषणमनन्वीय तात्पर्यादत एव हि।
विनैव लक्षणां प्राहुर्बोधं नैयायिकादयः ॥ १३ ॥ [६००]

इसीलिये नैयायिकादिने लक्षणा ही यहां नहीं मानी। सोऽयं इत्यादि स्थलमें विशेष्यभाग उपस्थित है ही। तात्पर्य न होने से विशेषणका अन्वय ही मत करो, झंझट ही खतम ॥ १३ ॥

घटमानयेत्यादौ द्वितीयार्थकर्मतायामाधेयतासम्बन्धेन घटाद्यन्वयः, घट-त्वस्य तु स्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयतासम्बन्धेन। तस्या आनयनक्रियायाम्।

सोऽयमित्यादौ तत्कालविशिष्टदेवदत्तस्याभेदेनायंपदार्थे तत्कालादिविशिष्ट-देवदत्तेऽन्वयः । तत्र च तात्पर्यविरहादेव तदन्वयो न भवति । एतत्काला-वच्छिन्नतत्कालावच्छिन्नाभेदविरहादविवक्षिततत्वं ज्ञायते । तावतैवोपपत्तौ भागत्यागलक्षणैव नावश्यकीति नैयायिकादयो वदन्ति । तथा च तन्मतेन शाब्दविलम्बाभावः स्पष्ट एव । वयं पुनरन्वीयमानपदार्थभानस्य शाब्दबोधे स्वीकारवैयर्थ्याद्विशुद्धबोधप्रत्यनीकत्वाच्च तं भागमेव त्यजाम इत्येतावन्मात्रं विशेषः । विशिष्टशुद्धयोर्भेदवादनये तु विशिष्टज्ञानकाले शुद्धविशेष्यो-पस्थितिरवश्यं वक्तव्या । अन्यथा नीलघटवानिति निश्चयोत्तरं घटो नास्तीति बुद्ध्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । गौडब्रह्मानन्दीयं मतं प्रागेव दर्शितम् ॥ १३ ॥

यत्तु तत्त्वमसीत्यादौ तन्मूलाद्यर्थतां जगुः ।
तन्न शाब्दविलम्बाच्च क्लिष्टत्वाच्चाप्यरूढितः ॥ १४ ॥ [६०१]

कुछ द्वैतवादी कहते हैं—एक ही पदमें लक्षणा करो । लाघव है । तत्त्वमसिमें तत् का अर्थ तन्मूल, तदायतनादि करो । वह भी अयुक्त है । शक्तिसे तात्पर्यार्थ उपस्थित न होनेसे वहां शाब्दबोधविलम्ब निश्चित है । और निरूढ लक्षणा न होनेसे अति क्लिष्ट भी । सोऽयं में तन्मूलकोऽयं ऐसा अर्थ है नहीं ॥ १४ ॥

द्वैतिमतेन एकपदलक्षणास्थले तु तत्त्वमसीत्यत्र तत्पदेन सर्वज्ञत्वादि-विशिष्टचैतन्योपस्थितिः । तस्य त्वंपदार्थाल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्येऽन्वयानुप-पत्तेस्तत्पदस्य तन्मूलत्वतदायतनत्वादौ लक्षणया द्वितीयतत्पदार्थोपस्थिति-रिति शाब्दबोधविलम्बः स्पष्टः । क्लिष्टश्च तादृशी लक्षणाऽप्रसिद्धत्वेनाऽ-निरूढत्वादिति ॥ १४ ॥

देहदेहिविधयैक्यभावना
ब्रह्मणोऽध्यसनमन्तरा कथम् ।
तादृगस्तु तव तद् वयं पुन-
र्मन्महे परमनिर्मलं महः ॥ ४९ ॥

तत्त्वमसि आदिमें देहदेहिभावसे एकताकी भावना जो कहते हैं आरोप अध्यासादिके विना संभव नहीं है। वैसे अध्यासी ब्रह्म आपके मतमें अर्थ हो। हम तो निर्मल शुद्ध चैतन्य ही अर्थ मानते हैं॥ ४९॥

इति तत्त्वमस्यादेरैक्योपदेशतात्पर्यम्

*****

(५०)

अथ शास्त्राधिकारिणो मुमुक्षोरुपपादनम्

अनादिसिद्धानिर्वाच्य-भेदोऽज्ञानावगुम्फितः।
जीवो मुमुक्षुर्बोधेऽस्मिन्नधिकारी निगद्यते॥ १॥ [६०२]

जीवेश्वरादिभेद अनादि है, अनिर्वचनीय है, इत्यादि पहले बता चुके। अज्ञानवान वही जीव मुमुक्षु होनेपर शास्त्रमें अधिकारी होता है। अत एव *ब्रह्म या साक्षी मुमुक्षु नहीं हो सकता। जीव तो प्रतिबिम्ब होनेसे उपाधि नष्ट होनेपर नष्ट होगा तो अपने नाशके लिये कौन यत्न करेगा इत्यादि आक्षेप निरर्थक है। जीवब्रह्मभेद अनिर्वचनीय है न कि जीव। उपाधि-वशात् चैतन्यमें प्रतिबिम्बत्व द्वित्वादि मिथ्या है। चैतन्य नहीं॥ १॥*

नन्वेवंविधबोधे को नामाधिकारी ? मुमुक्षुरिति चेत् ? कस्य मुमुक्षुत्वम् ? न ब्रह्मणः। अस्वीकारात्। तस्य नित्यमुक्तत्वात्। नापि साक्षिणः। साक्षित्वादेव दुःखाद्यसंस्पर्शात्। नाप्यन्तःकरणप्रतिफलितचैतन्यस्य। अविद्यातत्कार्यान्तःकरणनाशे तन्नाशात्स्वनाशेच्छानुपपत्तेः। नाप्यन्तःकरणस्य। तस्य जडत्वेन दुःखाद्यनुभवाभावात्। स्वनाशापत्तेश्चेति चेत् ? शृणु। यः संसारदुःखक्लिष्टस्तस्य मुमुक्षा युज्यते। ईश्वरादिप्रतियोगिकानादिसिद्धानिर्वाच्यभेदाश्रयश्चायं संसारी। तस्य मुमुक्षुत्वं घटते। अनादिषु षट्सु जीवतद्भेदादयः परिगणिताः॥ १॥

जीवे विशिष्टे यो भेदो नैवासौ पारमार्थिकः।
तस्माद् ब्रह्मात्मना तस्य कैवल्ये स्यादवस्थितिः॥ २॥ [६०३]

अविद्याविशिष्ट जीवमें ब्रह्मभेद है वह पारमार्थिक नहीं है। भेदनाश होनेपर जीव ब्रह्मरूपसे कैवल्यमें रहता है ॥ २ ॥

अविद्याविशिष्टे जीवे यो ब्रह्मभेदः स न पारमार्थिक इति मोक्षदशायां तस्यापि बाधाद् ब्रह्मात्मनावस्थितिर्भवति । विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यत इति सिद्धान्ते दण्डविशिष्टदेवदत्तस्य शुद्धाद् भेदेऽपि विशेषणपरित्यागे शुद्धैक्य-मेव भवति न तु नाशः । एवं विशेषणीभूताविद्यानाशे विशेष्यचैतन्यस्य ब्रह्मणा सहैक्यमेव भवति न तु नाशः ॥ २ ॥

दुःखिनो दुःखनाशस्य पुरुषार्थत्वमिष्यते ।
न तु दुःखिविनाशेन तस्य स्यादपुमर्थता ॥ ३ ॥ [६०४]

दुःखयुक्तके लिये दुःखनाश पुरुषार्थ होता है। उससे दुःखीका ही नाश हो जाये और अपुरुषार्थ हो जाये ऐसा नहीं होता है। आपके मतसे दुःखविशिष्टका दुःखनाश से नाश होनेपर अपुरुषार्थता अवश्य होगी ॥ ३ ॥

दुःखी देवदत्तो दुःखनाशाय यतते, दुःखनाशं च पुरुषार्थं मन्यते, इति सर्वलोकसिद्धम् । त्वन्मतेन तु विशेषणस्य दुःखस्य नाशेन विशिष्टस्य नाशात् कस्यायं पुरुषार्थः स्यात् ॥ ३ ॥

प्रतिबिम्बमते तस्य बिम्बैक्यमुपगम्यते ।
उपाधिस्थत्वभिन्नत्वप्रभृतिस्तु मृषेष्यते ॥ ४ ॥ [६०५]

प्रतिबिम्बवादमें बिम्ब और प्रतिबिम्बकी एकता है। दपर्णस्थत्व मुखभिन्नत्व आदि मिथ्या माना जाता है। जीवमें ब्रह्मभिन्नत्वादि भी वैसे मिथ्या है ॥ ४ ॥

ये त्वन्तकरणप्रतिफलितचैतन्यं जीवं मन्वते तेषां प्रतिबम्बबिम्बैक्य-मेव । दर्पणस्थत्वमूलमुखभिन्नत्वादिकं तत्र कल्पितम् । एवमन्तः-करणस्थत्वादिकम् । तस्य विगमेऽपि चैतन्यमवतिष्ठत ऐवति कथं स्वनाशापादनं युज्यते ॥ ४ ॥

स्यादाभासमते यद्यप्याभासो हि मृषा, परम् ।
जीवस्वरूपमाभासोपाधिबिम्बत्रयात्मकम् ॥ ५ ॥ [६०६]

आभासवादमें यद्यपि आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब मिथ्या है । किन्तु जीवका स्वरूप-आभास, उपाधि और बिम्ब ये तीन हैं ॥ ५ ॥

बाध्येते तत्र चाभासोपाधी बोधान्मृषात्मकौ ।
बिम्बब्रह्मैक्यमादाय तत्त्वमस्यादि सार्थकम् ॥ ६ ॥ [६०७]

इस मतमें आभास एवं उपाधि दोनों का भागत्याग तत्त्वमसिमें होता है ॥ ६ ॥

महाकाशादस्ति भेदो घटाकाशे हि कश्चन ।
नीयमाने घटे सोऽयं नीयते सजलादिकः ॥ ७ ॥ [६०८]

महाकाश और घटाकाशमें भी कुछ भेद है । घड़ेमें जल भरते हैं तो मृदंशमें जल भरा नहीं जाता । किन्तु घटमें जो आकाश है उसमें ही भरा जाता है । यदि वह महाकाश ही हो तो घटके ले जानेपर जलादि नहीं जायेगा । क्योंकि वह महाकाशमें है । महाकाश आता जाता नहीं है ॥ ७ ॥

अवच्छेदवादेऽपि महाकाशाद् घटाकाशादेरस्ति कश्चन भेदः । तथा हि घटावच्छिन्नाकाशे जलादिकं पूर्यते मृद्रूपघटे जलपूरणासंभवात् । तत्र घटे नीयमाने घटाकाशोऽपि नीयत एव । अन्यथा महाकाशे जलादिकं चेद् घटे नीतेऽपि तत्रैव महाकाशे जलादिकं तिष्ठेत् ॥ ७ ॥

न चात्यन्तभिदा युक्ता प्रत्यभिज्ञास्फुटेक्षणात् ।
तत्त्वमस्यादिभिर्जीवपरयोश्च स्वरूपतः ॥ ८ ॥ [६०९]

घटाकाश और महाकाशका अत्यन्त भेद भी ठीक नहीं । य एव महाकाशः स एव घटे घटाकाशः ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यह प्रात्यक्षिक बात है । तत्त्वमसिमें श्रुतिके कारण जीव और ब्रह्मकी स्वरूपतः प्रत्यभिज्ञा होती है ॥ ८ ॥

विशिष्टशुद्धयोरत्यन्तभेदस्तु न युक्तः । प्रत्यभिज्ञादर्शनात् । तत्वमसीत्यादीनां वाक्यानां जीवपरैक्यप्रदर्शनाच्च । तस्याः श्रुतेरन्यार्थकरणं त्वनुपदं प्रत्युक्तमिति न पुनरुत्थापनीयम् ॥ ८ ॥

अनाद्यनिर्वाच्यभिदासमुद्भवात् ।
दुरन्तदुःखाद् भवसन्धिबन्धनात् ।
मुमुक्षवो यं समशिश्रियुः शिवं
शिवाय सर्वाश्रयमाश्रयेम तम् ॥ ५० ॥

जीव और ब्रह्ममें अनादि अनिर्वचनीय भेद है । उसीके कारण संसारके साथ तादात्म्य हुआ जो बन्धनरूप है तथा ऐसे दुःखका कारण है जिसका अन्त स्वरूपज्ञानके विना असंभव है । इसी कारण मुमुक्षुओंने जिस मंगलदायी ब्रह्मरूपी शिवका आश्रयण किया उस शिवको अपने मोक्षके लिये हम आश्रयण करते हैं ॥ ॥ ५० ॥

इति शास्त्राधिकारिणो मुमुक्षोरुपपादनम्

*****

(५१)

अथ मुक्तनिर्विषयसंविन्निरूपणम्

लूनायां तेन बोधेनाऽज्ञानतत्कार्यसंहतौ ।
आनन्दैकरसा संविद् निर्विशेषा प्रकाशते ॥ १ ॥ [६१०]

तत्त्वमस्यादिसे उत्पन्न उक्तबोधसे जब अज्ञान एवं उसका कार्य संसार बाधित उच्छिन्न होता है तब ब्रह्मरूपी संवित् प्रकाशित होती है जो निर्विशेष है और आनन्दैकरस है ॥ १ ॥

यथोक्तरीत्याऽधिकारसंपन्नेन मुमुक्षुणा श्रवणादिभिः संपादितेन बोधेन अज्ञानतत्कार्यसंहतौ निर्लूनायां सत्यामानन्दैकरसा निर्विशेषा ब्रह्मशब्दिता संवित् मोक्षकाले प्रकाशते ॥ १ ॥

भास्यं जगत् स्वप्रभा सा संविन्नाटकदीपवत् ।
भासयेद् भास्यविरहे भाति निर्विषया स्वयम् ॥ २ ॥ [६११]

पूर्वपक्षः—संवित् हमेशा सविषय होती है । मोक्षमें संवित् हो तो विषय भी होगा, तत्प्रयुक्त दुःख भी होगा । उत्तरपक्षः—नाटकदीप जब तक प्रकाश्य वस्तु है तब तक उन्हें प्रकाशित करेगा । प्रकाश्य न हो तो

स्वयमेव प्रकाशित रहेगा । वैसे मोक्षकालमें विषय न होनेसे संवित् स्वयमेव प्रकाशित होती रहेगी ॥ २ ॥

ननु मोक्षकाले स्वयंप्रकाशा सा संवित् निर्विषया सविषया वा ? नाद्यः। संविदः सविषयकत्वनियमात् । न द्वितीयः । विषयसत्यत्वदुःखित्वादि-प्रसङ्गादिति चेन्न । निर्विषयैव मोक्षकाले सा भवति । तथा हि नाटकदीपः सत्सु नटादिषु तान् प्रकाशयति, तदभावे किंचिदप्रकाशयन्नेव स्वयं प्रकाशते, तथा संविदपि यो यो विषयः पुरस्तादुपतिष्ठते तं तं प्रकाशयति-विषयाभावे परानप्रकाशयन्ती स्वयमेव भासते । न च चित्तादात्म्यलक्षणं विषयत्वं स्वस्मिन्नेवास्त्विति वाच्यम् । स्वस्मिन् स्वतादात्म्यानुपंगमात् । तस्यापि कल्पितत्वेन विषयकाले एव तत्संभवात् ॥ २ ॥

घटादिवृत्तिः कृशिता वासनोद्बोधपीवरा ।
साक्षिभास्या स्मृतिर्नात्र घटादिर्भास्यते चिता ॥ ३ ॥ [६१२]

पूर्वपक्षः—वर्तमानमें विषय न होनेपर भी भूतार्थविषयक स्मरण होता है वैसे मोक्षमें भी भूतार्थविषयता संवित्में होगी, वह निर्विशेष नहीं हो सकती । उत्तरपक्षः—घटाद्याकारवृत्ति विषयापसरण होनेपर प्रथम कृश हो जाती है । वही वासना है । फिर उद्बोधकके होनेपर वही स्थूल हो जाती है । तब साक्षी उसे भासित करता है । उसीको स्मृति कहते हैं । उसमें घट विषय है ही नहीं । वृत्ति ही विषय है । मोक्षमें वृत्ति नहीं, वासना नहीं, क्यों सविशेष होगी ? ॥ ३ ॥

ननु विषयविरहेऽपि भूतार्थस्मरणादिदर्शनाद्, विषयविरहेऽपि सविषयत्वं कथं न संविद इति चेन्न । एवं सति धनरहितस्यापि भूतपूर्वधनेन श्रेष्ठित्वं जनानां स्यात् । न च भूतार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सविषयत्वं संविदः कल्प्यत इति वाच्यम् । भूतार्थानुभवजनितत्तदाकारसंस्कारोद्भूतवृत्ति-विशेषस्यैव वर्तमानस्य चैतन्येन प्रकाशनात् । विषयसंसर्गेण जायमाना विषयाकारवृत्तिस्तत्संसर्गविगमेऽन्तःसूक्ष्मतां प्रतिपद्यमाना संस्कार इति वासनेति च कथ्यते । सैवोद्बोधकसमवधानेन विकासमासाद्य चैतन्यप्रकाशे प्रकाशते । विषयाकारत्वाच्च घटादिरूपेण सा भासत इति घटादिस्मृति-रित्युच्यते । न तु तदानीं घटादयः साक्षिणा भास्यन्ते ॥ ३ ॥

भूतं भावि च मायायां सद्वादे वासनात्मना ।
वर्तते तच्च पश्यन्तः सर्वज्ञा ईश्वरादयः ॥ ४ ॥ [६१३]

पूर्वपक्षः—यदि भूतार्थादिविषयक ज्ञान नहीं होता तो ईश्वर एवं योगी सर्वज्ञ कैसे ? उत्तरपक्षः—मायामें वासनारूपसे भूतार्थ एवं भावी अर्थ रहते हैं । उन्हींको देखकर ईश्वरादि सर्वज्ञ होते हैं ॥ ४ ॥

ननु ईश्वरो योगिप्रभृतयश्च भूतं भावि च साक्षात्कुर्वन्तीति प्रसिद्धम् । तथा च विषयविरहेऽपि तत्साक्षात्कारो न विरुद्ध इति चेन्न । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति सिद्धान्तान्मायायां भूतानि भविष्याणि च वासनात्मना वर्तन्ते इति तद्दर्शनेनैवेश्वरप्रभृतीनां सर्वज्ञत्वम् । न त्वविद्यमानस्यासतो दर्शनेन । सामान्यजनानां तु ज्ञानमात्रं सूक्ष्मभावेन वासनात्मना स्थितमुद्बोधवशेन पीवरितं प्रकाशते न त्वन्यदिति न सार्वज्ञ्यम् । मोक्षकाले स्थूलसूक्ष्मसकलाविद्यानिवृत्तेः कथं तद्दर्शनं स्यात् । चित्तविरहेण वृत्तिविरहात्तद्दर्शनाऽसंभवाच्च ॥ ४ ॥

तन्मूलाऽज्ञानबाधाच्च बोधेनात्मावतिष्ठते ।
कार्याभावान्निर्विषया संविद् ब्रह्मात्मना स्वयम् ॥ ५ ॥ [६१४]

सकल जगत्का मूल अज्ञान है । बोधसे उसका बाध हो गया तो संस्कार (वासना) एवं अज्ञानकार्य जगत् दोनों नहीं रहते तो आत्मा निर्विषयसंवित् ब्रह्मरूपसे रहती है ॥ ५ ॥

सकलजगन्मूलमज्ञानम् । तच्च बोधेन बाध्यते । ततश्च स्थूलरूपेण वासनारूपेण च कार्यस्य जगतोऽविद्यमानत्वादवशिष्यमाणा संविन्निर्विषयैव भवितुमर्हति । तदेव ब्रह्म । तदात्मना च पुरुषो मोक्षेऽवतिष्ठत इति । वस्तुतस्तु विशिष्टाद्वैतिप्रभृतिमते जीवस्य निर्विषयसंविद्रूपत्वान्निर्विषयसंविदोऽप्रसिद्ध्या निराकरणं तैर्न कर्तुं शक्यते । तेषां प्रकाशप्रसरणादिकमवैदिकमयौक्तिकं च यदभिमतं तदेव निरस्तम् । अन्यद् गतार्थम् ॥ ५ ॥

जीवो निर्विषयज्ञानलक्ष्माऽवोचि परैरपि ।
निरस्तं पूर्वमेवास्य प्रभाप्रसरणादिकम् ॥ ६ ॥ [६१५]

प्रतिपक्षीमें भी जीवात्माको निर्विषय स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप माना है। अतः उनका पूर्वपक्ष निरर्थक है। जीवकी प्रभा फैलती है इत्यादिका निराकरण पहले ही किया जा चुका है। अन्य सभी पूर्वपक्ष पहले प्रसङ्गोंमें निरस्त हो चुके हैं। अतः व्यर्थ उसका कथन पुनरुक्तिमात्र होगा ॥ ६ ॥

परानन्दसन्दोहपीयूषसिन्धुं
स्थितः स्वप्रभं प्राप्य मुक्तौ स्वरूपम्।
अपेक्षेत बाह्यान् किमर्थं कदर्था-
नहो चञ्चला दुर्भरा दुर्धियां धीः ॥ क ॥

मोक्षमें परमानन्द सुधासागर स्वयंप्रकाश स्वरूपको प्राप्त हुए संत बाह्य दुःखात्मक वस्तुओंकी अपेक्षा क्यों रखेगा ? सचमुच मोक्षमें भी विषयोंको ढूंढनेवाले दुर्बुद्धियोंकी चञ्चलबुद्धिका भरण अत्यन्त कठिन है।

नमस्तस्मै भगवते मायाजालवितायिने।
यन्मायामूढमतयो मुक्तौ च विषयैषिणः ॥ २० ॥ ॥ ५१ ॥

माया जाल फैलानेवाले उस भगवानको हम प्रणाम करते हैं, जिसकी मायासे मोहित मनुष्य मुक्तिमें भी विषयोंको चाहते हैं ॥ ५१ ॥

इति मुक्तनिर्विषयसंविन्निरूपणम्।

*****

(५२)

अथ सगुणनिर्गुणश्रुतितात्पर्यवर्णनम्

उपास्यं ब्रह्म सगुणं मायोपाधिकमुच्यते।
निर्गुणं ब्रह्म विज्ञेयं निरुपाधिकमुच्यते ॥ १ ॥ [६१६]

उपासनाका विषय सगुणब्रह्म मायोपाधिविशिष्ट है। और विज्ञान-विषय ब्रह्म निर्गुण है, निरुपाधिक है ॥ १ ॥

शास्त्रेषु 'यः सर्वज्ञः', 'सत्यकामः सत्यसंकल्प' इत्याद्यानि सगुणवाक्यानि "निर्गुणं निष्क्रियम्", "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" 'अस्थूलमनण्वि'त्यादीनि निर्गुण-वाक्यानि चोपलभ्यन्ते । तत्र सगुणवाक्यानि मायोपाधिकं ब्रह्म ईश्वरापर-पर्यायं विषयीकुर्वन्ति । तेषु च व्यावहारिकसत्त्वं परोक्तपरमार्थापरपर्यायं चोपगम्यते । निर्गुणवाक्यानि तु निरस्तसकलोपाधिकं परं ब्रह्म विषयी-कुर्वन्तीति न विरोधगन्धलेशः । तत्र सर्वविकल्परहितपारमार्थिकसत्य-त्वपर्यन्तं द्वैतिनो गन्तुं न प्राभूवन्नित्यन्यदेतत् ॥ १ ॥

मोक्षोक्तिः सगुणध्यानादुद्देश्यत्वात् क्रमाद् भवेत् ।
पारम्पर्यात् फलं मोक्षः स्वीकृतं कर्मणामपि ॥ २ ॥ [६१७]

सगुणध्यानसे मोक्षकथन मोक्षको उद्देश्य रखकर करनेके लिये है। उससे क्रमशः मोक्ष होता है। (सकाम हो तो मोक्ष नहीं होता) बल्कि कर्मका भी परम्परया मोक्षफल माना है (यदि फलकामना न हो) ॥ २ ॥

ननु सगुणध्यानादिनापि मोक्षवर्णनान्न सगुणनिर्गुणयोर्भेदः । प्राकृताऽ-प्राकृतयोरेकतराऽसत्त्वापरसत्त्वपरतया व्यवस्थोपपत्तेरिति चेन्न । सगुण-ध्यानादेरपि मोक्षमुद्दिश्य क्रियमाणत्वात् ज्ञानोत्पत्तिपरम्परया मोक्षसा-धनत्वाच्चोपपत्तेरर्थसंकोचानौचित्यात् । किं बहुना कर्मणामपि चित्तशुद्धि-ज्ञानपरम्परया मोक्षफलत्वमभ्युपगच्छामः ॥ २ ॥

निर्गुणश्रुतितो बाधो नेष्यते सगुणश्रुतेः ।
सगुणोक्तिरुपास्त्यर्था नैर्गुण्यं पारमार्थिकम् ॥ ३ ॥ [६१८]

पूर्वपक्षः—निर्गुण श्रुतिसे सगुण श्रुतिका बाध माननेकी अपेक्षा प्राकृत गुणशून्यत्व या श्रुत्युक्तगुणातिरिक्त गुणशून्यत्वादि अर्थ निर्गुणपदार्थ मानना उचित है। उत्तरपक्षः—दोनों श्रुतियोंका विषय भिन्न है। उपासनार्थ सगुण श्रुति है। निर्गुण श्रुति तात्त्विकस्वरूपवर्णनार्थ है ॥ ३ ॥

वस्तुतस्तु निर्गुणश्रुत्या न सगुणश्रुतिबाधं मन्यामहे । किन्तु गुणादीनां कल्पितत्वेन बाधितत्वं तथापि व्यावहारिकत्वमेव तदुपादाय सगुणश्रुतिः प्रवृत्तान्तःकरणशुद्ध्यादिहेतूपास्तिविधानायेत्येव तत्त्वम् ॥ ३ ॥

अप्राकृतगुणस्तत्र नास्तीत्यर्थो न युज्यते ।
प्राकृताऽप्राकृताशेषगुणानां तत्र कल्पनात् ॥ ४ ॥ [६१९]

निर्गुण श्रुतिका ब्रह्ममें प्राकृत गुणका अभाव अर्थ नहीं है । क्योंकि प्राकृत हो, अप्राकृत हो सभी गुण ब्रह्ममें ही कल्पित हैं ॥ ४ ॥

सर्वगन्धः सर्वरसः पुमान् सर्वमयस्तथा ।
इति सर्वगुणादीनां श्रुत्या तत्रैव वर्णनात् ॥ ५ ॥ [६२०]

सर्वगन्धः सर्वरसः इत्यादि श्रुति समस्त गुणोंको ब्रह्ममें ही बताती है ।

किं च ब्रह्मण्युक्तगुणातिरिक्तगुणाऽप्रसिद्धिरेव । "सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वकाम" इति सर्वेषां तत्राभिधानात् । "स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय" इत्युपक्रम्य "सर्वमय" इत्युक्तेः सर्वस्यैव कार्यजातस्य तत्रैव श्रुत्या स्वीकाराच्च । यथा "इत्येतत्सर्वं मन एवे"ति कामादेर्मनोधर्मत्वोक्तिस्तथा "इदं सर्वं यदयमात्मे"ति सर्वस्यात्मत्वोक्तेश्च ॥ ५ ॥

श्रुतेतरगुणाभावपरत्वं निर्गुणश्रुतेः ।
इत्यप्ययुक्तं यद्भिन्नविषयं तच्छ्रुतिद्वयम् ॥ ६ ॥ [६२१]

श्रुतिमें कथित गुणोंसे अतिरिक्त गुणराहित्य निर्गुणश्रुतिका अर्थ है यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि सगुणश्रुति उपासनार्थ व्यावहारिक गुणकथन करती है । निर्गुण श्रुति तत्त्वकथन करती है ॥ ६ ॥

न ह्ययं धनी निर्धन इति क्वचित्प्रयुज्यते । शक्यते तत्रापि व्याख्यातुं तद्व्यक्तिस्वामिकधनातिरिक्तधनरहितवानयमिति । तस्मात्तत्रोक्तगुणातिरिक्त-गुणशून्यत्वादिपरत्वमप्ययुक्तमेव ॥ ६ ॥

व्यावहारिकगुणैः सगुणः स्या-
न्निर्गुणश्च परमार्थत ईशः ।
सत्रपां न कुरु संकुचितास्यां
नग्नवाग्भिरभिक ! श्रुतिमम्बाम् ॥ क ॥

व्यावहारिक गुणोंसे ब्रह्म सगुण है । और परमार्थतः परमात्मा निर्गुण है । निर्गुण श्रुतिका संकोच कहना तो तुम्हारी नग्न वाणी है । तुम

फलकामना छोड़ नहीं सकते हो। इससे श्रुतिको लज्जित कर संकुचित-मुखा मत बनाओ।

उपास्तये यस्य गुणान् जगाद
स्वरूपबोधाय च निर्गुणत्वम्।
श्रुतिस्तमेतं पुरुषं महान्तं
विभावयामो भवबन्धमुक्त्यै॥ ५२॥

श्रुतिने विशेष गुण क्यों कहा ? उपासनार्थ। सामान्यसर्वगुणनिषेध स्वरूपबोधार्थ कहा। उस महान् पुरुष ब्रह्मको भवबन्धनसे मुक्ति पानेके लिये उपासनाके साथ श्रवणमननादिसे विभावना करते हैं॥ ५२॥

इति सगुणनिर्गुणश्रुतितात्पर्यम्

*****

(५३)

अथ ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वसिद्धिः

ब्रह्मोपादनकं विश्वं वाचारम्भणलक्षणम्।
मृषैव मृदुपादानं विकारो मृन्मयं यथा॥ १॥ [६२२]

'वाचरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं' यह श्रुति उपादान-मात्र सत्य है, कार्य मिथ्या है, इसमें मृत् एवं मृन्मयका दृष्टान्त कहती है। अतएव ब्रह्मोपादनक जगत् मिथ्या है॥ १॥

मृदोऽतिरिक्तं न किंचिदपि वस्तु सूक्ष्मार्थदर्श्युपनेत्रवतापि घटे शक्यते द्रष्टुम्। न ह्यहिकुण्डलमहेर्भिन्नं भवितुमर्हति। किं तर्हि घटोऽसन्नेवेति ब्रवीषि ? मैवम्। जलाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वस्य मृच्चूर्णादावदृश्यमानस्य घटे समुपलम्भात्। तथा च न मृदोऽत्यन्ताभिन्नो नापि मृदोऽत्यन्तभिन्नः, न पृथक् सत् नापि सर्वथाऽसदित्यनिर्वचनीयो मृदि घटः। अनिर्वचनीयत्वं च मिथ्यात्वम्। एवं ब्रह्मोपादानकं विश्वमिदं न ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्नम्। सद्रूपं हि ब्रह्म। न हि सदतिरिक्तं किंचिद्विश्वस्मिन्नसदात्मकमस्ति। नाप्यत्यन्ता-

भिन्नं सुखदुःखशोकमोहादिकार्योपलम्भात् । तथा चानिर्वचनीयं मृषैव । तथा च श्रुतिः "सदैव सोम्येदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजत" । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति । तत्सत्यं तदेव सत्यम् । मृत्तिकेत्येव सत्यमिति दृष्टान्तानुरोधात् ॥ १ ॥

तज्ज्ञानात्सर्वविज्ञातेर्दृष्टान्तेनोपपादनात् ।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेः प्रकृतिः कर्तृ चैव तत् ॥ २ ॥ [६२३]

प्रश्नः—किन्तु ब्रह्म निमित्तमात्र है या उपादान भी ? उत्तरः—श्रुति कहती है—"यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं" ब्रह्मको जाननेसे सबका ज्ञान होता है इसीमें मृत् मृन्मय दृष्टान्त दिया । अतः उपादान भी है ॥ २ ॥

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"ति सूत्रयताऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं ब्रह्मणः स्थापितं सूत्रकृता । "यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातमि"ति श्रुतेरन्यज्ञानेनान्यविज्ञानासंभवादुपादानत्वं ब्रह्मणः सिद्धम् । तत्तेजोऽसृजतेति स्पष्टं सृष्टिकर्तृत्वमुदीरितम् । यद्यपि कर्तृत्वलक्षणं निमित्तत्वं शुद्धे ब्रह्मणि न संभवति । तथापि चेतन विना मायाया कर्तृत्वासंभवाद् ब्रह्मण्येव कर्तृत्वमध्यारोपितं स्वीकर्तव्यम् । तच्च व्यावहारिकमिति न तेन कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिः । यथा हि सर्वं व्यावहारिकं जगद् ब्रह्मणि कल्पितं तथा तदनुरूपं कर्तृत्वमपि तत्र कल्पितमस्तु का व्यथा । तथा चाहुः सुरेश्वराचार्याः "अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितमि"ति । तथा निमित्तत्वमपि सिद्धं भवति ॥ २ ॥

आरोपकल्पकपदे प्रातिभासिकवस्तुषु ।
सृष्टिस्रष्टृपदे चैव व्यावहारिकवस्तुषु ॥ ३ ॥ [६२४]

पूर्वपक्षः—यदि जगत् मिथ्या है, आरोपमात्र है तो "जन्माद्यस्य यतः" न कहकर "आरोपोऽस्य यतः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये था । श्रुतिमें "यतो वा इमानि भूतानि कल्प्यन्ते" ऐसा कहना चाहिये था । उत्तरपक्षः—प्रातिभासिक वस्तुके लिये आरोप कल्पना आदि पदका प्रयोग होता है । व्यावहारिक वस्तुके लिये सृष्टि, जन्म आदि प्रयोग होता है । अर्थ वही है ॥ ३ ॥

ननु जगतो मिथ्यात्वे आरोपोऽस्य यत इति सूत्रणीयमासीत् । न तु जन्माद्यस्य यत इति, श्रुतावपि यतो वा इमानि कल्प्यन्त इत्यादि प्रयोग उचित आसीत् । प्रयुक्तस्तु जायन्ते तत्तेजोऽसृजतेत्यादिः शब्दो, जन्माद्यस्य यत इति चेति न मिथ्यात्वं श्रुतेः सूत्रकृतो वाऽभिमतं जगत इति चेन्न । प्रातिभासिकस्थले कल्पयतीत्यादिः प्रयोगः प्रायः । व्यावहारिकस्थले व्यवहारानुरोधेन सृजतीत्यादिप्रयोगस्तथा । अन्यथा सृजतीत्यादिप्रयोग एव न स्यात् । भवन्मतेऽप्यसतः सद्भावविरहात् । सांख्यादिमतेऽपि सृजतीत्यादेरभिव्यञ्जयतीत्यर्थः । मन्मते कल्पयतीत्यर्थः । स्वप्नं पश्यतः घटमहमुदपादयम् । शत्रुमहनमित्यादिप्रयोगश्च भवत्येव ॥ ३ ॥

किं च धाता यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुतौ ।
श्रूयते कल्पनैवास्य जगतो धातृकर्तृका ॥ ४ ॥ [६२५]

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस श्रुतिमें जगतकी कल्पना ही कही है ।

किं च यदि कल्पनादिपदे भवतामाग्रहस्तदा तदपि श्रुत्यन्तरे द्रष्टुं शक्यम् । "धाता यथापूर्वमकल्पवद् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व" इति ॥ ४ ॥

कल्पनातः पुरा सर्पो रज्जुरेवाभवद्यथा ।
जगदेतत् सदेवासीदेकमेवाद्वयं तथा ॥ ५ ॥ [६२६]

कल्पनासे पहले सर्प रज्जु ही था । इसी प्रकार कल्पनासे पूर्व जगत् (सत्) ब्रह्म ही था । यही "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" का अर्थ है ॥ ५ ॥

धाता समष्टिचैतन्यरूपः समष्टिमायोपाधिक इति न विस्मर्तव्यम् । कल्पनातः पूर्वं सर्पो रज्जुरेवासीदितिवत् "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"ति श्रुतिर्ब्रवीति । सर्वस्यापि जगतः कल्पितत्वमेवेत्याशयेनाह—"एकमेवाद्वितीयमिति" ॥ ५ ॥

अनादेरपि जीवादेः सादित्वमिव मिन्वती ।
पुरेत्याहाद्वयत्वार्थं कल्पनाविरहस्थितौ ॥ ६ ॥ [६२७]

जीव, ईश, अविद्या आदि यद्यपि अनादि है तथापि कल्पित होनेसे सादित्व जैसे जोड़ते हुए "पुरा" यह शब्दप्रयोग श्रुतिमें आया । जैसे

कल्पित नाना चन्द्रमासे पहले एक ही चन्द्रमा था कहा जाता है। परमार्थतः अद्वैत है, यही श्रुतिका तात्पर्य है ॥ ६ ॥

यद्यपीशजीवादयः सर्वेऽपि षडनादयस्तथापि यद्येते सादयः स्युः तदा किं रूपमभविष्यद् इत्येतद् दर्शयितुं सादित्वमिव कल्पयन्ती श्रुतिरेकमेवाद्वितीयमित्याह। तदेव स्वरूपं कल्पनापक्षे संप्रत्यपीति तदभिप्रायः। सृष्टिकालेऽपि यद्यप्यद्वितीयत्वमेव तथापि सृष्टौ प्रत्यक्षीक्रियमाणायां न सहसा तदद्वितीयत्वं शक्यं विज्ञातुमिति सृष्टिपूर्वपर्यन्तगमनमिति। कल्पनाविरहे यथाऽद्वयत्वं तथा कल्पनायामपि वस्तुतोऽद्वयत्वमेवेत्यर्थः ॥ ६॥

असतो न जगज्जन्म नानुवृत्तिर्यतोऽसतः।
तद्धैक आहुरिति हि श्रुतिरेतद्धि भाषते ॥ ७ ॥ [६२८]

असतसे जगतकी उत्पत्ति नहीं होगी। अतएव मायासे ही जगतकी उत्पत्ति मान लो, ब्रह्मकी क्या जरूरत यह प्रश्न नहीं हो सकता। माया सदसद्भिन्न है। यही "तद्धैक आहुरसदेव" इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है। यदि असत् उपादान हो तो सर्वत्र नास्तिकी अनुवृत्ति होती ॥ ७ ॥

ननु मायया कल्पनया जगदिदमुत्पद्यते तदा सतो ब्रह्मण उपादानत्वकल्पना वृथैव कर्तृत्वस्यापि मायायां कल्पनया स्वीकर्तुं शक्यत्वात्। तथा च शून्यवाद इति चेन्न। न ह्यसतः सदुत्पत्तिरसति सत्कल्पना वा। अधिष्ठानं विना कल्पनानुपपत्तेः। तथा सति सर्वत्र सदनुवृत्तिप्रसङ्गाच्चेत्याह 'तद्धैक आहुरसदेवे'त्यादिना श्रुतिः ॥ ७ ॥

किं चेयं कल्पयेन्माया नैवाधिष्ठानमन्तरा।
न रज्जुमन्तराऽविद्याऽसति सर्पादि कल्पयेत् ॥ ८ ॥ [६२९]

दूसरी बात, अधिष्ठानके विना माया जगतकी कल्पना नहीं कर सकती। जैसे रज्जुके न होनेपर अविद्या सर्प, माला आदिकी कल्पना नहीं करती ॥ ८ ॥

अपि चाधिष्ठानं विना माया न जगदिदं कल्पयितुमर्हति। न ह्यविद्या रज्जुं विनैवासति सर्पादिकं कल्पयति ॥ ८ ॥

अनादिकल्पितां मायामादायावोचत श्रुतिः ।
तद्धेदं सर्वमेवासीत्तर्ह्यव्याकृतमित्यसौ ॥ ९ ॥ [६३०]

माया अनादि कल्पित है । उसीको लेकर श्रुतिने कहा यह सब तब अव्याकृत ही था ॥ ९ ॥

जगतः कल्पितत्वात् कल्पनायाः सामान्यतः पूर्वं किमासीदिति वदन्ती श्रुतिः "सदेव सोम्ये"त्यादिमाह । किन्तु मायाया अनादिकल्पितत्त्वात्तस्या अवश्यंभावमाशयाना श्रुतिस्तां पुरस्कृत्याह–"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते"ति ॥ ९ ॥

सत्तादात्म्यमुपादाय सदेवेदमितीरितम् ।
तदभावेऽसदेवेदमित्यन्या वदति श्रुतिः ॥ १० ॥ [६३१]

सत्तादात्म्यको लेकर "इदं सदासीत्" कहा । सत्तादात्म्य भी मिथ्या है इसलिये "इदं पुराऽसदासीत्" ऐसा कहा, यह भी व्याख्या है । असत्का अव्याकृत अर्थ भी माना है ॥ १० ॥

किं च श्रुतिः कार्यात्मना कल्पनाविरहकाले केवलं सत्तादात्म्यमादाय "सदेवेदमग्र आसीदि"त्याह । सत्तादात्म्यमपि कल्पितमेव तस्यापि विरहे कीदृक् स्वरूपमिति जिज्ञासाया"मसदेवेदमग्र आसीदि"त्याह । सत्तादात्म्यबाधे संप्रत्यसदेव जगदिदम् । एवमन्तेप्यसदेव । न हि जगद्ध्वंसः पृथक् ततो मन्तव्योऽस्तीति तदभिप्रायः । न च सत्तादात्म्यध्वंस एवातिरिक्तः स्यादिति वाच्यम् । तस्यापि कल्पितत्वेन कल्पनाविरहेऽसद्रूपत्वात् । इत्येवं सर्वासां श्रुतीनामस्मन्मते सामञ्जस्यम् ॥ १० ॥

विशिष्टाद् ब्रह्मणः सत्यं विशिष्टं जगदुद्भवेत् ।
इत्यसन्निर्विकारान्न ब्रह्मणस्तद्धि युज्यते ॥ ११ ॥ [६३२]

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म पैदा होता है ऐसा मत अयुक्त है । क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है ॥ ११ ॥

केचित्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मणो जगज्जन्म जगुः । तदसत् । ब्रह्मणो निर्विकारत्वस्य स्वयमभ्युपगमात्तद्विकाररूपेण जगज्जन्मानुपपत्तेः । ननु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्मोत्पत्तिः संभवति ।

विशेषणस्य सविकारत्वादिति चेन्न । चितो जीवात्मनोऽणुरूपत्वात् स्थूलत्वानुपपत्तेः ॥ ११ ॥

स्थूलतोयादिसंयोगात् सूक्ष्मबीजेऽङ्कुरो भवेत् ।
सृष्टिकाले च किं स्थूलं सूक्ष्मस्थौल्यं भवेद्यतः ॥ १२ ॥ [६३३]

बीजमें अंकुर सूक्ष्म है । उसकी स्थूलता स्थूलजलादिसंयोगसे होती है । सृष्टिपूर्वकालमें स्थूल वस्तु क्या थी ? ॥ १२ ॥

अचिदपि कथं स्थूलतां प्रतिपद्यताम् । बीजादिस्थितस्य सूक्ष्मस्याङ्कुरस्य स्थूलजलादिसंयोगेनैव स्थौल्यदर्शनात् । सृष्टिपूर्वं स्थूलवस्तुविरहेण सूक्ष्मवस्तूनां स्थौल्यानुपपत्तेः । न च परमेश्वरेच्छया स्थौल्यमापद्यत इति वाच्यम् । संप्रत्यपि परमेश्वरेच्छयैव बीजे सूक्ष्मस्थिताङ्कुरः स्थौल्यं प्रतिपद्यतां किमर्थं जलसेचनादिकं कर्तव्यम् । क्वचित्केवलेश्वरेच्छया क्वचिज्जलसेकादिसहकारेणेति त्वनिर्वचनीयवादचरणावलम्बनमेव ॥ १२ ॥

वैशेषिकमतेनेदमसदुत्पद्यते यदि ।
विशिष्टयोस्तदाऽद्वैतं न संभवितुमर्हति ॥ १३ ॥ [६३४]

यदि वैशेषिकमतानुसार अणुसंयोगसे असत् स्थूलकी उत्पत्ति हो तो सूक्ष्मविशिष्ट और स्थूलविशिष्टका अद्वैत नहीं होगा । क्योंकि वे कारणसे कार्यको भिन्न मानते हैं ॥ १३ ॥

वैशेषिकमतानुसारेण पुनरसदुत्पत्तेर्विशिष्टयोरद्वैतं न सिद्ध्यति ॥ १३ ॥

प्राप्तऽप्राप्तविवेकेन विशेषणनिदानता ।
जगतःस्यात्ततो नैव प्रकृतिश्चेति युज्यते ॥ १४ ॥ [६३५]

सूक्ष्मजगद्विशिष्ट ब्रह्मसे स्थूलजगद्विशिष्ट ब्रह्म उत्पन्न होता है । ब्रह्म तो उत्पन्न होता नहीं । विशेषण ही सूक्ष्मसे स्थूल होता है । तब सूक्ष्म जगत् ही उपादान हुआ । ब्रह्म नहीं ॥ १४ ॥

किं च विशेषणसत्त्वे हि जगज्जन्महेतुत्वं ब्रह्मणो, न तु विशेषणविरहे । तथा च प्राप्ताऽप्राप्तविवेकेन विशेषणीभूतसूक्ष्माचिदुपादानतैव जगतः पर्यवस्यति । न च विशेष्यविरहेऽपि जगज्जन्मानुपपत्तेस्तत्राप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वं स्यादिति वाच्यम् । स्यादेव कारणत्वं तार्किका-

दीनामिव निमित्तलक्षणम् । उपादानं तु प्रधानं प्रकृतिरेव भवति । न हि कुलालेन विना घटो न भवतीत्येतावता मृद इव कुलालस्याप्युपादान-कारणत्वं केनाप्यङ्गीकृतम् । न च तत्र मृदः कुलालस्य च पृथगेव कारणत्वमिति वैषम्यमिति वाच्यम् । अत्रापि प्रकृतेः पुरुषस्य च पृथगेव लाघवेन कारणत्वात् । अन्यथा विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेन गुरुतर-कारणतावच्छेदकद्वयप्रसङ्गात् । न च शरीरशरीरिभावेन विशिष्टैक्यमिति वाच्यम् । तावन्मात्रस्याकिंचित्करत्वात् । वैशिष्ट्यस्य कारणतावच्छेदक-कोटौ प्रवेशवैयर्थ्यात् । चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरमिति शरीरलक्षणस्य विरहेण "यस्य पृथिवी शरीरमि"त्यादेः पृथिव्यादिषु सूक्ष्मरूपेण व्याप्तत्व-मादायौपचारिकप्रयोगमात्रतायाः प्रागेवोपपादितत्वाच्च । अन्यथा शरीर-दर्शनमात्रेण देवदत्तो दृष्ट इतिवत् पृथिव्यादिदर्शनमात्रेण परमात्मा मया दृष्ट इति व्यवहारापत्तेः ॥ १४ ॥

मृद्विशिष्टकुलालो न घटकारणमिष्यते ।
पृथ्व्यादेर्देहता भाक्ता व्याप्तेरेवेश्वरं प्रति ॥ १५ ॥ [६३६]

घटके प्रति मृद्विशिष्टकुलाल कारण नहीं माना जाता । पृथिवी आदि परमात्माका शरीर है ऐसा जो कहते हैं सो भी व्यापकरूपसे पृथिवी आदिमें रहनेके कारण लक्षणया कहा जाता है । अतएव शरीरविशिष्ट आत्मा कारण हो सकता है ऐसी भी युक्ति जमेगी नहीं ॥ १५ ॥

न हि मृद्विशिष्टकुलालस्य घटकारणता । पृथक्कारणतायामेव लाघवात् । वैशिष्ट्यस्य कारणतावच्छेदककोटिप्रवेशात् । नित्यसम्बन्धत्वमकिंचित्करम् । स्वभावप्राप्तनित्यसम्बन्धस्याप्रयोजकत्वमेव । शरीरशरीरिभावेनैक्यादीश्व-रत्वावच्छिन्नोभयगतकारणतेति त्वसत् । पृथिव्यादौ व्यापकत्वेन तच्छ-रीरताया भाक्तत्वात् । चेष्टेन्द्रियादिविरहात् ॥ १५ ॥

यूनः शिशुरुपादानमित्ययुक्तं निदर्शनम् ।
शिशुर्युवानं सृजतीत्येवं किं कोऽपि जल्पति ॥ १६ ॥ [६३७]

शिशुशरीरविशिष्ट आत्मा ही युवाशरीरविशिष्ट आत्माका उपादान है, यह दृष्टान्त भी असंगत है । शिशु युवाको जन्म देता है ऐसा कोई

पागल भी नहीं कहेगा। मृत्तिका घटको जन्म देती है ऐसा व्यवहार होता है ॥ १६ ॥

यत्तु सूक्ष्मचिदचिद्वशिष्टात्मनः स्थूलचिदचिद्विशिष्टकारणत्वे निदर्शनं बालो युवानं प्रति कारणमिति। बालशरीरं किंचित्सूक्ष्मम्। युवशरीरं स्थूलमिति। तदसत्। ईश्वरो जगत् सृजतीतिवद् बालो युवानं सृजतीति प्रयोगापत्तेः ॥१६ ॥

उपादानानुविद्धं च कार्यं कनकपात्रवत्।
नैव बालानुविद्धत्वं यूनि वृद्धे च वीक्ष्यते ॥ १७ ॥ [६३८]

और कार्य उपादानानुविद्ध होता है। जैसे सुवर्णघटमें सुवर्ण अनुवृत्त होता है। क्या युवा शरीर और वृद्ध शरीरमें बालानुविद्धता है ॥ १७ ॥

किं चोपादानानुविद्धं कार्यं भवति। न च बालानुविद्धो युवा वा वृद्धो वा। तथा सति कुण्डले कनकानुवृत्तिदर्शनवत् यूनि वृद्धे च बालानुवृत्तिः स्यात् ॥ १७ ॥

तदीयाणुसमुत्थत्वात्तद्धेतुत्वं निगद्यते।
अण्वन्तरसमादानात्तन्मात्रं च न कारणम् ॥ १८ ॥ [६३९]

बालशरीराणुसे युवशरीर होता है अतः बालशरीरको उसका हेतु यदि कहते हैं तो अन्य अणु भी शामिल होते हैं। अतः तन्मात्र कारण नहीं ॥ १८ ॥

बालशरीराणूपादानत्वात्तत्काराणत्वं निगद्यते चेत्। तत्राण्वन्तराणि भोजनादिना योजितानि मिलित्वा युवशरीरमुत्पद्यते। न हि प्रकृतितोऽतिरिक्ताण्वन्तराण्युपादाय स्थूलजगदिदमुत्पद्यत इति भवता शक्यं वक्तुम् ॥ १८ ॥

ननु सूक्ष्मविशिष्टेशो विश्वस्मिन्ननुवर्तते।
न दृश्यते तु सूक्ष्मत्वात् सत्यमन्यन्निदर्शय ॥ १९ ॥ [६४०]

पूर्वपक्षः—बालशरीरकी अनुवृत्ति युवामें नहीं है,किन्तु सूक्ष्मजगद्विशिष्ट ईश्वरकी स्थूलजगद्विशिष्ट ईश्वरमें अनुवृत्ति है। सूक्ष्म होनेसे दिखाई नहीं पड़ता यह बात अलग है। उत्तरपक्षः—आपका कहना यथार्थ है। अत एव

युवाका उपादान बालक यह जो दृष्टान्त आपने कहा सो गलत निकला। दूसरा दृष्टान्त ढूंढकर बताईये जिससे विशिष्टका उपादान विशिष्ट सिद्ध हो ॥ १९ ॥

ननु बालकशरीरस्य साक्षाद्युवशरीरेऽनुवर्तनविरहेऽपि बालकशरीराणवोऽनुवर्तन्त । एव । सूक्ष्मजगद्विशिष्टेश्वरस्य तु स्वयं सूक्ष्मविशिष्टत्वात्तदणूकरणमनुपयुक्तम् । सूक्ष्मत्वादेव च न जगत्तदनुविद्धं दृश्यते । यथा नैयायिकानां घटादेः परमाण्वनुविद्धत्वेऽपि न परमाण्वनुविद्धतादर्शनं तद्वदिति चेत् । सत्यम् । तर्हि त्यज बालयुवशरीरदृष्टान्तम् । शरीरशरीर्यैक्यमादायोपादानतां प्रदर्शयितुमपरं दृष्टान्तं वद । यत्र नैयायिकप्रक्रियया स्थूलध्वंसं विनैव स्थूलतरतां प्राप्नोतीति । न ह्येवंविधः कोऽपि शरीरी दृष्टान्तयितुं शक्यो यत्रोपजनापजनौ विना स्थूलत्वं जायते ॥ १९ ॥

कस्माद् घटे न चैतन्यं न कस्माज्जाड्यमीश्वरे ।
विभागे तु गतं सर्वं नेशश्चेशस्य कारणम् ॥ २० ॥ [६४१]

यदि सूक्ष्मतत्त्वविशिष्ट ईश्वर जगत्का उपादान है तो घटमें चैतन्य क्यों नहीं है ? जैसे नीलतन्तु रक्ततन्तु उभय उपादान हो तो वस्त्रमें नीला और लाल दोनों रंग दीखते हैं। और ईश्वरमें भी जड़ता होनी चाहिये। यदि विभाग करते हैं कि सूक्ष्मजगत् स्थूलजगतका कारण है स्थूल ईश्वरका कारण सूक्ष्म ईश्वर है तो विशिष्ट उपादान है यह कथा समाप्त हो जाती है। और ईश्वरका कारण ईश्वर होता भी नहीं है ॥ २० ॥

अपि च सूक्ष्मप्रकृतिविशिष्टान्तर्यामी यदि घटपृथ्व्याद्युपादानं तदा घटादौ पृथिव्यादौ च देवंदत्तवच्चैतन्यं कुतो नोपलभ्यते । तथा घटपृथिव्यादिविशिष्टेश्वरात्मके स्थूले ईश्वरे जडता कुतो न भवति । विशिष्टस्योपादानत्वेऽविशेषेण विशेषणे विशेष्ये च कारणानुवृत्तिः स्यात् । यदि तु तत्र विभागः क्रियेत स्थूलपृथिव्यादौ सूक्ष्मपृथिव्यादिः कारणं स्थूलचैतन्ये सूक्ष्मचैतन्यमिति तदा गतं विशिष्टकार्ये विशिष्टसूक्ष्मस्य कारणत्ववार्तया । अपि च तत्रैव विशेष्यभूत ईश्वरः । तत् किं स्थूलसूक्ष्मौ द्वाविश्वरौ विद्येते ? येन सूक्ष्मेश्वरस्य स्थूलेश्वरकारणत्वं स्यात् । तथा च विभज्यवचनमपि न सामञ्जस्यमेति ॥ २० ॥

कलेवरे विनष्टे च चैत्रो मृत इतीर्यते ।
प्रलये तद्वदीशश्च मृत इत्युच्यतां त्वया ॥ २१ ॥ [६४२]

शरीर नष्ट हो गया तो चैत्र मर गया ऐसा बोलते हैं । वैसे प्रलयमें पृथिवी आदि शरीर नष्ट हो गया तो ईश्वर मर गया ऐसा व्यवहार करोगे क्या ? ॥ २१ ॥

शरीरे विनष्टे देवदत्तो मृत इत्यप्युच्यते । बालो युवा जातः । युवा वृद्धो जातः । वृद्धो मृत इति । तथा प्रलये पृथिव्यादिसकल-कलेवरनाशादीश्वरो मृत इत्यादि त्वया वक्तव्यं स्यात् । न च प्रकृति-रूपसूक्ष्मशरीरं तदा विधत इति वाच्यम् । मृतस्यापि देवदत्तस्यास्त्येव सूक्ष्मशरीरम् । तदकिंचित्करमेव । एतेन पितोपादानं पुत्रस्येत्यादिकमपि परास्तम् । पुत्रे पित्रनुवृत्तिविरहात् । पितृविभक्ताणुभिरण्वन्तरसंयुक्तैः पुत्रशरीरोत्पत्तेश्च । पितरि नष्टेऽपि पुत्रस्थितिदर्शनाद्युपादाननाशोत्तरं कार्यस्थित्यनुपपत्तेश्च ॥ २१ ॥

कल्प्योपादानसिद्धान्ते सामान्यस्यानुवर्तनम् ।
इदन्त्ववद्धि विश्वस्मिन्नस्तिभातिप्रियात्मनः ॥ २२ ॥ [६४३]

विवर्तोपादान मतमें सामान्यका अनुवर्तन होता है । जैसे इदं रजतं मे इदन्त्वका । जगतमें अस्ति भाति प्रियरूपी सामान्यका अनुवर्तन होता है ।

विवर्तोपादानसिद्धान्ते न कोऽपि दोषः । इदं रजतमित्यादावुपादानभूत-शुक्तिगतसामान्यधर्मस्येदन्त्वस्यानुवर्तनं भवति । तथा प्रपञ्चेऽपि ब्रह्मगत-सामान्यस्यास्तिभातिप्रियात्मनोऽनुवृत्तिर्भवत्येव । घटोऽस्ति घटो भाति घटः प्रिय इति ॥ २२ ॥

अखण्डं सच्चिदानन्दं विशेषो नानुवर्तते ।
सखण्डं सच्चिदानन्दं सामान्यमनुवर्तते ॥ २३ ॥ [६४४]

ब्रह्ममें यद्यपि सामान्यविशेष भाव नहीं है । तथापि औपाधिकतासे है । अखण्ड सत् चित् एवं आनन्द विशेष है । उसका अनुवर्तन नहीं होता । घटोऽस्ति, पटोऽस्ति इत्यादि सखण्ड सत् चित् और आनन्द सामान्य है उसकी अनुवृत्ति होती है ॥ २३ ॥

न च निःसामान्यस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः कथं सामान्यानुवृत्तिर्विशेषानुवृत्तिश्चाञ्जस्यमेतीति वाच्यम् । अस्तित्वमात्रं सामान्यमखण्डास्तित्वं विशेष इति प्रतीत्यनुसारेणोपपत्तेः । मायाशक्तिवशाद् घटाद्यवच्छिन्नमस्तित्वं भाति न तु व्यापकमखण्डमिति । तत्र प्रतीत्या सामान्यविशेषभावसत्त्वेऽपि वास्तविकसामान्यविशेषौ न स्त एव ॥ २३ ॥

त्रयोऽभवन् सखण्डास्ते मायिकानन्तशक्तिभिः ।
अखण्डा आव्रियन्ते ते त्रयोऽप्यावरणैस्त्रिभिः ॥ २४ ॥ [६४५]

"इन्द्रो मायाभिः" इस श्रुतिसे अवगत अनन्त मायाशक्तियोंसे घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादि रीति सत् चित् आनन्द ये तीनों सखण्ड हो गये । और अखण्ड जो सत् चित् आनन्द है ये तीन असत्त्वापादक, अभानापादक और अनानन्दापादक आवरणोंसे आवृत हो गये । (घटोपादानमायाशक्तिसे सखण्ड होकर पटोऽस्ति हुआ । इत्यादि अनन्त भेद हो जाते हैं ।) ॥ २४ ॥

सच्चिदानन्दास्त्रयो मायिकानन्तशक्तिभिः सखण्डा जाताः । घटोपादानमायाशक्त्या 'घटोऽस्ति' इति पटोपादानमायाशक्त्या पटोस्तीति एवमनन्तपदार्थोपादानानन्तशक्तिभिस्तत्तत्सत्त्वं सखण्डं जातम् । एवं चित्त्वाद्यपि । तिस्रश्चावरणशक्तयोऽसत्त्वापादिकाऽभानापादिकानानन्दापादिका सच्चिदानन्दानावृण्वन्ति । यद्यपि कैश्चिदाचार्यैरानन्दमात्रावरणमुक्तम् । तथापि घटः प्रियः इत्यादि दर्शनादानन्दोऽपि भासत एव । न च सखण्ड एवानन्दो भासत इति वाच्यम् । सच्चितोरपि तुल्यत्वात् । तेषामाचार्याणामयमभिप्रायः । आनन्दप्रतिबिम्बमेव भासते न त्वानन्दः । सच्चिती तु मूलरूपे एवेति । ननु सखण्डसच्चिदानन्दा न सामान्यरूपाः । ब्रह्मणि तदभावादिति चेन्न । ब्रह्मास्ति ब्रह्म भाति ब्रह्म प्रियमिति तत्रापि तत्सत्त्वात् । वास्तविकसखण्डस्य कुत्रापि विरहात् । अनुगततया भासमानमपि सखण्डमिति नानुपपन्नं मायायाम् ॥ २४ ॥

जन्मावस्थाविशिष्टाऽऽविर्भाव एवात्मनो यतः ।
अष्टवर्षं ब्राह्मणमित्यादिष्वित्यप्यतो ध्रुतम् ॥ २५ ॥ [६४६]

पूर्वपक्षः–"अष्टवर्षं ब्राह्मणमनुपनयीत" में शरीरविशिष्टात्मा ही आठ वर्षका है। मृत शरीर या केवल आत्मा का उपनयनादि नहीं होता। अतः शरीरविशिष्ट आत्माकी उत्पत्ति माननी होगी। उसीकी अष्टवर्षत्वादि अवस्था है।

उत्तर पक्षः–यहां भी उत्पन्न हुआ, उसकी अवस्था हुई। आत्मा कैसे उत्पन्न हुआ? शरीरतादात्म्याध्यासको लेकर "अष्टवर्षं ब्राह्मणं" इत्यादि वचन है यह पहले ही प्रायः कहा जा चुका है॥ २५॥

"नन्वष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते"त्यादावष्टवर्षत्वब्राह्मणत्वादिमच्छरीरविशिष्टात्मैवाभिधीयते। न हि मृतशरीरस्योपनयनादिकं संभवति। नापि केवलात्मनः। तदनङ्गीकारे कर्मब्रह्ममीमांसानारम्भ एव स्यात्। न च शरीरविशिष्टस्याप्यात्मनो निर्विकारत्वाद् अजन्यत्वाच्च न कार्यत्वमिति वाच्यम्। अवस्थाविशिष्टप्रादुर्भावस्यैव जन्मत्वात्। वैशिष्ट्यादेरपि अवस्थान्तरं स्यादेवेति। तदप्येतेन प्रत्युक्तम्। अवस्थाविशेषवैशिष्ट्यमात्रोत्पत्त्योपपत्तौ विशिष्टात्मोत्पत्त्यस्वीकारात्। अष्टवर्षं ब्राह्मणमि"त्यादेः अष्टवर्षब्राह्मणशरीरादितादात्म्याध्यासविषयात्मविषयकत्वेनोपपत्तेश्च॥ २५॥

न विशिष्टस्य जन्यत्वमात्मनस्तादृशात्मनः।
समृन्न सघटे पुंसि हेतुर्मृत्खं न कुम्भखे॥ २६॥ [६४७]

ब्राह्मणशरीरविशिष्ट आत्माकी अवस्थाविशिष्ट आत्माके प्रति कारणता नहीं हो सकती। क्या मृत्तिकाविशिष्ट पुरुष घटविशिष्ट पुरुषके प्रति कारण है? क्या मृदाकाश घटाकाशका कारण है?॥ २६॥

ब्राह्मणशरीरविशिष्टात्मतः अवस्थाविशेषविशिष्टप्रादुर्भाववत्त्वयुतस्य न जन्यत्वं शक्यते स्वीकर्तुम्। अन्यथा मृत्तिकाविशिष्टपुरुषो घटविशिष्टपुरुषं प्रति उपादानं स्यात्। एवं मृदाकाशो घटाकाशहेतुः स्यात्। भवन्मते घटविशिष्टाकाशस्यावस्थाविशिष्टप्रादुर्भावसत्त्वात्तदुत्पत्तिः स्वीक्रियेत। आकाशे घटवैशिष्ट्येनोपपत्तौ घटविशिष्टाकाशोत्पत्तिस्वीकारवैयर्थ्यात्॥ २६॥

तस्मादात्मन आकाशः संभूत इति च श्रुतेः।
कथं नु खविशिष्टात्मा संभूत इति भाष्यताम्॥ २७॥ [६४८]

"तस्मादात्मन आकाश संभूतः" का सीधा अर्थ है—आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ। आपका भाष्य होगा—आकाशविशिष्ट आत्मा उत्पन्न हुआ॥ २७॥

किं च "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"त्यादौ व्याकृतशब्दस्य प्रकृतिविशिष्टात्मार्थत्वं नामरूपादिशब्दस्य तत्तद्विशिष्टकार्यात्मार्थकत्वं च कथंचित् क्रियताम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायु"रित्यादावाकाशविशिष्टपरमात्माऽजायत इत्यादि भाष्यं क्रियताम्। अत्र हि जगदुत्पत्तिमात्रं वक्तव्यमस्ति॥ २७॥

जगज्जनौ स्वतो हीशवैशिष्ट्यं तत्र जायते।
जगद्विशिष्टेशजन्म कुतो वाऽर्थ उदीर्यताम्॥ २८॥ [६४९]

जगत् पैदा हुआ तो व्यापक आत्माका वैशिष्ट्य स्वतः हो जायेगा। उसके लिये जगद्विशिष्टेश्वरका जन्म मानने की जरूरत नहीं है॥ २८॥

जगदुत्पतौ स्वभावत एवाकाशवत् परमात्मनस्तत्र सम्बन्धोपपत्तेर्जगद्विशिष्टपरमात्मोत्पत्तिकथनस्य वैयर्थ्यं चानर्थकरत्वं च॥ २८॥

न चैत्रजन्मना चैत्रविशिष्टक्ष्मा प्रजायते।
तस्माद्विवर्तहेतुत्वात् प्रकृतिश्चेति सूत्रितम्॥ २९॥ [६५०]

चैत्र बालक पैदा हुआ तो कौन कहेगा—चैत्रविशिष्ट पृथिवी पैदा हो गयी। इसलिये विवर्तकारणताको लेकर ब्रह्मको "प्रकृतिश्च" कहा॥ २९॥

न हि चैत्रजन्मना चैत्रविशिष्टपृथिवी जातेति लौकिकपरीक्षकयोर्व्यवहारोऽस्ति। तस्माद्विवर्तोपादानत्वमादायैव सूत्रकारः "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"त्याह॥ २९॥

अद्वैतशब्दे श्रद्धा चेत् प्रमेयत्वादिनोच्यताम्।
नैतद्विशिष्टयोर्नापि विशेषणविशेष्ययोः॥ ३०॥ [६५१]

यदि अद्वैतशब्दमें आपकी श्रद्धा है तो प्रमेयत्वरूपसे अद्वैत (एकता) कहिये। अद्वैत विशिष्टोंका नहीं हो सकता जिससे सूक्ष्मविशिष्टात्मा और

स्थूलविशिष्टात्मा दोनों का अद्वैत हो, या शरीरशरीरिभावको लेकर विशेषण और विशेष्यकी एकता हो ॥ ३.० ॥

लोकानामद्वैतशब्दे श्रद्धासत्त्वे प्रमेयत्वेनाद्वैतमैक्यं वर्ण्यताम् । न तु व्यर्थं विशिष्टयोः सूक्ष्मविशिष्टपरमात्मस्थूलविशिष्टपरमात्मनोरैक्येन विशिष्टाद्वैतं क्लेशतः सम्पाद्यताम् । न वा विशेषणीभूतपृथिव्यादिशरीरस्य तच्छरीरिणो विशेषस्य परमात्मनश्चैक्यमद्वैतमुच्यताम् । पृथिव्यादेः परमात्मनश्च परस्परमैक्यविरहात् । न हि भिन्नयोः शरीरशरीरि-भावेनाप्यैक्यं संभवति । भेदस्यैक्यपरिपन्थित्वात् पारिभाषिकमैक्यं तु न सामानाधिकरण्यव्यवहारप्रयोजकम् । वास्तविकाभेदस्यैव तत्प्रयोजकत्वात् । आध्यासिकैक्यं तु भ्रान्तानामैक्यव्यवहारप्रयोजकं भवति । किन्तु न परमात्मनो मनुष्यवद् भ्रान्तिरस्ति । न वा श्रुतिर्भ्रान्ता, येन तदुभयो-स्तथाव्यवहारसामञ्जस्यं भवति । अस्माकं तु लोकबुद्धिसिद्धं क्वचिदनु-वदन्ती श्रुतिरर्थान्तरं विधत्ते । क्वचिच्च तदपलप्य भेदं विधुनोतीति सर्वमुपपन्नम् । तस्माद् ब्रह्मणो विवर्तोपादनत्वात् कार्यस्य जगतः सिद्धं मिथ्यात्वम् ॥ ३० ॥

वाचारम्भणमेव कार्यमखिलं सत्यं तु तत्कारणम् ।
ब्रह्माण्डावधि कार्यमेव तदुपादानं परं ब्रह्म च ॥
सत्यं तद्धि तदात्मकं जगदिदं मिथ्या गुणे सर्पवत्
सैषा तत्त्वमसीत्यखण्डितचितिस्तां चिन्तये सर्वदा ॥ ५३ ॥

सभी कार्य कारणमें वाचारम्भणमात्र होता है । सत्य तो कारण ही होता है । ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् कार्य है । उसका उपादान पर ब्रह्म है । वही सत्य है तदात्मक (ब्रह्मात्मक) जगत् है, कार्य होनेसे मिथ्या है, जैसे रज्जुमें सर्प है । वही तत्त्वमसि का प्रतिपाद्य अखण्डचैतन्य है । उस अखण्डचैतन्यका हम चिन्तन करते हैं ॥ ५३ ॥

इति ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्त्या जगन्मिथ्यात्वसिद्धिः ।

*****

अथ मायोपादानकत्वेन मिथ्यात्वसिद्धिः

मायोपादानकत्वान्ये प्रपञ्चं प्रत्यपीपदन् ।
मिथ्या ततोऽपि भवति रज्ज्वज्ञानजसर्पवत् ॥ १ ॥ [६५२]

मायोपादानक होनेसे अन्य आचार्य रज्ज्वज्ञानजन्य सर्पके समान प्रपञ्चको मिथ्या बताते हैं ॥ १ ॥

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि'त्येवं सूत्रकारेणोपादानत्वं ब्रह्मण उक्तम् । तत्र ब्रह्म जगतो विवर्तोपादानं, माया तु द्वारकाकरणमात्रमिति संक्षेपशारीरकाचार्यप्रभृतीनां मतम् । अपरे तु ब्रह्म विवर्तोपादान-मित्येतत्तथैव । तत एव सूत्रसंगतिर्भवति । किन्तु परिणाम्युपादानं मायां मन्यामहे इति वदन्ति । मायोपादानकत्वाच्च जगतो मिथ्यात्वं सुस्थमेव । यथा रज्जुसर्पस्य । तत्र रज्जू रज्जवच्छिन्नचैतन्यं वा विवर्तोपादानम् । अविद्या तु परिणाम्युपादानम् । अविद्यामूलस्य सर्पस्य मिथ्यात्वं स्पष्टमेव ॥ १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अत्र प्रकृतिशब्देन ह्युपादानमुदीर्यते ॥ २ ॥ [६५३]

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इस श्रुतिमें मायाको प्रकृति अर्थात् उपादान बताया ॥ २ ॥

ननु जगतो मायोपादानत्वे मानाभावः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मण एव उपादानत्वश्रवणादिति चेन्न । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमि'ति श्रुतेरेव मायोपादानत्वे प्रमाणत्वात् । ननु तत्र 'अस्मान्मायी सृजते । विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध' इति पूर्वश्रुतौ को मायापदार्थ इति जिज्ञासायां मायां तु प्रकृतिं गुणसाम्याव-स्थालक्षणां विद्यान्न तु कपटादिरूपामिति श्रुतिर्वदतीति चेन्न । प्रकृति-शब्दस्योपादानार्थत्वात् । 'प्रकृतिश्चे'ति सूत्रे प्रकृतिपदस्योपादानार्थतायाः सर्वैः स्वीकारात् ॥ २ ॥

पूर्वमप्रकृतार्थत्वात् सांख्यमात्रप्रसिद्धितः।
गुणसाम्यात्मिका नात्र प्रकृतिर्गृह्यते श्रुतौ ॥ ३ ॥ [६५४]

पूर्वपक्षः—श्रुतिमें प्रकृतिका उपादान अर्थ नहीं किन्तु त्रिगुणात्मिका गुणसाम्यरूपा प्रकृति अर्थ है । उत्तरपक्षः—उक्त मन्त्रसे पूर्व, प्रकृतिका वर्णन आया नहीं और लोकमें भी प्रकृतिका सांख्यमात्र प्रसिद्ध अर्थमें प्रयोग नहीं है ॥ ३ ॥

सांख्यशास्त्रवतां गुणसाम्ये पारिभाषिकः प्रकृतिशब्दः । लोके तदर्था-प्रसिद्धेः । न वाऽत्रोपनिषदीतः पूर्वं गुणसाम्यार्थतायामयं शब्दः प्रयुक्तः । अतोऽत्र प्रकृतिशब्देनोपादानमेवोच्यते । न चोपादानेऽपि प्रकृतिशब्दो न प्रसिद्धः । लोके प्रकृतिपदस्य स्वभावार्थकत्वात् । अस्य बालकस्य प्रकृतिः क्रूरा, अस्यौषधस्य प्रकृतिः शैत्यमित्यादिप्रयोगादिति वाच्यम् । सूत्रकारेणो-पादानार्थे प्रयोगात् । तस्मान्मायामुपादानकारणं विद्यादित्येव मन्त्रार्थः ॥ ३ ॥

मायी सृजत इत्यत्र निमित्तत्वमुदीर्यते ।
यद्वा विवर्तहेतुत्वं माया तु परिणामिनी ॥ ४ ॥ [६५५]

'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' यहां परमेश्वर सृष्टि करता है जो बताया वह निमित्त कारण को लेकर बताया ॥ ४ ॥

ननु मायाया उपादानत्वे 'अस्मान्मायी विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध' इति श्रुतिविरोधः । तत्र मायिन एव कारणत्वकथनादिति चेन्न । सृजत इत्यनेन निमित्तकारणत्वोक्तेः । अस्तु वा विवर्तोपादानत्वं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इति श्रुत्यन्तरानुरोधात् । माया तु परिणामि-म्युपादानमिति विशेषः । मायायाः परमेश्वराधीनतया मायी सन् स परमात्मा जगत् सृजति । अन्यो जीवात्मा मायापराधीन इति तया संनिरुद्धो बद्ध इति श्रुतेरर्थः । यत्त्वत्र 'मायां तु प्रकृतिमि' ति मन्त्रस्य प्रकृतिं 'मायां' विद्यात् मिथ्या विद्यादित्यर्थमद्वैतिनामारोप्य तादृशार्थकरणे उद्देश्यविधेयशब्दवैपरित्ययोजनाप्रसङ्गात् यद्वृत्तयोगः प्राथम्य-मित्याद्युद्देयश्यलक्षणमिति नियमविरोधप्रसङ्ग उक्तः तदनुक्तोपालम्भमात्रम् । तादृशयोजनाया अस्माभिरस्वीकृतत्वाद् । माया उपादानकारणमित्येवाभि-धानात् ॥ ४ ॥

यद् माया वयुन ज्ञानमिति नैघण्टुकं वचः ।
वेदे क्वचित्प्रयोगेण ज्ञानार्थज्ञापकं तु तत् ॥ ५ ॥ [६५६]

पूर्वपक्षः-निघण्टुमें "माया वयुनं ज्ञानं" ऐसा ज्ञान पर्याय बताया है । उत्तरपक्षः- कहीं वेद में ज्ञानार्थमें माया शब्द का प्रयोग है इतना ही उसका तात्पर्य है । क्या घटज्ञान ऐसा जहां बोलना है वहां घटमाया ऐसा बोला जायेगा ? ॥ ५ ॥

नन्वन्त्र मायाशब्दस्य ज्ञानमर्थः । माया वयुनं ज्ञानमिति नैघण्टुक-वचनादिति । तदयुक्तम् । ज्ञानस्योपादनकारणतायास्त्वयाप्यनभ्युपगमात् । नैघण्टुकैस्तु क्वचिद्वेदे यदर्थे शब्दः प्रयुक्तः सोऽपि पर्यायतया दर्श्यते । यथा आपः कर्माणीति । अब्बहुलत्वात्कर्मस्वप्शब्दप्रयोग इति युज्यते । अनेकार्थ-स्यान्याय्यत्वात् । न हि घटज्ञानं पटज्ञानमित्यर्थे घटमाया पटमायेति प्रयुज्यते । तथा च क्वचिन्मायाशब्दस्य ज्ञानार्थकत्वं मायागतसत्त्वगुण-परिणामत्वाल्लक्षणया बोध्यम् । एतेन 'मायया सततं वेत्ति प्राणिनां तु शुभाशुभम्' इत्यादिकमपि व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

अस्मदीयमनःस्थानापन्ना माया महेशितुः ।
मायया सततं वेत्तीत्येवं तस्मात्प्रयुज्यते ॥ ६ ॥ [६५७]

वस्तुतः हमारे मन के स्थानापन्न है परमात्मा की माया । अन्यथा ज्ञान से जानते हैं इस प्रकार करण और क्रिया एक होने लगेंगे । 'मायया सततं वेत्ति' ॥ ६ ॥

वस्तुतस्त्वस्मदीयन्तःकरणस्थानापन्नोपधिर्मायैव भगवतः । तथा च 'मनसा पश्यति मनसा विजानाती'त्यादिवन्मायया वेत्ति इति युक्तमुक्तम् । भवन्मते वेत्तेरपि ज्ञानार्थत्वाद् ज्ञानेन जानातीति करणक्रिययोरैक्यापत्तिः पौनरुक्त्यं वा प्रसज्यते ॥ ६ ॥

मिथ्यासर्पात् सत्यभीवद् जगच्चानृतमायया ।
सत्यं स्यात्तन्न, सत्यं न मिथ्योपादानमिष्यते ॥ ७ ॥ [६५८]

पूर्वपक्षः—मिथ्या सर्पसे सत्य भय आप मानते हैं। वैसे मिथ्या मायासे सत्य जगत् क्यों नहीं मानते ? उत्तरपक्षः—मिथ्या सत्यका उपादान नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

यत्तु मिथ्याकारणादपि स्वाप्नलक्षणात्सत्यार्थोत्पत्तिस्वीकाराद् रज्जु-सर्पादेरपि सत्यभयाद्युत्पत्तिदर्शनान्मायाजन्यस्यापि सत्यत्वं कुतो न भवतीति ? तदसत् । त्वया तदनङ्गीकारात् । न हि मिथ्यामायया जगत्सत्यमुत्पद्यत इति तव सिद्धान्तः । मायायां अवस्तुत्वेन तदुत्पन्नस्य वस्तुत्वायोगाच्च । अपि चोपादानस्य सत्यत्वमाश्रित्य परमाणुजातानां द्व्यणुकादीनां सत्यत्वं वैशेषिकादयः साधयितुमर्हन्ति । मिथ्योपादानकं सत्यमित्यत्र नास्ति दृष्टान्तः । न हि रज्जुसर्पो भयस्योपादानकारणम् । किन्तु निमित्तकारणमेव ॥ ७ ॥

यन्मायाजनितमिदं
मायां प्रकृतिं यतः श्रुतिः प्राह ।
आविद्यिकभुजगसमं
विश्वं तस्मै नमोऽस्तु सते ॥ ५४ ॥

अविद्योत्पन्न सर्पके समान (जिसकी मायासे) उत्पन्न जगत् मिथ्या है चूंकि श्रुतिने मायाको कारण बताया जिसकी मायासे यह जगत् उत्पन्न हुआ, उस सत् परमात्माको हमारा यह प्रणाम हो ॥ ५४ ॥

इति मायोपादानत्वेन जगन्मिथ्यात्वम् ।

*****

(५५)

अथ कार्यत्वाद्यनुपपत्त्या जगन्मिथ्यात्वम् ।

कार्यस्य कारणे सत्त्वा-ऽसत्त्वानिर्वचनादपि ।
कार्यरूपं जगदिदं मिथ्या श्रुतिभिरीरितम् ॥ १ ॥ [६५९]

कारणमें कार्य प्रथमतः ही विद्यमान है या असत् है ? पहलेसे ही विद्यमान है तो कार्योत्पादनार्थ प्रयत्न क्यों करना ? असत् है तो कार्यका

कोई सम्बन्ध ही न रहा हो दुनियाभरके सब कार्य एक ही कारणमें क्यों नहीं होते ? फलतः अनिर्वचनीय होनेसे मिथ्या ही समस्त कार्य जगत् सिद्ध होगा ॥ १ ॥

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति श्रुतिर्हि कार्यस्य मृन्मयघटादेर्मिथ्यात्वं बोधयन्ती प्रपञ्चमिथ्यात्वे पर्यवस्यति । न च मृत्तिकायाः सत्यत्वं तत्रोक्तमिति कथं सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति वाच्यम् । आपेक्षिकसत्यस्य दृष्टान्ततयाऽभिधानात् । अत एव 'इति' पदम् । मृत्तिकादिकं कारणमेव सत्यमित्यर्थः । इत्थं च दार्ष्टान्तिके सदेवेत्युपक्रान्तं सदादाय तत्सत्यं स आत्मेत्युक्तिः स्पष्टमेव सर्वमूलभूतसतः सत्यत्वं सर्वस्य तत्कार्यस्यासत्यत्वं च बोधयति ।

ननु वाचारम्भणत्वं मिथ्यात्वं च कथं कार्यस्य । न चात्र श्रुतिरेव प्रष्टव्येति वाच्यम् । श्रुतेरन्यार्थतया नयनसंभवादिति चेत् । उच्यते । न हि कारणे कार्यं पूर्वमेव सत् । उत्पादनव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः । नाप्यसत् । असता सम्बन्धायोगेन असम्बद्धत्वाविशेषा त् सर्वत्र कारणे सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । तथा चानिर्वचनीयत्वलक्षणं मिथ्यात्वमायाति ॥ १ ॥

शक्तिश्च नासतः क्लृप्ता कार्यासम्बन्धतौल्यतः ।
नाभिव्यक्तिश्च तत्सत्त्वाऽसत्त्वाऽनिर्वचनात् सतः ॥ २ ॥ [६६०]

यह कहें कि सर्वकार्यशक्ति एक कारणमें नहीं है, तो क्या शक्ति कार्यसम्बद्ध है ? कार्य असत् है, शक्तिनियमन किस पर किस प्रकार ? अतः असत् शक्तिपक्ष संभव नहीं । सत् की अभिव्यक्ति मानेंगे तो वह अभिव्यक्ति पहलेसे सत् है या असत् यह प्रश्न असमाधेय रह ज़ायेगा ॥ २ ॥

न च मृत्तिकायां कश्चन शक्तिविशेषोऽस्ति । स घटमेवोत्पादयति न तु पटादिकम् । तन्तौ च शक्तिविशेषोऽस्ति । स पटमेवोत्पादयति न घटादिकमितीति वाच्यम् । विशेषानिर्वचतात् । तेन शक्तिविशेषेण सह घटादेः सम्बन्धोऽस्ति न वा ? नो चेत्सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्तदवस्थः । अस्ति चेदसता सह कथं सम्बन्ध इति प्रागुक्तमावर्तते । ननु सदप्यनभिव्यक्तमभिव्यज्यते कार्यं व्यापारेणेति चेन्न । साऽभिव्यक्तिः पूर्वमसती वा सती वा ।

असती चेदसम्बद्धा कथमुत्पद्येत ? सती चेत् व्यापारवैयर्थ्यम् । सती ह्यप्यनभिव्यक्तेति त्वनवस्थापादकम् । यत्तु कार्योत्पत्तिं प्रति कार्यकारणयोरसम्बन्धो युक्ताङ्गम् । सम्बन्धस्त्वयुक्ताङ्गम् । तथा च युक्ताङ्गपरित्यागोऽयुक्ताङ्गस्वीकारश्चापाद्येयातां सम्बन्धं प्रष्टुरिति । तत्तुच्छम् । त्वदीयपरिभाषिकशब्दयोजनाया अकिंचित्करत्वात् । न वयमसम्बन्धं सम्बन्धं वाऽङ्गमनङ्गं वा ब्रूमः । असम्बद्धं यद्युत्पद्येत तदा सकलानि कार्याण्युत्पत्तेः पूर्वं कारणाऽसम्बद्धानीति सर्वकार्योत्पत्तिः कुतो न भवतीति पृच्छामः । यदप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिनियतशक्तिविशेषाद् घट एवोत्पद्यते न तु पटादिरिति । तत्र कोऽयमन्वयव्यतिरेकः ? तमिममन्वयव्यतिरेकं कार्यारम्भेऽङ्गं मनुषे ? न चैतत्केनाप्युररीकृतम् । अन्वयव्यतिरेकान्तःप्रविष्टकार्यस्यासत्त्वेनान्वयव्यतिरेकानुपपत्तेश्च । नियतकार्योत्पत्तिदर्शनादस्ति किमपि नियामकमिति चेत् ? तदेव निर्वक्तुमशक्यमित्यनिर्वचनीयं ब्रूमः । न हि वयं घटमपलपामः । न वा मृदं परित्यजामः । किन्तु निर्वचनासंभवेनानिर्वचनीयं ब्रूमः । एतेन घटप्रागभावो मृदि वर्तते न तु पटप्रागभाव इति न मृदि पटाद्युत्पत्तिरित्यपि प्रत्युक्तम् । असता घटेन सह प्रागभावस्य सम्बन्धयोगात् । न च प्रागभावविशेष इत्येव ब्रूम इति वाच्यम् । कोऽयं विशेष इत्येव निरुच्यताम् । घटसम्बद्धत्वातिरिक्तं कमपि विशेषं न निर्वक्तुं शक्ष्यसि । अन्येन विशेषेण पटोत्पत्तेर्वारयितुमशक्यत्वात् । प्रत्युक्तं च भवन्त्वनन्ता अभिव्यक्तयः प्रामाणिकानन्तस्यादोषत्वाद् घटसामग्र्या एवानन्ताभिव्यक्तिप्रयोजकत्वादिति । अनन्ताभिव्यक्तीनामज्ञायमानत्वेनाऽप्रामाणिकत्वात् । अनभिव्यक्ताभिव्यक्त्या घटप्रत्यक्षासंभवेन यथानभिव्यक्तया (अनुत्पन्नापरपर्यायया) मृदा घटो नाभिव्यज्यते तथाऽनभिव्यक्तघटेन स्वनिष्ठाभिव्यक्त्यसंभवादात्माश्रयतापत्तेश्च । अनन्ताभिव्यक्तीनामसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात् सर्वज्ञैरनन्ताभिव्यक्तिसत्त्वानुक्तेश्च क्वचिद्विश्रामे वक्तव्ये याऽभिव्यक्तिस्तदभिव्यक्तिमज्ञात्वैव ज्ञायते तथैव घटाभिव्यक्तिमज्ञात्वैव घटोऽपि दृश्यताम् । अज्ञातसत्तायां मानाभावाच्चाऽभिव्यक्तेरसत्त्वमेव स्यात् । तथा चासत्याऽभिव्यक्त्या तद्व्यवहारवदसता घटेनापि घटव्यवहारो दुर्वारः । तथा चाज्ञातस्य सत्त्वायोगात्तुच्छस्याव्यवहार्यत्वात्सद-

सद्भ्यां विलक्षणं घटादिकं कथं मिथ्यात्वतो व्यावर्त्यताम् ? न चानन्ताभिव्यक्तीनामभिव्यक्तित्वेन सामान्येन ज्ञानं भविष्यतीति वाच्यम् । अनन्ताभिव्यक्तिसत्त्वे प्रमाणाभावात् । त्वया केवलं कल्पितत्वात् । सामान्यज्ञानस्य विशेषसत्त्वाऽसाधकत्वात् । विशेषज्ञानं विना सामान्यत्वज्ञानासंभवेनान्योन्याश्रयात् ॥ २ ॥

एवं च भेदाभेदादेरप्यनिर्वचनीयताम् ।
दृष्ट्वा हेतुषु कार्याणां श्रुतिर्मिथ्यात्वमब्रवीत् ॥ ३ ॥ [६६१]

इसी प्रकार कार्य कारणसे भिन्न है या अभिन्न इत्यादि भी अनिर्वचनीय है । अत एव श्रुतिने कारणमें कार्यको मिथ्या बताया ॥ ३ ॥

एवमेव श्रुतिर्भेदाभेदानिर्वचनादपि जगतो मिथ्यात्वमाह । 'यत्र वा अन्यदिव स्यातत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदित्यादि । "यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती"त्यादि च । "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत" इत्युपसंहाराच्च । न चात्र द्वैताभाव उक्तो न तु द्वैतमिथ्यात्वमिति वाच्यम् । इवकारेण दत्तोत्तरत्वात् । सर्वथाऽसत्त्वे तदितर इतरं पश्यतीतीतरदर्शनानुपपत्तेः । न ह्यसतो दर्शनं भवति ।

अपि चेदं चिन्तनीयम् । कारणात् कार्यमभिन्नं वा भिन्नं वा । नाद्यः । अत्यन्ताभिन्नत्वे कार्योत्पादनव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः । न हि घटकार्यं जलाहरणादिकं मृत्तिकया संभवति । यदि तु भिन्नं कारणात् कार्यं तदा एकपलसुवर्णनिर्मितकुण्डले सुवर्णस्यैकपलभारः कुण्डलस्यैकपलभार इति द्विपलत्वं स्यात् । न च कुण्डलभारो नास्तीति वाच्यम् । कुण्डलमेव नास्तीति कुतो नाङ्गीकुर्याः । दृश्यत इति चेद् भारोऽपि दृश्यत एव । न च भारो गुरुत्वमनुमेयं न तु प्रत्यक्षमिति वाच्यम् । अनुमीयतां हस्ते तुलायां गृहीत्वा । को वा भवन्तं रुणद्धि ? भारवत् कुण्डलमिति च ततो ज्ञायते । न च सुवर्णगुरुत्वस्य कुण्डले भ्रान्तिरिति वाच्यम् । कुण्डलस्यैव भ्रान्तिरित्यत्र का हानिः ? न हि सूक्ष्मदर्शिकाचोपनेत्रो घटकुण्डलादिकं पश्यन् दूरदूरस्थिताणुभ्योऽन्यद् घटादिकमुपलभते । शक्तिविशेषेणैव जलादिग्रहण-

मिति घटादेर्मिथ्यात्वमेव । अणवोऽपि क्रमेण मृषा सिध्यन्तोऽन्ते मूलपरमात्मशक्तावेव पर्यवस्यन्ति । सा न परमात्मनो भिन्नेत्यद्वैतसिद्धिः ।

ननु कारणात् कार्यं भिन्नमिति पक्षं प्रकारान्तरेण चिन्तयामः । कारणभार एव कार्ये न तु कार्यभारः पृथगिति । तत्रोच्यते । सुवर्णात् कारणात् भिन्नं कुण्डलं सुवर्णं वाऽन्यद्वा ? न हि कुण्डलमसुवर्णमिति कश्चित्प्रत्येति । न च सुवर्णपिण्डभिन्नमपि तत्र सुवर्णत्वजातिः स्वीक्रियत इति वाच्यम् । तर्हि द्वयोर्गुरुत्वमपि स्यात् । न हि घटत्वजातीययोर्घटयोरेकगुरुत्वम् । न च कार्यकारणस्थले नैतद् भवति । तत्र कारणगुरुत्वमेव कार्ये भवतीति वाच्यम् । गुरुत्वस्य संक्रमणानुपपत्तेः । अन्यथा सुवर्णं गुरुत्वहीनं स्यात् । अपि च तन्मात्रादीनां गुरुत्वं न स्वीक्रियते । तथा च तत्कार्यपरमाणुद्व्यणुकादेरपि गुरुत्वं न स्यात् । तत्र कारणेऽविद्यमानं गुरुत्वं यद्युत्पद्यते तथा कुण्डले कुतो नोत्पद्येत ? किंच सुवर्णपिण्डात् कुण्डलं न जायते पिण्डध्वंसात् । किन्तु सुवर्णादेव कुण्डलं जायते । तथा सति सुवर्णभिन्नत्वं कथं न कुण्डलादेः । किं च 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः' इत्यादिश्रुतेः सतः कारणादुत्पन्नानां तेजःप्रभृतीनामन्येषां च कार्याणां सद्भिन्नत्वं व्यक्तव्यमित्यसत्त्वसिद्धिः । सद्भिन्नत्वासद्भिन्नत्वलक्षणमिथ्यात्वसिद्धिरिति वा । न च सत् परमात्मा तत्र विवक्षित इति वाच्यम् । परमात्मनस्तत्र कृत्स्ने प्रकरणे नामाऽग्रहणात् । तत्स्वीकारेऽपि सदेवात्मा आत्मैव सत् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'ति श्रुतेः । न हि सत्त्वजातिः सत्परमात्मा चेति भिन्नौ । 'एकमेवाद्वितीयमि'त्युक्तेः । तथा च सद्भिन्नत्वं सृष्टेषु कार्येषु दुर्निवारमेव । तथा च सति सदसद्भिन्नत्वं ब्रुवतो ममापेक्षया पदमेकमग्रे न्यधाः । पारमार्थिकसतः पृथक्त्वेन व्यावहारिकसतः स्वीकारादनिर्वचनीयसत्तामद्वैतवादिनः प्राहुः । इतरे तु तदैक्यात् सद्भिन्नत्वाच्छून्यत्वमेवापादयामासुरिति ॥ ३ ॥

हेतोरविकृतान्नैव सत् कार्यं भवितुं क्षमम् ।
विकारी चेद्विनाशी स्यान्मिथ्या कार्यमतः संति ॥ ४ ॥ [६६२]

यदि कार्य सत्य हो तो कारण के विकृत होनेपर ही वह उत्पन्न हो सकता है। जो विकारी होगा वह विनाशी भी होगा। अतः सद्रूपी ब्रह्ममें कार्य मिथ्या है॥ ४॥

किं चेदं वक्तव्यम्। विकृतादविकृताद्वा कार्यारम्भः कारणादिति। विकृतत्वं स्वावस्थाप्रच्युतिः। तत्राविकृतादिति द्वितीयपक्षो न संभवति। तथा सति सर्वदैवानन्तकार्योत्पादापत्तिः। प्रथमपक्षे तु विकारिणो विनाशित्वमवश्यंभावीति शून्यवादापत्तिः॥ ४॥

सतो ननु विकारोऽयं सम्बन्धः सहकारिणः।
कार्यप्रयोजको नैव विकारः पारिभाषिकः॥ ५॥ [६६३]

पूर्वपक्षः—सहकारीका सम्बन्ध ही विकार है। सम्बन्धाभावावस्थाप्रच्युति जो हो जाती है। उत्तरपक्षः—आपका पारिभाषिक विकार कार्यप्रयोजक नहीं है। दही का सम्बन्ध होनेके बाद दूधमें विकार होता है तब दही उत्पन्न होता है। केवल पानीका संयोग होनेसे बीजका अंकुर नहीं होता, बीजमें पृथक् विकार होता है॥ ५॥

ननु सहकार्यन्तरविरहावस्थाप्रच्युतिः सहकार्यन्तरसम्बन्धे सति भवति। न च तावता कारणस्यानित्यत्वापत्तिः। तथा च सहकार्यन्तरसम्बन्धरूपविकारयुक्तात् कारणात्कार्यारम्भो भवतीत्येव सिद्धान्त इति चेन्न। पारिभाषिकविकारस्याकिंचित्करत्वात्। न हि दहिसम्बन्धमात्रं दुग्धस्य जलसम्बन्धमात्रं च बीजस्य विकारो येन दध्नोऽङ्कुरस्य चोत्पत्तिः। किन्तु दुग्धबीजयोः पृथगेव विकारः कार्यारम्भकः॥ ५॥

सम्बन्धस्यापि सम्बन्धादनवस्था दुरुद्धरा।
प्रामाणिकी नानवस्था न वा सम्बद्धताकरी॥ ६॥ [६६४]

सहकारिसम्बन्ध सतसे असम्बद्ध होकर कार्योत्पादक नहीं होगा। अतः तदुत्पादनार्थ सतमें फिर विकार मानना पड़ेगा। तथा अनवस्था भी होगी। पूर्वपक्षः—प्रामाणिक अनवस्था दोषकारण नहीं है। उत्तरपक्षः—अनवस्था प्रामाणिक ही नहीं है। किसीको अनन्त सम्बन्ध अनुभवमें नहीं आता। युक्तिसिद्ध भी नहीं होगा। क्योंकि अनन्त सम्बन्ध होनेपर

सत्सम्बद्ध सिद्ध नहीं होता । केवल सम्बन्धान्तर बोलते ही रह जायेंगे ॥ ६ ॥

सहकार्यन्तरसम्बन्धस्यापि पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तिरङ्गीकरणीयेति तत्र सम्बन्धान्तरं वक्तव्यमित्यनवस्थापत्तेश्च । यत्तु सिद्धाऽनवस्था न दोषायेति । तत्तुच्छम् । सिद्धत्वविरहात् । अनन्तसम्बन्धस्य केनापि प्रमाणेन सेद्धुमशक्यत्वात् तव कल्पनामात्रत्वात् । बीजाङ्कुरादौ तु बहुकक्षापर्यन्तं दृष्ट्वा- त्तेनानन्तानुमानात् सिद्धत्वमनवस्थायाः, कथंचित् । न हि कुण्डलकारणी- भूतसुवर्णादावनन्तसम्बन्धाः प्रत्यक्षसिद्धाः । न वा काञ्चनात्र कक्षाः । उत्पन्नकपालोत्तरभाविचक्रादिसम्बन्धस्य पूर्वपूर्वसम्बन्धक्रमेणानन्तसम्बन्ध- कल्पनाया असंभवाच्च । अनादेरेव तत्संभवात् । अथ समकालीन- सम्बन्धान्तरप्रयुक्तः कपालादौ चक्रादिसम्बन्ध इति चेन्मैवम् । सम- कालीनयोः सव्येतरविषाणयोरिव हेतुहेतुमद्भावानुपपत्तेः । न च कार्यमेव प्रमितं कारणप्रवाहे प्रमाणम् । अन्यथा कार्यानुदयप्रसङ्गादिति वाच्यम् । प्रमितत्वविरहात् । बाध्यत्वोपगमादस्माभिः । सादावनादिसम्बन्धपरम्परा- कल्पनाया अपि सादित्वेन बाध्यत्वोपगमादस्माभिः । न च स्वकार्यबाध्यत्वे स्वप्रवृत्तिविरोधः स्यादिति वाच्यम् । बाधज्ञानानुद्भवात् । चित्रगतमिथ्या- रामरावणादिदर्शनादिप्रवृत्तिदर्शनाच्च । अनिर्वचनीयत्वेऽपि व्यावहारिक- सत्त्वमुपगच्छामो वयमित्यस्मन्मते दोषलेशविरहाच्च । पूर्णबाधे सर्वारम्भ- परित्यागदर्शनाच्च । तदाह हरिः 'सर्वारम्भपरित्यागी' ति ॥ ६ ॥

बाध्यते बाध इति चेत् तद्बाध्यत्वं च बाध्यताम् ।
अनवस्थेति चेत् स्वीकुर्वनिर्वाच्यपदानतिम् ॥ ७ ॥ [६६५]

पूर्वपक्षः—कार्यबाधको बाध्य मानना पड़ेगा । अन्यथा कार्यबाधरूपी द्वितीय सत् रह जायेगा । बाध यदि बाधित हुआ तो कार्य सत्य होगा । उत्तरपक्षः—बाधकी बाध्यता भी बाध्य है । तब कार्यकी सत्यता किस प्रकार ?

पूर्वपक्षः—यह फिर अनवस्था होगी । उत्तरपक्षः—अनिर्वचनीय मानिये । क्योंकि बाधकी सत्यता भी बाध्य है ॥ ७ ॥

ननु बाधस्यापि कार्यत्वेन बाधे घटादिकार्यस्य सत्यत्वापत्तिरिति चेत् ? त्वदुक्तबाधस्यापि बाध्यत्वात् पुनः सत्यत्वविघटनात् । अयमपि बाधो बाध्यतां चेद् बाध्यतामिति पदघटितबाधोऽपि । एवं तर्ह्यनवस्थेति चेत् ?

अद्धा । स्वीकुर्वनिर्वाच्यतापादसेवामेव तर्हि । एकपदे दृश्यत्वेन घटादेस्तद्-बाधस्य च कार्यत्वेन बादे घटादिसत्यत्वोत्थानानुपपत्तेश्च ॥ ७ ॥

सत्यत्वस्यापि सत्यत्वे जन्यत्वेऽप्यनवस्थितिः ।
तत्र सत्यत्वविरहे जगन्मिथ्यैव सिध्यति ॥ ८ ॥ [६६६]

और आपका सत्यत्व सत्य है या नहीं ? यदि सत्यत्वमें सत्यत्व है तो उस द्वितीय सत्यत्वमें सत्यत्व मानना पड़ेगा और अनवस्था होगी । यदि सत्यत्व सत्य नहीं तो घटादिमें सत्यत्व है नहीं तब मिथ्या ही सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

एवं तव सत्यत्वे सत्यत्वं चेत्तत्रापि सत्यत्वान्तरं वक्तव्यमिति तत्परम्परा वाच्या । यत्र विश्रामस्तस्याऽसत्यत्वात् सर्वमिथ्यात्वम् । भवतु अनन्ता परम्परेति चेत् सत्यत्वसत्यतायास्तत्सत्यतापरम्परायाश्चाऽ-प्रत्यक्षतया तत् साधने संलग्नस्य तव तत्रैव जीवनसमाप्तिः स्याद् भोजनादेरप्यनवसरप्रसङ्गात् । जन्येषु सत्यत्वतत्सम्बन्धादेर्जन्यत्वेन तत्रापि तथैत्यनवस्थादौस्थ्याच्च थे । किं च स्वाप्नार्थ शशविषाणादेरसत्यत्वं सत्यं न वा । सत्यत्वे कथमसत् सदाधारः । असत्त्वे शशविषाणादिः सन् स्यात् । तस्मात् सत्यत्वप्रतिषेधमात्रं मिथ्यात्वमित्यन्यत्र विस्तरः । स्थापना हि त्वयैव कार्या न तु मया । वयं तु स्वतःसिद्धं स्वप्रकाशं ब्रह्मानुभवन्तः सुखमवस्थास्यामहे । सैवास्माकं स्थापना च ॥ ८ ॥

रुचकादियुतं हेमाऽविकृतं स्वस्तिकादिकृत् ।
इत्यसद् रुचकाकारनाशप्रत्यक्षवीक्षणात् ॥ ९ ॥ [६६७]

पूर्वपक्षः—रुचकादिसहित सुवर्ण विना विकार ही स्वस्तिक बन जाता है । उत्तरपक्षः—रुचकाकारका नाश प्रत्यक्षसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत्तु रुचकादिविशिष्टं हेमैवाऽविकृतमेव स्वस्तिकाद्युपादानमिति तत्तुच्छम् । रुचकाकारनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । अन्यथा रुचकाकारोऽपि स्वस्तिकेऽनुवर्तेत । न च यथादर्शनं केचिदाकारा अनुवर्तन्ते केचिन्नानुवर्तन्त इति वाच्यम् । दण्डचक्रादेरप्युपादानत्वं तदा कुतो न घटादिकं प्रति स्वीक्रियते ? तत्र केचनानुवर्तन्ते केचन नेति वक्तुं शक्यत्वात् ॥ ९ ॥

बहवस्त्र्यणुकाश्चैव संयुज्यन्ते परस्परम् ।
एकमेवाद्वितीयं सद् न बीजान्तरमत्र तु ॥ १० ॥ [६६८]

यह भी बात है कि समानजातीय अनेक उपादान मिलनेपर कार्य उत्पन्न होता है । जैसे अनेक त्र्यणुक मिलकर चतुरणुकादि उत्पन्न होते हैं । ब्रह्म तो एक है—एकमेवाद्वितीयम् । अन्य उपादान है नहीं ॥ १० ॥

किं च चतुरणुकादिसमहत्त्वार्थोत्पत्तौ अनेके त्र्यणुकाः संयुज्यन्ते । अत्रैकमेवाद्वितीयमिति नास्त्युपादानकारणान्तरमिनत्यन्यदीयसंयोगस्याकिंचित्करत्वात् सतो विकारमन्तरा न कार्योत्पत्तिसंभवः । न हि दण्डसंयोगमात्रेण घटात्कार्यान्तरमुत्पद्यते । कपालद्वयसंयोगेन हि घट उत्पद्यते ॥ १० ॥

मिथ्यैवाऽविकृतब्रह्महेतुत्वेऽतो जगद् भवेत् ।
यथाऽविकृतरज्ज्वादिसमुत्थं पन्नगादिकम् ॥ ११ ॥ [६६९]

इस प्रकार ब्रह्ममें पदार्थान्तरसंयोग न होनेसे और ब्रह्मका स्वयं विकार न होनेसे जगत् मिथ्या ही है । जैसे अविकृत रज्जुसे होनेवाला सर्पादि ॥ ११ ॥

एवं स्थिते ब्रह्मणि त्र्यणुकान्तरवत्पदार्थान्तरसंयोगाभावात् पूर्वस्वरूपप्रच्यवाभावाद् अनवयवत्वादविकृतब्रह्मणो जायमानस्य जगतो मिथ्यात्वमकामेनापि स्वीकरणीयम् । यथा अविकृतरज्जावज्ञानवशेन सर्पादिरुत्पद्यते ।

आद्यन्तयोरसत्त्वाच्च भिन्नत्वाच्च परस्परम् ।
उत्पत्तेश्च विनाशाच्च मिथ्या कार्यमुदीरितम् ॥ १२ ॥ [६७०]

आदि और अन्तमें असत् होनेसे कार्य वर्तमानमें भी वैसा ही है । कार्य परस्पर भिन्न होनेसे सत् कारणसे भी भिन्न है अतः भी असत् है । उत्पन्न होता है इसलिये भी असत् है । क्योंकि उत्पत्तिकी भी उत्पत्ति माननेपर अनवस्थादि दोष है । विनाश होनेसे भी कार्य असत् है । क्योंकि सत् का सत्त्व स्वभाव है । असत्त्व उसमें नहीं आ सकता ॥ १२ ॥

कार्यं मध्येऽसद् भवति । आद्यन्तयोरसत्त्वात् । "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथे" ति । ननु कार्यं मध्योऽनारोपितम् । आद्यन्तयोरनारोपितत्वादिति चेन्न । अप्रयोजकत्वात् । शुक्तिरजतादेरप्यन्तरोपित्वापत्तेश्च ।

आद्यन्तयोरारोपितत्त्वाभावमात्रोक्तौ सत्त्वमपि प्रसज्यते । अनारोपिततत्त्वस्य सत्त्वाविरोधित्वात् । अन्यथा आद्यन्तयोर्युवत्वं नास्तीति मध्येऽपि मनुष्यस्य युवत्वं न स्यात् । मम तु "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति भगवद्वचनस्य प्रयोजकत्वादाद्यन्तयोरसतोर्मध्ये सत्त्वाभावः सिध्यति ।

भिन्नत्वाच्च मिथ्यात्वम् । विवादगोचरो भेदव्यवहारः अनुगत-वस्त्वालम्बनः । भेदव्यवहारत्वात् । सर्पभूदलनादिभेदव्यवहारवदिति प्राचां प्रयोगः । न च ब्रह्म भिन्नं माया भिन्ना इति भेदव्यवहारोऽनुगतवस्त्व-न्तरालम्बनः स्यादिति ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वं स्यादनैकान्तिकत्वं वा हेतोरिति वाच्यम् । भेदव्यवहारविषयब्रह्मणस्तस्येष्टत्वात् । सद्भिन्ना माया भिन्ना इति व्यवहारस्तु नास्त्येव । धर्मिग्राहकमानसिद्धसत्त्वानिरासायोगाच्च ।

कारणेऽसतः कार्यस्य शक्तिरिति मतं प्रागेव निरस्तम् । असतोऽव्या-वर्तकत्वेन तया शक्त्या सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अवस्थाया असतीत्व-पक्षोऽप्येतेनैव प्रत्युक्तः । तदपेक्षयाऽसतो घटादेरुत्पत्तिपक्षस्यैवाऽप्रसिद्धा-वस्थाकल्पनातो लघुत्वेन स्वीकरणीयत्वात् । अस्तु तर्हि तथैवेति चेन्न । निरस्तत्वात् । एवं स्थिते "न चेदुत्पत्तिरुत्पत्तेर्नित्यत्वमनवस्थितिः । उत्पत्तावप्यतः कार्यं कारणं वा निरूप्यताम्" इति प्राचां वचनं दुर्निरासं पश्यतोहरादिगालीप्रदानमात्रनिरास्यं भवति भवताम् । सिद्धानवस्थितित्वेना-ऽदोषत्वकथनमपि प्राङ् निरस्तसमानयोगक्षेमम् । सिद्धिविरहात् । "जायतेऽस्ती"ति यास्कवचनेनोत्पत्तिसमनन्तरमेवास्तित्वोपपत्तेः । उत्पत्तेः सत्त्वं तदीयपूर्वोत्पत्तिपूर्वकमिति असंख्यक्षणैरप्युत्पत्तिसिद्ध्यसंभवेनोत्पत्तेः सत्त्वानुपपत्तेः ।

एवं विनाशादपि वस्तुनोऽसत्त्वं मिथ्यात्वलक्षणम् । "नाभावो विद्यते सत" इति भगवदुक्तेः । अस्यार्थान्तरं कर्तव्यमिति चेन्न । त्वदाशयानुसारेण भगवदाशयस्य परिवर्तनासंभवात् । प्रत्यक्षविरुद्धत्वादर्थान्तरनयनमिति चेन्न । त्वदीयमिथ्याप्रत्यक्षेण भगवज्ज्ञानस्यानृतयितुमशक्यत्वात् । "अनाशी परमार्थश्च" इत्यपि वचनं तत उपपद्यते । परमार्थस्य नाशविरहात् । कथं सतो न नाशः ? सतो हि सत्त्वं स्वभावः । तेन कथं तद् वियोज्येत ? असत्त्वं तु न तद्धर्मः । तथा सति तव त्वदीयपदार्थानां चाऽसत्त्वमेवापद्येत ।

नाशसामग्रीसमवधाने सतोऽसत्त्वमित्यप्ययुक्तम् । असत्त्वधर्मः सति वस्तुन्यायातीति तदर्थश्चेद् व्याघातः । सद् असद् भवतीति तदर्थश्चेत् सतः सामग्र्यनुपपत्तिः, सम्बन्धाभावात् । असद् भवतीति च व्याहतवचनम् । भू सत्तायामिति धात्वर्थनिर्देशादसति सत्तेति तदर्थापत्तेः ॥ १२ ॥

कार्यकारणभावश्चाप्यनिर्वाच्यतया मृषा ।
एतेन नश्वरत्वादेर्मिथ्येत्यपि निरूपितम् ॥ १३ ॥ [६७१]

कार्यकारणभाव भी अनिर्वचनीय होनेसे मिथ्या है । "कार्यकारण-निर्मुक्तं" ऐसी मैत्रायणी श्रुति है । इसीसे नश्वर होनेसे मिथ्या है यह बात भी सिद्ध है ॥ १३ ॥

कार्यकारणभावेन सत्यत्वसमर्थनमन्यथा श्रुत्युक्तकारणत्वनिराकरणेन वेदबाह्यत्वमित्यादिकमपि पूर्ववदेव । सति वाऽसति वा कार्यत्वासंभवात् । तेन च सह कारणसम्बन्धानुपपत्तेः । श्रुतिस्तु व्यावहारिकं कार्यकारणभाव-मादाय क्वचित्कारणत्वं ब्रुवाणाऽपि परमार्थतोऽकारणत्वादिकमेवाभिप्रैति । तथा हि न तस्य कार्यमिति कार्यत्वप्रतिषेधेन कारणत्वमपि प्रतिषेधति । "यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपास्यं, किंतद् अवाच्यम् ? "एष हि खल्वात्मे"त्यादि मैत्रायण्याम् । तस्माद् भवतः स्वाधीतपञ्चमवेदमन्त्रबाह्यत्वमुच्यते चेदङ्गीकुर्मः । न वा तदपि तत्रापि लोकसिद्धकारणत्वादेरेव व्यावहारिकस्य वर्णनात् । नश्वरत्वान्मिथ्यात्वमिति तु विनाशादिति हेतुनिरूपणेन निरूपिताम् । यदपि नश्वरत्वं नाशशीलत्वं तच्च क्षणपरिणामित्वादिलक्षणं तदपि सविकारस्य सत्यत्वाऽसंभवा-त्प्राङ्निरूपितप्रायम् ॥ १३ ॥

मूढः क्रीडनमाप्य शर्म मनुते यो बालबुद्धिः पुमान् ।
सप्तान्नानि तु मेधया हि तपसा योऽजीजनच्च प्रभुः ।
कार्यं स्यात् सदसद्विलक्षणमिदं यस्मिन् मृषा कल्पितं
तस्मै स्वप्रभवर्ष्मणे जगदधिष्ठात्रे नमो ब्रह्मणे ॥ ५५ ॥

जो ब्रह्म अविद्योपाधिसे मूढ एवं बालबुद्धि होकर खिलौनोंसे सुख मानता है, जिसने मायोपाधिसे जीवकृत कर्म एवं उपासनासे सहकृत हो

सप्तान्नरूप जगत् बनाया, जिस परब्रह्ममें सदसद्विलक्षण अत एव मिथ्या यह कार्य जगत् कल्पित हुआ उस स्वयंप्रकाश जगदधिष्ठान परब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥

इति कार्यत्वाद्यनुपपत्त्या जगन्मिथ्यात्वम्

*****

(५६)

अथानन्त्यनिरूपणम्

अनन्तमपरिच्छिन्नं कालदिग्वस्तुभिस्त्रिभिः ।
सत्यं ब्रह्म जगत्त्वेतत् परिच्छिन्नत्वतोऽनृतम् ॥ १ ॥ [६७२]

ब्रह्म त्रिविध अन्तसे रहित, काल देश और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है अतः सत्य है । जगत् त्रिविध परिच्छेदयुक्त होनेसे मिथ्या है ॥ १ ॥

ध्वंसप्रागभावयोरन्यतरप्रतियोगित्वं कालपरिच्छेदः । अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छेदः । अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छेदः । घटादयस्त्रिविधपरिच्छेदवन्तः । अनादित्वादनन्तत्वाच्च न ब्रह्मणो ध्वंसप्रागभावौ । नापि तदत्यन्ताभावो व्यापकत्वात् । नाप्यन्योन्याभावः । तदाह तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १ ॥

ननु न ब्रह्म कुम्भादिरतो वस्तुपरिच्छिदा ।
ब्रह्मण्यस्तीति चेन्मैवं सन्नेत्येवमदर्शनात् ॥ २ ॥ [६७३]

पूर्वपक्षः—ब्रह्म सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होनेसे उसमें देशकालपरिच्छेद भले न हो पर वस्तुपरिच्छेद है । घट ब्रह्म नहीं है इत्यादि भेद वहां है । उत्तरपक्षः—घट सत् नहीं है ऐसा होता है क्या ? नहीं होता । तो वस्तुपरिच्छेद भी नहीं है ॥ २ ॥

न च घटो न ब्रह्मेत्यस्ति प्रतीतिरिति वाच्यम् । घटः सन्नेति प्रतीतिविरहात् ॥ २ ॥

लोकान्तरनिवासीति तद्विदुर्भेददर्शिनः ।
सन्मात्ररूपं ब्रह्मेति न ते जानन्त्यसद्ग्रहात् ॥ ३ ॥ [६७४]

भेददर्शी ब्रह्मको सत्यलोकादिमें रहनेवाला समझते हैं । ब्रह्म सन्मात्र है यह वे नहीं समझते। क्योंकि असद्ग्रहणसे इनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है ॥ ३ ॥

ब्रह्मशब्दप्रयोगे सत्यलोकादिवर्ती कश्चन देवविशेषो बुद्धिपथमायातीति युक्तस्तद्भेदप्रत्ययः । वस्तुतः सदेव ब्रह्म । तदज्ञानात्तु वस्तुपरिच्छेदभ्रमः ।

आसीत्सदेवाग्र इति तत्तेजोऽसृजतेत्यपि ।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मेत्यपि च श्रुतेः ॥ ४ ॥ [६७५]

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" यह श्रुति ब्रह्मको सत् बताती है । वह सत् काष्ठ लोष्ठादि नहीं । "तत्तेजोऽसृजत" यह श्रुति उसे जगत् का कारण कहती है । सत्स्वरूप ही समस्त जगत् है । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" यह श्रुति वस्तुपरिच्छेदनिषेध करती है । वह प्रकृति आदि नहीं, "स आत्मा तत्त्वमसि" यह श्रुति उसे आत्मा कहती है ॥ ४ ॥

"आत्मैवेदं सर्वं" "ब्रह्मैवेदं सर्वमि"त्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षात्प्रबलं शास्त्रं शास्त्रानर्थक्यमन्यथा ।
प्रत्यक्षं न मृतो याति वैकुण्ठ-स्वर्ग-दुर्गतीः ॥ ५ ॥ [६७६]

पूर्वपक्षः- प्रत्यक्षसे शास्त्र प्रबल है । अन्यथा शास्त्र ही व्यर्थ होगा ।

उत्तरपक्षः- मृतव्यक्ति प्रत्यक्षतः जला दिया जाता है । वह न वैकुण्ठ जाता है और न स्वर्ग या नरक ॥ ५ ॥

यत्तु शास्त्रप्रत्यक्षयोर्विरोधे प्रत्यक्षं बलवत् । अन्यथा "आदित्यो यूप" इत्यादिश्रुतेर्यूपस्यादित्यत्वं स्वीक्रियेतेति । तदसत् । तथासति "तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्य" इति सूत्राऽप्रामाण्यापत्तिः । किंच प्रत्यक्षं मृतो दग्धो न क्वापि गच्छतीति स्वर्गकामो यजेत गच्छति वैकुण्ठमित्यादिवचनाऽप्रामाण्यं स्यात् । न च वैकुण्ठादीन्यतीन्द्रियाण्यात्मा चेति वाच्यम् । अतीन्द्रिय-मादित्यत्वं यूपेऽप्यस्तु त्रसरेण्वादौ पृथिवीत्वजलत्वादिवत् । देवतात्व-

स्यातीन्द्रियत्वाच्च । पुराणवर्णितलक्षादियोजनोपरिस्वर्गवैकुण्ठादि च न उपलब्धं वैमानिकैः (राकेट् प्रभृतिना) ॥ ५ ॥

आदित्यो यूप इत्यादौ शास्त्रतात्पर्यहानतः ।
निर्बलं तद्धि यूपादि प्राशस्त्यपरकं वचः ॥ ६ ॥ [६७७]

आदित्यो यूपः इत्यादिका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है । अतः अर्थवादता है ॥ ६ ॥

जातेर्व्यापकत्वेऽपि सम्बन्धविरहादप्रत्यक्षत्वं घटत्वादेः पटादिषु । न ह्येकदेशस्थमद्रव्यं सामान्यमुत्पन्नपदार्थं प्रतिधावति । व्यापकमादित्यतत्त्वं चक्षुषीव यूपादिस्थानेऽप्यस्ति । सम्बन्धमात्रमतीन्द्रियं शक्यं कल्पयितुम् । किन्तु तात्पर्याभावान्न कल्प्यते । तात्पर्यवच्छास्त्रं प्रबलम् । तात्पर्यवती चाद्वैतश्रुतिः । पुरुषैरर्थ्यमानमोक्षफलप्रयोजकत्वात् । तदपरिच्छिन्नमनन्तं सत्यं ब्रह्म, न तु जगत् ॥ ६ ॥

ननु प्रत्यक्षसापेक्षा कथं तद् बाधतां श्रुतिः ।
मैवं सदोषं प्रत्यक्षमसमर्थं क्वचित्तथा ॥ ७ ॥ [६७८]

प्रश्नः—श्रुति प्रत्यक्षपर आधारित है, वही प्रत्यक्षको कैसे बाधेगी ? उत्तरः—प्रत्यक्ष कहीं सदोष एवं असमर्थ भी तो होता है ॥ ७ ॥

ननु प्रत्यक्षसापेक्षा श्रुतिः कथं प्रत्यक्षं बाधताम् ? अन्यथा तत्त्वमस्यादौ भागत्यागलक्षणापि न स्यादिति चेन्न । तत्त्वमस्यादौ सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वाद्यैक्यतात्पर्याभावात् । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वात् । क्वचित्-प्रत्यक्षस्य सदोषत्वादसमर्थत्वाच्च ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षेण गृहीत्वैव सूर्यं ज्योतिषवेदिनः ।
लक्षयोजनविस्तीर्णं तद्विरुद्धमवर्णयन् ॥ ८ ॥ [६७९]

सूर्य प्रत्यक्ष है । ज्योतिषी प्रत्यक्षसे सूर्यादिको देखकर प्रत्यक्षविरुद्ध लक्षयोजन विस्तीर्ण बताते हैं । अनुमान वहां प्रबल मानेंगे तो 'वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वाद्' भी होगा ॥ ८ ॥

सूर्यतारादयः किल प्रत्यक्षेणैव गृह्यन्ते । तत्प्रतिपादकं ज्योतिषशास्त्रं प्रत्यक्षसापेक्षम् । तथापि प्रत्यक्षसिद्धमल्पपरिणामविरुद्धं लक्षयोजनादि-

विस्तीर्णत्वमेव विद्वांस उपगच्छन्ति ज्योतिषवर्णितम् । कथं ? प्रत्यक्षस्य निर्दोषत्वनियमविरहात् ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षसिद्धा भवति शरीरव्यापितात्मनः ।
अणोरणीयः शास्त्रात् स त्वयाणुः स्वीकृतः कथम् ॥ ९ ॥ [६८0]

संपूर्ण शरीरगत सुखदुःखादिका अनुभव करते हुए स्वात्माको सभी शरीर व्यापक ही अनुभव करते हैं । अणोरणीयान् इस शास्त्रके बलसे आपने उसे कैसे अणु मान लिया ? ॥ ९ ॥

अपि च कृत्स्नशरीरगतसुखदुःखादिमत्त्वेन शरीरव्यापित्वमात्मनोऽनुभूयते । किन्तु स्वयमिमे द्वैतवादिनस्तादृशप्रत्यक्षविरुद्धमात्मनोऽणुत्वमङ्गीचक्रुः । न च वृद्धिह्रासादिना विकारित्वान्नाशित्वं स्यात्तथा च कृतहानाऽकृतागमप्रसङ्ग इति वाच्यम् । कृतहानादेः शास्त्रवेद्यत्वात्तस्यैव प्रत्यक्षबाध्यत्वात् । भवतु कृतहानम् । अकृताभ्यागमोऽपि प्रत्यक्षत्वादस्तु । अन्यथा सर्वकार्यस्य पूर्वकर्मफलत्वात् स्वत एव प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा स्यादिति गुरुशास्त्राद्यादेशवैयर्थ्यं स्यात् । ईषच्चलनमात्रस्यापि पूर्वकर्मपरिणामस्वीकारावश्यकत्वप्रसङ्गात् । अस्माकं पुनरनिर्वचनीयवादिनां न कोऽपि दोषो भवति ॥ ९ ॥

कलञ्जभक्षणं लोकैः सुखदाय्यनुभूयते ।
कथं नु दुःखहेतुत्वं शास्त्रोक्तं स्वीकृतं त्वया ॥ १० ॥ [६८१]

प्रत्यक्षतः कलञ्जभक्षण सुखहेतु है । शास्त्रसे आपने उसे दुःखहेतु कैसे माना ? ॥ १० ॥

अपि च कलञ्जभक्षणं लोकानां प्रत्यक्षतः सुखजनकम् । कालान्तरे शरीरादिपोषणकरम् । तत् कथं शास्त्रेण "न कलञ्जं भक्षयेदि"त्यनेनादिष्टदुःखकारणत्वं भवता स्वीकृतम् । मीमांसायां च मीमांसितम् ॥ १० ॥

भिन्नश्चेद्विषयस्तत्र भिन्नोऽत्रापि तथैव नः ।
पारमार्थिकमेकत्वं नानात्वं व्यावहारिकम् ॥ ११ ॥ [६८२]

यदि सुख प्रत्यक्ष ऐहिक है, दुःखहेतुत्व पारत्रिक है इस प्रकार भिन्नविषय होनेसे विरोध नहीं तो हमारे मतमें भी वही बात है। अद्वितीयत्व पारमार्थिक है। नानात्व व्यावहारिक है ॥ ११ ॥

ननु कलञ्जभक्षणादौ सुखदायित्वमैहिकप्रत्यक्षम्। दुःखं तु मरणोत्तरभावीति भिन्नविषयत्वान्न प्रत्यक्षश्रुत्योर्विरोध इति चेदभ्युपगम्य ब्रूमः। तुल्यमस्माकम्। अद्वितीयत्वं पारमार्थिकम्। नानात्वं द्वैतं व्यावहारिकम्। तथा च विरोधविरहात् कथं प्रत्यक्षदर्शनं श्रुतिं बाधताम् ॥ ११ ॥

देशेन कालेन च वस्तुना वा।
जगत् परिच्छिन्नमतो मृषैतत्।
यश्चाऽपरिच्छिन्नवपुस्त्रिभिस्तै-
र्जयत्यसौ सर्वगतोऽव्ययात्मा ॥ ५६ ॥

देशसे कालसे या वस्तुसे परिच्छिन्न होनेसे जगत् मिथ्या है। इन तीनोंसे अपरिच्छिन्न होनेसे ब्रह्म सत्य है। उस सर्वगत अव्ययात्माकी जय हो ॥ ५६ ॥

इत्यानन्त्यनिरूपणम्

*****

(५७)

अथ निर्विशेषब्रह्मानन्दबोधः

यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥ १ ॥ [६८३]

वह ब्रह्म निर्विशेष आनन्दरूप है। श्रुति कहती है कि वहांतक न वाणीकी गति है, और न मनकी। ब्रह्मका वह आनन्द पाकर किसीसे भय नहीं होता ॥ १ ॥

तच्च ब्रह्म निर्विशेषानन्दरूपमपि भवति। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेः। सविशेषत्वे हि कुतो वाङ्निवृत्तिः? जातिगुणादिविशेषवतः शब्दवाच्यत्वावश्यंभावात् ॥ १ ॥

राहोर्मूर्धेतिवत् षष्ठी वक्त्यैक्यमुपचारतः ।
व्यजानाद् भृगुरानन्दो ब्रह्मेति वचनान्तरात् ॥ २ ॥ [६८४]

"आनन्दं ब्रह्मणः" यहां षष्ठी लक्षणा से ऐक्यको कहती है । "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" यहां स्पष्ट अभेद बताया है ॥ २ ॥

"आनन्दं ब्रह्मणः" इति षष्ठी न भेदबोधिका । किन्तु 'राहोः शिर' इत्यत्रेवाभेदबोधिका । अत एव भृगुवल्ल्याम् "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना-दि"ति श्रौतवचनमुपपद्यते ॥ २ ॥

कीदृगानन्द इति चेदीदृक्ता तस्य नास्ति हि ।
यस्त्वनीदृगतादृक् च स ब्रह्मानन्द इष्यते ॥ ३ ॥ [६८५]

प्रश्नः—वह ब्राह्मनन्द कैसा है ? उत्तरः—उसमें ऐसापन नहीं है । जो ऐसा तैसा आदि विशेषोंसे रहित है वही ब्रह्मानन्द है ॥ ३ ॥

ननु कीदृगिदमानन्दत्वम् । अनुकूलवेदनीयं वाऽनुकूलवेदनं वा ? नाद्यः वेदनीयत्वानुपगमात् । मनसो निवृत्तेः । नापि द्वितीयः । निर्विशेषत्व-भङ्गापत्तेरित्यादितर्कवचनं तु "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुत्यैव दत्तोत्तर-मिति व्यर्थं पिष्टपेषणम् । यद्यनुबुभूषुस्तर्हि "यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवं" तादृशगुरुचरणसेवामाधत्स्व ॥ ३ ॥

अभयं च द्वयाभावाद् द्वितीयाद्वै भयं भवेत् ।
सत्यं तदभयं ब्रह्म ततोऽन्यच्च मृषा जगत् ॥ ४ ॥ [६८६]

"न बिभेति कुतश्चन" यह अभय कथन द्वितीयके न होनेसे है । द्वितीयसे भय होता है यह श्रुतिवचन है । अतः अभय ब्रह्म सत्य है । उससे अन्य द्वितीयत्वेन प्रतीयमान जगत् मिथ्या है ॥ ४ ॥

"न बिभेति कुतश्चने"त्यभयत्वोक्तिश्च द्वितीयाभावमादाय । "द्वितीयाद्वै भयं भवती"ति श्रुतेः । तथा च पुरुषार्थभूतमभयमद्वयं ब्रह्म । द्वैतप्रपञ्च-श्चात एव मिथ्या । तत्सत्त्वे द्वैतसत्त्वेन द्वितीयाद् भयावश्यंभावात् ॥ ४ ॥

ब्रह्मानन्दरसे हि वाङ्मनसयोरप्राप्तिमाह श्रुति-
स्तर्कं मर्कटमृष्टयोऽत्र बहुधा कुर्वन्ति गर्वोद्धताः ।
नाचिन्त्यान् खलु योजयेच्छ्रुतिनुतांस्तर्केण भावानिति
स्मृत्युल्लङ्घनतो भयं ययुरमी संन्यासिनश्चाभयम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मानन्दरूपी सुखमें वाणी और मन नहीं पहुंचते। वहां ये गर्वी मर्कटमुष्टि तर्क करते फिरे। और अचिन्त्य भावोंमें तर्क मत करो-इस स्मृतिके उल्लंघनसे भी वे भयको प्राप्त हो गये। तर्कावलम्बी इसी कारण जीवन्मुक्तीका खण्डन करते हैं क्योंकि तर्कके कारण अभय क्या यह जान ही नहीं पाते ॥ ५७ ॥

इति निर्विशेषानन्दनिरूपणम्

*****

(५८)

अथ निर्विशेषनित्यत्वम्

तच्चानन्दं ब्रह्म नित्यमिति श्रुत्यैव वर्णितम्।
अपृथक् सत् पृथगिव भाति नित्यत्वमात्मनि ॥ १ ॥ [६८७]

वह आनन्दरूपी ब्रह्म नित्य है ऐसा श्रुतिने ही वर्णन किया है-"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"। नित्यत्व आत्मासे अलग नहीं। फिर भी व्यवहारमें अलग जैसा लगता है ॥ १ ॥

निर्वेशेषं ब्रह्म तावदानन्दरूपमित्युक्तम्। तच्च नित्यम्। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुत्या तस्य नित्यत्वोक्तेः। ननु किमिदं नित्यत्वम्? न च सर्वकालसत्तारूपम्। अविद्याया अपि नित्यत्वप्रसङ्गात्। कालस्याविद्यामूलत्वेन यावत्कालं तदवस्थितेः। नापि कालावच्छेदराहित्यम्। कालस्य स्वानवच्छेद्यत्वान्नित्यत्वापत्तेः। नापि ध्वंसरहितत्वम्। ध्वंसस्य ध्वंसाभावेन नित्यत्वापत्तेः। नाप्यबाधितत्वम्। अबाधितघटे नित्यत्वव्यवहाराभावात्। नापि निर्विकारत्वम्। विकारे विकारान्तरस्वीकारेऽनवस्थापातान्निर्विकारत्वेन विकारस्य नित्यत्वापत्तेः। नाप्युभयावधिरहितत्वम्। व्यावहारिकस्य तस्य संविद्यपि सत्त्वात्। पारमार्थिकस्य चाप्रसिद्धत्वात्। नापि धर्मविशेषः। मानाभावादिति चेन्न। सर्वस्यापि लक्षणस्य क्षोदक्षमत्वात्। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृदि"त्युक्तेः स्वयं ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिककालत्वात्तत्र बाधितस्य तत्र सत्तानुपपत्तेः प्रथमलक्षणोपपत्तिः। द्वितीय-

स्याप्युपपत्तिः । नानाक्रियादिलक्षणानां कालानां परस्परावच्छेद्यभावा-स्वीकारात् । यथा प्रकारताविशेष्यतादीनाम् । अयं हि दिवसोऽनेनैव दिवसेन परिच्छिन्नः । अन्यथा नित्यत्त्वापत्तेः। अन्यथा सर्वमतेन दोष-साम्यात् । न च मतान्तरे ध्वंससत्त्वान्नित्यत्वानुपपत्तिः । कालापरिच्छिन्नस्य ध्वंसः खलु किं करिष्यति । ध्वंसो हि पदार्थान्तरम् । स खलु किं करिष्यति कालस्य ? तृतीये ध्वंसरहितत्वं ध्वंसव्यवहारविषयताशून्यत्वम् । ब्रह्मणि न ध्वंसव्यवहारः । माया तत्कार्ययोस्तु "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति"ति श्रुतेः ध्वंसपर्यायनिवृत्तिपदव्यवहारविषयत्वसत्त्वात् । ध्वंसस्यापि ध्वंसो यथोक्तो भवत्येव । तस्यापि मायिकत्वात् । अधिकरणरूपत्वे भवतु नित्यत्वमेव । चतुर्थे अबाधितत्वमपि लक्षणं युज्यते । न च घटादौ तदभावः । घटादेरपि अस्माभिर्बाधस्वीकारात् । न च यदा बाधितत्वं नास्ति तदा नित्य-त्वव्यवहारः स्यादिति वाच्यम् । ईश्वरज्ञानेन सर्वजगतों बाधितत्वात् । बाध्यत्वं वा वक्तव्यमित्यदोषः । बाध्यत्वं बाधयोग्यत्वम् । न च बाधितत्वेन प्रतीतिविरहकालेऽपि अनित्यत्वव्यवहारोऽस्त्विति वाच्यम् । तावतापि व्यावृत्तिप्रयोजकलक्षणस्वीकारे दोषाभावात् । न हि गन्धवत्त्वानुसन्धान-विरहकालेऽपि पृथिवीत्वव्यवहारदर्शनात् गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणं न भवति । तवापि किमिदं नित्यत्वं ? न हि द्रव्यं गुणो वा । तयोरन्यत-रानन्तर्भूतत्वात् । ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं तदित्यपि न । विष्णोर्ध्वंसा-ऽप्रसिद्ध्या नित्यत्वव्यवहारानुपपत्तेः । घटादिध्वंसप्रसिद्धावपि तदप्रतियोगि-त्वं न नित्यत्वव्यवहारकारणं, पटादेर्नित्यत्वापत्तेः । सकलध्वंसप्रतियोगित्वा-भावश्चाऽसर्वज्ञदुर्ज्ञानम् । ध्वंसानामनन्तत्वात् । न च ध्वंसत्वावच्छिन्न-निरूपितप्रतियोगितात्वावच्छिन्नाभावः । ध्वंसत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वाऽ-प्रसिद्धेः । ध्वंसादिप्रतियोगितानां किंचिद्धर्मानवच्छिन्नत्वेन तत्तत्प्रतियोगि-तानिरूपिततदनुयोगिताया ध्वंसत्वानवच्छिन्नत्वात् । न च ध्वंसत्वसमानाधि-करणानुयोगितानिरूपितप्रतियोगितात्वावच्छिन्नाभावो नित्यत्वमिति वाच्यम् । ध्वंसनिष्ठेश्वरगगनाद्यभावस्याधिकरणरूपत्वेन तत्प्रतियोगित्वसत्त्वादीश्वर-गगनादेरनित्यत्वापत्तेः । ईदृशदीर्घतरनानापदार्थघटितप्रतियोगित्वाभाव--मजानद्भिरपि लोकैस्त्वदुक्तरीत्या नित्यत्वव्यवहारदर्शनेनास्य लक्षणस्य

नित्यत्वव्यवहारहेतुत्वासंभवाच्च । एवमन्यान्यपि लक्षणानि निरसनीयानि । तच्च खण्डनादौ द्रष्टव्यम् । पञ्चमं निर्विकारत्वमपि नित्यत्वमेव । न च विकारे विकाराभावान्नित्यत्वापत्तिः । तादात्म्येन तत्र विकारसत्त्वात् । यथा प्रमेयत्वे प्रमेयत्वान्तरस्वीकारेऽनवस्थाभयात्तादात्म्येन प्रमेयत्वमेव प्रमेय-व्यवहारप्रयोजकं तथेति । किं च भवताऽपि विकारनाशस्वीकारात्तस्यापि षड्भावविकारान्तर्गतत्वात्सविकारत्वोपपत्तेः । षष्ठमाद्यन्तावधिरहितत्वमपि लक्षणम् । न हि संविदि ब्रह्मणि व्यवहारिकमप्याद्यन्तावधिमत्त्वम्। वृत्ति-विशिष्टायां कामं तदास्ताम् । अस्त्येव तेनानित्यत्वव्यवहारोऽपि । सप्तमपक्षे धर्मविशेषत्वमप्यङ्गीकुर्मः । अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव तस्यावभासमानतायाः स्वीकारात् । व्यवहारार्थं तावन्मात्रस्योपयोगात् । अव्यवहार्ये तुरीयतत्त्वे च नित्यत्वव्यवहारोऽपि कथमुपपद्यतामिति पारमार्थिकनित्यत्वधर्माऽसत्त्वेऽपि न क्षतिः । यत्तु स्वप्रकाशेनैव तत्प्रकाशापत्तिरिति । तन्न । आवरणेन तदनुपपत्तेः । स्वप्रकाशं ब्रह्माप्यावरणेन न संप्रकाशत इति । तथा च ॥ १ ॥

> कालव्यापकसत्ता तदनवच्छेद्यतोत वा ।
> अनाश्यत्वमबाध्यत्वं निर्विकारत्वमेव वा ॥ २ ॥ [६८८]
>
> उभयावधिशून्यत्वं धर्मान्तरमुतापि वा ।
> नित्यत्वं व्यवहारेऽस्त्वव्यवहार्यं तु सन्मम ॥ ३ ॥ [६८९]

पूर्वपक्षः—नित्यका लक्षण क्या है ? उत्तरपक्षः—हर कालमें रहनेवाला, कालसे अपरिच्छिन्न, अविनाशी, अबाध्य, निर्विकार, पूर्वोत्तरावधिरहित, खास कोई धर्मवाला इत्यादि सभी नित्य व्यवहारका प्रयोजक है, परमात्मा अव्यवहार्य है, उसके लिये लक्षण पूछना व्यर्थ है ॥ २-३ ॥

वस्तुतस्तु आकाशादौ नित्यता काचिदेका प्रत्यङ्मात्रे नित्यता काचिद-न्येति संक्षेपशारीरकोक्तेः किंचिद्विलक्षणं नित्यत्वं व्यवहारेऽपि ब्रह्मण्युप-तिष्ठते तेन नित्यत्वव्यवहारो वस्तुतश्चाव्यवहार्यमेव ब्रह्मेत्येव तत्त्वम् ॥ २-३ ॥

> नित्यो हरिर्धनसुतादिरनित्य इत्थं
> बुध्यन् सुधीर्व्यवहरल्लभते विरागम् ।
> त्वं तन्निरुन्धि यदनिर्वचनीयवादे
> चोद्यं किमत्र तव निर्वचनाग्रहः कः ॥ ५८ ॥

ब्रह्म नित्य है, संसार अनित्य है। ऐसा विवेकज्ञान होनेपर संसारसे वैराग्य होगा। इसके लिये काल नित्य है कि नहीं इत्यादि प्रश्न उठाना निरर्थक है। विषयानित्यत्व ही वैराग्यका कारण है। निर्वचन करनेका आग्रह है तो तुम स्वयं निवर्चन करो। अनिर्वचनीयतावादमें न तो निर्वचनके लिये प्रश्न होता है और न उत्तर। व्यवहारके लिये अनुपयोगी लक्षण बनाओगे तो तुम्हारा ही निराकरण होगा। और व्यवहार तो विना ही लक्षण सामान्यजन करते हैं। फिर भी आवश्यक हो तो लक्षण दिखा चुके हैं॥ ५८॥

इति निर्विशेषनित्यत्वम्

*****

(५९)
अथाऽद्वितीयश्रुतिसंवादः

अद्वितीयं च तद् ब्रह्म द्वितीयरहितत्वतः।
नाविद्यादि द्वितीयं तु मिथ्यात्वात्स्थाणुचौरवत्॥ १॥ [६९०]

वह ब्रह्म अद्वितीय है, क्योंकि द्वितीय नहीं है। "एकमेवाद्वितीयं" यह श्रुतिवचन है। अविद्या आदि द्वितीय नहीं है क्योंकि वे मिथ्या हैं। स्थाणु अपनेमें कल्पित पुरुषको लेकर सद्वितीय नहीं होता॥ १॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्" "प्रञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः" "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" "न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येदि"त्यादिषु ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं प्रतिपादितम्। न च जीव ईशः अविद्येत्यादीनां परिगणनादस्ति द्वितीयमिति वाच्यम्। ब्रह्मणः पृथक्त्वेन तेषां मिथ्यात्वात्। न हि मिथ्यावस्तूपादाय सद्वितीयत्वं भवति। स्थाणुपुरुषदर्शनोत्तरमन्धकारभूतपुरुषदर्शनोत्तरं वाऽयं द्वितीयो मत्तः पुरुषो दृश्यत इति वदन्नपि प्रकाशे सति कल्पितार्थबाधे च सति अद्वितीय एवाहं, पूर्वं सद्वितीय इवाहमासं वस्तुतस्तदानीमप्यद्वितीय एवाहमासमिति सर्वजनप्रतीतेः॥ १॥

द्वितीयेऽर्थे सति ह्यन्यपदार्थत्वं घटेत चेत् ।
न, नानांचन्द्रबाधोर्ध्वमद्वितीयोक्तिदर्शनात् ॥ २ ॥ [६९१]

पूर्वपक्षः—अद्वितीयका अर्थ है न विद्यते द्वितीयो यस्य । अन्यपदार्थमें बहुव्रीहि समास है । वह अन्यपदार्थके अस्तित्वमें ही सम्भव है । उत्तरपक्षः—बहुव्रीहिके लिये प्रातीतिक द्वितीय पर्याप्त है। तिमिररोग से 'अयं चन्द्रः सद्वितीयः' इस प्रतीतिके बाद बाध होनेपर एक एव चन्द्रोऽद्वितीयः ऐसा व्यवहार होता है ॥ २ ॥

"नन्वनेकमन्यपदार्थे" इति शासनादन्यप्रतियोगिद्वितीयसत्त्वे एव बहुव्रीहि-समासो घटेतेति चेन्न । द्वितीयसत्त्वे द्वितीयनिषेधे व्याघातापत्तेः । प्रातीतिक-द्वितीयेनापि बहुवीह्युपपत्तेश्च । प्रथमं स्थाणुचौरं दृष्ट्वा सद्वितीयत्वं शङ्कमानेन चौरबाधोत्तरमद्वितीयोऽत्राहमिति प्रयोगदर्शनात् । न विद्यते द्वितीयो यस्मादिति बहुव्रीहौ द्वितीयसामान्यनिषेधपूर्वकाधिष्ठानप्रतिपादन-मात्रतात्पर्याच्च । सूत्रेषु निर्दिष्टार्थस्य मीमांसयैव निर्धारणाङ्गीकारात् । अन्यथा कर्तरि लकारविधाने रथो गच्छतीत्यादावपि गमनकर्तृत्वं रथस्य स्वीक्रियेत । न हि समासे पृथक् शक्तिरुररीकृता । तत एव निषादस्थ-पत्यधिकरणे सिद्धान्तवर्णनात् ॥ २ ॥

विरुद्धाकारिणोऽसत्त्वे नाध्यास इति मूढता ।
क्व रूप्यं विद्यते शुक्तौ क्व च स्वप्ने रथादयः ॥ ३ ॥ [६९२]

पूर्वपक्षः—विरुद्ध आकारवाला हो तभी अध्यास संभव है । जैसे लोहा और अग्नि दोनों हो तब अन्योन्याध्यास होता है । उत्तरपक्षः—शुक्तिमें रजत कहां है ? फिर भी रजताध्यास होता है । स्वप्नमें रथादि कहां है ? ॥ ३ ॥

यत्तु विरुद्धाकाराग्रहणे नाध्यास इति विरुद्धाकारवतः सत्त्वं स्वीकार्य-मिति, तत्तुच्छम्। रज्जौ विरुद्धाकारिणः सर्पस्य विरहेऽपि सर्पाध्यासदर्शनात् । एवं स्वाप्नरथादौ ॥ ३ ॥

पञ्चीकरणतः शुक्तौ रजतं तिष्ठतीति चेत् ।
न, स्थाणौ चेतनश्चौरः केन रूपेण वर्तते ॥ ४ ॥ [६९३]

पूर्वपक्षः—पञ्चीकरणसे रजतावयव शुक्तिमें है । उत्तरपक्षः—स्थाणुमें चेतन चोर किसरूपसे है बताईये ॥ ४ ॥

यत्तु शुक्तौ पञ्चीकरणाद् रूप्यावयवा अपि विद्यन्त इति । तदसत् । सचेतनसर्पावयवस्य रज्जौ विरहात् । स्थाणौ सूक्ष्मचौरावयवाभावात् ॥ ४॥

कपाले च घटभ्रान्तौ को विरुद्धार्थ उच्यताम् ।
तस्यावयवलोपश्च कथं स्वप्ने च का गतिः ॥ ५ ॥ [६९४]

और दूरस्थित कपालमें घटकी भ्रान्ति हुई तो वहां विरुद्धार्थ क्या है ? शुक्तिमें रजतावयव अदृश्य हो गया । किन्तु कपालमें घटावयव कैसे अदृश्य हुआ ? स्वप्नमें रथादि दीखता है तो वहां कौनसा रथावयव है ? ॥ ५ ॥

कपाले घटभ्रमे को विरुद्धार्थः ? रजतावयवादर्शनं तत्र बाधः । इह कस्य बाधः ? स्वप्ने रथादिभ्रमे कस्तत्र तदवयवः ? ॥ ५ ॥

रथभ्रमश्च शकटे द्वितीयेन्दुभ्रमो विधौ ।
स्वप्ने भिक्षुभ्रमो राज्ञो नैवावयवसत्त्वतः ॥ ६ ॥ [६९५]

छकड़ेमें रथका भ्रम, चन्द्रमें द्वितीय चन्द्रभ्रम, राजा जनकका स्वप्नमें अपनेको भिक्षु समझनेका भ्रम क्या ये सब पञ्चीकरणसे सिद्ध होंगे ? ६ ॥

शकटे रथभ्रमे का गतिः ? रथशकटयोरुभयोः काष्ठनिर्मितत्वाद् शकटे रथभ्रमः, चन्द्रमसि द्वितीयचन्द्रमोभ्रमः, राज्ञो जनकस्य स्वप्ने भिक्षुभाव-भ्रमश्च कथं पञ्चीकरणात् सिद्ध्यति ॥ ६ ॥

दोषाणां सूक्ष्मदर्शित्वमिति ते बुद्धिसूक्ष्मता ।
दोषैः सर्वज्ञतामेवं प्राप्नुयास्त्वं न संशयः ॥ ७ ॥ [६९६]

आंख आदिके दोषसे शुक्ति आदिमें स्थित सूक्ष्म रजतावयव दीख पड़े यह कहनेवालेकी बुद्धिकी सूक्ष्मताका क्या बखान करें ? इन दोषोंसे तुम शायद सर्वज्ञ भी हो जाओगे ॥ ७ ॥

यदि तु पञ्चीकरणेन रजतादितत्त्वं शुक्तौ विद्यत इति तदेव शुक्त्या-वध्यस्यत इति । तत्रेदं वक्तव्यं रजतावयवाः कथं दृश्यन्त इति । यदि

चक्षुर्दोषेण, तदा दोषाणां सूक्ष्मवस्तुदर्शनकारित्वमिति जगद्विलक्षणं तव बुद्धिवैभवम् । एवं सति दोषानेव संयोज्यावश्यं सर्वज्ञतां त्वं प्राप्स्यसि । वयं तु ब्रूमः । चक्षुषी एव स्फोट्येतां ततो भूतभविष्यद्वर्तमानसकलार्थदर्शनं ते भविष्यतीति लघूपायः ॥ ७ ॥

क्वाचित्कसर्पसत्त्वं च न सर्पभ्रमकारणम् ।
दृष्ट्वा चित्रपटे सर्पं रज्जौ सर्पभ्रमो भवेत् ॥ ८ ॥ [६९७]

कहीं असली सर्प दीखा इसलिये रज्जुमें सर्पभ्रम हुआ ऐसा कहना भी सही नहीं है । पिक्चरमें सर्प देखकर भी रज्जुमें सर्पभ्रम होता है ॥ ८ ॥

सर्पसंस्कारमात्रेण सर्पभ्रान्त्युपपत्तितः ।
नान्वेष्यमन्यथासिद्धं सर्पसत्त्वं सुदूरगम् ॥ ९ ॥ [६९८]

सर्पभ्रान्तिके प्रति सर्पका अस्तित्व कारण नहीं है । सर्पसंस्कार ही कारण है । अत एव सिनेमामें चित्र बनानेवाले ने सर्प देखा होगा, उसने भी प्लास्टीकका सर्प देखा हो और चित्र बनाया हो ? तो उस प्लास्टीकका सर्प बनानेवालेने असली सर्प देखा होगा इस रीति दूर जाकर सर्पसत्त्व सिद्ध करना बेकार है । दूसरेने सर्प देखा वह हमारे सर्पभ्रममें कारण बना इत्यादिको दार्शनिक अन्यथासिद्ध समझते हैं ॥ ९ ॥

ननु रज्जौ सर्पविरहेऽपि क्वचित्सत्यसर्पोऽस्त्येवेति चेद् ? तत् किं मथुरायां मृत्तिकासत्त्वात्पाटलिपुत्रे घट उत्पद्येत ? अप्रयोजकमेव तत् । न च संस्कारद्वारा कारणं स्याद् भ्रमे इति वाच्यम् । लाघवात् सर्पसंस्कार एव कारणं न तु सर्पः । चलचित्रदृष्टसर्पसंस्कारेणापि सर्पभ्रान्त्युत्पत्तिदर्शनात् ॥ ९ ॥

भवेदनादिभिर्मायावासनाभिर्जगद्भ्रमः ।
नादिमूलं सदर्थोऽतो भ्रमोत्पत्तावपेक्षितः ॥ १० ॥ [६९९]

पूर्वपक्षः—माना कि सर्प भ्रममें सर्पसंस्कार ही कारण है । तथापि उसके कारणादि क्रमसे सुदूर जाकर भी सर्पसत्त्व सिद्ध होगा । वैसे जगद्भ्रममें कहीं दूर जाकर सत्य जगत् सिद्ध होगा । उत्तरपक्षः—सर्वप्रथम जगद्भ्रम पूर्व यथार्थ जगज्ज्ञानसे होगा यह आपका कहना है । किन्तु सर्वप्रथम नामका कोई जगतभ्रम ही नहीं है । जगतभ्रम अनादिकालसे

है। जगत् सत्य कहनेवाले भी कबसे जगत् शुरू हुआ यह कह नहीं सकते। उससे पूर्व क्या था ? कुछ नहीं तो कितने समय तक नहीं था ? उससे पहले क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर मिलेगा ही नहीं। अतः अनादिसंस्कारपरम्परासे अनादि जगद्भ्रम सिद्ध है। सर्पभ्रममें भी यदि चित्रनिर्माताने भी प्लास्टिकसर्पको देखकर चित्र बनाया। प्लास्टिक सर्पनिर्माताने और किसी नकली सर्पको देखकर सर्प बनाया। इस प्रकार अनादिकी ओर बढ़ सकते हैं परन्तु वह व्यर्थ है। क्योंकि असली सर्प देखनेमें आता है। उसीके ज्ञानसे सर्पभ्रम माननेमें सुविधा है। सृष्टि अनादि होनेसे असली जगत् प्रथम देखा ऐसी कल्पना उठ नहीं सकती ॥ १० ॥

ननु चित्रनिर्मात्रैवान्ते क्वापि सत्यसर्पो दृष्ट इति तद्वासनया सर्पचित्रनिर्माणमिति परम्परया सत्यार्थापेक्षाऽस्त्येवेति चेन्न। मायावासनानामनादित्वेन मूलसत्यार्थावश्यकत्वविरहात्। 'धाता यथापूर्वमकल्पयदि'ति श्रुतेः पूर्वपूर्वजगद्वासनया वर्तमानजगत्कल्पनासिद्धेः ॥ १० ॥

सजातीयद्वितीयस्य निषेधश्चोलराजवत्।
न श्रैष्ठ्ये लक्षणा राज्ञि श्रुतौ कस्मात्तु लक्षणा ॥ ११ ॥ [७००]

पूर्वपक्षः—इस भूतल में चोलराजा अद्वितीय है यहां सजातीयद्वितीय निषेध है। वैसे सजातीय द्वितीय ब्रह्मका निषेध है न कि सबका। उत्तरपक्षः—चोलराजा अद्वितीय है यहां श्रेष्ठ अर्थमें लक्षणा है। क्या दूसरा कोई राजा ही दुनियामें नहीं रहा ? किन्तु श्रुतिमें विना प्रसंग ही लक्षणा क्यों मानने लगेंगे ॥ ११ ॥

यत्तु 'यथा चोलनृपः समाडद्वितीयोऽत्र भूतले'। इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः। न तु तत्पुत्रतद्भृत्यकलत्रादिनिवारणपरमिति समाधानं तत्तुच्छम्। द्वितीयपदस्य चोलनृपतितुल्ये शक्तिविरहात्। न च चोलनृपतिसमभिव्याहारेण तत्र शक्तत्वम्। चोलनृपतितुल्यत्वस्य पुरुषत्वमनुष्यत्वादिना भृत्यादावपि सत्त्वात्तावताप्यनेकशक्तिस्वीकाराऽसंभवात्। तस्माल्लक्षणैव तत्राभ्युपगन्तव्या तात्पर्यवशात्। अनन्तायां पृथिव्यामयोध्याकाश्मीरादिषु तत्तुल्यसत्त्वेऽप्यद्वितीयपदप्रयोगदर्शनाच्च। तथा च श्रेष्ठत्व-

मात्रे लक्षणा । अद्वितीयोऽयं पण्डित इति च सत्यपि द्वितीयपण्डिते प्रशंसार्थमुच्यते । किन्तु श्रुतौ लक्षणायां किं बीजमिति वक्तव्यम् । न च प्रत्यक्षविरोधः । तस्य निरस्तत्वात् । अन्यथा प्रत्यक्षसिद्धस्थालिकापरिमाणेन सूर्यादिर्ज्योतिःशास्त्रलक्षयोजनपरिमाणत्वं बाध्येत । स्वर्गादिगमनं च बाध्येतेत्युक्तम् । श्रुतयश्च मीमांसायां क्रियमाणायामद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यवत्यो निश्चीयन्ते । 'एकमेवाद्वितीयं'. 'नेह नानास्ति किंचन', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति', 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' आत्मैवेदं सर्वमि'त्येवंविधाः शतशः श्रुतीः स्वार्थात्प्रच्याव्य प्रहरन्त इवान्यथानयन्तः खल्वेते स्वीयं वैदिकत्वमुद्घोषयन्तीत्यतिसाहसम् । अस्माकं तु द्वैतश्रुतीनां व्यवहारसिद्धसत्यतामादाय प्रवृत्तत्वान्न कस्या अपि श्रुतेर्बाधः कर्तव्योऽस्ति ॥ ११ ॥

सजातीयनिषेधार्थे सजातीयं सतो हि सत् ।
द्वितीयं तच्च नास्तीति जगन्मिथ्यैव सिद्ध्यति ॥ १२ ॥ [७०१]

यदि अद्वितीयपदका सजातीय द्वितीयका अभाव अर्थ है तो "सदेव सोम्य" इस उपक्रमके अनुसार सतका सजातीय तो सत् ही होगा । वैसा द्वितीय नहीं तो द्वितीय असत् मिथ्या अपने आप सिद्ध होगा ॥ १२ ॥

यदि च जघन्यवृत्तौ तव मोहस्तदा पूर्वोच्चरितसजातीयमेवोपतिष्ठते । यथा राजपदस्य पूर्वोपस्थितत्त्वाद्राजैव द्वितीय उपतिष्ठते अत्र च "सदेव सोम्ये"त्युपक्रमात् सत्सजातीयं सदेव भवितुर्महतीति द्वितीयं सत् नास्तीत्यायातम् । तथा सति दृश्यमानं द्वितीयं मिथ्येत्येतद् ब्रह्मणापि वारयितुमशक्यम् । न च द्वितीयसद्वस्तु विना तन्निषेधो न स्यादिति वाच्यम् । द्वितीयसद्वस्तुसत्त्वेऽपि तन्निषेधायोगादद्वितीयमित्यस्यानुपपत्तेः । सदृशद्वितीयाभावार्थपक्षेऽपि तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यामनुपपत्तिरेव द्वितीयचोलसदृशनृपं विना तन्निषेधस्याप्यसंभवापत्तेः । तत्र चोलनृपप्रभावावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्वितीयाभावस्य व्यधिकरणधर्मवच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य स्वीकारे इहापि सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्वितीयाभावोऽर्थोऽस्तु । द्वितीय च मिथ्याभूतमस्तीति नानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

नारायणार्थकस्तत्र सच्छब्द इति चेन्न तत् ।
तद्धैक आहुरसदित्येवं तत्प्रतिपक्षणात् ॥ १३ ॥ [७०२]

पूर्वपक्षः—"सदेव सोम्य" में सतका नारायण अर्थ है । नारायणसम द्वितीय नहीं है ऐसा अर्थ श्रुतिका करो । उत्तरपक्षः—अर्धशिक्षितोंसे बोलना भी कठिन है । सदेवके प्रतिपक्षके रूपमें कहा है—"तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" । पहले असत् था । फिर उसका खण्डन किया—"कथमसतः सज्जायेत", "सत्त्वेव सोम्येदमग्रे" - पूरे प्रकरणमें असत् प्रतियोगी सतका ही वर्णन सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

ननु तत्र "सदेव सोम्ये"ति सत्पदं नारायणार्थकम् । ब्रह्मार्थकं वा । तथा च नारायणसदृशद्वितीयाभाव एवार्थः । तेन न प्रपञ्चाभावार्थलाभः । "न तत्समश्चाभ्यधिक" इत्यादिश्रुतेरिति चेन्न । एतत्प्रतिवचस्त्वेन "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदि"त्यसतः उपस्थापनात्तन्निराकरणेन "सत्त्वेव सोम्ये"ति निर्धारणात् तत्प्रतियोगिसत एव सत्पदार्थत्वात्। तस्मात्सर्वथाप्यद्वैतसिद्धान्तस्याद्वितीयश्रुतिसंवाद एव । वस्तुतस्त्वस्मत्कल्पितस्याद्वैतसिद्धान्तस्य श्रुतिसंवाद इति त्वदीयभाषया ब्रवीमि । तव प्रत्यक्षमात्रवादिनः श्रुतेः संवादमात्रेणोपयोगात् । वयं तु "तं त्वौपनिषदमि"ति श्रुतेः मीमांसितश्रुत्यर्थमेव सिद्धान्ततयाऽङ्गीकुर्म इति ॥ १३ ॥

कल्पितापह्नुतिपर्यवसानम्
पारमार्थिकतया प्रतिषेधात् ।
अद्वितीयपदमेतदवेयं
निर्वेशेषसदहं च तदस्मि ॥ ५९ ॥

अद्वितीयं यह श्रुतिपद पारमार्थिक रूपसे द्वितीयका प्रतिषेध करता है । फलतः कल्पितत्व आ जाता है । कल्पित होनेसे अग्रहणीयता लाकर द्वितीयापहरणमें श्रुति वचन पर्यवसन्न हो जाता है । "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि शतशः श्रुति एतत्समर्थक है । अतः सत् सजातीयविजातीयस्वगतविशेषशून्य होनेसे निर्विशेष सिद्ध होता है । वही सत् मेरा स्वरूप है ॥ ५९ ॥

इत्यद्वितीयश्रुतिसंवादः

*****

अथ सत्त्वाऽसत्त्वनिराकरणम्

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
अधश्चोर्ध्वं च यन्नास्ति मध्यदेशेऽपि तत्तथा ॥ १ ॥ [७०३]

अनादि अनन्तकालमें सभी मध्यकाल एवं मध्यवस्तु मध्यबिन्दुरूप है। अनेक मध्यबिन्दुओंका मतलब कि उनका होना न होना बराबर है अतएव मिथ्या है। अनन्त अनादि दिशाओंमें सभी मध्य देश हैं, अतः उनके भी होने न होनेका कोई महत्व नहीं, अतः वे भी मिथ्या हैं ॥ १ ॥

उत्पत्तेः पूर्वं यदसद् भवति तदुत्पत्त्युत्तरं सदिति न शक्यते वक्तुम्। "नासतो विद्यते भाव" इति भगवद्वचनात्। असतः सम्बन्धायोगेन कारणतस्तदुत्पत्त्ययोगात्। एवं सतो नाभावोऽन्ते भवितुमर्हति। तथा च घटपटादिकार्यप्रपञ्चः सद्भिन्न इति स्थितम्। न चात्यन्तासतो भानं भवितुमर्हति। शशविषाणादेरभानादित्यसद्भिन्नत्वमप्यायाति। तच्च सदसद्विलक्षणं मिथ्या। न च सदसतोः परस्पराभावरूपयोरेकतरनिषेधेऽपरसत्त्वमावश्यकमिति वाच्यम्। यतस्तत्किं भगवद्वचनानुसारेण सतो निषेधे तद्विरुद्धस्यासतः सत्त्वं वाञ्छति भवान्? तथा सति वदतोव्याघातः। न ह्यसतः सत्त्वं संभवति। मिथ्यापि सतो विरुद्धमेव। तस्यासद्भिन्नत्वमेवास्मन्मते सत्त्वम्। असतो विरोधि सदिव मिथ्यापि भवत्येव। मिथ्यावस्तु हि सद्भिन्नमपि सद्वदाभासते। असद्भिन्नत्वेऽपि बाधेनासद्व्यवहारविषयो भवति। यत्तु कालत्रयवर्ति सद्ब्रह्मवदल्पकालवर्ति सदपि कथं न भवति। कथं तस्य मिथ्यात्वं वदसीति तत्र तु भगवानेव प्रष्टव्यस्त्वया। नासतो विद्यते सार्वकालिकभावो, न सार्वकालिकाभावः सत" (नासतोऽस्ति सदाभावः सदाऽभावो न वा सतः) इति हि तर्हि वक्तव्यमासीत्। न तु सामान्यनिषेधः। तस्मात्सत्त्वेन भासमानमेव बाध्यत इति कृत्वा मिथ्यात्वमूरीकरणीयम् ॥ १ ॥

असत्सममनाद्यन्ते परिच्छिन्नमनेहसि।
आदिमध्यान्तशून्यायां दिश्यल्पार्थास्तथैव च ॥ २ ॥ [७०४]

अनन्तमेंसे कुछ निकालो तो घटता नहीं, कुछ डालो तो बढ़ता नहीं। अतः अनाद्यनन्तकालमें परिच्छिन्न असत्सदृश है। तथा आदिमध्यरहितदिशामें अल्पवस्तु भी असत्सदृश है ॥ २ ॥

अनाद्यनन्ते काले परिच्छिन्नकालापाकरणेऽप्यनाद्यनन्त एवावतिष्ठत इति परिच्छिन्नकालस्तद्गतवस्तूनि च मिथ्यैव। तत्सत्त्वासत्त्वयोरकिंचित्करतैव। "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" चेदपि पूर्णं तथैव। न तु वर्धते। पूर्णस्य पूर्णमादीयते चेत्तदापि तत्पूर्णमेव न न्यूनम्। तदोदच्यमानस्यादीयमानस्य वा कीदृशमस्तित्वम्? तदस्तित्वनास्तित्वयोरेकफलत्वादित्यनिर्वचनीयत्वं न केनापि वारयितुं शक्यते ॥ २ ॥

बाल्येऽनुभूतमधुना सुखादि स्वप्नवद्गतम्।
तथोत्तरे वर्तमानं पश्यन् मोहं विमुञ्चति ॥ ३ ॥ [७०५]

बाल्यकालमें अनुभूत सुखदुःखादि वर्तमानमें स्वप्नसमान हो गया। वर्तमान भी कुछ कालके बाद स्वप्नवत् हो जायेगा। इसे जाननेवाला मोहमें नहीं पड़ता ॥ ३ ॥

बाल्येऽनुभूतसुखदुःखादेरद्य स्वप्नतुल्यत्वं सर्वैरनुभूयते। अद्यानुभूयमानं सुखादिकं तथैव भविष्यकाले भविष्यतीत्यधुनैव मृषात्वं बुद्ध्वा कुतो न मोहाद्विमुच्यसे सखे ॥ ३ ॥

गताः प्राग्जनयोऽनन्ता न किंचिद्विद्यते स्मृतौ।
तथेदं जन्म भविता कुतः सत् स्थाप्यतां मुधा ॥ ४ ॥ [७०६]

अनन्त पूर्वजन्म शून्यमें विलीन हो गये। एक भी स्मृतिमें नहीं है। वर्तमान जन्म भी शून्यलीन होगा। इसे वृथा ही सत् सिद्ध कर रहे हैं।

सत्स्वभावस्य नाऽसत्ता न भानमसतस्ततः।
नाशाद् भानाच्च सदसद्भिन्नता जगतस्ततः ॥ ५ ॥ [७०७]

घट कभी अघट नहीं होता। सत्स्वभाव कभी असत् नहीं हो सकता एवं असत्का कभी भान नहीं होता। जगत्का नाश अभाव होता है। अतः स्वभावतः सत् नहीं। भासता है अतः असत् नहीं। फलतः सतसे भिन्न और असतसे भिन्न सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

सत्स्वभावस्य कथमसत्त्वमसतश्च कथं भानम् ? उभयसत्त्वाज्जगत्सद-सद्भिन्नम् ॥ ५ ॥

सद्भेदो यदि तेऽसत्त्वं सत्त्वं चासद्भिदा यदि ।
सत्त्वासत्त्वे विविक्ते न तयोरेकत्र वृत्तितः ॥ ६ ॥[७०८]

यदि सद्भेद तुम्हारे मतमें असत्त्व है और असद्भेद सत्व है तो सत्त्व और असत्त्वकी विविक्त स्थिति संभव नहीं । क्योंकि जगत्में दोनों हैं ॥ ६ ॥

तस्मात्सत्त्वासत्त्वयोः सद्भिन्नत्वासद्भिन्नत्वात्मनोर्नास्ति विवेक इति ॥ ६ ॥

सत्यं तु सत् तुच्छमसच्च ताभ्यां
विलक्षणं नाम मृषा प्रपञ्चः ।
आद्यन्तयोः स्पष्टमसत् कथं सद्
मध्ये, सदात्मैव हि सोऽहमस्मि ॥ ६० ॥

सत्य ही सत् है, असत् तुच्छ है । दोनोंसे विलक्षण प्रपञ्च मिथ्या हैं । आदि और अन्तमें स्पष्ट जो असत् है वह मध्यमें सत् कैसे होगा ? सत् तो आत्मा ही है । वही मैं हूं ॥ ६० ॥

इति सत्त्वासत्त्वविवेकनिराकरणम्

*****

(६१)

अथ जीवैक्यवादः

जीवानामपि चोपाधिप्रयुक्तो भेद इष्यते ।
चैतन्यमेकं नानेव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ [७०९]

जीवोंका भी परस्पर भेद उपाधिप्रयुक्त है । चैतन्य सर्वत्र एक ही है । वह नाना जैसा दीखता है । 'दृश्यते जलचन्द्रवत्' जलचन्द्रके समान केवल अनेक दीखता है ॥ १ ॥

जीवानामपि परस्परभेद उपाधिप्रयुक्त एव । स चानादिकालकल्पित इति कस्य कथं कल्पना, कल्पनातः पूर्वं किमासीदित्यादिप्रश्नानामनवसर एव । अनाद्यविद्यातादात्म्याध्यासनिबन्धनसुखदुःखतत्तद्विषयज्ञानादिकं तत्तादात्म्यवत एव नापरस्य ॥ १ ॥

अनाद्यध्यस्तभेदेषु दुःखाद्यौपाधिकं स्थितम् ।
ज्ञानेन तन्निवृत्तौ च तत्तज्जीवो विमुच्यते ॥ २ ॥ [७१0]

अनादिकालसे औपाधिक भेद जीवोंमें है और वे नाना हुए । दुःखादि भी औपाधिक उनमें प्रकट होने लगे । ज्ञानसे अविद्योपाधि की निवृत्ति होती है तो वह जीव मुक्त होता है ॥ २ ॥

आत्मैक्यं नात्मनो भिन्नं चन्द्रैक्यं चन्द्रतो यथा ।
सत्त्वासत्त्वविकल्पोऽतस्तस्य निष्फल एव ते ॥ ३ ॥ [७११]

आत्माओंकी एकता आत्मासे भिन्न कोई नया पदार्थ नहीं है । जिससे द्वैतापत्ति हो । जैसे चन्द्रैक्य चन्द्रसे पृथक् नहीं है । अतः एकता है तो उसीको लेकर द्वैतापत्ति होगी, एकता नहीं तो नाना जीवोंसे द्वैतापत्ति होगी इत्यादि बिकल्प व्यर्थ बच्चोंका खेल मात्र है । शब्दोंका ही खेल है ॥ ३ ॥

नन्वात्मैक्यं सत्यमसत्यं वा । सत्यत्वे द्वैतापत्तिः । मिथ्यात्वे नानात्वापत्तिरित्यादिविकल्पनं तु बालबुद्धिक्रीडामात्रम् । न ह्यैक्यं नाम पृथगस्ति । नानात्वप्रतिषेधमात्रं तत् । प्रतिषेधस्तु प्रतिषिध्यमानस्यासत्त्वं गमयति । न तु प्रतिषेधो नाम पदार्थान्तरमागत्य तिष्ठतीत्यादिकं प्रागेव निरूपितमित्यलं पिष्टपेषणेन ॥ ३ ॥

एकाकी नैव रमत इति रत्यभिलाषिणः ।
नैक्यं वव्रुः परं ब्रह्मा-नन्दतृप्तास्त्वकामिनः ॥ ४ ॥ [७१२]

द्वैतियोंको डर है कि 'तस्मादेकाकी न रमते' इस श्रुतिसे और अनुभवसे एकता में रति प्राप्त नहीं होगी । अतः रतिके अभिलाषुक ये एकता नहीं चाहते । परन्तु जो ब्रह्मानन्दतृप्त हैं उनमें कामना है नहीं, वे ऐक्यमें रहते हैं ॥ ४ ॥

जक्षत् क्रीडन् नवयुवतिभिः प्राप्नुवन्सौरतं चे-
त्येवं श्रुत्वा चलितमनसः कामुका द्वैतनिष्ठाः।
जीवात्मैक्यं कथमिव पयश्चन्द्रनानात्वतुल्यं
स्वीकुर्वीरन् वयमिह परं तत्त्वमालोचयामः॥ ६१॥

द्वैतवादी स्वयं कामुक थे ही। ऐहिक भोगसे उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो रही थी। इधर सुना—मोक्षमें खूब-खानेपीने को मिलता है, खेलनेको मिलता है, भोगार्थ दिव्य युवतियां पास होती हैं, बस उनका हृदय चलायमान हो गया। बीचमें "दृश्यते जलचन्द्रवत्" "विवस्वानपो भिन्ना बहुधैव" ये श्रुतियां आयीं तो कांटे जैसे लगने लगी। इसका अर्थ उलटा-पुलटा किया और "जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादिका यथाश्रुतार्थ मान लिया। किन्तु हम तो तत्त्वविचार कर रहे हैं। उसीके अनुसार एकत्वप्रतिपादन कर रहे हैं। (ध्यान रहे "जक्षत् क्रीडन्" इत्यादि श्रुतिका यथाश्रुत अर्थ ही द्वैतवादी करते हैं)॥ ६१॥

इति जीवैक्यवादः

*****

(६२)

अथ अपशूद्राधिकरणोपपत्तिः

ज्ञानान्मोक्षे वस्तुतन्त्रं शूद्रादिर्ज्ञानमाप्नुयात्।
आप्नुयान्मोक्षमेवापि प्रद्वेषस्तत्र कस्तव॥ १॥ [७१३]

पूर्वपक्षः—ज्ञानसे मिथ्याजगतनिवृत्तिसे मोक्ष हो तो ज्ञान वस्तुतन्त्र होनेसे शूद्रादिको भी होने लगेगा। उत्तरपक्षः—ज्ञान होने दो, मोक्ष भी होने दो। तुमको इसमें क्या ईर्ष्या है?॥ १॥

विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां महाधियां ब्रह्मज्ञानं शास्त्रेषु प्रतिपादितं नापह्नोतुं शक्यते। तत्फलं च मोक्षः शास्त्रोपवर्णितो नापलापार्हः। वस्तुतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य। ज्ञानस्य चाव्यभिचारिफलत्वात्॥ १॥

शूद्राणां विदुरादीनां ज्ञानं कोऽपह्नुतां सुधीः ।
सिद्धं च तत्फलं मोक्षो नापलापं समर्हति ॥ २ ॥ [७१४]

शूद्र शरीरवाले विदुर धर्मव्याध आदि ज्ञानी थे । इसका अपलाप कोई नहीं कर सकता । ज्ञानका फल मोक्ष भी उन्हें हुआ ही था ॥ २ ॥

अपशूद्राधिकरणे वेदपूर्वाधिकारिता ।
ज्ञाने निरासि शूद्राणां न ज्ञानं नापि तत्फल् ॥ ३ ॥ [७१५]

पूर्वपक्षः—ब्रह्मसूत्र अपशूद्राधिकरणमें शूद्रोंको ज्ञान और मोक्ष नहीं होता ऐसा निरूपण किया है । अतः उससे विरोध होगा । उत्तरपक्षः—वहां वेदाध्ययनपूर्वक ज्ञानका ही निराकरण है ॥ ३ ॥

नन्वेवमपशूद्राधिकरणविरोधः । तत्र शूद्राणां ज्ञानाद्यधिकारनिरासादिति चेन्न । उपनयनाध्ययनादिरहितशूद्राणां तत्र वेदपूर्वकज्ञानाधिकारनिरासादिति भाष्ये व्याख्यातत्वात् । न हि ज्ञानं शूद्राणां निषेद्धुं शक्यम् । वस्तु-तन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य । नापि तत्फलं मोक्षो निरसितुं शक्यते । ज्ञानस्या-व्यभिचारिफलत्वात् ॥ ३ ॥

व्यर्थस्तर्हि निरासोऽयं ज्ञानं चेदन्यतो भवेत् ।
मैवं बीजं वेदपुण्यमिहत्यं प्राग्भवं हि वा ॥ ४ ॥ [७१६]

पूर्वपक्षः—वेदपूर्वक हो या अन्यसे हो, ज्ञान यदि होगा तो मोक्ष भी होगा । तब वेदपूर्वकत्वनिरास व्यर्थ है. । उत्तरपक्षः—व्यर्थ नहीं । वेदपुण्य हो तभी ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक कल्मष निवृत्त होगा । पूर्वपक्षः—तब वेदाध्ययन न होनेसे विदुरादिको मोक्ष कैसे हुआ ? उत्तरपक्षः—वेदपुण्य इस जन्ममें संपादित हो या पूर्वजन्म में संपादित हो, दोनों काम देते हैं । विदुरादिका पूर्वजन्म संपादित वेदपुण्य रहा ऐसी कल्पना संभव है ॥ ४ ॥

ननु वस्तुतन्त्रज्ञानस्य निरसितुमशक्यत्वे वेदपूर्वाधिकारनिषेधो व्यर्थ एव । न हि वेदपूर्वत्वेऽन्यपूर्वत्वे वा ज्ञानस्य किंचिद्वैशेष्यम् । न च वेदानधिकाराद्वेदपूर्वत्वे पापप्रसक्तिः स्यादिति वाच्यम् । 'ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते" इति वचनाज्जातस्यापि पापस्य भस्मीभावाद-किंचित्करत्वात् । ज्ञानस्याव्यभिचारिफलत्वेन मोक्षे जाते पुनः पापं तस्य किं

करिष्यतीति चेत् ? मैवम् । बहुधाकृतश्रवणानामपि तत्त्वमस्यादिवाक्यत आत्मसाक्षात्कारानुत्पत्तेः प्रतिबन्धकविशेषः पुरुषापराधादिरूपो मध्ये वर्तत इति स्वीकर्तव्यम् । तन्निवृत्तये मनननिदिध्यासनयोरिव वेदपुण्यस्यापि प्रयोजकत्वमस्ति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने'-त्यादिश्रुतेरुत्कटविविदिषायां विद्यायां वा वेदानुवचनादेः प्रयोजकत्वसिद्धेः । न चैवं विदुरादीनां दर्शनमोक्षयोरनुपपत्तिस्तव मतेऽपि समानेति वाच्यम् । पूर्वजन्मकृतवेदानुवचनादिजनितपुण्यस्यापि प्रयोजकत्वस्वीकारात् । पूर्वजन्म-स्वकृतवेदाध्ययनानां शूद्राणां नास्ति ज्ञाने मोक्षे चाधिकार इति तदाशयः ।

वैधोपास्तौ मोक्षहेतौ ये शूद्रानधिकारिताम् ।
आहुस्ते शास्त्रहन्तारः शूद्रादेर्मोक्षवर्णनात् ॥ ५ ॥ [७१७]

द्वैतवादी कहते हैं विधिविहित उपासना ही मोक्षकारण है । उसमें शूद्र को अधिकार नहीं। अत एव वे मुक्त भी नहीं होते । किन्तु वे शास्त्रहनन कर रहे हैं क्योंकि शूद्रादिके मोक्षका वर्णन शास्त्रोंमें आया है ॥ ५ ॥

अत्रापशूद्राधिकरणतात्पर्यं वर्णयन्तो यदाहुः उपासना मोक्षसाधनम् । उपासनाविधीनां च उपनयनाद्यङ्गकाध्ययनविधिसिद्धस्वाध्यायोद्भूतज्ञान-निष्ठत्रैवर्णिकाधिकारिलाभेन शूद्रादेस्तत्रानधिकारान्न मोक्ष इति बादरायण-तात्पर्यमिति । तदतीव साहसम् । विदुरादेर्मोक्षवर्णनपरशास्त्रहननप्रसङ्गात् ।

न वा नारायणादीनामुपास्तिर्वर्णिता श्रुतौ ।
स्मृत्या चेत्कल्प्यते तर्हि शूद्रैः स्मृतिरधीयताम् ॥ ६ ॥ [७१८]

दूसरी बात नारायण रामकृष्णादिकी उपासनाका वर्णन श्रुतियोंमें नहीं है जैसी आजकल की जाती है । पूजा आदि वेदोंमें उपलब्ध नहीं है । स्मृति पुराणादिमें है । उनसे यदि श्रुतिकी कल्पना करते हैं तो शूद्र स्मृतिका ही अध्ययन कर लें । मत करें वेदकल्पना ॥ ६ ॥

श्रुतिषु खलु 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्ये'त्येवमश्वपृष्ठद्युदृष्ट्या-दिलक्षणैवोपासना वर्णिता । कर्मण एव मुख्यतया तत्र निरूपणात् । चतु-र्भुजनारायणप्रभृतीनामुपासनाविधेस्तत्रादर्शनात् । जैमिनिनाऽप्यमीमांसनात् । यत्तु पुराणादौ स्मृतिरूपे तद्वर्णनात् श्रुतिः कल्प्यतामिति । कल्प्यतां नाम ।

किन्तु कल्पितश्रुतेरध्ययनं न भवति । समानानुपूर्वीककल्पनाया अशक्यत्वात् । तत्र कल्पनामूलभूतस्मृतिरेवाधीयताम् । किमर्थं श्रुतिः कल्पयित्वाऽध्येया । स्मृत्युक्तस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं हि श्रुतिकल्पना । न त्वर्थावबोधाय-पौराणिकमन्त्रसत्त्वाच्च । एवं च पौराणिकविधिनोपासनया मोक्षसिद्धावपशूद्राधिकरणनैरर्थक्यं स्पष्टतरं तव ॥ ६ ॥

शूद्राणां पापहानाय पुराणश्रवणे विधिः ।
न बोधायेति तु व्याख्या खलानामेव शोभते ॥ ७ ॥ [७१९]

शूद्रोंका पुराणश्रवणका विधान पापनाशार्थ है अर्थज्ञानके लिये नहीं है ऐसी द्वैतवादियोंकी व्याख्या खल पुरुषोंके लिये ही शोभास्पद है । अध्ययन श्रवणादि दृष्टफल अर्थज्ञानके लिये माना गया है ॥ ७ ॥

यत्तु "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" । इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतमिति "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत" इत्यादिवचनात् यद्यपि स्त्रीशूद्रादीनां पुराणादिश्रवणं स्वीकृतं तथापि तत्पापनाशायैव । न तु बोधायेति पुराणाद्यध्ययनेनोपासना न शक्यते शूद्रैः कर्तुमिति व्याख्यानम् तत् खलव्याख्यानमेव । श्रवणस्य पापहरणमात्र-प्रयोजनानुपपत्तेः । शाब्दबोधानुकूलव्यापारो हि श्रवणम् । आत्मा श्रोतव्य इति प्रयोगात् । अन्यथा राम-रामेत्येव श्रूयतां, नानुध्यायाद् बहून् शब्दानिति श्रुतिश्च सफलीक्रियताम् ॥ ७ ॥

स्वाध्यायोऽध्येय इति च पुण्यार्थं किं न कल्प्यताम् ।
कुतो दृष्टफलं ज्ञानमाग्रहेण समर्थ्यते ॥ ८ ॥ [७२०]

"स्वाध्यायोऽध्येतव्य" यह विधि भी पुण्यार्थ वेदाध्ययनकी विधि क्यों नहीं मानते ? वहां "संभवति दृष्टफलकत्वे" यह न्याय लगाकर आग्रहपूर्वक दृष्टफल ज्ञानका समर्थन क्यों करते हैं ? ॥ ८ ॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यत्रापि स्वर्गस्यं पुण्यस्य पापक्षयस्य वा फलस्य कल्पयितुं शक्यत्वे किमर्थं "संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पना न क्रियत" इति न्याय उपस्थाप्यते । तथा चेच्छूद्राणां पुराणश्रवणादेरपि ज्ञानार्थकत्वं कुतो न स्वीक्रियते ? ॥ ८ ॥

न शूद्राय मतिं दद्यादित्युक्तेरिति चेन्न तत् ।
वैदिकीप्रतिषेधार्थं विदुरादेर्मतीरणात् ॥ ९ ॥ [७२१]

पूर्वपक्षः—"न शूद्राय मतिं दद्यात्" ऐसा निषेधवचन आता है । उत्तरपक्षः—वह वैदिकमति प्रदान निषेधार्थ है । क्योंकि शूद्र विदुरादिका दृष्टान्त बता चुके हैं ॥ ९ ॥

ननु "न शूद्राय मतिं दद्यादि"ति निषेधात् पुराणश्रवणविधिः पापहानार्थ एव भवितुमर्हतीति चेन्न । एवं सति "त्रयी न श्रुतिगोचरे" त्यनेन विरोधापत्तेः । न हि त्रयीश्रवणं पापहानार्थम्, यत्प्रतिनिधितया पुराणश्रवणं विधीयते । ततश्च प्रतिनिधित्वात्समानफलत्वमेव किंचिन्न्यूनतया विवक्षितं स्यात् । तस्माद् वैदिकमतिप्रदानप्रतिषेधार्थमेव तद्वचनं भवितुमर्हति । अन्यथोपदर्शितविदुरादिमसमर्थनानुपपत्तिप्रसङ्गात् । परे तु शूद्रेषु सच्छूद्राससच्छूद्रविभागं कृत्वा तत्रासच्छूद्रा ये यवनादयस्तेभ्य एव मतिं न दद्यादिति स्मृत्योच्यते । अपशूद्रेति च न शूद्रमपवर्ज्येत्यर्थकम् । किन्त्वपमानापवादादिवन्नीचशूद्रार्थकमेवेत्याहुः ॥ ९ ॥

अष्टादशपुराणानि सूतो व्याचष्ट सन्मतिः ।
अर्थज्ञानविहीनत्वे तत्र प्रश्नोत्तरे कथम् ॥ १० ॥ [७२२]

ऋषियोंको अठारह पुराण सुनानेवाले सूतजी शूद्र हैं । उनको अर्थज्ञान नहीं है तो वहां प्रश्न और उत्तर कैसे संगत होंगे ? ॥ १० ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
इत्यतः श्रौतमपि च साक्षान्नेत्येव सिद्ध्यति ॥ ११ ॥ [७२३]

ब्राह्मणको आगे करके चारों वर्णोंको श्रवण करायें इस वचनपर विचार करें तो साक्षात् अध्यापनका ही निषेध सिद्ध होगा । आगे ब्राह्मणको बैठाकर चारों वर्णोंको श्रुतिका श्रवण करायें यही वहां अर्थ है ॥ ११ ॥

भुशुण्डिर्हनुमानृक्षो गजो गृध्रः खगेश्वरः ।
एतेऽमुच्यन्त चेद्धन्त शूद्रैः किमपराध्यते ॥ १२ ॥ [७२४]

भुशुण्डि (काक) हनुमान (वानर) जाम्बवान (रीछ) गज, गिद्ध, गरुड आदि भी मुक्त हो सकते हैं तो ये मनुष्य शूद्रोंने क्या अपराध किया ? ॥ १२ ॥

काकभुशुण्डिः पक्षी हनुमदृक्षादयः प्रशवः । गृद्धगरुडौ पक्षिणौ । एवमन्येऽपि बहवो भागवतादौ परिगणिताः । एतेऽमनुष्या अपि मुक्ताश्चेच्छूद्रेण मनुष्येण किमपराद्धं यत्र विशेषा ज्ञानशक्तिः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । न च ते भक्त्या मुक्ता न ज्ञानेनेति वाच्यम् । भक्ते साक्षान्मुक्तिसाधनत्वाभावात् । "भक्त्या मामभिजानाति" "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पत" इत्यादिवचनात् । तव मते तु नितरामत्रानुत्तरमपशूद्राधिकरणान्यथार्थकारिणः । त्वया तेषां मोक्षानुपगमात् । उपगमे त्यज त्वमपि वेदाध्ययनक्लेशम् । त्वयैव लघीयसोपायेन शूद्रादिवत् प्रयोजनसिद्ध्यापादनात् । न चैभिः पूर्वजन्मकृतवेदाध्ययनतत्पूर्वकोपासनादिः संपादित इति वाच्यम् । तर्हि पूर्वजन्मान्त एव तेषां मोक्षप्रसङ्गादेतज्जन्मानुपपत्तेः । मम तु ज्ञानस्य दृष्टं फलं मोक्ष इति तदनुत्पत्तौ प्रतिबन्धकविशेषः कल्प्यते यन्निवृत्तिर्जन्मान्तरग्रहणतस्तत्रत्यभोगादितो वा भवति । तव तूपासनाया दृष्टफलत्वविरहान्न प्रतिबन्धकल्पना भवति । न चैतज्जन्मदर्शनादासीत्प्रतिबन्धक इति कल्प्यत इति वाच्यम् । उपासनैव न पूर्वजन्मनि समपाद्यतेति कुतो न कल्प्येते । शूद्रस्य मोक्षाभाव एव हि निर्णीत ॥ १२ ॥

वेदेषु शूद्रानधिकारितां तु
पश्यन्पुराणानि मुनिर्जगाद ।
तत्रार्थबोधानधिकारमेते
विदन्ति गूढं कलिदेशिकाख्याः ॥ ६२ ॥

वेदोंमें शूद्रोंको अधिकार नहीं है यह देखकर व्यासजीने पुराण बनाये । वहां भी अर्थबोधमें अनधिकार ये कलिकालाचार्य कहते हैं ॥ ६२ ॥

इत्यपशूद्राधिकरणोपपत्तिः

*****

(६३)

अथाधिकारसमाप्तिः

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
फलभागधिकारी स्यान्न ज्ञान्यात्मरतिर्यतिः ॥ १ ॥ [७२५]

पूर्वपक्षः—ज्ञानीको भी सन्ध्यावन्दन यज्ञादि कर्म करना चाहिये । भोजनादि कर्म करते हैं तो यज्ञादि क्यों न करें ? उत्तरपक्षः—भोजनादि दृष्ट फलवाले हैं । वहां अधिकारचिन्ता नहीं होती । अदृष्ट पुण्यादिफलके लिये कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्वादिका अध्यास आवश्यक है । उसके न होनेसे गीतामें बताया—"नैव तस्य कृतेनार्थः ।" नित्यकर्मादि नहीं करेंगे तो प्रत्यवाय लगेगा कि नहीं, उसका भी उत्तर "नाकृतेनेह कश्चन" से दिया । ज्ञानी आत्मरति है । उसको स्वर्गादिफल नहीं चाहिये अतः अधिकारी नहीं है ॥ १ ॥

ज्ञानिनां कर्मण्यधिकारोऽस्ति न वेति चिन्त्यते । तत्रास्तीति द्वैतिनः । नास्तीत्यद्वैतिनः । ननु कर्मयोगवेदनाभावाद्वा, सामग्र्यसंभवाद्वा, निष्फल-त्वाद्वा, फलनैरपेक्ष्याद्वा, अन्यतः फलसिद्धेर्वा कर्मानधिकार इति । नाद्यः घटपटादिवेदनवत्कर्मवेदनोपपत्तेः । न द्वितीयः । आश्रमकर्मसामग्र्या यती-नामपि संभवात् । न तृतीयः । पापनाशफलोत्पत्तेः । अत एव न चतुर्थः । नापि पञ्चमः । प्रत्यवायपरिहारस्यान्यथाऽसंभवादिति । अत्रोच्यते । कर्मयोगं विदतोऽपि तस्य सत्यत्ववेदनविरहात् । कर्तृत्वादिवास्तविकतावेदनवत एव कर्मजन्यफलभोक्तृत्वरूपाधिकारसंभवात् । न च लौकिकभिक्षाटनादि-वेदनवद् भविष्यतीति वाच्यम् । तस्य प्रत्यक्षाशनायाप्रशमनफलसत्त्वेऽपि सन्ध्यायागादेस्तदभावेन ब्राह्मणो यजेतेत्यादिब्राह्मणशरीरतादात्म्याध्यासवत एव फलोत्पत्तिस्वीकारात् । अन्यथा स्वतः फलवत्त्वे शूद्रादिकृतयागादेरपि सफलत्वापत्तेः । तस्मात्सत्यत्वेन ब्राह्मणकर्तृत्वादिवेदनं फलप्रयोजकमिति तादृशवेदनाभावान्न कर्माधिकारः । अत एव द्वितीयकल्पोऽपि दत्तोत्तरः । यथोक्ताध्यासस्य सामग्र्यान्तर्गतत्वात् । अत एव च न तृतीयः । अध्यास-घटितसामग्रीविरहेण फलानुत्पत्तौ फलभोक्तृत्वलक्षणाधिकारानुपपत्तेः । तथा

चोक्तं भगवता—"नैव तस्य कृतेनार्थ" इति। यत्तु प्रत्यवायपरिहारः फलमिति। तदसत् कर्तृत्वाद्यध्यासवत एवाकरणे प्रत्यवायोत्पत्तेः। तथा चाह भगवान् "नाकृतेनेह कश्चने"ति। तदेव स्पष्टयामास भगवान्—"न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः" इति। अस्य भूतेषु प्राणिषु वा पञ्चभूतेषु वा न कश्चित्पुरुषार्थः संपादनीयोऽस्तीत्यर्थः। तथा च फलनैरपेक्ष्यं सिद्धमेव। पञ्चमः पक्षोऽपि शक्यसमर्थनः। प्रत्यवायपरिहारस्य यदि प्रत्यवायो विद्यते तदा ज्ञानेनैव संभवात्। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" इति भगवदुक्तेः। पापविशेषातिरिक्तप्रत्यवायनिर्वचनासंभवात् तस्य ज्ञानेन निवृत्तेः। स्पष्टतरं चोक्तं भगवता—"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यत" इति। अदृष्टद्वारा फलजनकक्रियैव कर्म। अन्यत्तु शारीरक्रियामात्रं प्रत्यक्षफलमिति ॥ १ ॥

दृष्टार्थैरेव भिक्षाद्यैर्यदि कर्माधिकारिता।
पश्वादेरपि कर्माधिकारः स्यात्साधितस्त्वया ॥ २ ॥[७२६]

भिक्षाटनादि दृष्ट प्रयोजनको लेकर कर्म मानते हो तो पशु आदिको भी कर्माधिकारी तुम्हें मानना होगा। उनको भी भोजनसे-घास खानेसे तृप्ति होती है ॥ २ ॥

यत्तु भिक्षाटनादिकं कर्म ज्ञानिनां संन्यासिनां दृष्टमिति कर्माधिकारित्वं सिध्यतीति तत्तुच्छम्। तस्य बुभुक्षानिवृत्तिशरीरधारणादिदृष्टफलत्वेनाधिकाराऽप्रयोजकत्वात्। अन्यथा पश्वादेरपि तृणचरणादिकर्मदर्शनात् बुभुक्षोपशमफलभाक्त्वाच्च कर्माधिकारः साधितः स्यात् ॥ २ ॥

ज्ञानाग्निदग्धबीजत्वान्नादृष्टं कर्मणां फलम्।
जनकादेरतः कर्माभासो यज्ञादि तत्कृतम् ॥ ३ ॥ [७२७]

"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं" ऐसा गीतामें कहा है। अतः ज्ञानियोंको कर्मका अदृष्ट फल नहीं होता। अत एव जनकादिका यज्ञादिकर्म कर्माभास-मात्र था ॥ ३ ॥

"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणणि"ति भगवद्वचनाज्जनकादिकृतानां कर्मणामदृष्टं फलं नास्त्येव । दग्धबीजत्वात् । यच्च जनकादिभिर्यज्ञादिकं क्रियते स्म तत् कर्माभासमात्रं न तु कर्मैव ॥ ३ ॥

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्निति यज्जगौ ।
तत्र पश्यतिना दृष्टं फलमेवाभिधीयते ॥ ४ ॥ [७२८]

लोकसंग्रहार्थ संन्यासी भी कर्म कर सकता है । किन्तु वह कर्माभास होगा । उसका फल दृष्ट ही है । क्या दृष्ट फल ? लोकसंग्रह । यही तो "पश्यति" इस प्रयोगसे सूचित दृष्टता है ॥ ४ ॥

यत्तु "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसी"ति लोकसंग्रहार्थकर्मानुमतिस्तत्रापि दृष्टमेव फलं लोकसंग्रहः । अतः संपश्यन्निति पश्यतिप्रयोगः ।" "यद्यदाचरति श्रेष्ठ" इति प्रत्यक्षत्वोपपादनाच्च ॥ ४ ॥

अध्यासिनां तु युष्माकं कर्मस्वधिकृतिर्दृढा ।
मा त्याक्त तानि मा घोरे नरके बत पप्तत ॥ ५ ॥ [७२९]

हां, द्वैतवादी तुम्हें अध्यास है । अतः कर्ममें दृढ़रूपसे बंधे हुए हो । उन कर्मोंको मत छोड़ो, अन्यथा घोर नरकमें पड़ जाओगे ॥ ५ ॥

शरीराध्यासयुक्तानां कर्तृत्वभोक्तृत्वादिदृढभावनावतां युष्मादृशानां कर्मण्यधिकृतिर्निश्चतैव । तादृशा यूयं मा त्याक्त कर्माणि । येन घोरनरकपातः फलतयोपतिष्ठेत । स्थिरप्रज्ञतायां कर्मयोगादभ्युत्थानमपि वञ्चना वः ॥ ५ ।

अधर्मेऽपि प्रवृत्तिः स्याज्ज्ञानिनामिति चेन्न तत् ।
अनन्तपुण्यजज्ञाने स्यादधर्मरुचिः कथम् ॥ ६ ॥ [७३०]

पूर्वपक्षः—कर्तृत्वभोक्तृत्वबाध होनेसे ज्ञानी लोकसंग्रह कर्मके समान अधर्म भी तो कर सकता है । उत्तरपक्षः—नहीं । अनन्त पुण्यसे ज्ञान हुआ उसको अधर्ममें क्यों रुचि होगी ? ॥ ६ ॥

यत्तु ज्ञानिनां कर्मफलाभावेऽधर्मेऽपि तेषां प्रवृत्तिः स्यादिति । तन्मौढ्यमात्रम् । अनन्तपुण्यजं हि अतिदुर्लभमिदं ज्ञानं चिरकालचिरजन्मपरित्यक्ताधर्मजातस्य भवति । तस्मिन् ज्ञाने सम्पन्ने कथंकारमधर्मरुचिस्तेषां

स्याद् येन तत्र प्रवर्तेरन् । यथासंस्कारं हि प्रवृत्तिव्युत्थनदशायां ज्ञानिनाम् । अधर्मसंस्कारविरहाच्च न कथंचिदपि तत्र प्रवृत्तिः संभाव्यते । विस्मृति-वशात् कदाचित् चलनादौ पादाध आगतपिपीलिकादिहननमापद्येत तदा तस्य फलं नैव भवति ॥ ६ ॥

ननु चौर्यादिलब्धार्थैः परोपकृतिरस्तु चेत् ।
त्वं तथा कुरु मा चौर्यपापे वर्तिषत प्रजाः ॥ ७ ॥ [७३१]

पूर्वपक्षः—दृष्टफल धनसे ज्ञानी परोपकार कर सकता है तो चोरी आदिमें उसकी प्रवृत्ति माननेमें क्या हानि होगी ? उत्तरपक्षः —तुम ऐसा सोच सकते हो । इस लाभसे अधिक हानि होगी ? शिष्टाचार देखकर दूसरे उस पापमें प्रवृत्त होंगे । उसमें ज्ञानीको क्या प्राप्त होगा ? अतः ज्ञानी ऐसा काम नहीं करता ॥ ७ ॥

अकर्त्रात्मपरिज्ञानं परोक्षमपि चेत् दृढम् ।
यतिर्न बन्धनं कर्म श्रद्धत्तेऽपैत्यसत्कृतेः ॥ ८ ॥ [७३२]

अधिक तो क्या, आत्मा अकर्ता है ऐसा ज्ञान परोक्ष भी यदि दृढ हुआ तो बन्धनकारी यज्ञादि कर्म में फलहेतु श्रद्धा नहीं रखेगा हाँ असत्कर्म से हटेगा क्योंकि श्रद्धा न होने पर भी उसका फल होता है ॥ ८ ॥

ज्ञानिनः संसारश्रद्धाविरहान्न पुण्यफलम् । श्रद्धायास्तदङ्गत्वात् । पापे तु विनापि श्रद्धां फलं भवतीति न पापे प्रवृत्ति स्तस्य ॥ ८ ॥

देहात्मैक्याऽध्यसनजनिता कर्तृता, कर्तृताया-
मुद्रिञ्चत्यां सुकृतदुरिताख्यानि कर्माणि नृणाम् ।
विज्ञानेनाध्यासनहनने कर्तृकर्मादिहाने
यन्नैष्कर्म्यं जनिमृतिहरं तं भजे मोक्षमीशम् ॥ ६३ ॥

देहात्मैक्याध्याससे कर्तृता होती है । कर्तृत्व दृढ़ रहता है तो पुण्यपापरूपी कर्म होते हैं । तब जो जन्ममरणनाशक नैष्कर्म्य होता है वही मोक्षरूपी परमात्मा है, उसीका हम भजन करते हैं ॥ ६३ ॥

इत्यधिकारसमाप्तिः

*****

अथ यतिदूषणभङ्गः

अनवेक्ष्यैव शास्त्राणि दूषयन्ति स्म ये यतीन् ।
पच्यन्ते नरकेष्वेते व्यर्थं तद्वाक्यखण्डनम् ॥ १ ॥ [७३३]

शास्त्रोंको बराबर देखे विना ही जो यतियोंका दूषण करते हैं वे वस्तुतः नारकी जीव ही हैं उनके वचन खण्डनोंका व्यर्थ है ॥ १ ॥

शास्त्राण्यनवेक्ष्यावेक्षितेष्वपि तेषु गुरुमुखीं मीमांसामकृत्वा ये परमहंस-परिव्राजकान् महिष्ठान् यतीन् स्वदुराग्रहग्रहगृहीताः सन्तो दूषयन्ति तेन शास्त्रोल्लङ्घनकर्तारो नरकपातिनो भवन्ति । पूर्वपक्षतयापि तद्वचनोद्धरणमन्तः-करणकलुषीकरणे साधनमिति सर्वथा तत्परित्याग एवोचितः ॥ १ ॥

तथापि मा भूद् विभ्रान्तिर्लोकानां पातकारणम् ।
इत्यतोऽत्रातिसंक्षेपात् किंचिन्मात्रं निरूप्यते ॥ २ ॥ [७३४]

तथापि विपरीत शास्त्रव्याख्यान देखकर लोगोंको भ्रम हो सकता है जो पतनका कारण है, अतः अत्यन्त संक्षेपमें संन्याससिद्धान्तका यहां हम निरूपण करेंगे । विस्तार संन्यासविधिविचारादिमें द्रष्टव्य है ॥ २ ॥

यद्यपि पूर्वपक्षतया तदीयवाक्योद्धरणमपि पापकारणं भवितुमर्हति तथापि तदनिरासे सहस्रशः साधारणजनास्तदनुवर्तिनो भूत्वा घोरपाप-निमग्ना नरकेषु पच्येरन्निति तदौदासीन्येन मौनधारणमपि नोचितमित्यति-संक्षेपेण किंचिदत्र निरूपयामः ॥ २ ॥

अत्याज्यं कर्म यत्तूक्तं तदज्ञानविजृम्भितम् ।
शिखायज्ञोपवीतादि-नित्यधार्यत्वमेव च ॥ ३ ॥ [७३५]

द्वैतियोंका यह कथन कि कर्म अत्याज्य है, केवल अज्ञान है । शिखायज्ञोपवीतादि कभी नहीं छोड़ना चाहिये यह भी अज्ञानकी ही करामात है । "नैव तस्य कृतेनार्थो" इत्यादि हम बता चुके हैं ॥ ३ ॥

यत्तु कर्म त्याज्यं न भवति भिक्षाटनादिकर्मणां संन्यासिभिरपि क्रियमाणत्वात्सन्ध्याग्निहोत्रादौ प्रद्वेषानुपपत्तेरिति तत्प्रागेव समाहितम् । दृष्टफलशरीरधारणाद्युपयोगिक्रियायाः पारिभाषिककर्मत्वविरहात् । कर्तृत्व-

भोक्तृत्वबुद्धिपूर्वककर्मणामेव तथात्वात् । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या कर्तृत्वादिबाधे तत्पूर्वकत्वावश्यवक्तव्यवैधकर्मादौ प्रवृत्त्यभावात् । लोकसंग्रहमात्रार्थं यदि क्रियेत तर्हि कामं तदस्तु । न तद् विरुन्ध्मः । "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चने" त्यदृष्टफलविरहोक्तेः । "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं वर्त एव च कर्मणी"ति भगवदुक्तेश्च । तस्मात्सन्ध्यावन्दनादेरवश्यकर्तव्यताऽज्ञान-विजृम्भितकर्तृत्वादिपूर्विकाऽऽज्ञानविजृम्भणफलतया प्रतीयते । एवं शिखा-यज्ञोपवीतादिधारणमपि कर्मार्थत्वात्कर्मसु निवृत्तेषु तन्निवृत्तिरवश्यं-भाविनी ॥ ३ ॥

कर्मार्थमुपवीतादि न लिङ्गं धर्मकारणम् ।
अतएव च मोक्षादौ लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥ ४ ॥ [७३६]

यज्ञोपवीतादि कर्मके लिये है । जब कर्म ही नहीं तो यज्ञोपवीतादि किसलिये ? केवल यज्ञोपवीतादि लिङ्गसे धर्म उत्पन्न नहीं होता । "न लिङ्गं धर्मकारणम्" ऐसा मनुवचन है । अतएव मोक्षका भी वह कारण नहीं है । "लिङ्गग्रामो निरर्थकः" यह श्रुति है ॥ ४ ॥

शिखायज्ञोपवीतादिकं कर्माङ्गं भवति । कर्म चाज्ञानवतामिति कथं ज्ञानिनां तदुपयोगः स्यात् । न च तन्मोक्षसाधनम् । तथा चाह सर्वज्ञो मनुः—"न लिङ्गं धर्मसाधनमि" ति । न च कर्मार्थत्वेन धर्मसाधनत्वमस्त्येवेति वाच्यम् । यतोऽस्त्येव । को निवारयति ? लिङ्गत्वेन रूपेण धर्मसाधनत्वं नास्तीत्युच्यते । न हि कर्म यतीनामित्युक्तम् । तथा सति लिङ्गत्वमात्रम-वशिष्यते । ज्ञानमपि—"अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि" ति तस्य धर्मस्य साधनं यज्ञोपवीतादि नास्तीति ब्रूमः । इत्थं च मोक्षे ब्रह्मसाक्षात्कारादौ लिङ्गग्रामोऽयं दण्डकमण्डलुशिक्यशिखायज्ञोपवीतादि-र्निरर्थक एव । परोपकारादिश्चेत्फलमुपयुक्तमात्रलिङ्गं धार्यताम् । यथा काषायवस्त्रादि'। तेन हि यतिरिति लिङ्ग्यत इति श्रद्दधीरञ्जनाः, श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं च ।, शिखायज्ञोपवपीतादिकं दृष्ट्वा कर्मकाण्डी शठोऽयमिति मत्वा न श्रद्दधीरञ्जनाः । शठत्वमज्ञानित्वसमानाकरणज्ञान-प्रवक्तृत्वम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठदत्तजाबालिशौनकात्र्यङ्गिरोमुखैः ।
उक्तं कुटीचकाद्यर्थसंकोचि श्रुतिबाधतः ॥ ५ ॥ [७३७]

वसिष्ठ दत्तात्रेयादिने जो संन्यासीके लिये लिङ्गग्रहण बताया है वह कुटीचकादि संन्यासीके लिये है । क्योंकि श्रुतिने लिङ्ग त्याग बताया है ॥ ५ ॥

ननु च बहुभिर्महर्षिभिर्लिङ्गावश्यग्रहणीयतोक्ता कथं संगच्छेत ? तथा हि वसिष्ठः—"यज्ञोपवीत्युदककमण्डलहस्तः" । दत्तात्रेयः—"मोक्षाश्रमे स्मृतं वस्त्रं रक्तं यद्धातुरञ्जितम् । कार्यं यज्ञोपवीतं तु सितं नवगुणान्वितम् ।" वृद्धजाबालिः—"हीनो यज्ञोपवीतेन यदि स्याद् ध्यानभिक्षुकः...........गायत्री-साहितेनैव प्राजापत्यान् षडाचरेदित्य" योज्ञोपवीते प्रायश्चित्तमाह । शौनकः—"तच्छंयोरावृणीमह इति यज्ञोपवीतमि"त्यादि । अत्रिः—"ब्राह्मसूत्रं त्रिदेवत्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् । परित्यजन्ति ये विप्राः प्रच्युतास्ते न संशयः" । अङ्गिराः—"यतीनां त्रीणि शुक्लानि.......यज्ञोपवीतं दन्ताश्च तथा जन्तुनिवारणम्" । एवमुशनो-हारीत-मेधातिथिप्रभृतीनां वचनानि द्रष्टव्या-नीति चेन्न । तेषां सर्वेषां वचनानां श्रुतिन्यायविरुद्धत्वेन कुटीचकादि-विषयकत्वेन संकोचनीयत्वात् । तच्चानुपदं स्पष्टीकरिष्यते ॥ ५ ॥

यद् यादवप्रकाशाद्याः शिखादि पुनराददुः ।
आरूढपतितास्ते न मानमाचारदर्शने ॥ ६ ॥ [७३८]

यादवप्रकाशादि ने प्रथम शिखादि छोड़कर फिर उसे गलत समझकर दुबारा जो ग्रहण किया यह आचारप्रमाण नहीं है । क्योंकि यादवप्रकाश-आरूढपतित है । पहले छोड़ने की मूर्खता उसने की यह सर्वमान्य है । तब उत्तराचार भी ऐसी ही मूर्खता का परिणाम है ॥ ६ ॥

यत्तु यादवप्रकाशादयः प्रथमं गृहीतसंन्यासाः परित्यक्तशिखायज्ञो-पवीतादिका स्वीयां त्रुटिं पश्चादवगत्य पुनः शिखायज्ञोपवीतादि दधुरिति सदाचारवशाच्छिखायज्ञोपवीतादि धार्यमिति । तत्र यादवप्रकाशादीनामेवं-विधानामारूढपतितत्वेन तेषामाचारस्य प्रमाणत्वं नास्त्येव । प्रथमं कर्तृत्व - भोक्तृत्वाद्यपरित्यागाच्छिखादिपरित्यागेन शास्त्रज्ञानरहितत्वस्य निश्चि-तत्वाच्च । त्वन्मतेन मौढ्येन प्रथमं भ्रष्टत्वसिद्धेश्च । न हि पूर्वजन्मादिषु

कृताभ्यासा एवं मौढ्यं कर्तुमर्हन्ति । अनेकजन्मसंसिद्धो हि परमं ज्ञानं लभते ॥ ६ ॥

त्यक्तं दण्डं पुनर्यस्तु गृह्णात्यभिनिवेशतः ।
सोऽप्यारूढच्युतो दण्डी कोपवीतादिके कथा ॥ ७ ॥ [७३९]

यदि सदण्ड परमहंस होकर बाद में दण्ड त्याग करके फिर अभिनिवेश से पुनः दण्ड ग्रहण करता है वह दण्डी भी आरूढपतित है। यज्ञोपवीतादिकी तो बात ही क्या ? ॥ ७ ॥

त्रिदण्डमुपवीतं च यच्छाट्यायनचोदितम् ।
तच्चऽज्ञगोचरं बोध्यं श्रुत्यन्तरविरोधतः ॥ ८ ॥ [७४०]

शाट्यानोयनिषत् में त्रिदण्ड उपवीतादिको संन्यासी के लिये अवश्य धारणीय बताया है वह अज्ञानी संन्यासी को लेकर है । जब तक ज्ञान न हो तब तक इनको धारण करना चाहिए । जैसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादि । क्यों ? अन्य श्रुति के साथ विरोध अन्यथा होगा ॥ ८ ॥

ननु शाट्यायनीयोपनिषदि-"त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् । शिक्यं कवचमित्यादि बिभृयाद् यावदायुषम् ।" इति पञ्चानां ग्रहणं यावज्जीवं कर्तव्यमुच्यते । न चैतत् कुटीचकादिविषयं स्यात्, यद्वा लिङ्गानां बाह्याभ्यन्तरात्मकव्यक्ताव्यक्तभेदादव्यक्तत्रिदण्डादिविषयकमिति वाच्यम् । कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसानुपक्रम्य "तदेतदृचाऽभ्युक्तमि"त्युपक्षिप्य "कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस" इति वृत्त्या च भिन्नाः सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ताव्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम्" इति सर्वेषामविशेषेण तद्विधानात् । "विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च । तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशय" इति तत्रैवोक्तेः । पराशरेण च तथैव तदुपबृंहणादिति चेन्न । "त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् । निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनमि"ति तत्रैवोपनिषदि त्रिदण्डमात्रस्य वैष्णवलिङ्गत्वाभिधानात् । अत एव तत्रैव "एते विष्णुलिङ्गिनः शिखायज्ञोपवीतिनः" इति शिखायज्ञोपवीतयोः पृथग्ग्रहणम् । अन्यथा विष्णुलिङ्गिन इत्यनेन गतार्थत्वाच्छिखा-

यज्ञोपवीतिन इति पृथग्ग्रहणं व्यर्थमभविष्यत् । पराशरोऽप्युपबृंहणे "लिङ्गं तु वैष्णवं तेषां त्रिदण्डं सपवित्रकमि"त्येव जगाद । सपवित्रकमित्युपबृंहितम् । नन्वेवमपि कुटीचकादीन् प्रस्तुत्य "सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोपवीतिन" इति पृथगुक्तत्वादेव शिखायज्ञोपवीतयोः प्राप्तिरिति चेन्न । दर्शयिष्यमाण-श्रुतिविरोधेन ऋचाऽभ्युक्तं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकं त्रिदण्डमात्रं सर्वेषाम् । अन्येषां त्वव्यक्तमात्रं स्यात् परमहंसादेः । ऋचि व्यक्ताव्यक्तप्रयोगसत्त्वेऽपि उपनिषदि "सर्व एत" इति सर्वत्वविधायिन्यां तत्प्रयोगविरहात् । इदं तु बोध्यम् । यद्यपि परमहंसानामेकदण्ड एव विद्यते व्यक्तः । तथापि नारदपरिव्राजके "वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डस्तथैव च । यस्यैते नियता दण्डा स त्रिदण्डी महायतिः" इति अव्यक्तत्रिदण्डव्याख्यानात्तस्य च परमहंसेष्वप्यावश्यकत्वात् त्रिदण्डे एकदण्डस्यापि समावेशादुभयसंग्रहार्थं त्रिदण्डप्रयोगः कृत इति द्रष्टव्यम् । नन्वेतत्सर्वं यथाश्रुतऋजुमार्गसंभवेऽ-युक्तमिति चेन्न । श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः । परमार्थदृढतत्त्वज्ञानरहितविषयक-तया वा नेयम् । तत एव दृश्यन्ते चाद्यत्वेऽपि शिखायज्ञोपवीतादिधारिणो ब्रह्मचारिसंज्ञकाः परमहंसा इति ॥ ८ ॥

पुत्रान् भ्रातॄंश्च बन्ध्वादीनुपवीतं शिखामपि ।
त्यजेत् तथा धरेद् दण्डमित्यारुण्यां निगद्यते ॥ ९ ॥ [७४१]

आरुणि उपनिषत् में बताया है—पुत्र, भ्राता, बन्धु आदि एवं यज्ञोपवीत तथा शिखा भी संन्यासी छोड़ दें, दण्डमात्र धारण करें ॥ ९ ॥

"तं होवाच प्रजापतिः पुत्रान्, भ्रातॄन्, बन्ध्वादीन्, शिखां, यज्ञोपवीतं च विसृजेत् दण्डमाच्छादनं, कौपीनं च परिग्रहेत्, शेषं विसृजेदि"ति आरुण्युप-निषदि । तत्रैव "उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत् । दण्डान् लोकाग्नीन् विसृजेदि"ति । दण्डानिति त्रिदण्डमित्यर्थः । पूर्वं दण्डं परिग्रहेदित्येक-वचनान्तेन ग्रहणोक्तेः । "त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वानि"त्यपि तत्रैव । "पलाशं बैल्व-मौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वे"त्येवमन्ते एकदण्डस्यापि त्यागस्तत्रैवोक्तः ॥ ९ ॥

निष्कृष्य केशान् सशिखान् विसृजेत्सूत्रमेव च ।
निष्कृष्याथाप्सु जुहुयादित्याह कठरुद्रके ॥ १० ॥ [७४२]

कठरुद्रोपनिषत् में बताया है शिखासहित केशको निकालकर यज्ञोपवीतको छोड़ दें। यज्ञोपवीतको जलमें हवन करें ॥ १० ॥

'सशिखान् केशान् निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्कृष्य भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयादि'ति कठरुद्रे। एतेन "सशिखं वपनं कृत्वे"ति वाक्यान्तरं सविष्टरं भुङ्क्त्वा इतिवन्न कर्मान्वयीति परास्तम्। तदनन्वये सशिखमित्येकवचनापत्तेः "केशान् निष्कृष्य भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयादि" त्येतद्विरोधाच्च। कुण्डिकोपनिषदि कक्षोपस्थलोमानि परित्यजेदित्याह। न वपेदित्यर्थः। न तु शिखाया वपनपरित्याग उक्तः ॥ १० ॥

यज्ञोपवीतरहितः कथं ब्राह्मण इत्यतः।
आत्मयज्ञोपवीतत्वाज्जाबालादौ समाहितम् ॥ ११ ॥ [७४३]

जाबालादि कई उपनिषदोंमें यह प्रश्न उठाकर कि यज्ञोपवीतसे रहित ब्राह्मण किस प्रकार ? समाधान किया है कि आत्मा ही संन्यासीके लिये यज्ञोपवीत है। यज्ञोपवीत त्याग न हो तो यह प्रश्न और उत्तर दोनों असंगत होंगे ॥ ११ ॥

जाबाल-नारद-परमहंसादिषूपनिषत्सु "अयज्ञोपविती कथं ब्राह्मण" इति प्रश्नमुत्थाप्य "इदमेवास्य यज्ञोपवीतं य आत्मा" इति समाहितम्। भवन्मते संन्यासिनां यज्ञोपवीतादेरवश्यंभावात् प्रश्नोत्तरे उभे असंगते स्याताम् ॥ ११ ॥

शिखां यज्ञोपवीतं च त्रिदण्डं च कमण्डलुम्।
त्यजेच्छिक्यादिकं चाप्स्वित्येवं तत्रैव दर्शितम् ॥ १२ ॥ [७४४]

जाबालमें ही शिखा यज्ञोपवीत त्रिदण्ड कमण्डलु एवं शिक्य आदिको जलमें छोड़ देनेके लिये बताया है ॥ १२ ॥

स्पष्टतरं चाभिहितम्—"त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत् सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेदि"ति जाबाले। "यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेदि"ति नारदपरिव्राजके ॥ १२ ॥

शिखायज्ञोपवीतादि विसृज्यैवात्मविद्वरः ।
परिव्रजति हीत्येवकारं प्रायुङ्क्त नारदे ॥ १३ ॥ [७४५]

शिखायज्ञोपवीतादि छोड़कर ही परिव्रजन करते हैं । इस प्रकार नारदपारिव्राजकोपनिषतमें एव (ही) से अवधारण किया है ॥ १३ ॥

"शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं च विसृज्यैव परिव्रजत्यात्मविद्" इत्येवं नारदपरिव्राजके विसृज्यैवेत्येवकारप्रयोगान्निश्चयात्मना शिखादीनां परित्यागो लभ्यते । तत्रैव च "सशिखं वपनं कृत्वे"त्यादिकं विस्तरशो द्रष्टुं शक्यम् येन सविष्टरं भुङ्क्ष्व इतिवत्प्रयोग इति भ्रान्तिस्ते निवर्तेत । नारदे एव संन्यासविधिवर्णनतर्पणादिकमभिधायाह"शेषकर्मसिद्ध्यर्थं सप्तकेशानष्ट वा संरक्ष्य ॐ स्वाहा" इति शिखामुत्पाट्य "यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेद्" इति यज्ञोपवीतं छित्त्वा उदकाञ्जलिना सह "ॐ समुद्रं गच्छ स्वाहा इत्यप्सु जुहुयात्" इति ॥ १३ ॥

मुमुक्षोर्ब्राह्मणस्यान्तःशिखासूत्रविधारणम् ।
गृहस्थस्य बहिश्चेति परब्रह्मश्रुतौ स्थितम् ॥ १४ ॥ [७४६]

परब्रह्मोपनिषतमें लिखा है—मुमुक्षु संन्यासी ब्राह्मणके लिये अन्दर शिखा एवं सूत्र है । गृहस्थोंके लिये बाहर शिखा और सूत्र है ॥ १४ ॥

"ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तः शिखोपवीतधारणम् । बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्ये"ति परब्रह्मोपनिषदि स्थितम् । उक्तं चानन्दगिर्याचार्यैः परोक्षमपि ज्ञानं यस्य जायते दृढं स मुमुक्षुः कर्म कटाक्षेणापि न वीक्षत" इति । तदेवं कर्मपरायणा शिखायज्ञोपवीतमोहकलिलपतिता नैव मुमुक्षवोऽपीति निश्चीयते । तथा चैतेऽलब्धस्वमनोमिलितसुपत्नीका यतिपूजालाभार्थमवसरे प्राप्ते सुपत्नीमाशासानाश्च जीवनं यापयन्ति यतिब्रुवा इत्येव स्पष्टमुपलक्ष्यते । दृश्यन्ते चाद्यत्वे लब्धावसरतायां न परित्यजन्ति कामिनीरिति । नन्वद्वैतियतिष्वप्येवंविधा घटना क्वचिद् भवतीति चेत् । स्यात् । परं ते लोकापवादान्न निवर्तेरन्निति विरलास्तथाविधाः । युष्माकं तु "यथासमयं हि शिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्ये"ति श्रुतिमुदाहृत्य लोकापवादाद्विमुक्तिः स्वार्थसिद्धिश्च

तावदन्तं यतिपूजालाभश्चेति महत्युपलब्धिरिति । यत्तु प्राचीनैराचार्यै-र्भास्करयादवप्रकाशादिभिरनुल्लेखादेतेषां श्रुतित्वसन्देह इति, तदसत् । भगवत्पादैरेव जाबालश्रुतीनामुदाहरणात् कल्पतरुकारप्रभृतिभिर्बहूनामुप-निषदां ग्रहणाच्च । शंकरभगवत्पादानां कृते करतलामलकीकृतसकलनिगम-स्मृतीतिहासपुराणार्थैः समस्तन्यायसार्थवाहैः परमहंसपरिव्राजकपरिवृढैर्भ-गवच्छंकराचार्यैरित्यादि विशेषणमप्युच्यमानमसहमानः ईर्ष्याज्वालाज्वलित-चेता अनधीतोपनिषत्पुराणेतीतिहास उपहासं कुर्वन् पतितानां च यादव-प्रकाशादीनां महीयस्त्वं वर्णयन् दयनीय एव सतामित्येव निश्चयः इति संक्षेपः । अधिकं तूपनिषत्स्वेव द्रष्टुं युज्यते श्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीकृत-संन्यासवर्णनेऽस्मत्कृते संन्यासविधिविचारे च द्रष्टव्यमिति । ॥ १४ ॥

अत्र शाट्यायनवचः सतात्पर्यं सदित्यसत् ।
उक्ताः सर्वाः सतात्पर्या वह्व्यश्चेत्युक्तनिर्णयात् ॥ १५ ॥ [७४७]

शाट्यायनवचन तात्पर्ययुक्त होनेसे वही ग्राह्य है यह स्वयं दुराग्रह है । पूर्वोक्त सभी उपनिषत् तात्पर्ययुक्त है । और बहुत सारी है । "बहूनामनुग्रहो न्याय्यः" के अनुसार वे ही ग्राह्य हैं । वसिष्ठादिवचन स्मृति है । स्मृतिसे श्रुति निश्चित बलवती है ॥ १५ ॥

न भवेच्छ्रुतिसंकोचो वासिष्ठादिस्मृतेर्वशात् ।
वासिष्ठादिस्मृतेरज्ञविषयत्वं तु युज्यते ॥ १६ ॥ [७४८]

पूर्वपक्षः—शाट्यायन श्रुति और वसिष्ठादि स्मृतिवचन ये सब मिलकर लिङ्गग्रहणवचन भी तो बहुत है । उत्तरपक्षः—स्मृति श्रुतिकी अपेक्षा निर्बल होती है । अतः एक भी श्रुति विरोधमें हो तो स्मृतिका ही संकोच होगा । स्मृतियां अज्ञानीके लिये यज्ञोपवीतादिधारणकी आवश्यकता कहती है ॥ १६ ॥

लेशाऽविद्याः सविद्या जगदिदमखिलं बाधितं बुध्यमानाः ।
श्रुत्यन्तेषूक्तरीत्या सविधिहृतशिखा वीतयज्ञोपवीताः ।
निष्कर्माणोऽपि कर्म क्वचन विदधतः संग्रहार्थं जनाना-
माभीलस्य क्षयार्थं व्यवहरणसतः पल्ययन्ते यतीन्द्राः ॥ ६४ ॥

विद्यासे समस्त जगतको बाधित करते हुए भी लेशाविद्याके कारण बाधितानुवृत्त्या जगतको देखते हुए वेदान्तोक्तरीत्या सविधि शिखासूत्र-परित्यागकर महान् संन्यासी निष्कर्मा होते हुए भी जनता के व्यावहारिक सत् दुःखके क्षयके लिये लोकसंग्रहार्थ कभी-कभी कर्म करते हुए पर्यटन करते रहते हैं ॥ ६४ ॥

इति यतिदूषणनिरासः

*****

(६५)
अथालेपकवर्णनम्

षोढा संन्यासिनः श्रौताः कुटीचकबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च तुर्यातीतावधूतकौ ॥ १ ॥ [७४९]

कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस तुर्यातीत एवं अवधूत ऐसे छः प्रकारके संन्यासी होते हैं ॥ १ ॥

आश्रमाश्चत्वार इति प्रसिद्धम् । तत्र ब्रह्मचर्यादिवत्स्पष्टविधिविषया-श्रमत्वं कुटीचकबहूदकहंसानामेव । कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादि-तुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिरिति श्रुतेः । अन्येषां त्रयाणा-मत्याश्रमित्वं मन्यन्ते । अवधूताश्रम इत्यादिव्यवहारस्तु भाक्तः ॥ १ ॥

सार्धं परमहंसार्धैराद्या आश्रमिणस्त्रयः ।
त्रय आद्यास्तथेत्यन्ये ततोऽत्याश्रमिणोऽपरे ॥ २ ॥ [७५०]

कुटीचक, बहूदक, हंस एवं आधे परमहंस(साधक परमहंस) ये आश्रमी कहलाते हैं । प्रथम तीन ही आश्रमी हैं ऐसा भी मत है । शेष सिद्ध परमहंस, तुर्यातीत और अवधूत अत्याश्रमी कहलाते हैं ॥ २ ॥

द्विविधानां परमहंसानां मुमुक्षुमुक्तभेदेन दर्शनादर्धाः परमहंसा अपि संन्यासाश्रमवन्तः इति मतं प्रायः सर्वेषाम् । अपरे तु प्रथमान् कुटीचक-बहूदकहंसानेवाश्रमिण आहुः । शेषास्त्वत्याश्रमिण उच्यन्ते । तेषां विधि-निषेधकैङ्कर्याभावात् । यत्तु विधिवत्तेषां चरणवर्णनं तत्तेषां स्वभाववर्णन-

मिति विध्याभास एवेति, यथा द्रष्टव्य इत्यादौ । उत्पन्नज्ञानानामेव तत्त्वेन तेषां विध्यविषयत्वात् । न चैवं भेदकरणमनर्थकमिति वाच्यम् । श्रुत्युक्तत्वेन साधारणजनानां कृते वन्दनीयत्ववन्दनीयतरत्वादिभेदापादकत्वात् ॥ २ ॥

शिखा यज्ञोपवीती च पितृमात्रादिपूजकः ।
श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रश्च यतिस्त्रिदण्डश्च कुटीचकः ॥ ३ ॥ [७५१]

कुटीचक वह है जो शिखा एवं यज्ञोपवीत रखता है, मातापिता आदिकी सेवा करता है, सफेद ऊर्ध्व पुंड्र लगाता है, त्रिदण्डधारी है और संन्यासदीक्षा प्राप्त है ॥ ३ ॥

"कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्ड" इति नारदपरिव्राजकोपनिषदि । एवं भिक्षुकोपनिषदि संन्यासोपनिषत्प्रभृतिष्वपि प्रोक्तं द्रष्टव्यम् । दृष्टफलव्यतिरिक्तानां धर्माणां परस्परोपसंहारो बोध्यः ॥ ३ ॥

शिखायज्ञोपवीतं च त्रिदण्डं च कमण्डलुम् ।
त्रिपुण्ड्रं माधुकर्याख्यां वृत्तिं धत्ते बहूदकः ॥ ४ ॥ [७५२]

शिखा, यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु, त्रिपुण्ड्र और माधुकरी वृत्ति ये कुटीचककी अपेक्षा बहूदकमें विशेषता है ॥ ४ ॥

बहूदके त्रिपुण्ड्रं माधुकरी वृत्तिश्च विशेषः । अन्यत् कुटीचकवत्प्रायः । अयमूर्ध्वपुण्ड्रधार्यपि क्वचिद् भवति ॥ ४ ॥

त्रिपुण्ड्रमूर्ध्वपुण्ड्रं वा वृत्तिं माधुकरीं जटाम् ।
कौपीनखण्डमपि च धरन् हंसः समीरितः ॥ ५ ॥ [७५३]

हंस नामका संन्यासी त्रिपुण्ड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाता है । माधुकरी वृत्तिसे रहता है । जटा एवं कौपीन रखता है ॥ ५ ॥

हंसे असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशित्वं विशेषः । किंच ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुरिति भिक्षुकोपनिषदुक्तोऽपि विशेषः ॥ ५ ॥

शिखोपवीतरहितः काषायाम्बरधारणः।
जपी परमहंसः स्यादाऽऽलंबुद्धि ह्यधीतिमान् ॥ ६ ॥ [७५४]

परमहंस वह है जो शिखायज्ञोपवीतरहित हो, काषायवस्त्रधारी हो, प्रणवादि मन्त्रजप करता हो और मनस्तोषपर्यन्त अध्ययन करता हो। मनस्तोष होनेपर उपनिषदध्ययन छोड़ देगा। अत एव मुक्त मुमुक्षु ये दो विभाग परमहंसोंमें है ॥ ६ ॥

परमहंसस्तु द्विधा। मुमुक्षुर्मुक्तश्च। तत्र शिखायज्ञोपवीतत्याग उभयसाधारणः। काषायवस्त्रधारणं प्रणवादिजपश्च तत्कर्तव्यं भवति। यावदलंबुद्धि चोपनिषदाध्ययनं तेषां संमतम्। परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहित इत्युपनिषत्सु प्रायः सर्वासु। शाट्यायनीयास्तु यद्यपि सर्वेषां शिखायज्ञोपवीते आचख्युः। तथापि तदविवेकिविषयम्। कर्मसंपादनमन्तरा संन्यासाच्चित्तशुद्ध्यनुपपत्तेः। त एव संप्रति संन्यासाश्रमपदेषु ब्रह्मचारिपदेनोच्यन्ते। एतत्प्रागेव विवृतम्। ये तु आपाताध्ययनसत्सङ्गादिना लब्धविवेका वैराग्यवन्तो मुमुक्षवस्तेषामुपनिषदाद्यध्ययनार्थमाश्रमेषु निदर्शो भवति। तदाह नारदपरिव्राजके–"संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्ये"ति। परमहंससंन्यासकालेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तं तदुपयोगि दृढप्रज्ञापर्यन्तं वाऽऽश्रमादिषु स्थित्वाऽधीयीतेत्यर्थः। न चैतत्कुटीचकादिविषयमिति वाच्यम्। परमहंसादित्रयाणामित्युपक्रमानुरोधात्। तुर्यातीतादीनामप्राप्तत्वान्नैतद्विषयत्वम् ॥ ६ ॥

कुटीचको विवेकी स्याद् विरागी च बहूदकः।
हंसः शमादिमान् तुर्यो मुमुक्षुर्मुक्त एव वा ॥ ७ ॥ [७५५]

सामान्यरूपसे चारोंका लक्षण इस प्रकार है कि पूर्ण विवेकी कुटीचक है। अतएव वह गृहादि स्वामित्वको छोड़ता है। पूर्णवैराग्य न होनेसे पुत्रैश्वर्यमें सुखपूर्वक रहता है। बहूदक वह है जिसमें वैराग्य भी पर्याप्त है। अतएव वह घरबार छोड़कर नदीतटादिमें जाकर रहता है। उसे शमादिसाधनसंपत्ति भी विशेषरूपसे हो तो वह हंस हो जाता है। उसे वस्त्रादिकी भी आवश्यकता नहीं रहती। परमहंस तो विवेकादिपरिपूर्ण

होता ही है । उसमें मुमुक्षुता विशेषरूपसे होती है । मुख्य परमहंस जीवन्मुक्त होता है ॥ ७ ॥

कुटीचकादीनामान्तरं लक्षणं संक्षेपेणोच्यते । विवेकी-अतिशयितविवेकः कुटीचको भवति । स गृहधनादिषु स्वामित्वं त्यजति । तथापि वैराग्य-शमादेर्न्यूनत्वात् पूत्रैश्वर्ये सुखं वसति । अतिशयितविरागः पूर्वोक्त-विवेकयुक्तो बहूदको भवति । स गृहादिकं त्यक्त्वा नदीपुलिनादिषु वसन् ब्रह्मचिन्तनं करोति । हंसस्तु शमादिसाधनसंपन्नोऽपि भवतीति कौपीन-खण्डादिमात्रेणापि स सुखं जीवति । तीव्रमुमुक्षुत्वमपि चेत् स परमहंसः । मुख्यः परमहंसस्तु मुक्त एव ॥ ७ ॥

गोमुखोऽथ फलाहारी अन्नाहारी गृहत्रये ।
दिगम्बरस्तथाऽदण्डी तुरीयातीत उच्यते ॥ ८ ॥ [७५६]

परमहंसके लक्षण तुरीयातीतमें भी होते हैं । वह गोमुख होता है । (जैसे गाय मुंहमें जो आया वही खा लेती है) या फलाहारी होता है। तीन घरोंमें भिक्षा लेकर भी खा लेता है । दिगम्बर एवं दण्डरहित होता है ॥ ८ ॥

तुरीयातीतोऽपि शिखायज्ञोपवीतरहितो भवतिं । यथा गौर्मुखागतं भक्षयति तथा सर्वमन्नमत्ति । फलाहारी तु विशेषेण भवति । यद्यन्नाशी स्यात्तदा गृहत्रये भिक्षामटति । दिगम्बरो दण्डरहितश्च भवति । अयं तुरीयातीतः ॥ ८ ॥

अवधूतस्त्वनियमः स्वरूपध्यानतत्परः ।
सर्ववर्णेष्वटन् भिक्षामभिशस्तादिवर्जितम् ॥ ९ ॥ [७५७]

अवधूतके लिये बाह्य कोई नियम नहीं रहता । निरन्तर ब्रह्मध्यानतत्पर होता है । किसी भी जातिमें भिक्षा ले लेता है । हां पतित आदिको वह भी छोड़ देता है ॥ ९ ॥

अवधूतोऽपि शिखादिरहितोऽनियमोऽभिशस्तपतितादिवर्जनपूर्वकं सर्व-वर्णेषु आजगरवृत्त्याऽऽहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरो भवति ॥ ९ ॥

यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ १० ॥ [७५८]

श्रुतियोंमें कहा है—वर्णाश्रमसे ऊपर उठकर आत्मामें निरन्तर रहनेवाला योगी अतिवर्णाश्रमी एवं अवधूत कहलाता है ॥ १० ॥

य आश्रमान् वर्णांश्च विलङ्घ्यात्मन्येव स्थितो भवति सोऽतिवर्णाश्रमी योगी अवधूत उच्यते । "यो विलङ्घ्ये"त्यादिश्रुतेः । अत्र पूर्वार्धमदृष्ट्वैव प्रशस्यवर्णाश्रमीति व्याचक्षाणाः कीदृशा इति सुधीभिरेव चिन्त्यम् (अति-वर्णाश्रमी=प्रशस्तवर्णाश्रमीति तद्व्याख्या । किन्तु पूर्वार्धे विलङ्घ्या-श्रमानित्यादि) ॥ १० ॥

न वस्त्रं न च कौपीनं न दण्डो न कमण्डलुः ।
सर्वमप्सु परित्यज्य जातरूपधरास्त्रयः ॥ ११ ॥ [७५९]

नारदपरिव्राजकमें अन्तिम तीनोंके लिये कहा है—वे न वस्त्र रखते हैं, न दण्ड और न कमण्डलु । सबको जलमें छोड़कर नग्न रहते हैं ॥ ११ ॥

"परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं, न कौपीनं, न वस्त्रं, न कमण्डलुर्न दण्डः सर्ववर्णैकभिक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं चे" ति परिव्राजके । तत्रैव "तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपश्चरेत् । न कन्थालेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो, न श्रोतव्यमन्यत् किंचिदि"त्येवं पठितम् । जडभरतादिदृष्टान्तेषु तथा दर्शनात् ॥ ११ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ १२ ॥ [७६०]

इत्यादिनाऽवधूते हि प्रतिक्षिप्तमशेषतः ।
कर्मादिकं विस्तरेण तन्निरासो हि दुर्धरः ॥ १३ ॥ [७६१]

अवधूतोपनिषत् में बड़े विस्तारसे कहा है—परलोक जानेके इच्छुक भले कर्म करें, मैं स्वयं सर्वलोकात्मक हूं, क्यों कर्म करूं इत्यादि । इसका खण्डन कौन कर सकता है ? ॥ १२-१३ ॥

अवधूतोपनिषदि "अनुतिष्ठन्तु कर्माणी"त्यारभ्य कर्म-शास्त्रव्याख्यान-म्लान-शौच-श्रवण-मनन-निदिध्यासनादिकं सकलमप्यवधूतस्यावधूय "धन्यो-

ऽहं धन्योऽहमि"त्यादिना परमार्थस्थितिवर्णनमतिविस्तरेण कृतमिति न परमहंसतुरीयातीतावधूतानां विशेषतोऽवधूतस्य नियमबन्धनं शक्यते कर्तु-मित्यज्ञानिपरिकल्पितकर्तव्यशेषता निरास्पदैव ॥ १२-१३ ॥

अत्याश्रमित्वं तदिदमनवेक्ष्य श्रुतीरितम् ।
अप्रसिद्धं वदन् द्वैती स्वाऽज्ञानं हि व्यवीवरत् ॥ १४ ॥[७६२]

इस प्रकार श्रुतियोंमें कथित अत्याश्रमित्व देखे विना ही द्वैती लोगोंने उसे अप्रसिद्ध कहनेका जो साहस किया उससे उन्होंने अपने अज्ञानका ही पर्दाफाश किया है ॥ १४ ॥

एवं स्पष्टवर्णाश्रमोद्र्ध्ववर्त्तित्वं श्रुतिषु प्रतिपादितमनवलोक्यैव तस्याऽ-प्रसिद्धत्वमुत्तरवर्णाश्रमित्वं च वदन् स्वीयमज्ञानमेव व्यवृणोत् ॥ १४ ॥

शाट्यायनीयवचनं वावदीषि यथोदितम् ।
दृष्ट्वाध्यष्टोत्तरशतं हन्तोपनिषदो वद ॥ १५ ॥ [७६३]

—शाट्यायनीय वचनकी रट लगाये हुए हो उसकी व्याख्या हम कर आये हैं। एक सौ आठसे भी अधिक उपनिषदें हैं। उन्हें देखकर तब बात करो ॥ १५ ॥

मुहुर्मुहुरयं शाट्यायनीयवचनमेवाऽऽवर्तयति । यस्य व्याख्यानमस्माभिः पुरा कृतम् । द्रष्टव्या अष्टोत्तरशतादप्यधिका उपनिषदः । तत्र स्पष्टार्थानि वचनानि नान्यथा कर्तुं शक्यन्ते ॥ १५ ॥

स्वप्रतीपं तु यद्यत् तत् ब्रूषे गन्धर्वभाषितम् ।
मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी ॥ १६ ॥ [७६४]

अपने विपरीत जो भी श्रुतिस्मृति दीखें सबको गन्धर्वभाषित कहते हो। ठीक है, मुंह है तो बोलना ही है। हरडा दस हाथ लंबी होती है, बोलो ॥ १६ ॥

स्वस्वीकृतमिथ्यार्थविरुद्धमुपनिषद्वचनं गन्धर्वभाषितं वदन्न लज्जते । ततश्च मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकीति न्यायस्त्वय्यापतति ॥ १६ ॥

यत्तु त्वदनुकूलं स्याद् तदप्यद्यतनैर्जनैः ।
गन्धर्वभाषितं प्राहुः साधु चार्वाकमार्गकृत् ॥ १७ ॥ [७६५]

जो तुम्हारे लिये अनुकूल वचन हैं—चोटी रखो, जनेऊ पहनो, छाप लगाओ तीन-तीन दण्ड लिये फिरो, इन सबको आजकलके लोग पाखण्ड कहते हैं, गन्धर्व भाषित कहते हैं। अच्छा तुमने यह चार्वाकमार्ग खोल दिया ॥ १७ ॥

अद्यतना भोगपरायणा आहुरिदं शाट्यायनीयादिवचनमपि गन्धर्व-भाषितमिति। साधुकृतं त्वया यच्चार्वाकमार्गः प्रशस्तीकृतः ॥ १७ ॥

स्मृत्यादिवचसा हन्त बिबाधयिषसि श्रुतीः।
भास्करो यादवाद्याश्च मानं ते द्वेषमूर्तयः ॥ १८ ॥ [७६६]

स्मृतिसे श्रुतिका बाध करना चाहते हो। भास्कर, यादव आदि जो द्वेषकी आगमें जल रहे हैं वे ही तुम्हारे लिये प्रमाण हैं। ठीक है "समाने शोभते प्रीतिः" ॥ १८ ॥

स्मृतिवचनानि विकृतार्थानि कृत्वा श्रुतिरेव त्वं बाधितुं प्रयतसे। तत्र प्रामाण्याय द्वेषमूर्तीर्भास्करयादवप्रकाशादीनुदाहरसीति न चित्रम्। समाने शोभते प्रीतिः ॥ १८ ॥

भरतः प्राप्तमेवोप-नयनाद् गुरुभिः कृतात्।
न करोति स्म कर्मादि न शास्त्राण्यग्रहीदपि ॥ १९ ॥ [७६७]

शिष्टाचारप्रमाणार्थ भरतका दृष्टान्त जोड़ते हो वह उत्तम है पर जडभरतने उपनयनसे प्राप्त न कर्म ही किया और न शास्त्राध्ययन ही किया ॥ १९ ॥

शिष्टाचारप्रामाण्याय भरतादीनुपस्थापयसि तच्छोभनमेव। किन्तु गुरुभिस्तदीयोपनयने संपादितेऽपि तदनन्तरप्राप्तानि सन्ध्यावन्दनशास्त्रा-ध्ययनादीनि कर्माणि स न चकार भरतः ॥ १९ ॥

अनेकधाऽवधूताः किं तत्त्वे वा कतमो भवान्।
इति प्रप्रच्छ तत्सूत्रं दृष्ट्वाश्चर्याद् रहूगणः ॥ २० ॥ [७६८]

भागवतमें—बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः' इस प्रसंगको लेकर अवधूतको भी यज्ञोपवीत सिद्ध करना प्रसंगबोधाभावका परिणाम है। वहांका आशय यह है कि देखनेसे और तत्त्वज्ञानवचनसे आप अवधूत दीखते हैं। किन्तु

यज्ञोपवीत धारण किये हुए है। हमारे अध्ययनमें अवधूतका सूत्र नहीं आया है। हो सकता है अनेक प्रकारके अवधूत हों और उनमें कोई सूत्रधारी भी हो। तो आप बतायें कि आप कौनसे अवधूत हैं ? भरतकी असल बात यह थी आचार्योंने जनेऊ डाल दिया उनके गलेमें, वह पड़ा है। अव्यक्तलिङ्ग अव्यक्ताचार जो ठहरे ॥ २० ॥

यत्तु बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूत इति भागवतवचनं दृष्ट्वाऽवधूतानामपि यज्ञोपवीतं वर्तत इति कल्पनं तन्मौढ्यमात्रम्। कतमोऽवधूत इति बहुविधावधूतेषु कतम इत्यर्थत्वाद् बहुविधानामवधूतानां विरहात्। वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। तत्र प्रश्नस्यायमर्थः। मया सूत्ररहिता एवावधूता दृष्टाः। भवांस्त्ववधूतो भात्यव्यक्ताचारत्वाच्छिबिकावहनात्। तथा च सूत्रधारिणोऽप्यवधूता भवन्तीति गम्यते। तत्र कतमोऽवधूतो भवानिति प्रश्नः। न चास्य प्रश्नस्योत्तरं जडभरतः प्रादात्। तत्राव्यक्ताचारत्वमेवोत्तरम्। गुरुभिर्धापितं यज्ञोपवीतं न प्रक्षिप्तमप्सु प्राप्तप्रक्षेपत्वेऽप्यर्थ्यक्ततार्थमित्येव तत्रत्यो भावः ॥ २० ॥

स्पष्टं च दण्डवैकल्प्यं त्रिदण्डेनेति विब्रुवन्।
व्याचष्टां श्रुतिमप्येतां न दण्डं न कमण्डलुम् ॥ २१ ॥ [७६९]

'काममेकं वैणवं दण्डं गृह्णीयात्' यहां दण्डग्रहणविकल्प स्पष्ट है। इच्छा हो तो एक दण्ड रखो नहीं तो मत रखो। उसकी व्याख्या ये द्वैतवादी करते हैं—चाहे एक दण्ड रखो चाहे तीन दण्ड रखो। अच्छा, मुख्य परमहंसको लेकर न दण्डं न कमण्डलुं जो बताया उसकी भी थोड़ी व्याख्या करो। न दण्डं का अर्थ 'दण्ड रखो' यह करोगे क्या ? ॥ २१ ॥

काममेकं वैणवं दण्डमित्यादौ एकदण्डं वा त्रिदण्डं वेत्यत्रैव विकल्पो न तु दण्डतदभावयोरित्येवमन्यथा विस्पष्टार्थमपि व्याचक्षाण इमामपि श्रुतिं व्याचष्टां—न दण्डं न कमण्डलुं न शिक्यमित्यादि ॥ २१ ॥

यतिर्वैराग्यवैषम्यात् साम्बरो वा दिगम्बरः।
काममेकं धरेद्दण्डमुपयोगानुसारतः ॥ २२ ॥ [७७०]

वस्तुतः वैराग्यके न्यूनाधिकभावसे कोई यति वस्त्रधारी होता है और कोई दिगम्बर। उपयोग हो तो एक दण्ड रखो नहीं तो मत रखो। यही श्रुतितात्पर्य है ॥ २२ ॥

साम्बरो वा दिगम्बरो वेति श्रुतिर्वैराग्यतारतम्यात्। प्रवृत्ता। उपयोगोऽस्ति चेत्काममेकं वैणवं दण्डं गृह्णीयादन्यथाऽदण्ड एव परमहंस इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं स्पष्टार्थतां त्यक्त्वा कर्मिदण्डं दिगम्बरः।
धरन् दृष्टः किमु क्वापीत्येष कुप्रश्न एव ते ॥ २३ ॥ [७७१]

पूर्वोक्त अर्थ स्पष्ट होनेपर भी उसे छोड़कर एक विकल्प दिगम्बरता और दूसरा विकल्प सदण्डताको हाथीके पीछे गधेकी पूँछके समान जोड़कर जो प्रश्न द्वैतीने किया कि दिगम्बर भी कोई फरसेवाले-दण्डधारी देखा है क्या ? यह कुप्रश्न ही है ॥ २३ ॥

यतिमुद्दिश्य दण्डादण्डविकल्पः। न तु दिगम्बरमुद्दिश्य। इत्थं च दण्डग्रहणे विकल्पे दिगम्बरो दण्डधारी क्वापि दृष्ट इति कुप्रश्न एव तव ॥ २३ ॥

जन्तुवारणहेतोर्वा वृद्धावस्थादितोऽपि वा।
एकं परिग्रहं दण्डं धरेत् काममितीर्यते ॥ २४ ॥ [७७२]

कुक्कुरादिसे बचनेके लिये या वृद्धावस्थाके कारण एक परिग्रहात्मक दण्ड रखो यही श्रुतिमें बताया है ॥ २४ ॥

अत्र च दण्डस्य न कर्मोपयोगिदण्डोऽर्थः। दण्डमेकं परिग्रह इति श्रुतेः परिग्रहत्वेन तदुक्तेः। वस्त्रकौपीनादिसाहचर्येण जीवनोपयोगिदण्डस्यैव तत्र विवक्षितत्वात्। ग्रामेषु भिक्षार्थं प्रवेशे नूतनाकारं दृष्ट्वा कुक्कुरादयो भक्षयितुमागच्छन्तीति जीवनोपयोगी दण्ड एकः परिगृह्यताम्। क्वचिद्-वृद्धावस्थया वा रोगादिना वा शरीरदोर्बल्ये सहायार्थं दण्डः परिगृह्यतामिति तत्रार्थः ॥ २४ ॥

दण्डं तु भगवत्पादा लोकसंग्रहतोऽदधुः।
नाथमुन्यादयस्त्वज्ञा कर्मकर्तृत्वभावनात् ॥ २५ ॥ [७७३]

आचार्य शंकर भगवत्पादने दण्ड तो लोकसंग्रहार्थ ग्रहण किया । निष्ठावान यतिको देखकर लोग भी निष्ठावान बनते हैं । नाथमुनि आदिने जो दंड ग्रहण किया वह कर्म करनेके लिये है । अत एव कर्तृत्वभावना अवश्य होनेसे वे सब अज्ञानी ही रहे ॥ २५ ॥

यत्तु शंकरभगवत्पादैरपि दण्डो गृहीत इति तत्तु तथा चेत् । लोकसंग्रहार्थमेव । निष्ठावानयं यतिरिति दृष्ट्वा लोका निष्ठया वर्तितव्यमित्येवं शिक्षां गृह्णीयुः । यत्तु नाथमुनिप्रभृतयो दण्डं जगृहुरिति सर्वधार्यमिति, तदसत् । नाथमुन्यादीनां कर्तृत्वभावनाया युष्माभिरपि स्वीकारेण तद्धेतुभूताऽविद्यावत्त्वध्रौव्यात् ॥ २५ ॥

धर्माधर्मौ नेति चोक्ते ह्यधर्मानुमतिः कुतः ।
सर्वारम्भपरित्यागीत्येतत् किं नावलोकसे ॥ २६ ॥ [७७४]

"न धर्माधर्मौ" इस श्रुतिका अर्थ यह नहीं कि अधर्मकी अनुमति है । "सर्वारम्भपरित्यागी" यह गीतावचन उसका स्पष्टीकरण है ॥ २६ ॥

"न धर्माधर्मावि"ति श्रुतेऽधर्मानुमतिरत्रेति दुर्व्याख्या । "सर्वारम्भपरित्यागी" ति गीतोक्तेः ॥ २६ ॥

त्यज धर्ममधर्मं चेत्येतद् गीतार्थबृंहणम् । धर्ममधर्मं चेत्येतद्
न तु व्याख्यान्तरं तत्रापेक्षितं यत्त्वयेष्यते ॥ २७ ॥ [७७५]

धर्म और अधर्मको त्यागो यही उसका उपबृंहणवचन है । यहां कुसृष्टि कर अन्य अर्थ करना बेकार है ॥ २७ ॥

सर्वारम्भपरित्यागीत्येव त्यज धर्ममधर्मं चेत्यस्यार्थः । नात्र व्याख्यान्तरमपेक्षितम् । तथाव्याख्यानेऽपि सर्वारम्भपरित्यागीत्यस्यार्थान्तरं नास्त्येव ॥ २७ ॥

दग्धाखिलाधिकारत्वाद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः ।
वर्तमानः श्रुतेरूर्ध्वं नैव स्याद्विधिकिंकरः ॥ २८ ॥ [७७६]

ब्रह्मज्ञानरूपी अग्निमें समस्त अधिकार दग्ध हो गये । अब यति श्रौत विधियोंसे ऊपर उठ जाता है तो विधिका किंकर नहीं होता । इसीको लेकर "अत्र वेदा अवेदा भवन्ति" इत्यादि बताया । यद्यपि यह श्रुति

बृहदारण्यकमें—सुषुप्तिप्रकरणमें है तथापि मैत्रायणीयमें ब्रह्मसाक्षात्कार प्रकरणमें पढ़ी है ॥ २८ ॥

"अत्र वेदा अवेदा" इति मैत्रायण्यादौ ब्रह्मबोधप्रकरणस्थितेर्वेदविध्यनधीनत्वं ज्ञानिनः ॥ २८ ॥

समाधौ कर्मराहित्यं न चेष्टं वक्तुमर्हसि ।
अकर्ता प्रत्यवायी स्यान्मा समाधा इतीरय ॥ २९ ॥ [७७७]

समाधि लगाकर निष्कर्मा बैठना भी क्यों इष्ट होगा ? उन्हें उपदेश दो कि समाधि मत लगाया करो ॥ २९ ॥

यत्तु नानाविकल्पान् कृत्वा यदि समाधौ सर्वकर्माभावं ब्रवीषि तदास्माकमिष्टमिति यदुच्यते त्वया, तदसत् । नित्यनैमित्तिकाद्यकरणेन प्रत्यवायावश्यंभावात् । समाधिपुण्येन तद्धीयत इति चेज्ज्ञानपुण्येनापि तद्धीयते । "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसी"ति वचनात् । सोऽर्थवादश्चैत्समाधावपि तथा । तथा च मा समाधिं समाधात इत्येव शिष्या उपदेष्टव्यास्त्वया ॥ २९ ॥

आपद्धर्मः स इति चेत् समाधिर्ह्यापदेव वः ।
भोगान् भुङ्क्ष्व तदेवात्र श्रेय इत्यप्युदीर्यताम् ॥ ३० । [७७८]

पूर्वपक्षः—आपदामें धर्मसंकोच होता है जैसे यात्रामें बिमारीमें सन्ध्यावन्दनादिका । वैसे समाधिकालमें सन्ध्या आदि कर्म छूट सकते हैं । उत्तरः—ठीक बात है । आपके लिये समाधि आपदा ही है । योग छोड़, भोग करो यही श्रेयस्कर है । ऐसा कह दो ॥ ३० ॥

नन्वापदि धर्मसंकोचो भवति । यथा यात्रादौ रोगाक्रमणादौ च सन्ध्यावन्दनादिलोपस्तथा समाधावपीति चेत् । सत्यम् । आपदेव युष्माकं समाधियोगो भोगपरायणानाम् । कुतः समाधिं निरुध्यैव सन्ध्यादिकर्म न क्रियताम् । तत्र का नामापदा ? ॥ ३० ॥

श्लिष्यते कर्म विदुषि न पुष्करपलाशवत् ।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ ३१ ॥ [७७९]

यस्य नाहंकृतो भावो नैवं पापमवाप्स्यसि ।
अपि चेदसि पापेभ्यो यथैधांस्यग्निरित्यपि ॥ ३२ ॥ [७८०]

पद्मपत्रमें जलके समान ज्ञानीमें कर्मका श्लेष नहीं होता । अनिष्ट इष्ट और मिश्र ऐसे तीन कर्मफल संन्यासियोंको नहीं होता । अहंकार न हो तो पाप नहीं लगेगा । महापापी भी ज्ञाननौकासे पापसागर पार करेगा । अग्नि लकड़ीको जैसे जलाती है वैसे ज्ञानाग्नि सर्वकर्मोंको जलाती है । इत्यादि सहस्रशः वचनोंमें ज्ञानीका कर्मनाश बताया है ॥ ३१-३२ ॥

"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" "अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्" । "अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि" "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । "यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते" । "सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि" । इत्यादीनामर्थान्तरकरणमन्याय्यम् ॥ ३१-३२ ॥

दुर्वृत्ताविरतो यन्न प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।
प्रज्ञानाऽभिन्नरूपैव प्राप्तिर्नस्तत्र संमता ॥ ३३ ॥ [७८१]

पूर्वपक्षः—"नाविरतो दुश्चरितात्-प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" इस मन्त्रमें ज्ञानी होनेपर भी यदि दुश्चरित हो तो ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होगी यह बताया है । अतः ज्ञानीके कर्मका फल नहीं होता यह कहना संभव नहीं । उत्तरपक्षः—सिद्धान्तमें ज्ञानसे अतिरिक्त प्राप्ति नहीं है । प्रज्ञान ही प्राप्ति है । जैसे विस्मृतकण्ठचामीकरकी प्राप्ति । प्रकृतमें दुश्चरितसे अविरतको प्रज्ञानात्मक ब्रह्मप्राप्ति नहीं । ज्ञान ही प्राप्त नहीं होगा यह अर्थ है ॥ ३३ ॥

प्रज्ञानमेव भगवत्प्राप्तिरस्मन्मते । प्राप्तप्राप्तित्वात् । दुश्चरिताऽविरतस्य सा न भवति । न तु दुश्चरितस्य ज्ञानेन साधनेन प्राप्तिः । तस्य

ज्ञानोदयासंभवात् । तथापि दुश्चरणप्रवृत्तस्याऽसमाहितस्योपास्तिर्दुर्घटैव । अत्र शुकादीनुदाहृत्य यदन्यथा व्याख्यातं प्रह्लादाजगराख्याने वचनान्तर-बलेन दण्डसूत्रादिकमवधूतस्य यद् दर्शितं तत्सर्वं दुर्भरव्याख्यानकौशलमिति ग्रन्थविस्तरान्न लिख्यते ॥ ३३ ॥

खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः ।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः ॥ ३४ ॥ [७८२]

शास्त्र यह कहता है कि ब्रह्मवेत्ता अवधूतके दृष्टिगोचर थलचर नभचर सभी तत्काल करोड़ों जन्मोंमें अर्जित पापोंसे मुक्त होते हैं ॥ ३४ ॥

दर्शनेऽप्यवधूतानां नरकं ये वदन्त्यहो ।
इहैव नारकाः कीटास्ते परत्र तु कीदृशाः ॥ ३५ ॥ [७८३]

और आप कहते है कि अवधूतोंके दर्शनसे भी नरक होगा । ऐसा कहनेवाले यहीं नरकके कीड़े जैसे संतप्त रहते हैं, परलोककी तो क्या कहें ? ॥ ३५ ॥

क्वाचित्कं भोगलोलुप्त्वं दोषत्वेन यदीरितम् ।
तत्तु युष्मन्मतस्थानामधिकं दृश्यतेऽधुना ॥ ३६ ॥ [७८४]

जो यह कहते हैं कि अवधूतभेषमें भी भोगलोलुपता रहती है । शायद किसी किसीमें होती होगी । परन्तु द्वैतमतसंप्रदायमें इसकी मात्रा अत्यधिक है । यहां तो भेषके लाजसे बहुतसे लोग इस स्थितिसे ऊपर उठते हैं । द्वैतियोंका सिद्धान्त ही भोग लगाना, भोग करना है । अधिकतर श्वेतवस्त्रधारी होनेसे गृहस्थोंके साथ एकीभूत हो जाते हैं, यह प्रत्यक्षानुभव है ॥ ३६ ॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहप्रियाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः ॥ ३७ ॥ [७८५]

श्रुतिमें लिखा है प्रमादी, बहिर्मुखी, चुगलखोर, कलहप्रिय, संन्यासी भी देखनेमें आते हैं । जो अपने बुरे कर्मोंसे दूषित चित्त है । जब श्रुतिमें भी

ऐसा कहा है तो यह सिलसिला अनादिकालसे चल रहा है यह मालूम पड़ता है। अतः इनको लेकर पूरे संन्यासियोंको दूषित करना औद्धत्यमात्र है ॥ ३७ ॥

इति श्रुत्योदितं नैव यतिसामान्यदूषणम् ।
दूषयन् यतिसामान्यं दयनीयः सतां वरैः ॥ ३८ ॥ [७८६]

'संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते' यहां अपिकारका अर्थ है–गृहस्थादि ऐसे होते हैं, संन्यासी भी ऐसे मिलेंगे। यह संन्यासीमात्रके लिये दूषण नहीं है। किन्तु ऐसे भी संन्यासी होते हैं इतना ही अर्थ रखता है। अपिकार कैमुत्यन्यायार्थ है। गृहस्थोंका कहना क्या ? यह अर्थ है। किन्तु यह भी समस्त गृहस्थदूषण नहीं है। किन्तु बहुतेरे ऐसे गृहस्थ होते हैं इतनेमें तात्पर्य है। हिन्दुस्थानके एक आदमीने जापानमें जाकर लाईब्रेरीमें चोरी की तो जापानवाले कहने लगे–हिन्दुस्तानी चोर होते हैं। तो क्या आप भी चोर हैं ? सिद्धान्तको लेकर बात करते समय चरित्रको लेकर मिथ्यारोप करना किसी विद्वानके लिये शोभास्पद नहीं है ॥ ३८ ॥

निरन्तरब्रह्मसदेकताना
निरन्तराया भुवनं पुनानाः ।
अव्यक्तालिङ्गा विचरन्ति सन्तो
विधूतपापा अवधूतरूपाः ॥ ६५ ॥

निरन्तर सद्ब्रह्मचिन्तनपरायण समस्त अन्तरायोंसे रहित, अप्रकट महिमापूर्ण, निष्पाप अवधूत संन्यासी जगतको पवित्र करते हुए विचरण करते हैं, कोई कोई ही इनको समझ पाते हैं ॥ ६५ ॥

इत्यलेपकवर्णनम्

*****

(६६)

अथाद्वैतमते सूत्रस्वारस्यनिरूपणम्

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा पुरुषार्थाय नीयते।
आनन्दो दुःखहानं च पुमर्थः सर्वसम्मतः॥ १ ॥ [७८७]

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य क्या है ? ब्रह्मोपासना से जीव ब्रह्मा के पास जाता है यह तात्पर्य है या अद्वैतज्ञान से मोक्ष होता है ? इस पर विचार करें। द्वैतवादी प्रथम पक्ष के हैं। तदर्थ यह पूर्व ही स्पष्ट किया जाना चाहिए कि शास्त्रप्रवृत्ति किस उद्देश्य को लेकर हुए है। यह सर्वविदित है कि पुरुषार्थप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है। वह पुरुषार्थ क्या है ? आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्दप्राप्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मसूत्रेष्वधिकरणेषु कस्यार्थस्य निर्णय इति चिन्त्यते। सविशेषं ब्रह्मैवात्र निर्णीतं, जगतः सत्यत्वं, ज्ञानकर्मानुगृहीतोपासनया मोक्षश्च दर्शिताविति भेदिनो वदन्ति। अद्वैतिनस्तु निर्विशेषं ब्रह्मैवात्र प्रकाशितं, जगतो मिथ्यात्वेनाद्वैतस्यैव पारमार्थिकत्वं, केवलेन ज्ञानेन मोक्षश्चेति। तमिमं सिद्धान्तं स्फोरयितुमधुना विचार आरभ्यते। तत्रेदं प्रथमं वक्तव्य- 'मथातो ब्रह्माजिज्ञासे'त्यादि शास्त्रं किमर्थं प्रवृत्तमिति। नात्राधिकं वक्तव्यमस्ति। सर्वेषामेव शास्त्राणां पुरुषार्थप्रयोजनतयैव प्रवृत्तेः। अन्यथा लोकानां तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तत्रापि लौकिकपुरुषार्थलाभाय शास्त्रारम्भो विफल एव भवति। लौकिकप्रयत्नेनैव तत्सिद्धेः। न हि धनादिप्राप्त्यर्थं कश्चिच्छारीरकमीमासामधीते। किन्तु परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थमेवेति तदर्थमेव शास्त्रमिदम्। कोऽयं परमपुरुषार्थ इति चेदात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः परमानन्द- प्राप्तिश्चेति सर्वसम्मतम्। नात्र विवादः तस्य साधनत्वे च शास्त्रस्य फलसम्बन्धः संभवति, प्रयोजनं च सिध्यति ॥ १॥

जिज्ञासया भवेज्ज्ञानं ज्ञानेनाज्ञानहानतः।
निवृत्तस्य निवृतिः स्यात् प्राप्तस्य प्राप्तिरेव च ॥ २ ॥ [७८८]

यह निर्विवाद है कि जिज्ञासा से ज्ञान होगा। चाहे जिज्ञासाप्रयुक्त विचार ही जिज्ञासापद का अर्थ क्यों न हो। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है यह भी असंदिग्ध है। यही पुरुषार्थसाधन सूत्रकाराभिप्रेत है। अज्ञान के जाने पर निवृत्ति की ही निवृत्ति और प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। रज्जुज्ञान हो गया तो सर्प मरता नहीं। पूर्व में ही निवृत्त सर्प निवृत्त होता है। कण्ठचामीकरका ज्ञान हुआ तो जिसे पहले भूलकर ढूँढं रहे थे उस प्राप्त की ही प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति व्युत्पत्तेर्जिज्ञासाफलं प्रथमं ज्ञानमेव। न केवलं जिज्ञासामात्रेण ज्ञानमुत्पद्यत इत्यतो मध्ये विचारोऽपि समपेक्षितः। तथा सति जिज्ञासाप्रयुक्तविचार एव प्रथमसूत्रेण कर्त्तव्यतयोपक्षिप्यते। न चैवमथातो ब्रह्मविचार इत्येव लाघवात् कुतो न सूत्रितमिति वाच्यम् ॥ तत्फलं ज्ञानमेवेत्येतल्लाभार्थं यथास्थितन्यासस्योपयुक्तत्वात्। ब्रह्मविचार इत्युक्ते तत्फलमदृष्टादिद्वारा किंचिदन्यद्वा ज्ञानमेव वेति सन्देहः स्यात्। जिज्ञासेत्युक्ते ज्ञातुमिच्छेति व्युत्पत्त्यैव ज्ञानफलत्वं स्पष्टमवगम्यते। ज्ञानं तु स्वतः सुखाद्यनात्मकत्वात्ततः कथं पुरुषार्थ इति विचार्यं भवति। ज्ञानेन खलु साधारणतया विचार्यमाणेऽज्ञाननिवृत्तिद्वारा प्राप्तस्य प्राप्तिर्निवृत्तस्य च निवृत्तिर्भवति। यथा कण्ठचामीकरस्यप्राप्तिः प्राप्तस्यैव प्रथमं विस्मृतस्य पश्चाज्ज्ञातस्य। तथा निवृत्तस्यैवान्धकारभूतप्रेतस्य प्रथमं तदस्तित्वेन ज्ञातस्य निवृत्तिरिति। न हि ज्ञानं वस्तुप्रकाशनेनाज्ञाननिवृत्तेरतिरिक्तं किंचित्करोति।

निवृत्तं भासमानं हि मिथ्येति विनिगद्यते।
ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यं च मिथ्या दुःखादिकं ततः ॥ ३ ॥ [७८७]

जो पहले से निवृत्त हो और भास रहा हो उसी को मिथ्या कहते हैं। जैसे रज्जू में सर्प पूर्व निवृत्त है। भास भी रहा है। अव एव मिथ्या है। वैसे ब्रह्मज्ञान से जो आत्यन्तिक निवृत्ति कर रहे हैं वह भी निवृत्त की निवृत्ति है। निवृत्त भी दुःख भास रहा है अतः मिथ्या है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का अर्थ है दुःख, और तत्कारण उभयनिवृत्ति। अन्यथा कारण के रहने से फिर से कार्य होगा। अतः आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। फलतः दुःखकारण संसार की निवृत्ति ज्ञान से माननी होगी।

वह भी निवृत्त की निवृत्ति होने से निवृत्त अथ च भासमान संसार भी मिथ्या सिद्ध होगा ॥ ३ ॥

यच्च निवृत्तमेव सद् भासते तन्मिथ्येत्युच्यते । यथा रज्जौ सर्पो नित्यनिवृत्त एव भासते स मिथ्यैव भवति ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च । एवं ब्रह्मज्ञाननिवर्तनीयं दुःखादिकमपि मिथ्यैवेति निश्चीयते ॥ ३ ॥

शुक्तिज्ञानाच्छुक्तिरूप्यं निवर्तेत न रज्ज्वहिः ।
ब्रह्मज्ञानाद् ब्रह्मदुःखं ब्रह्मजीवैक्यमप्यतः ॥ ४ ॥ [७९०]

शुक्तिज्ञान से शुक्तिरजत निवृत्त होगा, न कि रज्जुसर्प । तब ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मदुःख निवृत्त होगा । जीवदुःख कैसे मिटेगा ? और पुरुषार्थ अपने दुःख की निवृत्ति है अतः एव ब्रह्म और जीव की एकता भी सूत्रकारको अभिमत है यह निश्चित होता है ॥ ४ ॥

अथैवमपि शुक्तिज्ञानेन शुक्तिकल्पितरूप्यमेव निवर्तते । न तु रज्जुकल्पितसर्पः । एवं ब्रह्मज्ञानाद् ब्रह्मकल्पितदुःखमेव निवर्तेत न तु जीवदुःखम् । न ह्यन्यदीयदुःखनिवृत्तिः परमपुरुषार्थ इति । तदिदं ज्ञापयति ब्रह्मजीवयोरैक्यमेव तदज्ञानप्रयुक्तो हि दुःखसंसार इति । दुःखहेतुभूतः संसारोऽपि तथेति सर्वः प्रपञ्चोऽयं मिथ्येति सूत्रतात्पर्यार्थः स्फुटति ॥ ४ ॥

बृहत्त्वमपरिच्छेदादैक्यं तद् ब्रह्मजीवयोः ।
सूत्रितं स्यात् स विषयः स्फुटं चात्र प्रतीयते ॥ ५ ॥ [७९१]

तब 'अथातो ब्रह्मजीवैक्यजिज्ञासा' लिखना चाहिये था । नहीं ब्रह्म शब्द का अर्थ है वृहद् अपरिच्छिन्न । वस्तुपरिच्छेदाभाव से ब्रह्मजीवैक्य ब्रह्मपद से ही सूचित हो जाता है ॥ ५ ॥

नन्वेवं ब्रह्मजीवैक्यजिज्ञासेत्येव स्फुटत्वार्थं वक्तव्यमासीदिति चेन्न । ब्रह्मपदेनैव तदर्थलाभात् सूचनाद्धि सूत्रम् । बृहत्त्वं ह्यपरिच्छिन्नत्वम् । तत्र देशकालपरिच्छेदस्तु नास्तीति न विशेषतो विचारणीयमस्ति । जीवब्रह्मैक्यं वस्तुपरिच्छेदाभावः । स इह सूचित इति स एव विषयः शास्त्रस्य स्पष्टं प्रतीयते ॥ ५ ॥

ननु धर्मैक्यमप्येवं धर्मजिज्ञासया भवेत् ।
मैव धर्मो ह्यनुष्ठेयो ज्ञातो, न ब्रह्म तत्तथा ॥ ६ ॥ [७९२]

इस प्रकार फिर 'अथातो धर्मजिज्ञासा में भी सारी बातें आयेंगी । तथा धर्म और जीव की भी एकता माननी पड़ेगी । नहीं । धर्म शब्द सुनते ही अनुष्ठेयता उपस्थित होती है । धर्मज्ञान होने मात्र से ही धर्म नहीं होगा । अनुष्ठित धर्म से यथायोग्य दुःखध्वंस ही होगा, ब्रह्म अनुष्ठेय-उत्पाद्य नहीं है, यह महान अन्तर है ॥ ६ ॥

ननु चैवं धर्मजिज्ञासायामपि समानयुक्त्या धर्मजीवैक्यमापद्येतेति चेन्न । ज्ञातो हि धर्मोऽनुष्ठेयो भवति । न ह्येवं ब्रह्मानुष्ठेयम् । सिद्धं ज्ञातं प्राप्तप्राप्त्याद्यर्थं, साध्यं ज्ञातं तदनुष्ठानपूर्वकपुमर्थप्राप्त्यर्थमिति विवेकः । अधिकं तु शास्त्रैक्यभङ्गवादे निरूपितम् ॥ ६ ॥

तत्तदाकारवृत्तिश्च तत्तदज्ञानहानकृत् ।
अतश्चाऽविषयत्वेऽपि ब्रह्मणो न क्षतिर्मम ॥ ७ ॥ [७९३]

घटाकारवृत्तिसे घटाज्ञाननिवृत्ति होती है । वैसे ब्रह्माकार वृत्तिसे ब्रह्माज्ञाननिवृत्ति होगी । अतएव ब्रह्म अविषय होनेपर भी कोई हानि नहीं है ॥ ७ ॥

ननु ब्रह्मणो ज्ञानाद्यविषयत्वस्वीकारात् कथं तद्विषयकज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तिरित्युपपादनसंभव इति चेन्न । तत्तदाकारवृत्तेस्तत्तदज्ञाननिवर्तकत्वमिति नियमात् ब्रह्माकाराज्ञानस्य ब्रह्माकारवृत्तिनिवर्त्यत्वमिति दोषाभावात् । अखण्डाकारता हि वृत्त्यज्ञानयोरिति ॥ ७ ॥

विषयत्वं ज्ञानजन्यस्फुरणाश्रयतोच्यते ।
चित्तादात्म्यं चिदाभासो वैतद् ब्रह्मणि नो चिति ॥ ८ ॥ [७९४]

विषयत्वका मतलब है ज्ञानजन्यस्फुरणाश्रयता, यही ज्ञानकर्मता है । वह स्फुरण चाहे चित्तादात्म्य हो चाहे चिदाभास, चिद्रूप ब्रह्ममें नहीं है । चित्तादात्म्यादि घटादिमें हो सकता है । चित्तका प्रकाशक चित्तादात्म्य या चिदाभास नहीं होता । वह स्वयंप्रकाश है ॥ ८ ॥

कुतो न ज्ञानविषयत्वं ब्रह्मणि । उच्यते । तद्धि ज्ञानकर्मत्वं ज्ञानजन्य-स्फुरणाश्रयत्वम् । तच्च चित्तादात्म्यं चिदाभासतादात्म्यं वा । नोभयमपि ब्रह्मणि संभवति ॥ ८ ॥

विषयत्वं फलव्याप्तिः प्रकाश्यत्वं न तत् परे ।
तत्सत्त्वात्तु जगद् बाध्यं ब्रह्माऽबाध्यमतद्विधम् ॥ ९ ॥ [७९५]

वेदान्तकी सरल भाषामें विषयत्व माने फलव्याप्ति । वही प्रकाश्यता है । ब्रह्म प्रकाश्य नहीं, स्वयंप्रकाश है । प्रकाश्य जगत् बाध्य होता है । ब्रह्म अबाध्य है, अतः प्रकाश्य नहीं है ॥ ९ ॥

विषयत्वमिति प्रकाश्यत्वं विवक्षितम् । फलव्याप्तिलक्षणम् । ब्रह्म तु स्वयंप्रकाशमिति न तस्य प्रकाश्यता । यत्र हि प्रकाश्यता तद् बाध्यं भवति, मिथ्या च । अतद्विधं ब्रह्म न बाध्यं नातो मिथ्या च ॥ ९ ॥

जन्माद्यस्य यतस्तच्च नैकदाऽव्याप्तमेव च ।
उपलक्षणमेवातः संभवत्यनृतेन च ॥ १० ॥ [७९६]

"जन्माद्यस्य यतः" यह उपलक्षण है । क्योंकि एक साथ जन्म-स्थिति और नाश नहीं हो सकते हैं । एक एकको रखेंगे तो जन्मकालमें स्थिति नहीं, नाश नहीं इत्यादिरीति लक्षण अव्यापक होगा । उपलक्षण तो मिथ्यासे भी होता है ॥ १० ॥

एवं ब्रह्मजिज्ञासासूत्रेण द्वैतसिद्धिविरहेऽपि "जन्माद्यस्य यत" इति सूत्रेण द्वैतमायास्यति । असाधारणधर्मो हि लक्षणम् । तथा चासाधारणेन धर्मेण जन्महेतुत्वादिना द्वैतमेवेति चेन्न । जन्महेतुत्वस्य स्थितिप्रलययोः स्थिति-हेतुत्वस्य जन्मप्रलययोः लयहेतुत्वस्य जन्मस्थित्योश्च विरहेणासाधारण-धर्मत्वविरहात् । अतः उपलक्षणमेव जन्मादिहेतुत्वम् । तच्चानृतेनापि धर्मेण संभवति । शाखासम्बन्धित्वमिव चन्द्रमसः । व्यावहारिकतत्त्वाभ्यु-पगमश्च न विस्मर्तव्यः ॥ १० ॥

वृक्षशाखाग्रवर्तित्वं मिथ्या चन्द्रमसि स्फुटम् ।
किन्तु तेनापि चन्द्रस्य भवति ह्युपलक्षणम् ॥ ११ ॥ [७९७]

वृक्षशाखांके अग्रभागमें चन्द्रमा है कहनेपर चन्द्रमें वृक्षशाखाग्र-स्थितत्व मिथ्या होने पर भी उससे चन्द्रमाका उपलक्षण होता ही है ॥ ११ ॥

सामानाधिकरण्यं च सत्यं ज्ञानमिति श्रुतौ ।
सोऽयमित्यादिवत् तत्राऽखण्डार्थः प्राङ् निरूपितः ॥ १२ ॥ [७९८]

सत्यं ज्ञानमित्यादि व्यापक लक्षणसे भी द्वैतापत्ति नहीं है । वहां भागत्यागसे बोध होता है । सोऽयं के समान वहां भागत्याग ही है । सत्यत्व एवं ब्रह्मत्वको छोड़कर वहां अखण्डाकार वृत्ति ही होती है । ज्ञानं ब्रह्म इत्यादिमें भी वही बात है ॥ १२ ॥

ननु सत्यं ज्ञानमित्यादिस्वरूपलक्षणश्रुतौ नोपलक्षणत्वं, व्यापक-त्वाल्लक्षणस्येति चेन्न । सोऽयमित्यादिवत्तत्राखण्डार्थबोध एव । प्रकृष्ट-प्रकाशचन्द्र इत्यादौ च तथेति प्रागेव निरूपितम् ॥ १२ ॥

शास्त्रयोनित्वमप्यस्य व्यावहारिकमिष्यते ।
न चानुमानगम्यत्वं तस्यौपनिषदत्वतः ॥ १३ ॥ [७९९]

ब्रह्ममें व्यावहारिक शास्त्रयोनित्व भी हम मानते हैं । तब व्यावहारिक अनुमानगम्यत्व भी मान लीजिये । नहीं । उसे श्रुतिने औपनिषद बताया है ॥ १३ ॥

ननु शास्त्रयोनित्वं व्यापकमेव लक्षणं न तु स्वरूपलक्षणं सत्यादिवत् । तथा च तादृशोऽसाधारणधर्मस्तत्र मन्तव्य इति चेन्न । व्यावहारिकस्य शास्त्रयोनित्वस्योपगमेऽपि पारमार्थिकाद्वैताविरोधात् । न चैवमनुमान-गम्यत्वमपि स्यादिति वाच्यम् । तस्यौपनिषत्वाद् ॥ १३ ॥

श्रुत्या ज्ञातेऽनुमानं च स्वीकुर्मो मननात्मकम् ।
व्यावहारिकसाध्याद्यैस्तत्त्यक्त्वान्ते च शुद्धधीः ॥ १४ ॥ [८००]

हां, श्रुतिसे ज्ञात होनेपर मननरूपी अनुमान भी हम मानते हैं । उसमें व्यावहारिक साध्य हेतु आदि भी होंगे । किन्तु उन साध्यादिको छोड़कर अन्तमें शुद्ध चैतन्यबोध होता है । अनुमान इतरव्यावृत्तिप्रयोजक होगा ॥ १४ ॥

उपनिषदवगते च तत्र प्रवर्तमानंमनुमानं मननात्मकं न निवर्त्यत इति भाष्ये एव स्पष्टम् । हेतुसाध्यादिकं शक्यं तत्र व्यावहारिकमुपगन्तुम् । ततः परमुपस्थितविशिष्टचैतन्यतो वैशिष्ट्यपरित्यागाच्छुद्धबोधोपपत्तिः ॥ १४ ॥

व्यवस्थितं स्वतस्तत्त्वं स्वप्रभं निर्विकल्पकम् ।
अज्ञानविनिवृत्त्यर्था शास्त्रोत्था वृत्तिरिष्यते ॥ १५ ॥ [८०१]

परमार्थतत्त्व व्यवस्थापनीय नहीं है । वह स्वतः व्यवस्थित है । वह स्वयंप्रकाश एवं निर्विशेष है । शास्त्रजन्यवृत्ति अज्ञाननिवृत्तिके लिये है ॥ १५ ॥

परमार्थतत्त्वं न व्यवस्थापनीयमस्ति । स्वयंप्रकाशत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितत्वात् । तच्च निर्विशेषं सदेव । विशेषाणां स्वप्रभत्वविरहेण स्वतः सिद्धत्वाभावात् । तत्राज्ञानावरणनिवारणमात्रं कर्तव्यमस्ति । तच्चोपनिषत्समुद्भवयाऽखण्डाकारवृत्त्या संपद्यते । न तत्रानुमानप्रवेश इति । इत्यननुमेयत्वमुच्यते ॥ १५ ॥

समन्वयः श्रुतीनां च सत्यज्ञानपदादिवत् ।
न तु संसर्गमादाय स्याद्वाऽसौ व्यावहारिकः ॥ १६ ॥ [८०२]

'तत्तु समन्वयात्' में समन्वय कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे सत्यं ज्ञानं इत्यादिमें । और यदि व्यावहारिक सम्बन्ध मानें तो भी हमें हानि नहीं है ॥ १६ ॥

ननु 'तत्तु समन्वयादि'ति श्रुतीनां समन्वयो ब्रह्मण्ययुक्तः । न हि निर्विशेषे श्रुतिसम्बन्धसंभव इति चेन्न । सत्यं ज्ञानमित्यादिस्तत्त्वंपदार्थशोधनविधया तत्त्वमस्यादिश्चैक्यबोधनविधया समन्वेति । तत्र सत्यं ब्रह्मेत्युक्ते सत्यत्वादिभागत्यागेन यदखण्डाकारवृत्तिविषयत्वं तदेव श्रुतिसमन्वयः ॥ १६ ॥

यत्किंचिद्भागसम्बन्धादन्वयो गोभुवोरिव ।
समन्वयः समन्ताद्यः स चाभेदे प्रकल्पते ॥ १७ ॥ [८०३]

अन्वयसम्बन्ध यत्किंचिद्भागसम्बन्धसे होगा । जैसे भूतले गौः इत्यादिमें । सम् उपसर्गसे समन्तात् सम्बन्ध बताया यह अभेदमें ही संभव है । अन्यथा तत्त्वन्वयात् इतना ही लाघवसे सूत्र लिखते ॥ १७ ॥

अन्वयो ह्येकदेशसम्बन्धेनापि भवति । यथा भूतले गौरित्यत्र । समन्तादन्वयस्तु समन्वय ऐक्ये सत्येव घटते । तत्त्वमस्यादिवाक्ये चैक्यात्समन्वय उपपद्यते ॥ १७ ॥

असत्यत्वाद्यपाकृत्या सत्यादिकपदान्वयः ।
परिच्छित्तिपरोक्षत्वव्यावृत्त्या तत्त्वमस्यपि ॥ १८ ॥ [८०४]

पूर्वपक्षः—सत्यं ज्ञानं आदि शोधकवाक्य और तत्त्वमसि आदि महावाक्य क्यों ? अतः शोधकवाक्यका अन्वय अलग होगा । उत्तरपक्षः—नहीं । असत्यत्वादिकी व्यावृत्ति करानेके लिये सत्यादिपद है । परिच्छेद और परोक्षत्वको निवृत्त करने तत्त्वमसि है ॥ १८ ॥

ननु तत्त्वमस्यादिवदखण्डार्थबोधकत्वे सत्यं ज्ञानमित्यादेस्तत्त्वमसीत्यादेश्च शोधकवाक्यत्वमहावाक्यत्वभेदो न स्यादिति सत्यं ज्ञानमित्यादेः साक्षादन्वयो वक्यव्य इति चेन्न । सत्यादिपदं सत्यत्वं प्रकाश्याऽसत्यत्वं व्यावर्त्य स्वयं च निवृत्य बोधयति । तत्त्वमस्यादिकं तु त्वमर्थस्य परिच्छिन्नत्वं तदर्थस्य परोक्षत्वं च निवर्त्य स्वस्वपदार्थतावच्छेदकधर्मभागं च परित्यज्यापरोक्षाखण्डाकारबोधमुत्पादयतीत्येव विशेषः । अभानापादकावरणनिवर्त्तकत्वस्य तत्त्वमस्यादावेव सत्त्वाद्वा तस्य महावाक्यत्वम् ॥ १८ ॥

ईक्षणाज्जगदुत्पत्तेर्दृष्टिसृष्टिः स्फुटेरिता ।
आनन्दमयताऽप्यस्य न विकारादिलक्षणा ॥ १९ ॥ [८०५]

"ईक्षतेर्नाशब्दं" यहां ईक्षणसे जगत्सृष्टि कहकर सृष्टिसृष्टि बतायी । तब ईक्षणकर्तृत्व भी दृष्टिसृष्ट है । आनन्दमय शब्द चिन्मयपदवत् है । अन्यथा सन्मयमें असत् भी जुड जायेगा । आनन्दमयमें आनन्दके साथ दुःख भी जुड़ेगा ॥ १९ ॥

"नन्वीक्षतेर्नाशब्दमि"त्यत्रेक्षणकर्तृत्वविशेषाभिधानान्न निर्विशेषसिद्धिरिति चेन्न । ईक्षणसृष्टं जगदित्युक्त्या दृष्टिसृष्ट्युक्तेर्जगन्मिथ्यात्वे परम-

तात्पर्यात् । तत्रैवेक्षणकर्तृत्वमप्यापततीति कथं सविशेषत्वम् । न चेक्षणे सत्योत्पादिका काचन विशेषशक्तिरीश्वरस्य कल्प्यत इति वाच्यम् । व्यर्थकल्पनामात्रत्वात् । वाचारम्भणश्रुतेश्च ॥ १९ ॥

ननु "आनन्दमयोऽभ्यासादि"त्यत्रानन्दप्राचुर्यकथनादन्यस्यापि सत्त्वात्सविशेषत्वमेवेति चेन्न । चिन्मयादिवत् स्वरूपार्थे मयटः प्रयोगात्प्राचुर्यविकारादेरविवक्षितत्वात् । अन्यथा सन्मयमित्युक्ते सत्प्राचुर्यमात्रलाभात् सदन्यस्यापि तत्र वर्तमानत्वं वक्तव्यम् । सदन्यत्वं चाऽसत्त्वमेवेति को वा तदनुमन्येत । आनन्दमयमित्यत्रानन्दादन्यद् दुःखमपि स्वीक्रियेत । चिन्मयत्वाज्जडांशोऽपीश्वरे स्यात् ॥ १९ ॥

उपलक्षणतल्लिङ्गादाकाशः प्राण एव च ।
ब्रह्म ज्योतिश्च चरणकल्पना ब्रह्मणीष्यते ॥ २० ॥ [८०६]

"आकाशस्तल्लिङ्गात्" यहाँ भी तल्लिङ्ग भूतजनकत्वादि उपलक्षण है और प्राण तथा ज्योति भी । कल्पित चरण ब्रह्ममें माना है ॥ २० ॥

नन्वा"काशस्तल्लिङ्गादि"ति ब्रह्मलिङ्गं ब्रह्मणि वक्तव्यमिति चेन्न । "जन्माद्यस्य यत" इत्येतद्व्याख्यया गतार्थत्वात् । एवं प्राणो ज्योतिश्च । चरणकल्पना ब्रह्मणीष्यते कार्षापणादिवत् ॥ २० ॥

सर्वमेवोपपन्नं नो विशेषैर्व्यावहारिकैः ।
नाद्वैतहानिर्बोधश्च तैः सर्वं सुस्थितं ततः ॥ २१ ॥ [८०७]

व्यावहारिक विशेषोंसे सभी उपपन्न हैं अतएव अद्वैतहानि नहीं और उनसे बोध भी होता है । इसलिये सभी सुसङ्गत है ॥ २१ ॥

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितमि'ति कल्पितैर्व्यावहारिकैर्विशेषैर्बोधोपपत्तेर्नाद्वैतहानिः, सिद्धान्तस्थितिश्च नितराम् ॥ २१ ॥

औपाधिको भेदवाद उपास्तेर्गुणकल्पना ।
अङ्गाङ्गित्वं च तत्रैव फलं स्वात्मन्यवस्थितिः ॥ २२ ॥ [८०८]

जहां भी भेद बताया वह औपाधिक है । उपासना के लिए गुण कल्पना है । उपसनार्थ कल्पितगुणों का अङ्गाङ्गिभाव है । परम्परया फल स्वात्मस्थिति है ॥ २२ ॥

यत्रापि भेद उक्तः स औपाधिकः । उपास्त्यर्थं च गुणकल्पना भवति । उपास्तिकल्पितगुणानां चाङ्गाङ्गिभाव उक्तः । परम्परया स्वात्मावस्थितिः फलं च ॥ २२ ॥

अध्यायेषु चतुर्ष्वेवं निर्विशेषे प्रबोधिते ।
जगात्सत्यत्ववादस्तु पञ्चमे ते भविष्यति ॥ २३ ॥ [८०९]

इस प्रकार चारों अध्याय में निर्विशेष ब्रह्म का बोधन करने के बाद जगत्सत्यत्ववाद तुम्हारे पञ्चमाध्याय में होगा ॥ २३ ॥

चतुर्ष्वध्यायेष्वेवं वाचामगम्यमपि निर्विशेषं तत्त्वं नैपुण्येन प्रकाश्यत इति जगत्सत्यत्ववादसिद्ध्यर्थं पञ्चमाध्यायो भवता प्रतीक्षणीयः ॥ २३ ॥

शैलेऽग्नियोगमात्रं चेद् बोध्यं शब्दोऽत्र को वद ।
तदभावेऽपि तद्बोधः किं न शब्देन जायते ॥ २४ ॥ [८१०]

पर्वतमें अग्निसंयोगमात्र बताना है । तो क्या शब्द तुम्हारे पास है ? पर्वतो वह्निमानका वह्निमदभिन्नः पर्वतः अर्थ है । तो भी शब्दसे बोध होता ही है ॥ २४ ॥

पर्वते केवलमग्निवैशिष्ट्यं बोधनीयं चेत् कः शब्दः ? पर्वतो वह्निमानित्यस्य वह्निमदभिन्नः पर्वत इत्यर्थः । नामार्थयोरभेदान्वयनियमात् । पर्वते वह्निरित्युक्ते पर्वतवैशिष्ट्यं वह्नौ प्रतीयेत । एवमपि शब्देन कथंचिद् बोधो भवत्येव ॥ २४ ॥

अतद्व्यावृत्तितो ब्रूते चकितं श्रुतिरेव यम् ।
कुसृष्ट्यार्थान्तरं तत्र कुर्वन्तः कीदृशा नराः ॥ २५ ॥ [८११]

श्रुति स्वयं अतद्व्यावृत्ति आदि तरीकेसे जैसे-तैसे समझानेकी कोशिश करती है। इतना वह दुरूह दुर्गम तत्त्व है। उसमें अड़चन डालनेवाले कुसृष्टिकारी ये द्वैती कैसे लोग हैं—थोड़ा सोचो॥ २५॥

"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि" तत्र श्रुतिप्रयत्नविफलीकरणाय कुसृष्टिं कुर्वन्त एकाग्रताकरणे कोलाहलं कुर्वन्त इव भवन्ति॥ २५॥

गिरामगोचरस्त्वेव प्रतिबोध्यो गिरैव चेत्।
श्रद्धत्स्व सोम्येत्युदितं दुर्वैदग्ध्यं हि दुर्भरम्॥ २६॥[८१२]

ब्रह्मको वाणीका अविषय बताया और समझाना वाणी ही से है। तब श्रद्धाके सिवाय क्या उपाय हो सकता है? उसमें अपनी दुर्विदग्धता दिखाना यह तो अति भयानक है॥ २६॥

वाचामविषयमपि वाग्भिः प्रतिपादयितुं प्रवृत्ते तत्र कुतर्ककारिणं ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रञ्जयति॥ २६॥

सूत्राणि तु यथान्यायं भाष्ये तद्विवृतिष्वपि।
व्याख्यातानीति तत्रैव रहस्यं कृत्स्नमीक्ष्यताम्॥ २७॥[८१३]

सूत्रोंका तो न्यायानुसार भाष्यकार भगवत्पाद एवं विवरणकारादिने अभिप्राय बता दिया है। वहीं पूर्ण रहस्य देखें॥ २७॥

नात्राल्पग्रन्थे सूत्रव्याख्यानं संभवति। भगवत्पादीये भाष्ये पञ्चपादिका-भामतीप्रभृतिषु विवरणग्रन्थेषु सर्वं रहस्यं बुधैर्ज्ञेयम्॥ २७॥

महर्षयस्तु जगदुर्ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्।
तस्यावतारं निन्दन् स्वं मा स्म मार्त्यं कदर्थयः॥ २८॥[८१४]

ऋषियोंने बताया है—ज्ञान शंकरसे प्राप्त करें। शंकरावतार भगवत्पादकी निन्दा कर मानवजन्मको वृथा न करो। तुम्हारी दुर्दशा देखकर हमें अफसोस होता है। दया भी आती है॥ २८॥

"ज्ञानमिच्छेत्तु शंकराद्" "विद्याकामस्तु गिरिश" मित्यादिशास्त्रवचनम् । ततस्तदवतारभगवत्पादभाष्यमेव। ज्ञानदम् । तत्र मुधाविवादेन मानवजीवनं कदर्थयन्तं हा भेदवादिनम् ॥ २८ ॥

वन्दे तत् परमं ब्रह्म स्वस्वरूपं परात्परम् ।
यस्य सत्त्वावबोधेन तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ २९ ॥ [८१५]

उस परब्रह्म परमात्माकी हम वन्दना करते हैं जो परात्पर है, स्वस्वरूप है जिसके अस्तित्वोपलम्भसे तत्त्वभावका प्रसाद होता है ॥ २९ ॥

"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदती"ति श्रुतेः सत्त्वप्रयुक्तभेदाभासस्यापि निरासात्परमार्थस्वरूपप्रकाश इति ॥ २९ ॥

ज्ञानान्निवर्त्यमनृतं विनिवृत्तमेव ।
प्राप्यं तथाप्तमिति सूत्रधनः पुमर्थम् ।
जिज्ञासयाऽऽपिपयिषन् हि जगन्मृषाऽऽत्म-
ब्रह्मैक्यमाख्यदृषिराट् सहनित्यमुक्ति ॥ क ॥

ज्ञानसे निवर्त्य मिथ्या होता है । वह नित्यनिवृत्त होता है, ज्ञानसे प्राप्य भी नित्य प्राप्त ही होता है । फलतः सूत्रकार जिज्ञासाके द्वारा पुरुषार्थ दुःखनिवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्ति करानेकी इच्छा रखते हुए जगत्को मृषा (मिथ्या) और आत्मा और ब्रह्मकी एकता नित्यमुक्तिके साथ बतायी ॥ क ॥

स्वरूपं संप्राप्यं न हि तदितरज्ज्ञानवशतो ।
गतस्यानावृत्तिर्न खलु घटतेऽन्यद् यदि गतः ।
अनादि त्वज्ञानं विधुतमपराऽज्ञानविरहा-
दनावृत्तिः शब्दात् स्फुटमगददन्ते मनिवरः ॥ ख ॥ ॥ ६६ ॥

ज्ञानसे अपना स्वरूप ही प्राप्त करना है । यदि अन्य प्राप्त किया जाता है तो वहां पहुँचनेके बाद अनावृत्ति जो बतायी वह संगत नहीं होगी । समुद्रमें गया पानी भी पुनः वाष्पद्वारा वापिस आ सकता है । हां,

अज्ञान नष्ट होनेपर जगत् खलास हुआ। किन्तु फिरसे अज्ञान क्यों न आये यह प्रश्न हो सकता है। पर बात यह है कि अज्ञान अनादि है। क्या अज्ञान आता है तो वह अनादि कहां होगा ? फिर किससे क्या अज्ञान पैंदा होगा ? अतः मुक्त पुरुष पुनः वापिस नहीं आता। यह बात स्पष्टतया अन्तमें बादरायण मुनिने बताया ॥ ६६ ॥

बादरायणसंज्ञाय नमोऽस्तु मुनये सते।
शंकराय नमो ज्ञानस्वरूपाय महात्मने ॥ ६७ ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै चानन्दरसतायिने।
नमोऽस्तु चात्मने नित्यं ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ६८ ॥

ॠषिवेदखनेत्राब्दे वैक्रमे श्रावणे सिते।
नवम्यां मङ्गले पूर्णमकार्षीज्जयमङ्गलः ॥ ६९ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्यस्य द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन महामण्डलेश्वर श्री काशिकानन्दगिरेः कृतिषु अद्वैतपरिशुद्धिः समाप्ता

*****

ॐ तत् सत्

*****